भामतीटीकोपेतम्

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

(चतुःसूत्रीपर्यन्तम्)

[हिन्दीभाषानुवादसहितम्]

अनुवादकः, सम्पादकः, प्रकाशकश्च

सरयूप्रसाद-उपाध्यायः

प्रधानाचार्य—संयुक्तसंस्कृतमहाविद्यालय

मीरजापुर

प्रधान वितरक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

प्रधान वितरक
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो०ब० १०८ कचौड़ीगली,
वाराणसी

मूल्य ९.००
दिसम्बर, १९६६

मुद्रक—
राजेन्द्र प्रेस
बागबरियारसिंह, वाराणसी

अनन्त श्री विभूषित श्री काशी पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य
श्री महेश्वरानन्द जी सरस्वती, भूतपूर्व कवितार्किकचक्रवर्ती
श्री महादेव शास्त्री

यह गौरवावह अवदान है कि एक परिनिष्ठित मनीषी के द्वारा वेदान्त के निगूढ़तम महान ग्रन्थ की अवतारणा राष्ट्रभाषा में हुई। भामती षड्दर्शनों के विश्रुत मूर्धन्य श्रीवाचस्पति मिश्र का परम परम प्रज्ञा प्रकर्ष है। भामती के मर्मज्ञ भारत मे विरल हैं भामत्यन्त वेदान्त का पढीतो चूड़ाका वेदान्ती समझा जाता है। व्याकरण वेदान्त के निविष्ट विद्वान् उभयाचार्य पण्डित प्रवर श्री सरयू प्रसाद उपाध्याय प्रधानाचार्य सं० म० मीरजापुर, उत्तर प्रदेश के इस वैदुष्य मण्डित व्याख्या के प्रभव हैं। इसकी विशद चर्चा निर्माता के द्वारा हमने असकृत् सुनी है। अवच्छेदवाद संस्कृत मन के द्वारा ही परब्रह्म के साक्षात्कार से कैवल्य आदि भामतीकार के सिद्धान्त हैं, वे भगवत्पूज्यपाद श्री १००८ शंकराचार्य भाष्यों से प्रमाणित है, उनके विवेचन व्याख्या में महती चाहुरी के साथ किये गये हैं। इस विवरण वैशद्य से न केवल दर्शन पिपासु छात्र अपितु प्रकाण्ड विद्वान्, गवेषक और मुमुक्षु महोदय भी लाभान्वित, सन्तुष्ट और सारग्राही बनेंगे। मै प्रसन्नतापुरःसर आशीर्वाद करता हूँ कि उत्तरोत्तर इस ग्रन्थ की श्रीवृद्धि तथा रचयिताकी समुज्ज्वल यश की मान रेखा स्थापित हो।

का० शु० ३, सं० २०२३ विक्रम } महेश्वरानन्द सरस्वती

भामती के सुभद्रा नामक व्याख्यापर विशिष्ट विद्वानों की सम्मतियाँ

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री पं० रघुनाथ शर्मा भूतपूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

श्री पण्डित सरजू प्रसाद जी उपाध्याय की लिखी हुई भामती की हिन्दी व्याख्या सुभद्रा को देखा। शाङ्करभाष्य की व्याख्याओं में सर्वश्रेष्ठ व्याख्या भामती है यह अबाधित प्रसिद्धि है। वह भामती सवजन को सुखावबोध नहीं थी अतः उसकी हिन्दी टीकालिखकर उपाध्यायजी ने बहुत बड़ी लोकोपकार किया है। मैं आशा करता हूँ। कि केवल छात्र तथा अद्वैत वेदान्त में निष्ठावाले जिज्ञासुजन ही नहीं किन्तु व्युत्पन्न विद्वान भी इसको आसक्ति पूर्वक देखकर लाभ उठावेंगे। और—कटुकौषधोपशमनीयस्वरोगस्यसितशर्करोपशमनीयत्वेकस्यवारोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसीनस्यात् इस सूक्ति को स्मरण कर इस व्याख्या का आदर करेंगे।

६ – ११ – ६६

रघुनाथ शर्मा
धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
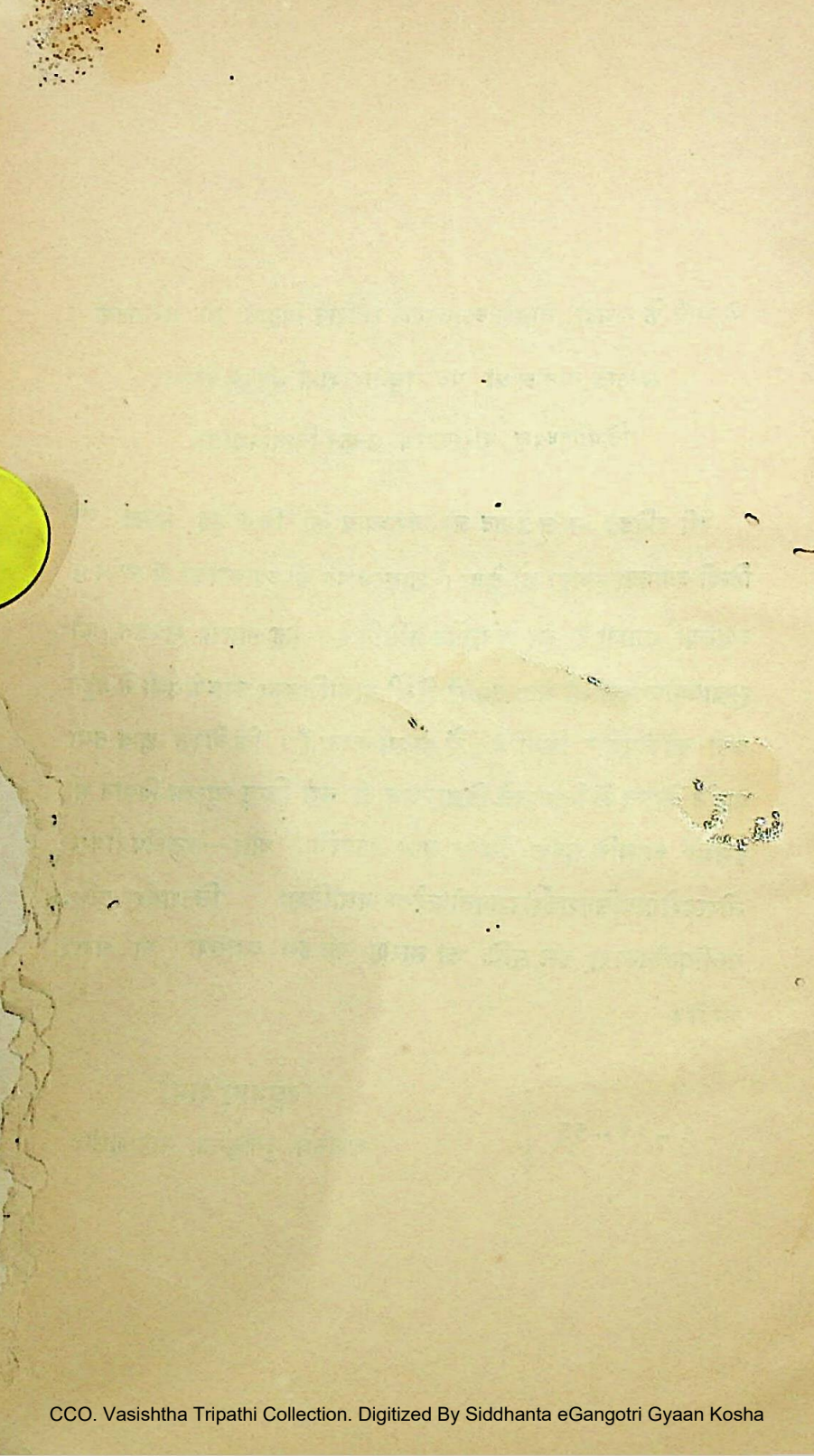
सम्माननीय, श्रीयुत् पं० रामचन्द्र जी मालवीय
आचार्य, एम० ए० प्रस्तोता
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र का और उसके ऊपर आद्य शंकराचार्य के भाष्य का जैसा महत्त्व है उसकी दृष्टि से विलक्षण प्रतिभाशील मनीषि-मूर्धन्य वाचस्पति मिश्र की भामती का स्थान रत्नं समागच्छतु कांचनेन की उक्ति चरितार्थ करता है। षड्दर्शन टीकाकार वाचस्पति की शंकरभाष्य पर की गई व्याख्या भाषा की दृष्टि से काव्य और दार्शनिक भावों के विशदीकरण की दृष्टि से निर्मल मुकुर के समान है। इस सुप्रसिद्ध भाष्य और व्याख्या का चतुःसूत्र पर्यन्त अध्ययनाध्यापन विद्वत्समाज एवं परीक्षाओं में विशेष रूप से प्रचलित है। आधुनिक युग में इस महत्त्वपूर्ण व्याख्या का हिन्दी में सुलभ होना अत्यन्त आवश्यक था जिसपर मिर्जापुर के मूर्धन्य मनीषियों में मान्य श्री सरयूप्रसाद जी उपाध्याय का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। अनुवाद में संस्कृत के विशेष शब्दों एवं वाक्यांशों के विस्पष्ट करने के लिए श्री उपाध्यायजी का प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है जिससे अनुवाद की उपयोगिता अत्यधिक हो जाती है। पंडितजी प्रूफ देखने का कार्य स्वयम् नहीं कर सके, अतः उसकी अशुद्धियाँ आशा है अग्रिम संस्करण में दूर कर दी जायँगी।

पण्डितजी इस अनुवाद के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

प्रस्तोता
रा० च० मालवीय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
६-१२-६६ वाराणसी।

प्राक्कथन

भारतीय जीवन में दर्शन की उपयोगिता सदा से रही है। अखिललोक कल्याणकारिणी भारतीय संस्कृति का विकास वस्तुतः भारतीय दर्शन के इतिहास का विकसित रूप है। किसी समय वेदों का प्राणवाद भारतीय जीवन का मूल प्रेरक सिद्धान्त था। कालान्तर में उपनिषदों का ब्रह्मवाद या आत्मवाद भारतीय विचारधारा का केन्द्रबिन्दु बना जिसने सदाके लिए इस देश के दर्शनों को अध्यात्म के साथ जोड़ दिया।

दर्शन भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत सत्य का परिचय देनेवाला साहित्य है। अन्तःकरणपूत भारतीय ऋषि-महर्षियों ने अपनी तीव्र तपस्या तथा स्वाध्याय के बल पर ऋतम्भर प्रज्ञा द्वारा अध्यात्म तत्व का विशेष रूप से अनुशीलन कर प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन ही नहीं कियाहै, प्रत्युत अपने जीवनको भी उन तत्वों के निरन्तर चिन्तन से पूर्ण कोटि पर पहुँचा दिया है।

पाश्चात्य दर्शन उन नाविक के समान है जो बिना किसी गन्तव्य पथ के निर्णय किये ही अपनी नौका विचारसागर में डाल देता है। उसे यह चिन्ता नहीं कि नाव किस घाट लगेगी, पर भारतीय दर्शनकार दुःखत्रय से उद्विग्न होकर उसके उच्छेद की भावना से साध्य का निश्चय कर अपनी सूक्ष्म विवेचनापद्धति के आधार पर साधनमार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। उसका गन्तव्य स्थान सुनिश्चित रहता है, अतः उसे भटकने का भय नहीं। आत्मसाक्षात्कार करना प्रत्येक दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। अत. भारतीय दर्शन की दृष्टि पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा सुव्यवस्थित व्यावहारिक एवं सर्वाङ्गीण होती है। विदेशों में दर्शन शास्त्र वहां के विद्वानों के मनोविनोद के साधनमात्र हैं, पर भारत में दर्शन का जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि क्लेशबहुल संसार से सन्तप्त प्राणी को शान्ति देने के लिए भारतीय दर्शनों का आविर्भाव हुआ है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं।

मनुष्य विवेकप्रधान प्राणी होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचारशक्ति का सदुपयोग करता है। इसलिए पशुओं के साथ आहार विहार भय निद्रा तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी उसकी अधिक विशेषता मानी जाती है।

मनु जी का कहना है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर कर्म मनुष्यों को बन्धन में नहीं डाल सकते। जिनको सम्यग्दृष्टि नहीं है, वे ही संसार के जाल में फँस जाते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ (मनुस्मृति ६।७४)

इसीलिए दर्शन की परिभाषा की गई है कि जो शास्त्र ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखों के साधन का मार्ग प्रदर्शन करता है, उसे दर्शन कहते हैं—

यदभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत्तद्धि दर्शनम्॥

दर्शन किसी भी देश की संस्कृति को गौरवान्वित करता है। भारतीय दर्शनों में भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण इनमें साम्य भी पाया जाता है। भारतीय दर्शनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साम्य यह है कि वे सभी पुरुषार्थ साधन के लिए प्रवृत्त हैं। विश्व के शिक्षाविशारद यह एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि दर्शन मानवजीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अतः जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए दर्शनों का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति ही ऐसी है जिससे वे कभी निराश नहीं होते बल्कि उनमें दर्शनों के सम्यगनुशीलन से आशा का संचार होता रहता है।

वेद विश्व का आदि ग्रन्थ है। वेद के बाद की जो भारतीय विचारधारा चली वह वेदवाङ्मय से अधिक प्रभावित हुई। दार्शनिक विचारधारा पर वेद का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। वेद को माननेवाले ६ आस्तिक दर्शनों में मीमांसा और वेदान्त दर्शन तो वैदिक संस्कृति की ही देन है। मीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन हुआ है और वेदान्त में ज्ञानकाण्ड का पूर्ण विवेचन है। मीमांसा और वेदान्त में वैदिक विचारों की ही मीमांसा हुई है। इसलिए इन दोनों को मीमांसा भी कहते हैं। इनके परस्पर भेद को स्पष्ट करने के लिए मीमांसा को पूर्व मीमांसा और वेदान्त को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त का नाम अन्वर्थक है, क्योंकि इसका आविर्भाव उपनिषदों से ही हुआ है। सांख्य योग न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों की उत्पत्ति वैदिक विचारों से नहीं हुई है, किन्तु इनकी उत्पत्ति लौकिक विचारों के अनुभव से हुई है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये वेदविरोधी हैं।

इनके सिद्धान्तों में तथा वैदिक सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध नहीं है। विरोध तो केवल चार्वाक बौद्ध और जैन दर्शनों से है, क्योंकि वे वेद को प्रमाण नहीं मानते।

वेद के अन्दर लोककल्याण के लिए बहुत से विषयों का निर्देश है। उनमें से जिसको जो विषय अभिप्रेत है, वह उसी अपने अभिप्रेत विषय को ले कर प्रवृत्त होता है और उसी की सिद्धि में अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। महर्षि व्यास विशेषकर ब्रह्मज्ञान को, गौतम मुनि याग को, भगवान् पतञ्जलि योग को, महामुनि कपिल तत्वज्ञान को, देवर्षि नारद भक्ति को, महाराज मनु धर्म को और कणाद एवं गौतम ऋषि पदार्थवाद को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, क्योंकि ये सभी विषय साक्षात् या परम्परया मोक्ष के साधक हैं। अतः इन विभिन्न भारतीय आचार्यों ने विभिन्न विषय को लेकर भिन्न-भिन्न दर्शनों का निर्माण किया है।

भारतीय दर्शन प्रमुख रूप से दो भागों में विभक्त हैं, एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छः आस्तिक दर्शन हैं, क्योंकि ये सभी वेद को प्रमाण रूप से मानते हैं और परलोक एवं ईश्वर को स्वीकार करते हैं। चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और आर्हत् (जैन) ये छः नास्तिक दर्शन हैं। ये न तो वेद को प्रमाण मानते हैं, न ईश्वर और परलोक पर विश्वास ही रखते हैं।

दर्शनों का आरम्भ सूत्र ग्रन्थों से होता है। कालान्तर में इन पर भाष्य लिखे गये, बाद इन्हें सुबोध बनाने के लिए भाष्यों पर वार्तिक लिखे गये और इनकी विस्तृत व्याख्यायें की गईं। व्यासजी के ब्रह्मसूत्र पर जितने भाष्य लिखे गये हैं उनमें शाङ्करभाष्य अधिक विख्यात एवं तर्कसंगत प्रमाणों से परिपुष्ट है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा वेदान्त दर्शन से विशेषकर शाङ्कर वेदान्त से भारतीयों का जीवन अधिक प्रभावित है, क्योंकि शङ्कराचार्य ने उपनिषदों की व्याख्या विस्तार से की है। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का संग्रह है तथा उन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया गया है। उपनिषदों के विरुद्ध जो नास्तिक दर्शनों में आक्षेप किये गये हैं उनका युक्तियुक्त समाधान भी ब्रह्मसूत्र में किया गया है। व्यासजी का ब्रह्मसूत्र ही वेदान्त का सबसे पहला क्रमबद्ध ग्रन्थ है। इसीतरह मीमांसा के लिए जैमिनि ने, न्याय के लिए गौतम ने, वैशेषिक के लिए कणाद ने, योग के लिए पतञ्जलि ने और सांख्य के लिए महामुनि कपिल ने सूत्र-ग्रन्थों की रचना की है।

वेदान्त दर्शन में चार्वाक बौद्ध जैन सांख्य योग मीमांसा न्याय वैशेषिक आदि सभी दर्शनों का संक्षेप से पूर्वपक्ष के रूप में विचार किया गया है। यही कारण है कि जिन्हें वेदान्त दर्शन का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त हो जाता है, वे बड़ी सुगमता से अन्य दर्शनों की जटिल समस्याओं को भी सुलझा देते हैं। न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा की दृष्टि प्रारम्भिक मानी जाती है। इससे अधिक विकासशील दृष्टि सांख्य-योग की है, वेदान्त की दृष्टि तो भारतीय दार्शनिक चिन्तनों में अन्तिम कोटि की मानी जाती है।

जीव जगत की व्याख्या करने में प्रवृत्त होने वाले दर्शनों में न्याय-वैशेषिक की गणना सर्वप्रथम की जाती है। अनन्तर सांख्य-योग की गणना है, जो मानस अनुभव तथा मानसिक प्रक्रिया के वर्णन में विशेष रूप से व्यस्त हैं। इनके बाद मीमांसा और वेदान्त दर्शन का स्थान है। मीमांसा धर्म का और वेदान्त परमात्म तत्व का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है।

आत्ममनन के विषय में तीन प्रकार के अधिकारी माने गये हैं—उत्तम, मध्यम और साधारण। साधारण अधिकारियों के लिए न्याय और वैशेषिक दर्शन हैं। मध्यम अधिकारियों के लिए सांख्य और योग दर्शन हैं। तथा उत्तम अधिकारियों के लिए मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन हैं। इस प्रकार अधिकारभेद से विभिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न दर्शनों का निर्माण हुआ है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा को नित्य एवं विभु माना है, किन्तु सुख दुःख इच्छा कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनेक धर्म भी उसमें मान लिया है, पर मनन के द्वारा इन धर्मों से भिन्न आत्मा के नित्य शुद्ध बुद्ध स्वरूप का उपदेश नहीं किया है। किन्तु सांख्य दर्शन ने "असङ्गो ह्ययं पुरुष." इस श्रुति के अनुसार इन धर्मों से रहित पुष्करपलाश-वन्निर्लेप पुरुष का उपदेश किया है। अतः साधारण अधिकारियों से उच्च कक्षा के मध्यम अधिकारियों के लिए सांख्यदर्शन का उपदेश है।

दूसरी बात यह है कि पदार्थों का उपदेश करते हुए भी महर्षि गौतम और कणाद ने प्रकृति महत् और अहंकार तत्वों का उपदेश नहीं किया है। अहंकार से उत्पन्न जो पञ्चतन्मात्राएँ हैं, उन्हें इन्होंने परमाणु स्थान न मानकर न्याय और वैशेषिक दर्शन का आरम्भ किया है, किन्तु कपिलमुनि ने सांख्यदर्शन में इनसे परे भी सूक्ष्म अहंकार बुद्धि और प्रकृति इन तत्वों का विचार किया है। इसलिए न्याय वैशेषिक दर्शनों से सांख्य दर्शन का स्थान ऊँचा है।

सांख्य दर्शन प्रकृति को ही जगत् का कर्ता मानता है, परन्तु वेदान्त प्रकृति की कल्पना को अनुमान की दुर्बल भित्ति पर प्रतिष्ठित कहता है। सांख्य प्रकृति को सगुण स्वतन्त्र एवं नित्य मानता है, किंतु इसे वेदान्त मानने के लिए तैयार नहीं। इसी प्रकार सांख्य पुरुष को अनेक मानता है, पर वेदान्त एक। सांख्य ईश्वर की अपेक्षा किये बिना ही अचेतन प्रकृति को पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए सृष्टि में प्रवृत्त होनेवाली मानता है, किन्तु वेदान्त प्रकृति एवं पुरुष दोनों के अधिष्ठाता के रूप में ब्रह्म को मानता है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में वेदान्त दर्शन का सदा से ऊँचा स्थान है। देश के उदात्त मस्तिष्कवाले विचारक वेदान्त के विचारपद्धति से ही सोचते विचारते हैं। पुराणों में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है उसमें वेदान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भागवत के कपिलदेवहूतिसंवाद, उद्धव श्रीकृष्ण वार्तालाप अवधूत गीता एवं यत्र तत्र स्तुतियों मे वेदान्तदर्शन के विचारों का बड़े रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भागवत में सूक्ष्म रूप से प्रायः सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का निरूपण हो गया है और पुराणों के दस लक्षणों में अन्तिम आश्रय तत्व शरणागत वत्सल भगवान् श्रीकृष्ण ही माने गये हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए वहाँ अन्य तत्वों का विशद वर्णन है। यद्यपि श्रीमद्भागवत के प्रत्येक स्कन्ध में आश्रय तत्व का निरूपण है तथापि दशमस्कन्ध में सगुण एवं साकार आश्रय तत्व का तथा द्वादश स्कन्ध में निर्गुण एवं निराकार आश्रय तत्व का विशेष विवेचन है।

श्रीमद्भागवत पुराण का श्रुतियों से बहुत बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कुछ पदों के परिवर्तन के साथ अनेक श्रुति एवं उनके अर्थों का वहाँ स्पष्ट उल्लेख है। कुछ गीता के पद्य तथा ब्रह्मसूत्र के सूत्र भी श्रीमद्भागवत में ज्यों के त्यों मिलते हैं। इसलिए तत्वज्ञ विद्वान् श्रीमद्भागवत को श्रुतियों का सार और ब्रह्मसूत्र का भाष्य भी कहते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने तो श्रीमद्भागवत को चतुर्थ प्रस्थान ही मान लिया है। व्यास जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सभी वेदान्तों के साररूप श्रीमद्भागवत के रसामृतस्वाद से तृप्त प्राणियों को अन्यत्र अनुराग नहीं हो सकता है—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमुच्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्यात् क्वचिद्रतिः ॥ (१२।१३।१५)

वेदान्तदर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक स्थलों पर भी

पर्याप्त रूप से विद्यमान है। इस प्रकार भारतीय दर्शन धारा में वेदान्त का प्रमुख स्थान है, उसमें भी ब्रह्मसूत्र का शाङ्करभाष्य सर्वोत्कृष्ट और तर्कसंगत माना जाता है। शाङ्करभाष्य की व्याख्याओं में षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पति मिश्र की भामती व्याख्या का तो अद्वितीय स्थान है। इसे दार्शनिक विद्वान् वेदान्त का सार कहते हैं।

अनेकशास्त्राचार्य व्याकरण एवं वेदान्त दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् पं० सरयू प्रसाद उपाध्याय ने अत्यन्त परिश्रम से जो भामती का सारगर्भित अनुवाद सुभद्रा नामक टीका के रूप में प्रस्तुत किया है उसका हिन्दी संसार में हम सहानुभूति और समादर के साथ स्वागत करते हैं। उपाध्यायजी ने केवल भामती का अनुवाद ही नहीं किया है अपितु स्थान-स्थान पर प्रसंग वश आये हुए अद्वैत वेदान्त के मौलिक समस्याओं का भी वैदुष्यपूर्ण विवेचन कर दिया है जिससे वेदान्त के दुरुह विषय भी सर्वसाधारण के लिए बुद्धिगम्य हो गये हैं। हिन्दी पाठकों के समक्ष यह अनुवाद वेदान्तसिद्धान्त के विषय में एक मूल्यवान् कृति है। उपाध्यायजी ने इस अनुवाद के द्वारा वेदान्त सिद्धान्त का एक सांगोपांग विवरण प्रस्तुत कर बहुत बड़ा सामयिक कार्य किया है। इसमें भाषा को सरल एवं विषय को सुबोध बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है और वेदान्तविषयक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रासंगिक अंश भी उचित स्थान पर टिप्पणियों के रूप में निविष्ट कर दिये गये हैं जिससे इस अनुवादकी और भी उपयोगिता बढ़ गई है। आरम्भ में सारगर्भित शास्त्रीयविषयविवेचनपूर्ण भूमिका लिखकर उपाध्याय जी ने स्वर्ण में सुगन्ध का योग कर दिया है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि स्वतन्त्र भारत में जब राष्ट्रभाषा हिन्दी शिक्षा का माध्यम बन रही है, अनेक उपयोगी विषयों से हिन्दी का भण्डार भरा जा रहा है और भारतीय दर्शन गौरव के शिखर पर आरूढ़ हो रहे हैं तब ऐसे अवसर पर हिन्दी में लिखा गया यह अनुवाद हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट अभाव की पूर्ति करेगा और दर्शन तत्वों के जिज्ञासु छात्र, अध्यापक तथा साधारण जनों के लिये यह अनुवाद समान भावसे उपादेय उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध होगा।

कार्तिकी पूर्णिमा
वै० संवत्
२०२३

श्रीकृष्णमणित्रिपाठी
अध्यक्ष पुराणेतिहासविभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।
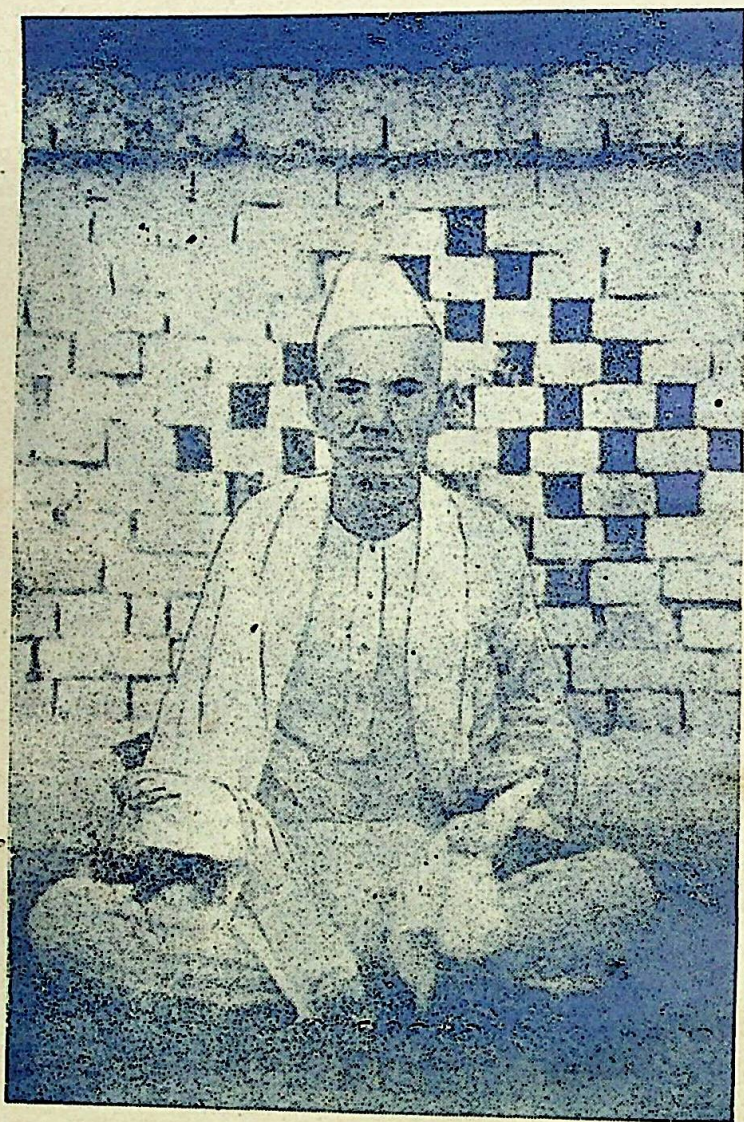
पूज्य पितृ चरण

श्रीयुत् पं० जरबन्धन उपाध्याय

समर्पण
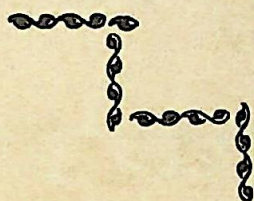
जिनके चरण कमलों की स्नेहमय शीतल छाया में
अद्यावधि सुरक्षित रहा, उन श्रद्धेय पिता जी के
करकमलों में यह अभिनव प्रथम कृति
सादर समर्पित कर परम
प्रसन्नता का अनुभव
कर रहा हूँ।

—सरयूप्रसाद उपाध्याय

भूमिका

भारतीय दर्शन उन सर्वश्रेष्ठ सूक्ष्म विचारकों के उदात्त-मस्तिष्क की देन है, जिन्होंने अनवरत तपश्चर्या और ऐकान्तिक साधना के द्वारा उस परम-तत्व का साक्षात्कार किया, जिसके आलोक से चराचर जगत् प्रकाशित है। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी थी। बहिर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा जिस अन्तरात्मा का साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है वही किसी धीर पुरुष को दृष्टिगत हुआ, जो विषय-पराङ्मुख और मुमुक्षु थे। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

> पराञ्चिखानिव्यतृणत्स्वयम्भूः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
>
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

दर्शन का वाच्यार्थ है 'दृश्यते ज्ञायते वस्तु याथात्म्यं अनेन' जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में परम-तत्व का निर्दोष प्रमात्मक-अनुभव कराने वाला विचार ही दर्शन है। अतः यह कहना समुचित होगा कि व्यावहारिक जगत में जो स्थान दर्पण का है वही परमार्थ में दर्शन का। इस प्रकार भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति एवं निरतिशय सुख की प्राप्ति करना है तथा ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय भी अवान्तर उद्देश्य है, केवल जिज्ञासा की शान्ति अथवा कौतूहल की निवृत्ति नहीं है। सभी आस्तिक अथवा नास्तिक दर्शनों का उद्गम उपनिषदें हैं दिशा और काल से अमर्यादित, अनादि अमृत, स्वतन्त्र, एकरस विभु निर्गुण उस आत्म तत्व के विषय का जैसा विशद विवेचन उपनिषदों में है उस तरह का विश्व साहित्य के किसी भी अन्य में सुलभ नहीं। इनमें समस्त वेदों का सार और अध्यात्म विद्या का निगूढ़तम रहस्य निहित है। यही वह अमृतस्रविणी अध्यात्म विद्या की पावन भूमि है जहाँ पाश्चात्य मनीषियों को भी परम शान्ति प्राप्त करने का सुअवसर मिला। विद्वान शापनहर (Schopenhauer) की प्रसन्नता का तो कोई ठिकाना ही

न रहा और उनके मार्मिक उद्गार निकल पड़े— * "जिवन को आदर्श बनाने वाला जैसा अध्ययन उपनिषदों का है, वैसा दूसरा कोई अध्ययन पूरे विश्व में नहीं। इसी अध्ययन से मेरे जीवन को शान्ति मिली है और मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी।"

भारतीय दर्शन के मूल में विचारधारा का द्वैविध्य दिखाई पड़ता है जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के दार्शनिक भी दृष्टिगोचर होते हैं—श्रौत और तार्किक। परम-तत्त्व के अन्वेषण में श्रुति को मुख्य साधन मानकर विवेचन करने वालों को श्रौत दार्शनिक कहते हैं, जिनके विचार से परोक्ष परम-तत्त्व का निश्चय श्रुति के ही आधार पर होता है। श्रुति प्रतिपादित अर्थ आपाततः प्रत्यक्षादि प्रमाण विरुद्ध होने पर भी सत्य है, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है। श्रुति विरुद्ध तर्क तो आभासमात्र है, उसके द्वारा अचिन्त्य वस्तु की सिद्धि भला कैसे सम्भव हो सकती है? कहा भी है—

अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

महाभारत भीष्म पर्व ५।१२

मुख्यरूप से श्रौत दर्शनकार ३ हैं—महर्षि वेदव्यास, जैमिनि और पाणिनि। उसी तत्त्व के अन्वेषण में तर्क को प्रधानता देने वाले दार्शनिकों को तार्किक कहते हैं। वे तार्किक भी दो प्रकार के हैं, जिनमें एक तो श्रुति को मान्यता ही नहीं देते, जैसे–बौद्ध, जैन आदिः। इन तार्किकों ने श्रुतिनिरपेक्ष हो तत्त्वनिर्णय में अपनी तार्किक बुद्धि को ही प्रधानता दिया है। जिसके कारण चार्वकों का देहात्मवाद, बौद्धों का विज्ञानवाद और शून्यवाद जैन धर्मावलम्बियों का स्याद्वाद प्रचलित हुआ।

दूसरे प्रकार के तार्किक हैं—न्याय वैशेषिक सांख्य योग प्रवर्तक महर्षि गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि तथा द्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि के प्रवर्तक माध्व रामानुज आदि; जो श्रुति के अर्थों को तर्क की कसौटी पर कसते हैं। मुख्यतः ये नानात्ववादी हैं और अनुमान से सिद्ध तत्त्व की ही प्रमाणिकता के पक्षपाती हैं। जैसे—आकाश निरवयव होने से नित्य है क्योंकि जो निरवयव होता है वह नित्य है। आत्मा, परमाणु आदि की भाँति। इस अनुमान से सिद्ध आकाश को नित्य मानने वाले नैयायिक "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इस

---

* In the whole world, there is no study so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death.

वाक्य में "सम्भूतः" का 'प्रादुर्भूत' अर्थ न करके 'आत्मा से आकाश अभिव्यक्त हुआ ऐसा गौणार्थ परक श्रुति को स्वीकार करते हैं। एवं इस समय उपलभ्यमान जड़ चेतनात्मक जगत् का परस्पर भेद या नानात्व सृष्टि के पूर्व भी अनुमान से सिद्धकर सभी तार्किकों ने इदं सर्वं यदयमात्मा वृ० (८० : १४।६।) यह सब आत्मा ही है, आत्मा से सब अभिन्न है उसके अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता कल्पित है यह अर्थ सरलतया प्रतीत होने पर भी अनुमान विरुद्ध होने से यह सब आत्मा के अधीन है यह गौण अर्थ उक्त श्रुति का अंगीकार करते हैं और भी जीव ब्रह्म के एकत्व का साक्षात् अर्थ बोध कराने वाली तत्त्वमसि (छां ६.८।७) श्रुति को भी गौण अर्थ परक मानते हैं। कोई जीव ब्रह्म के शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध में श्रुति का तात्पर्य मानते हैं। कोई ब्रह्म के अधीन जीव है ऐसा स्वीकार करते हैं। ब्रह्म के साथ जीव का अत्यन्त साम्य है, यह किसी को अभिप्रेत है, उक्त श्रुति में अतत् ऐसा पदच्छेद करके हे जीव तुम ब्रह्म नहीं हो यह कोई मानते हैं। परन्तु श्रुति का सरलतया प्रतीयमान अर्थ जीव ब्रह्म ही है भेद अविद्याकल्पित है इसका परित्याग कर अन्य अर्थ की कल्पना अनुचित है।

इस तरह सृष्टि के मूलतत्व के अन्वेषण में श्रुति और अनुमान के बीच में श्रुति के अपेक्षा तर्क अनुमान, को अधिक महत्व देनेवाले तार्किक दर्शनकार हैं। श्रुति का ही शरण लेने वाले श्रौत दर्शनकार हैं जिनमें वेदान्त दर्शन के रचयिता बादरायण मुख्य हैं।

वेदान्त दर्शन के मुख्य तीन प्रस्थान हैं—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता। उपनिषदों की संख्या से भी १०० अधिक है परन्तु मुख्य १०, हैं जिन पर विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों के भाष्य हैं। वेद का ही अन्तिम भाग होने से उपनिषद् वेदवत् अपौरुषेय है। यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाविद् मनीषी वेद को अपौरुषेय नहीं मानते, किन्तु उनकी प्राचीनतमता निर्विवाद सिद्ध है। इसकी विस्तृत प्रामाणिक सिद्धि मेरे "उपनिषत्स्वद्वैतवेदान्तः" नामक निबन्ध में की गयी है जो विस्तार भय से नहीं लिखा जा रहा है। ब्रह्मसूत्र में उपनिषद् के वाक्यों पर ही विचार किया गया है अतः उपनिषदों के सिद्धान्त का प्रतिपादन ही ब्रह्मसूत्र का मुख्य विषय रहा। इसे वैदिक दर्शन का समन्वय ग्रन्थ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी क्योंकि ब्रह्मसूत्र वह अलौकिक धागा है जिसमें उपनिषद् में बिखरी विभिन्न प्रकार की विचार मणियाँ प्रकृत रूप में इतने कलात्मक ढंग से पिरोई गई कि उसका मनभावन अद्भुत चमत्कार किस सहृदय को भावुक न बना दिया हो और श्रद्धा से उसकी लेखनी उस पर न चल पड़ी हो जिसमें शंकर की निर्झरिणी प्राथमिकता एवं सफलता की दृष्टि से अनूठी हो

रही। सभी दर्शनों के मौलिभूत वेदान्त दर्शन के मुख्य ग्रन्थ ब्रह्म-सूत्र की ही ऐसी महिमा है जिस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य करके अपने सिद्धान्त को व्यक्त किये। सम्भवतः शङ्कर के पूर्ववर्ती आचार्य भी भाष्य किये हैं पर वे उपलब्ध नहीं हैं।

ब्रह्मसूत्र के निर्माता महाभारत एवं अष्टादश पुराणों के रचयिता महर्षि बादरायण हैं किन्तु कुछ विद्वानों के मत से महर्षि बादरायण वही पराशर पुत्र वेदव्यास नहीं दूसरे हैं किन्तु यह अप्रमाणिक है क्योंकि महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी में कथित 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" से भिक्षुसूत्र का ब्रह्मसूत्र की ओर संकेत होता है अतः यह सिद्ध है कि महर्षि बादरायण जी पराशर पुत्र वेदव्यास ही हैं अन्य नहीं। इसी सूत्र के आधार पर पाणिनि से ब्रह्मसूत्र की प्राचीनता भी सिद्ध होती हैं तथा श्रीमद्भगवद्गीता में भी "ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" पद उसकी प्राचीनता का द्योतक है। अतः ब्रह्मसूत्र महाभारत के पूर्व की ही रचना सिद्ध होती है। कुछ विद्वान् ब्रह्मसूत्र को "ब्रह्म को सूचित करने वाले तत्त्वमस्यादि वेदान्त वाक्य तद् घटक पद" ऐसा अर्थ करके उसे महाभारत के बाद की रचना मानते हैं किन्तु "रूढ़िर्योगापहारिणी" न्याय से ब्रह्मसूत्र की ग्रन्थ विशेष में प्रसिद्धि होने से उनका मत ठीक नहीं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी वेदान्त सूत्रों की रचना अन्य दर्शन-सूत्रों के रचना काल से परवर्ती मानते हैं क्योंकि वेदान्त दर्शन के खण्डन करने योग्य प्रायः सभी पूर्वपक्ष अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। सांख्य-न्याय, वैशेषिक बौद्ध पांचरात्र पाशुपत आदि मत प्रवाह रूप से प्राचीन होने पर भी दार्शनिक साहित्य के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन नहीं हैं। ईश्वर कृष्ण कृत सांख्य कारिका में निर्दिष्ट सांख्य मत का ही खण्डन वेदान्त सूत्रों में है जिससे उसके अनन्तर ही ब्रह्मसूत्र का निर्माण हुआ। परन्तु यह कल्पना समुचित नहीं क्योंकि ब्रह्मसूत्र में किसी अर्वाचीन सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य का नामोल्लेख नहीं है जिन मतों का खण्डन ब्रह्म सूत्र में है वे सब प्रवाह रूप से प्रचलित अत्यन्त प्राचीन हैं। और उन्हीं का निराकरण ब्रह्मसूत्र में है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र का निर्माण काल पांच हजार वर्ष से पूर्व सिद्ध होता है।

ब्रह्मसूत्रमें ४, चार अध्याय है. प्रत्येक अध्यायमें, ४, पाद है, प्रथम अध्याय को समन्वयाध्याय कहते हैं। इसमें सम्पूर्णवेदान्तवाक्यों का समन्वय ब्रह्ममें ही है, वह ब्रह्म निर्विशेष है या सविशेष, द्वैतपरक या अद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत, तथा द्वैताद्वैत, इस विषयमें भाष्यकारों का मतभेद है, यह दूसरी बात है। द्वितीय अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है। इसमें सभी स्मृतितर्क

आदि के विरोध का परिहार किया गया है। और तर्क से ब्रह्म जगत् का कारण है यह सिद्ध किया है, तृतीय अध्याय साधनाध्याय है। इसमें मोक्षके साधनका विचार किया गया है। चतुर्थअध्यायका नाम फलाध्याय है। *प्रथम अध्याय के प्रथमपादमें स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक श्रुतिवाक्योंका विचार है। द्वितीयपाद में, उपासना के योग्य ब्रह्मविषयक अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गकवाक्य का विचार है। तृतीयपादमें अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक ज्ञेयविषयक वाक्यों का विचार है। चतुर्थपाद में श्रुतिवाक्यों में सन्दिग्ध अव्यक्त अजादि पद समूह की मीमांसा की गई है।

द्वितीय अध्यायके प्रथमपादमें, सांख्ययोग वैशेषिक स्मृति, आदिके विरोध का परिहार है।

द्वितीयपाद में सांख्य आदि के मतों को दूषित सिद्ध किया गया है। तृतीयपादमें पञ्चमहाभूत श्रुति और जीवश्रुतियों के विरोध का परिहार है। चतुर्थपादमें लिङ्ग* सूक्ष्म शरीरके प्रतिपादक श्रुतियों के विरोध का परिहार है।

तृतीय अध्यायके प्रथमपादमें जीवके परलोक गमन और आगमन के विचार पूर्वक वैराग्य का निरूपण है।

द्वितीयपादमें तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का शोधन किया गया है। तृतीयपाद में सगुणविद्या के गुणों का उपसंहार है।

चतुर्थपादमें निर्गुण ब्रह्मविद्या के बहिरङ्ग साधन ब्रह्मचर्य आदि आश्रम और यज्ञादिकर्म, और अन्तरङ्ग साधन शमदम आदि का विचार है। चतुर्थ अध्याय के प्रथमपादमें ब्रह्मसाक्षात्कार से जीवित अवस्थामें ही पापपुण्य के क्लेश से रहित मुक्ति होती है यह निरूपित है। द्वितीयपादमें मरण के उत्क्रमण प्रकार का निरूपण है। तृतीयपाद में सगुणब्रह्म के उपासक का उत्तरमार्ग कहा गया है। चतुर्थपादमें निर्गुण ब्रह्मवेत्ता की विदेहमुक्ति और सगुण ब्रह्मविद्की ब्रह्मलोकमें स्थिति प्रतिपादित है।

ब्रह्मसूत्रमें और भी वेदान्तके प्राचीन आचार्योंका नाम उपलब्ध होने से, उसके पूर्वभी आचार्यों ने आत्मतत्त्व की मीमांसा की है, यह प्रतीत होता है, परन्तु उनकी कृतियां इस समय उपलब्ध नहीं हैं। उन सबों में भी परस्पर मतैक्य नहीं है। आचार्य आत्रेय का नाम, ब्रह्मसूत्रमें एक ही बार आया है। स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४। यज्ञमें यजमानकर्तृक और ऋत्विक्कर्तृक

---

* पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांचकर्मेन्द्रिय, पांचप्राणमन और बुद्धि इन सत्रह पदार्थों का समूह ही लिङ्ग शरीर है।

यज्ञाश्रित उपासना का फल किसको हो ऐसा सन्देह होने पर उक्तफल यज्ञके स्वामी यजमान को ही प्राप्त होता है यह उनका मत है। आचार्य आश्मरथ्य का नाम ब्रह्मसूत्र में दो बार आया है।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः। (ब्र.सू. १।२।२९)।

प्रतिज्ञा सिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः (१।४।२०)।

छान्दोग्योपनिषदमें वैश्वानर के उपासना के प्रकरणमें, प्राचीनशाल सत्ययज्ञ आदि महर्षि आत्मतत्त्व के मीमांसा के लिए वैश्वानर विद्याविद् केकयराज के पास जाकर कहे आप उसका अध्ययन करते हैं उसको कहिए, केकयराज ने उन सबों से पूछा आप लोग किसकी उपासना करते हैं, प्रत्येक ने पृथक्-पृथक् द्युलोक सूर्य वायु आकाश जलपृथिवी को बताया, राजाने प्रत्येक को सुतेजस्त्व आदि गुण विशिष्ट बतलाकर पृथक् उपासना की निन्दाकर प्रत्येक में मूर्छादि भाव का उपदेश कर जो प्रादेश मात्रमें स्थित वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है। वह समस्त लोक में समस्त प्राणियों में और समस्त आत्माओं में अन्नभक्षण करता है, यह कहा, वहां पर वैश्वानर शब्दके अनेकार्थक होने से, जठराग्नि, अथवा अग्नि या तद भिमानी देवता, अथवा जीवात्मा या परमेश्वर किसका ग्रहण हो ऐसा सन्देह होने पर वैश्वानर शब्दसे परमात्माका ही ग्रहण है यह सिद्धान्त किया। फिर सर्वव्याप्त परमात्मा प्रादेश मात्रमें ही स्थित कैसे है यह सन्देह होने पर उक्तसूत्र कहा गया सर्वत्रव्याप्त भी परमात्मा उपासकों के अनुग्रहार्थ हृदयादि प्रादेशमात्रमे अभिव्यक्त होता है यह आचार्य आश्मरथ्यका मत है। एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयीको अमृतत्व के साधनरूप में परमात्मतत्त्व का उपदेश देते समय, नवा अरेपत्युः कामाय ऐसा उपक्रम (प्रारम्भ) कर आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवत्यात्मावा अरेद्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनोवा अरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्, बृ. ४।५।६ अरी मैत्रेयि, पतिके प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती इत्यादि कहकर आत्म 'अपने' ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं उस आत्मा का ही दर्शन श्रवण मनन निदिध्यासन करना चाहिए उसके दर्शन श्रवण मनन विज्ञान से सबका ज्ञान होता है। वहाँ पर आत्म शब्द से जीवात्मा अथवा परमात्मा का ग्रहण होता है ऐसा सन्देह होने पर परमात्मा के दर्शनादि का ही उपदेश है यह सिद्धान्त किया पुनः प्रिय शब्द से जीवात्मा का ही उपक्रम होने से उसका ही ग्रहण क्यों न हो ऐसी आशङ्का पर उक्त सूत्र प्रतिज्ञा सिद्धेः कहा

गया। आत्मा के जान लेने पर सबका ज्ञान होता है यह सब मानना ही है इस प्रतिज्ञा का लिंग प्रिय शब्द से सूचित आत्मा के द्रष्टव्यत्वादि का कथन है यह आश्मरथ्य का मत है एभेदाभेदवादी है इनके मत में जीवात्मा और परमात्मा मे परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है यदि जीवात्मा परमात्मा से अत्यन्त भिन्न होता तो परमात्मा के ज्ञान से जीवात्मा न ज्ञात होता तो आत्मविज्ञान से सर्व विज्ञान के प्रतिज्ञा की हानि होती प्रतिज्ञा के सिद्धि के लिए जीवात्मा और परमात्मा के अभेद अंश से उपक्रम है।

आचार्य औडुलोमि का नाम तीन बार ब्रह्मसूत्र में आया है।

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः। ब्र० १।४।२१।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मैहि परिक्रियते। ३।४।४५

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः।४।४।६।

ए भेदवादी हैं संसारावस्था में जीवब्रह्म का भेद है, मुक्तावस्था में अभेद, परमात्मा से अत्यन्ताभिन्न हो जीव देह इन्द्रिय आदि के सम्पर्क से सर्वदा कलुषित रहता है, परमात्मा के ध्यान ज्ञान आदि साधन के अनुष्ठान से कालुष्य भाव के निवृत्त होने पर शरीर से उत्क्रमण के समय परमात्मा के साथ ऐक्य की उपपत्ति से उक्त अभेद का उपक्रम है ऐसा उनका मत हैं एवं यज्ञ में अङ्गभूत यजमान का कर्म नहीं किन्तु ऋत्विक् का ही है यह आचार्य औडुलोमि मानते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में य आत्माऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसंकल्पः (८।७।१) ऐसा उपन्यस्त है अपहतपाप्मत्वादि, धर्म केवल शब्दके विकल्प हैं चैतन्यमात्र ही आत्माका स्वरूप है, तन्मात्र स्वरूपसे हो उसकी अभि निष्पत्ति युक्त है ऐसा आचार्य औडुलोमि मानते हैं।

कार्ष्णाजिनि का नाम ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथमपादके नवम सूत्रमें आया है। चरणादितिचेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः। छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चमाध्याय दशमखंडमे जीवोंकी त्रिविधगती होती है यह विचार किया गया है। उसमें जो रमणीयचरण होते हैं अच्छे कर्म करने वाले, वे शीघ्रही उत्तम ब्राह्मण आदि योनियों को प्राप्त होते है जो कपूय चरण, निन्दित आचरण, वाले होते हैं वे अधम शूकर-कूकर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। वहां पर संशय होता है कि निरनुशय, कर्म फलको भोग लिया है जिन्होंने वे अवरोहण करते हैं, अथवा सानुशय, समस्तकर्मों का फल भोग जिनको नहीं प्राप्त है वे अवरोहण करते हैं। तो सानुशय ही अवरोहण करते हैं ऐसा

सिद्धान्त किया, जिसमें इनका मत है कि रमणीयचरणाः शब्दमें चरण शब्द आचरण अर्थ का वाची होने पर भी अनुशयका उपलक्षण है।

आचार्यकाशकृत्स्न का भी नाम प्रथम अध्यायके चतुर्थपाद बाइसवें सूत्र में आया है। अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। परमात्माही इस संसारमें जीवरूपसे अवस्थित है जीव परमात्माका विकार नहीं है तेज आदिके सृष्टिमें जीवकी पृथक् सृष्टि श्रुत नहीं है, जिससे परमात्मासे भिन्न उसका विकार जीव हो, ऐसा आचार्य का शकृत्स्न मानते हैं, भगवान् शंकराचार्यने इनके मतको औपनिषद घोषित किया है।

आचार्य वादरि का नाम ब्रह्म सूत्र मे चार बार निर्दिष्ट है। अनुस्मृतेव दं रः १।२।३०। सुकृत दुष्कृते एवेति तु वा दरि ३।१।११। कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।७। अभावं वादरिराह ह्येवम् ।४।४।१०। उपनिषदोंमें सर्वव्यापक परमात्मा का प्रादेशमात्र रूपसे वर्णन किया है उसमें युक्ति आचार्य वादरि देते हैं। मन प्रदेशमात्र हृदयमें रहनेके कारण शास्त्रों में प्रादेशमात्र कहा जाता है, ताहशमनसे परमेश्वरका स्मरण होता है इसलिए परमात्मा भी प्रादेशमात्र रूपसे वर्णित होता है। एवं छान्दोग्योपनिषद्मे रमणीय चरणाः पद में चरण शब्दका अर्थ सुकृत और दुष्कृत ही हैं यह वादरिको अभिप्रेत है। और भी उक्त उपनिषद् में स एनान् ब्रह्म गमयति। छां–३।४।१५।५। ऐसा वर्णन है। वहां पर ब्रह्मशब्दसे कार्य ब्रह्म का ग्रहण है, अथवा पर ब्रह्मका ऐसा संशय होने पर वह कार्य ब्रह्म ही है परब्रह्म नहीं, उसके सर्व व्यापक और प्रत्यगात्म स्वरूप होनेसे गन्तृत्व गन्तव्यत्व आदि उसमे सिद्ध नहीं होते। कार्य ब्रह्ममें प्रदेशवत्त्वके होनेसे गन्तव्य रूपसे उसका वर्णन संभव है ऐसा आचार्य वादरि मानते हैं।

छान्दोग्यके अष्टम प्रपाठक में मुक्त पुरुषके प्रसङ्ग में संकल्पादेवास्यापितर समुत्तिष्ठन्ति ८।२।१। यह कथन है, यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर भावको प्राप्त विद्वान् पुरुषके शरीर तथा इन्द्रिय आदि की सत्ता रहती है कि नहीं आचार्य वादरि कहते हैं कि नहीं रहती क्योंकि आगे चलकर छान्दोग्य में ही मन सैतत्कामा न्पश्यन् रमते, ८।१२।५। ऐसा कहा है शरीर इन्द्रिय आदि की सत्ता रहने पर मनसा यह विशेषण न होता।

आचार्य जैमिनिका नाम ब्रह्मसूत्र में सबसे अधिक है, साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः। १।२।२८।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति। १।२।३१।

मध्वादिस्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।१।३।३१।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्न व्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।१।४।१८। धर्मं जैमिनि रतएव ३।२।४०।

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।

परामर्शं जैमिनि रचोदना चापवदति हि । ३।४।१८।

तद्भूतस्यतु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः । १३।४।४० ।

परं जैमिनिर्मुख्य त्वात् ।४।३।१२।

ब्राह्मेण जैमिनिरुप न्यासादिभ्यः ।४।४।५।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११ ।

मूर्द्धा, मस्तक से लेकर चिबुक मात्र पर्यन्त शरीर का भाग प्रादेश मात्र है उसीमे त्रैलोक्यात्मा वैश्वानर के अवयवोंका सम्पादन कर, अर्थात् उसीमें वैश्वानर उपास्य है यह कहने से ही परमेश्वर में प्रादेशमात्रत्व सिद्ध होता है अतः प्रादेशमात्र श्रुति उपपन्न होती है यह आचार्य जैमिनि का मत है।

ब्रह्म विद्या में देवताओं का अधिकार है कि नहीं, यह प्रश्न उपस्थित होने पर सम्पूर्ण ब्रह्म विद्या में यदि देवताओं का अधिकार माना जाय तो, असौ वा आदित्यो देवमधु, आदित्य में मधु का अध्यासकर उपासना करें उपासना के भेदपूर्वक होने से आदित्य संज्ञक देवता किस अन्य आदित्य की उपासना करें, अतः मध्वादि विद्या में असम्भव होने से, ब्रह्म विद्यामें देवों का अधिकार नहीं है यह आचार्य जैमिनि को अभिप्रेत है। इनके मत का खंडन, बादरायण ने, भवंतु बादरायणो ऽस्तिहि, १।३।३३। इस सूत्र से किया है । बादरायण के मतमे मध्वादि विद्यामे इनका अधिकार सम्भव न होने पर भी शुद्ध ब्रह्म विद्या में देवताओं का अधिकार है। कौषीतकि ब्राह्मण में, बालाकि और अजातशत्रुके सम्वाद मे, यह श्रुत है. योवै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः । कौ-ब्रा० ४।१६। जो पुरुषों का कर्ता है जिसके ए सब कर्म हैं वही जानने के योग्य है, तो वहांपर, जाननेके योग्य का उपदेश होने से क्या जीव वेदितव्य है, अथवा मुख्यप्राण, या परमात्मा, ऐसा संशय होने पर परमेश्वरही है, यह सिद्धान्त किया, फिर यस्यवै एतत्कर्म, कर्म शब्दके धर्माधर्म वाची होने से परमेश्वरमें इसके असम्भव होने से जीव ही है, नहीं क्रियतेयत् तत्कर्म, ऐसी व्युत्पत्ति होने से और सर्वनाम से जगत् का परामर्श होने से, जगत्का कर्ता परमेश्वर ही वेद में श्रुत है अतः परमात्मा ही वेदितव्यहै। आचार्य जैमिनि कहते हैं

जीवात्मा तथा मुख्य प्राण का वर्णन दूसरे प्रयोजन से है क्योंकि प्रश्न और उत्तर से यही सिद्ध होता है। और काण्वशाखावाले भी ऐसा कहते हैं।

जीवों के कर्मफल का देने वाला कौन है आचार्य जैमीनि कहते हैं कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फलदाता है श्रुति और उपपत्ति से स्वर्गकामोयजेत ऐसी विधि श्रुति है जिससे यज्ञ आदि कर्म ही अपूर्व के द्वारा स्वर्ग रूप फल का जनक है। ईश्वर फल देता है यह युक्त नहीं, केवल ईश्वर में फल दातृत्व की कल्पना करने से वैषम्य नैर्घृण्य दोष आता है। इसका भी खण्डन बादरायण ने किया है पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्य पदेशात्। ३।२।४१। कर्म के जड़ होने से उसमें फलदातृत्व नहीं बनता अतः कर्म सापेक्ष ईश्वर ही फल दाता है जिससे कि वैषम्य आदि दोष उसमें नहीं है यह बादरायण को अभिप्रेत है।

कर्म का अंग होने के कारण ब्रह्म विद्या को पुरुषार्थ बताने वाली श्रुतियाँ अर्थवाद है जिस प्रकार यज्ञ के अन्य अंगों की फलश्रुति यह जैमिनि मुनि कहते हैं।

परन्तु बादरायण ऐसा नहीं मानते, पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायण (३।४।१) वेदान्त वाक्य विहित ब्रह्मज्ञान स्वतः पुरुषार्थ है, तरति शोकमात्मवित् (आत्मज्ञानीशोक मोह आदि से तर जाता है) आदि वेदान्त वाक्य अर्थवाद है यह कथन साहस मात्र है। ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है यह तत्तु समन्वयात् सूत्र के भाष्य में सविस्तार वर्णित हैं।

श्रुतियों में सन्यास आश्रय का वर्णन केवल अनुवाद मात्र है विधि नहीं क्योंकि उसमें विधि सूचक क्रिया पद का प्रयोग नहीं हैं और उसका अपवाद भी है यह जैमनि को अभिप्रेत है। इसका भी खण्डन बादरायण ने किया है। अनुष्ठेयं बादरायणः साम्य श्रुतेः। गृहस्थ आश्रम के धर्मों के समान अन्य आश्रम के धर्मों का भी अनुष्ठान कर्तव्य है। क्योंकि श्रुति में समस्त आश्रम के धर्मों की कर्तव्यता का समान रूप से प्रतिपादन है। इसका भी विशद विवेचन जिज्ञासाधिकरण के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने किया है।

और सूत्रोंका व्याख्यान विस्तारभयसे नहीं किया जा रहा है ए जैमिनिमुनि बादरायणके साक्षात् शिष्य माने जाते हैं इन्होंने कर्म मीमांसाकी रचना की है। वेद के कर्मकांड भाग का विचार उसमें हैं।

भगवान् शंकराचार्यके पूर्व भी वेदान्तके प्रमुख आचार्य रहे हैं। जिनके नामका उल्लेख उनके ग्रन्थोंमे मिलता है। जिनमे भर्तृप्रपञ्चनेकठ और बृहदारण्यकोपनिषत्परभाष्यकी रचना की थी इनका सिद्धान्त ज्ञान कर्म का

समुच्चयवाद था शंकर स्वामीने बृहदारण्यकके भाष्य में औपनिषदम्मन्य कहकर इनका परिहास किया है ।

ज्ञान कर्म समुच्चयवादी कर्मसमुच्चित ज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं । जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में आया है । विद्यां च अविद्यां च य स्तद्वेदोभयंसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । यह श्रुति स्पष्ट ही विद्या ज्ञान और अविद्या, कर्मके समुच्चयको मोक्षका साधन बतला रही है । कहा जा सकता है कि मृत्युपद वाच्य भवबन्ध निवृत्तिमें अविद्या का उपयोग है और अमृत, मोक्ष प्राप्ति में विद्या ज्ञान, का उपयोग है दोनों का फल एक न होने से समुच्चय कैसे परन्तु यह ठीक नहीं केवल ब्रह्म की प्राप्तिमात्र मोक्ष नहीं, क्योंकि उसके स्वप्रकाश और नित्य सिद्ध होनेसे साधन व्यर्थ होंगे । और न तो केवल अविद्याकी निवृत्ति मात्र मोक्ष है अतः अभावरूप होनेसे वह पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता, इसलिए अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित ब्रह्म प्राप्ति ही मोक्ष पदार्थ है । उसमें दोनोंकी साधनता है । यदि यह कहा जाय कि उक्त मन्त्र में विद्यापदसे देवताका ज्ञान ही अभिप्रेत है, न कि परमात्म विज्ञान तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ईशावास्यमित्यादिसे परमात्म विज्ञानका ही उपक्रम होनेसे तदनुगुण मध्यमें भी उसीका ग्रहणयुक्त है । एवं उपक्रम विरुद्ध होने से देवताका विज्ञान गृहीत नहीं है तपो विद्याच विप्रस्य निः श्रेयसकरं परम् । तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृत मश्नुते, यह मनुस्मृति । और तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने यह पराशर स्मृति भी ज्ञान और कर्मके समुच्चयको अङ्गीकार करती है ।

श्रीशंकराचार्य मोक्ष के प्रति केवल ज्ञानको ही कारण मानते हैं, कर्म का उपयोग चित्त शुद्धि में है, उसके द्वारा परम्परया ज्ञानमें भी उपयोगिता नित्य नैमित्तिक कर्म की हो, किन्तु युगपत् (एक साथ) ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता, तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, न कर्मणा नप्रजयाधनेनत्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः, ब्रह्म विदाप्नोतिपरम्, तरतिशोकमात्मवित्, आदि श्रुतियां केवल ज्ञानसे ही मोक्ष होता है यह प्रतिपादन करती हैं ।

विद्याञ्च, आदि श्रुतिमें विद्या शब्द से देवता का ज्ञान ही उनको अभिप्रेत है, एवं केवल विद्या के निन्दा परक ततोभूयइवतमोय उ विद्यायां रताः आदि वाक्य में भी विद्यासे देवता ज्ञान का ही ग्रहण है । ज्ञानकर्म समुच्चयवादी के मतमें भी काम्य कर्मका ज्ञानके साथ समुच्चय सम्भव नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु जन उसका परित्याग करते हैं । नित्य नैमित्तिक कर्मका भी समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि तत्तदाश्रमविहित नित्य नैमित्तिककर्म में भी उत्कर्ष और अपकर्ष के

होनेसे, कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्, न्यायसे, मोक्षरूपफल में भी उत्कर्षापकर्ष मानना पड़ेगा, तो सातिशय होने में मोक्ष अनित्य हो जायगा। अतः केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

ब्रह्मदत्त नामके वेदान्त के आचार्य शंकराचार्य के पूर्वकाल में थे। ऐसी सम्भावना की जाती है, कि उन्होंने भी ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य किया हो। उनके मत में जीव भी जड़ जगत् के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है, और ब्रह्ममें लीन हो जाता है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य है। आचार्य आश्मरथ्य के मत से भिन्नता यह इनमें है कि ए अद्वैतवादी थे। और आश्मरथ्य भेदाभेदवादी।

श्री शंकराचार्य, ज्ञान में विधि नहीं मानते। जैसा कि तत्तुसमन्वयात् ब्र.सू. १।४। के भाष्य में कहा है। तत्रैवं सति यथाभूत ब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदना तन्त्रम्। तद्विषयेलिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति। बृहदारण्य को पनिषत् के भाष्य में भी कहा है। नच वाक्यार्थज्ञानेविधिप्रयुक्तः प्रवर्तते, विध्यन्तर प्रयुक्तौ चा नवस्थादोषमवोचाम। न चैकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यत्रापि वाक्येषुविधिरवगम्यते। अविद्याका निवर्तक यथार्थ ज्ञान वस्तु तन्त्र है विधि, पुरुषतन्त्र होती है। आत्मज्ञान में विधि की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मदत्त के मतमें, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः आदि वाक्यों का तात्पर्य भावना विधि में है। तत्त्वमस्यादि वाक्य जनित शाब्दज्ञानमात्र से मोक्ष नहीं होता, स्वरूप के बोधक वे वाक्य भावना विधि के अङ्ग हैं। इनके मत का उल्लेख सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में किया है, (१।६७) केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भादाहुः यदेतत् वेदान्त वाक्यादहं ब्रह्मेतिविज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण, अज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य भावनोपचयात् निःशेषज्ञानमपगच्छति देवोभूत्वा देवानप्येति इति श्रुतेः।

श्रीशंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक के भाष्य में, १।४।७ इनके मत का उल्लेख किया है। अपरेवर्णयन्त्युपासनेनाऽऽत्मविषयं विशिष्टं विज्ञानान्तरं भावयेत्तेनाऽऽत्माज्ञायतेऽविद्यानिवर्तकं च तदेव, नात्मविषयं, वेदवाक्यजनितं विज्ञानमिति। एतस्मिन्नर्थेवचनान्यपिविज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, द्रष्टव्यः, श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इत्यादीनि।

भगवान् शङ्कराचार्य जी के गुरु का नाम गोविन्दपाद तथा उनके गुरु का नाम गौड़पादाचार्य था। गौड़पादाचार्य श्री शुकदेवजी के शिष्य थे, ऐसी किंवदन्ती है। सम्भव है कि महर्षि वेदव्यास के पुत्र भगवान् शुकदेव ने सिद्ध शरीरमें अथवा निर्माण शरीरमें आविर्भूत होकर इन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश किया हो।

आधुनिक विद्वानों के मतमें गौड़पादाचार्य ही अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य हैं। मायावाद का आरम्भ भी इन्हीं से माना जाता है। मांडूक्योपनिषत् पर मांडूक्यकारिका इन्हीं की कृति है। कारिकाएं गम्भीर तथा हृदयग्राहिणी हैं। इसमे चार प्रकरण हैं (१) आगमप्रकरण (२) वैतथ्यप्रकरण (३) अद्वैतप्रकरण (४) तथा अलातशान्तिप्रकरण।

शङ्कर सम्मत अद्वैत सिद्धान्त का मूलस्तम्भ मांडूक्य कारिकाएँ हैं, इस पर उनका भाष्य भी है। श्री स्वामी शंकराचार्य जी का आविर्भाव कब हुआ इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। ख्रीष्ट शताब्दी से षष्ठ शताब्दी पूर्व से लेकर उसके अनन्तर नवम शताब्दी पर्यन्त किसी समय में इनका आविर्भाव हुआ था। ऐसा सब मानते हैं। किसी के मतमें ईसा के ५०८ वर्ष पूर्व वे अवतरित हुए। आधुनिक विद्वान्, ७८८ ई० से ८२० ई० तक उनका स्थिति काल मानते हैं। किसी के मतमें ख्रीष्ट पूर्व पञ्चमशताब्दी में वे प्रतीत होते हैं। कोई ख्रीष्ट पूर्व ४४ में उनका अविर्भाव काल मानते हैं। बहुसम्मत उनका, काल ख्रीष्ट अष्टम शताब्दी है। स्वामीदयानन्दने उनको २२सौ वर्ष पूर्व माना है। तथा गच्छ स्वमितो वलवर्माणां ततो जयसिंह ततः कृष्णगुप्तम् (ब्र-सू० मा०४।३।५)

नदि वन्ध्यापुत्रो राजा वभूव प्रकपूर्णवर्मणोऽभिषेकात्: ब्र सू-मा- २।१।१८। ऐसा उनके भाष्य में उपलब्ध होने से वलवर्मा आदि के समकालिक पूर्ण वर्मा राजा के स्थिति काल मे उनकी स्थिति थी, वह कलि के २००० वर्ष के अनन्तर ही प्रतीत होता है नकि पूर्वोक्त, यह भी कुछ लोग मानतें हैं। बौद्धमतका निराकरण कर प्राचीन वैदिकधर्म की स्थापना उन्होंने की यह निर्विवाद है। भारत वर्ष मे जब बौद्धधर्मों का प्रावल्य था उसी समय उनका प्रादुर्भाव हुआ। एवं कुमारिल भट्ट के साथ भी उनका समागम हुआ था यह प्रसिद्धि है। कुमारिल भट्ट का समय ६५०ई० से ७०० ई० तक के मध्यका है ऐसा कुछ लोग मानते है, वहीं उनका भी समय है यह भी कोई कहते हैं।

श्रीशङ्करा चार्य की कृति रुपसे प्रायः २०० के ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, प्रस्त है। परन्तु सब आद्य शंकराचार्य जी के ही रचित हैं यह विवाद इनके बनाए सम्पूर्ण ग्रन्थों की सूची, विस्तार भयसे नहीं दी जारही है। प्रस्थान त्रयपर भाष्य, आदि शंकराचार्य का ही है। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्र नाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, और विवेक चूडामणि अपरोक्षानुभूति उपदेश साहस्री सर्व वेदान्त सिद्धान्त संग्रह, आदि प्रकरण ग्रन्थ भी उनके हैं। प्रपञ्चसार सौन्दर्य लहरी आदि के भी रचयिता वे हैं यह प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त अनेक स्तोत्र ग्रन्थ भी उनके हैं। उनके बनाए हुए ग्रन्थों की नामावली पूज्य श्री महा

महोपाध्याय, पं० गोपीनाथ कविराजजीने अच्युतनामक पत्रिका में, शंकर भाष्य रत्नप्रभाकी भाषानुवाद की भूमिका में दी है। जिज्ञासुजन वहां ही पर देखकर जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं।

भगवान् शंकराचार्य के विषय मे कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। यद्कि उनके विरुद्धमतावलम्बी भी, उनके अकाट्य तर्कों के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। किसी विद्वान् ने जोकि उनके सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कहा है कि शंकरसाविद्वान् शंकर सा तार्किक शंकर सा दार्शनिक शंकर सा प्रचारक हर, एक देश या जाति में देखने मे नहीं आता। शंकर स्वामी की दार्शनिक जगत् में ऐसी धाक है कि चाहे कोई उनके सिद्धान्तों को माने या न माने वह उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता।

किसी अन्य विद्वान् ने भी कहा है कि शंकर एक अलौकिक शक्ति सम्पन्न मेघावी तरुण थे, बत्तीस वर्ष की कम आयु में मृत्यु के पहिले वेदान्त और दस प्रधान उपनिषदों पर सुन्दर और विचार पूर्णभाष्य उनकी प्रतिभा के पक्के, प्रमाण हैं।

शंकराचार्य जीके द्वारा बनाए हुए ब्रह्मसूत्रके भाष्यपर उनके साक्षात् शिष्य पद्म पादाचार्य ने पञ्चपादिकाटीका का निर्माण किया है, जो कि केवल चतुः सूत्रोपर्यन्त ही उपलब्ध है, उसपर भी अनेक टीकाएं हैं, जिसमें कि प्रकाशात्मयतिका विवरण व्याख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है और टीकाएं भी उसी का अनुगमन करती हैं। टीका के अत्यन्त मनोरम होने से उसके नाम से, शाङ्कर वेदान्त में विवरण प्रस्थान प्रसिद्ध हो गया। इसी के आधार पर विद्यारण्य स्वामी ने विवरण प्रमेय संग्रह नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। शाङ्कर भाष्य पर दूसरी टीका द्वादश दर्शनकाननपञ्चानन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, षड्दर्शन टीकाकार श्रीवाचस्पतिमिश्र की बनाई हुई भामती है। विवरण प्रस्थान की तरह शाङ्कर वेदान्त में भामती प्रस्थान भी है अत्यन्त प्रसिद्ध है।

भाष्य की अन्य सम्पूर्ण व्याख्याएँ इन्हीं दोनों प्रस्थानों का प्रायः अनुगमन करती हैं।

इन दोनों प्रस्थानों में उपेय भूत पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त के स्थापना में विरोध न होने पर भी उपायभूत व्यावहारिक प्रमेय विशेष के किसी २ अंश में तात्पर्य भेद है।

जैसे विवरण में ब्रह्म साक्षात्कार में शब्द करण है भामती में मनको करण माना गया है।

दोनों मतों का विवेचन प्रकृत पुस्तक के १२२,१२३ वें पृष्ठ में है। इसलिए यहां नहीं किया जाता है।

एवं यज्ञादि कर्मों की ज्ञान में साधनता विवरणकार को अभिप्रेत है। भामती मे उसका उपयोग विविदिषा ज्ञान के इच्छा में विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति नतु विदन्ति इत्यादि पद सन्दर्भ से माना है। यह भी प्रकृत पुस्तक के १३२ वें पृष्ठ में है।

विवरण में दर्शन को ब्रह्म साक्षात्कार में विधि का अंगीकार न होने पर भी, श्रोतव्यः श्रवण में नियम विधि माना गया है। जैसा कि प्रथम वर्णक में कहा है अमृतत्व साधनं आत्मदर्शनं द्रष्टव्यः इत्यनूद्यतादर्थ्येन मनन निदिध्यासनाभ्यां फलोप कार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नाम अंगि विधीयते। परन्तु भामतीकार श्रवण आदि में कोई विधि नहीं मानते समन्वयाधिकरण में नचैवं* भूतानि इत्यादि से अप्रमाणी भवन्ति इत्यादि पर्यन्त से विधिका अभाव सूचित किया है। जिसमें भाष्य-कार की भी सम्मति है ज्ञान में वैतन्न क्रिया। और भी जीव और ईश्वर में औपाधिक भेद होने पर भी पारमार्थिक भेद अद्वैत सिद्धान्त में नहीं माना जाता। जीव अन्तःकरण अथवा अविद्या रूप उपाधि से अवच्छिन्न है अथवा उन उपाधियों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब है। यह अवच्छेद वाद और प्रतिबिम्बवाद प्रस्थान भेद से स्वीकृत है। जिसमें विवरणकार प्रतिबिम्बवाद के पक्षपाती है। भामती में अवच्छेदवाद का समर्थन है। विवरण के मतानुयायी प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थन करते हैं अन्तःकरण अथवा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है। शङ्का होती है रूपवद्द्रव्य का ही रूपवान् दर्पण में प्रतिबिम्ब देखा गया है, नीरूप अन्तःकरण अथवा अविद्या में नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब कैसे, तो यह ठीक नहीं रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है ऐसा नियम मानने पर रूप रहित रूप परिमाण आदि का प्रतिबिम्ब नहीं होगा कहा जा सकता है कि उक्त नियम द्रव्यविषयक है रूप आदि गुण हैं द्रव्य नहीं जिससे कि उक्त दोष नहीं है। रूप रहित ब्रह्म के द्रव्य होने से उसका प्रतिबिम्ब नहीं होता। तो द्रव्य गुण की परिभाषा वेदान्त सिद्ध नहीं है धर्म रहित ब्रह्म में द्रव्यत्व सिद्ध भी नहीं है। जिससे कि उसके प्रतिबिम्ब में रूप की अपेक्षा नहीं है श्रुति भी इसमें प्रमाण है रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत। और ब्रह्मसूत्र में भी अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् सूत्रसे प्रतिबिम्बवाद की पुष्टि होती है। जिससे कि प्रतिबिम्बवाद सिद्ध होता है।

---

*—द्रष्टव्य २८१ से २८८—पृष्ठ

भामतीकार के अनुयायी अवच्छेद पक्ष ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में चाक्षुषत्व आवश्यक है। जिसका चक्षुरिन्द्रिय से ज्ञान हो उसी का प्रतिबिम्ब होता है। रूपादि के चाक्षुष होने से उनका प्रतिबिम्ब होता है ब्रह्म तो चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं जिससे कि उसका प्रतिबिम्ब हो।

रूप रहित ध्वनि में रूप रहित वर्णं का भी प्रतिबिम्ब नहीं होता किन्तु ध्वनि के धर्म उदात्तत्व आदि वर्णों के साथ भेद गृहीत न होने से अध्यास होता है जिससे कि चाक्षुषत्व के प्रतिबिम्बितत्व प्रयोजकता में व्यभिचार नहीं है। चन्दन आदि के प्रतिबिम्ब में चाक्षुष रूप आदि का ही प्रतिबिम्ब देखा गया हैं अचाक्षुष गन्ध-स्पर्श आदि का नहीं। उक्त श्रुतिसूत्र आदि की योजना प्रतिबिम्ब कल्प अर्थमान कर भी सम्भव है इसलिए अवच्छेद पक्ष ही युक्त है।

विवरण में अज्ञान का आश्रय और विषय ब्रह्म ही है। जैसे कमरे में स्थित अन्धकार कमरे के आश्रित भी हैं और उसको विषय भी करता है इसी प्रकार ब्रह्माश्रित भी अज्ञान ब्रह्म को विषय करता है। और न तो अज्ञान का चित्स्वरूप ब्रह्म के साथ विरोध ही है क्योंकि साक्षि चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के द्वारा ही उसका प्रकाश होता है। अज्ञान का विरोधी तो वृत्तिज्ञान है।

भामतीकार के मत में अज्ञान का विषय ब्रह्म है किन्तु उसका आश्रय जीव है। नित्य शुद्ध बुद्ध प्रकाशस्व रूप ब्रह्म में अज्ञान की आश्रयता सम्भव नहीं है। बीजांकुर के समान अनादि होने से अन्योन्या श्रयदोष भी नहीं है।

सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण के अर्भकौकस्त्वादित्यादि सूत्र के भाष्य व्याख्यान भामती में कहा है। अनाद्यविद्याऽवच्छेद लब्ध जीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदे-नावभासते। तादृशानां च जीवानामविद्या नतु निरूपाधिनो ब्रह्मणः। नच अवि-द्यायां सत्यां जीवात्म विभागः। सति च जीवात्मविभागे तदाश्रयऽविद्येत्यन्योन्या श्रयमिति साम्प्रतम् अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजांकुर वदनवक्लृप्तेरयोगात्।

तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि वाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति शुद्ध ब्रह्म को विषय करती है यह विवरणकार को अभिप्रेत है। भामतीकार में उपहित ब्रह्म की ही उसका विषय माना है।

स्वाध्यायाध्यन विधि का फल अक्षरावाप्ति विवरणकार को स्वीकृत है।

भामतीकार मीमांसक सम्मत अर्थावबोध पर्यन्त केवल अक्षरावाप्ति नहीं स्वाध्यायाध्ययन विधि का फल मानते हैं। इस तरह संक्षेप में दोनों प्रस्थान के

मत भेदकादिग्दर्शन मात्र किया गया। लेखक लेवर के बढ़ जाने के भय से विस्तृत नहीं किया गया।

भामती पर श्री अमलानन्द ने कल्पतरुनाम की टीका बनाई है। जिस पर श्री अप्पयदीक्षित ने परिमलनाम की व्याख्या की है। और भी टीकाएँ भामती पर हैं, परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। आधुनिक प्रकाश विकाश नाम की टीका, श्री पं० लक्ष्मीनाथझा कृत है जो केवल चतुः सूत्रीपर्यन्त ही है।

षड्दर्शन टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र मिथिला के भूमि को अपने जन्म से अलंकृत किया था। उनके बनाए हुए न्याय सूची निबन्ध में यह श्लोक मिलता है।

न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे। श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

जिससे कि ८९८ वैक्रम सम्वत् इस ग्रन्थ के बनानेका समय है जो कि सन् ८४१ ई० है अतः उनका समय ख्रीष्ट नवम शताब्दी माना जाता है। ब्रह्मसूत्र पर भामती व्याख्या के अतिरिक्त इन्होंने मण्डन मिश्र के बनाए हुए विधि विवेक पर न्याय कणिका नाम की टीका और ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा एवं तत्त्व बिन्दु न्याय सूची निबन्ध न्यायवर्तिक तात्पर्य टीका सांख्यतत्त्व कौमुदी तत्त्व वैशारदी आदि की भी रचना इन्होंने की थी। जिससे कि इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा और समग्र दर्शन में अगाध पाण्डित्य सूचित होता है।

शारीरक भाष्य के ऊपर इनकी बनाई टीका भामती नाम भी सहेतुक है। इस विषय में ऐसी किंवदन्ती है। इनके स्त्री का नाम भामती था। ए शास्त्र के अध्ययन अध्यापन और टीका आदि के निर्माण कार्य में इतने संलग्न थे कि इन्हें अपने स्त्री का ध्यान नहीं रहा। पातिव्रत्य धर्म का पालन करती हुई इनकी पत्नी वृद्धावस्था के आनेपर सम्पूर्ण शास्त्र वेदवेदांग आदि की अध्ययन कर इनके समीप से लौटने वाले इनके शिष्यों से इनका यश सुनकर उनके दर्शन की अभिलाषा से रात्रि में ग्रन्थ बनाते हुए इनके सामने निर्वाणोन्मुख दीपक के बत्ती को बढ़ाकर उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। कौतूहलवश उनसे पूंछो जाने पर भगवन् मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ हमारा नाम चिरकाल तक प्रतिष्ठित हो ऐसा भाव व्यक्त किया जिसमें कि भामती नाम इस टीका का हुआ।

कहा जाता है कि वाचस्पति मिश्र मंडन मिश्र के सिद्धान्त के अनुयायी थे।

ऐसी भी किम्बदन्ती है। भगवान् शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में हारने के बाद मंडन मिश्र ही उनसे दीक्षा लेकर सन्यासाश्रममें सुरेश्वराचार्य नामसे विख्यात हुए। भगवान् शङ्कराचार्य उनको अपने बनाए हुए ब्रह्मसूत्र के भाष्य पर वार्तिक बनाने

के लिए प्रेरित किया। यह उनके अन्य शिष्य न सहस के ओर जाकर भगवान् से कहे, कि सुरेश्वर पहिले के गृहस्थ हैं इनकी कर्मकांड में आसक्ति है, ए यदि आपके भाष्य पर वार्तिक रचना करेंगे तो पूर्व मीमांसक सम्मत कर्म मार्ग का ही प्रतिपादन करेंगे, जिससे कि भगवत्सम्मत अद्वैतसिद्धान्त आकुलित हो जायगा। पद्मपादाचार्य ब्रह्मचर्याश्रम से हो सन्यास लिए है ए औपनिषद तत्त्वज्ञान के अनुयायी हैं ए वार्तिक की रचना करें। जिससे कि अद्वैतसिद्धान्त सुदृढ़ हो। भाष्यकार शङ्करस्वामी वार्तिक के निर्माणमें विघ्न देखकर पद्मपादाचार्य को केवल टीका बनाने के लिए आदेश दिया। सुरेश्वराचार्य निमित्त नैष्कर्म्य सिद्धि देखकर अद्वैततत्त्व मे उनकी निष्ठा जानकर बृहदारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषत् पर अपने बनाए भाष्य का वार्तिक बनाने के लिए उनको प्रेरित किया। सुरेश्वराचार्य ने भी उनके आज्ञाके अनुसार बृहदारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य पर वार्तिक की रचना की।

परन्तु अपने सतीर्थ्योंपर क्रुद्ध होकर शाप दिया कि अन्य निर्मितवार्तिक का प्रचार नहीं होगा, और सतीर्थ्यों ने उनको शाप दिया कि तुमको फिर जन्म लेना पड़ेगा। उस वासना से वासित होकर सुरेश्वर ही अन्य जन्म में वाचस्पति हुए। जिससे कि पद्मपादाचार्य प्रणीत पञ्चपादिका का कहीं २ खण्डन किया है। परन्तु यह कहां तक सत्य है कहा नहीं जा सकता। भगवान् शङ्कराचार्य के समान उनके शिष्य भी शमदमादि साधन से विभूषित थे अतः उनका द्वेषाभिभूत होकर परस्परशाप प्रदान संगत नहीं प्रतीत होता।

आधुनिक विद्वान् मंडनमिश्र और सुरेश्वराचार्य को एक नहीं मानते, मंडन इनसे प्राचीन थे। मंडनमिश्र कुमारिल भट्ट के शिष्य थे ऐसी ख्याति है। परन्तु सुरेश्वराचार्य ने अपने तैत्तिरीयवार्तिक में कुमारिल के श्लोक वार्तिक की मोक्षार्थीन प्रवर्तेत कारिकाको उद्धृत कर कुमारिल भट्ट को मीमांसकम्मन्य कहा है। शिष्य गुरुको ऐसा कहें यह सम्भव नहीं। मंडनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक वेदान्त का ग्रन्थ बनाया था। जोकि अद्वैत सिद्धान्त का पोषक है। इनके मतमें भी अविद्या का आश्रय जीव है, प्रमाणों का फल केवल हान और उपादान (ग्रहण) त्याग ही नहीं है किन्तु उपेक्षा भी है, ज्ञान स्वयं पुरुषार्थ है।

उपेक्षामपि हि फलं प्रमाणस्य च तद्विदः। अविद्या ज्ञानतः शोकी दुःखी जीवः प्रकाशते। तन्निवृत्तिश्चविज्ञानं पुरुषार्थः स्वयं मतम्। ब्रह्म ४० का,५,६,७) परन्तु इनके मतमें ज्ञान के स्वयं पुरुषार्थ होने पर भी शब्दजन्यज्ञानपरोक्ष ही होता है, और संसर्गात्मक होता है, अतः केवल शाब्दज्ञानमात्र से ही कृतकृत्यता नहीं है ब्रह्मको अपरोक्षसाक्षात्कार के लिए निदिध्यासन आवश्यक है निरन्तर

अभ्यास करने से असंसृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि मोक्षका हेतु है। जैसा कि ब्रह्म सिद्धि के नियोग कांडमें कहा है, शाब्दंतु प्रमाणाधीनं क्षणिकंज्ञानम्, तत्र पुनरपि विपर्ययावकाशः। दृष्टं हि प्रमाणाननुसन्धाने पुनः सर्पभ्रान्त्यारज्जोर्भयम्। यथात्रापि संततंशाब्दं ज्ञान मनुसन्दधीत किमन्यदुपासन मस्मात् इत्यादि। इसके पूर्व भी ननु तत्वज्ञान प्रतिहतश्चेदुत्पन्नोऽपि प्रपञ्चावभासो नात्मसंस्पर्शी नकिञ्चित्करः न बन्धः शब्दादेवतस्योत्पत्तेः किमर्थमुपासनादि, उच्यते—परोक्षरूपं शाब्दज्ञानम् प्रत्यक्षरूपः प्रपञ्चावभासः तेन तयोरविरोधेन प्रपञ्चावभासो नात्मासंस्पर्शीना किञ्चित्करः न नबन्धः, यथाप्रमाणान्तरादवसीयमानमाधुर्येऽपि द्रव्ये प्रत्यक्षस्वरूप इन्द्रिय द्वारस्तिक्तावभास अद्रव्यसंस्पर्शी नाभासमात्र तयाऽवतिष्ठते तथाच तद्द्रव्यं परमार्थतिक्त मिवानवसितमाधुर्यमिव दुःखाय भवति। उपासनादिना साक्षात्कृतात्मतत्वस्यत् विरोधात् सन्नपिप्रपञ्चावभासोनात्मसंस्पर्शी देवदत्त इव सिंहावभासम्, सुरेश्वराचार्य ने इनके मत का खंडन करके श्री शंकराचार्य के मत का अनुमोदन किया है?

यद्यपि उनके मत में भी, प्रसंख्यान, निदिध्यासन की आवश्यकता है। तथापि वेदान्त वाक्य से ही साक्षात् रूप में ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। वाक्य से संसर्गात्मिक परोक्ष ही ज्ञान होता है यह नियम नहीं है। सोऽयं देवदत्तः दशमस्त्वमसि आदि स्थल में असंसृष्ट और अपरोक्षज्ञान भी देखा जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान का निश्चय प्रमेय के अधीन है। संसंगरहित ब्रह्म के प्रत्यगात्मा से अभिन्न होने से तत्वमसि आदि वाक्यों से अपरोक्ष ज्ञान में कोई बाधक नहीं है। अतः वेदान्त वाक्य जन्य ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान में प्रसंख्यान की सहकारिता अपेक्षित नहीं है। हां मन्द अधिकारी के लिए जिनको प्रतिबन्ध के कारण वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, उनके लिए प्रसंख्यान के अभ्यास की आवश्यकता है जिससे प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। अनन्तर उनको वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है। प्रतिबन्धक के अभाव में वाक्य प्रसंख्यान की अपेक्षा करके ही प्रमेय को प्रकाशित करता है। इसलिए प्रसंख्यान या निदिध्यासन आत्मसाक्षात्कार का पूर्ववर्ति है। उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि मण्डन और सुरेश्वराचार्य एक व्यक्ति नहीं है।

मंडन मिश्रके विषयमे यह प्रसिद्ध कि वे वेद के कर्मकांड भागों को प्रमाण मानते थे, वेदान्तवाक्यों को नहीं, युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता, ब्रह्मसिद्धि में वेदान्त वाक्यों का भी प्रामाण्य उन्होंने सिद्ध किया है।

अद्वैतवाद के विषयमें कहा जाता है कि इसके प्रवर्तक गौड़पादाचार्य है, श्री

शंकराचार्य ने उसको पुष्ट किया। परन्तु यह समीचीन नहीं, अद्वैतवाद अत्यन्त प्राचीन है उपनिषदोंमें अद्वैतपरक अनेक वाक्य मिलते है, नासदीय सूक्तमें भी आनीदवातं स्वधया तदेकम्, इत्यादी वाक्यमें उसकी पुष्टि होती हैं। प्राचीन वेदान्त सूत्रकारों में भी कतिपय अद्वैत वादी थे यह प्रसिद्धि है। सूत संहितामें शिवा द्वयवाद है। ऐसी प्रसिद्धि है कि श्री शंकराचार्य सूतसंहिता का अष्टादशवार आलोचन करके शारीरक भाष्य का निर्माण किया था। तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूत संहिताम्। चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्वं वेदान्त निर्णयम्। सूत संहिता प्राचीन शिवाद्वैत सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अति प्राचीन अद्वैत वाद का ही परिष्कार शङ्कर स्वामीने किया है।

शाङ्कय अद्वैतवाद के कतिपय मौलिक सिद्धान्त।

१—एक मात्र निर्विशेष ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी है।

२—जगत् अर्थात् निखिल दृश्य मिथ्या है। भेद अविद्या कल्पित हैं।

३—मोक्ष केवल ज्ञान से होता हैं कर्म अथवा कर्म समुचित ज्ञान से नहीं। हाँ निष्काम कर्म चित्तशुद्धि में कारण है चित्त के शुद्ध होने पर ही उससे ज्ञान सम्पादन की योग्यता आती है।

४—मोक्ष में सुख दुःख नहीं रहते।

५—चित् जीव, अचित्, जड़ प्रपञ्च ईश्वर इन में सर्वथा, पारमार्थिक एकता है।

६—ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है ज्ञान नित्य है और एक है।

७—अविद्या या माया से उपहित ब्रह्म ही सृष्टि के प्रति कारण है।

८—जीवत्व ईश्वरत्व उपाधिकृत हैं।

९—अज्ञान माया त्रिगुणात्मक भावरूप अनिर्वचनीय है।

१०—अज्ञान ब्रह्म के आश्रित है। भामतीकार के मत में अज्ञान का आश्रय जीव है।

११—आत्मा यानी ब्रह्म स्वयं सिद्ध और स्वप्रकाश है उसके सिद्धि के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं। और न तो उसके प्रकाश के लिए अन्य की अपेक्षा है ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप होने से ज्ञान भी स्वप्रकाश है।

१२—अहमर्थ आत्मा नहीं है। चिद् और अचित् की ग्रन्थि हो अचित् अन्तःकरण और चित्स्वरूप आत्मा इनका अन्योन्याध्यास होकर हो अहमर्थ प्रतीत होता है।

शाङ्कर मत में अध्यास मूलस्तम्भ है। क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म में ही अध्यस्त है यह उनका सिद्धान्त है। इसीलिए ब्रह्मसूत्र भाष्य

के प्रारम्भ में सूत्र के अक्षर से असम्बद्ध भी अध्यास की पहिले असम्भावना दिखला कर अनन्तर उसकी उपयोगिता का वर्णन किया है।

यद्यपि अध्यास प्रथम सूत्र के पदों के अभिधा वृत्ति से बोध्य नहीं है। परन्तु उसमें सूत्र का तात्पर्य प्रतीत होता है क्योंकि अनर्थ को निवृत्ति रूप प्रयोजन, और जीवब्रह्म की एकता ही इस शास्त्र का विषय है।

साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुष को ब्रह्म की जिज्ञासा होती है यह प्रथमसूत्र का अर्थ है। जिससे ब्रह्म ज्ञान से अनर्थ की निवृत्ति सूचित होती है। यह समस्त प्रपञ्च ही दुःखरूप है उसकी निवृत्ति जब तक उसको कल्पित अर्थात् अज्ञानमूलक न मानें तबतक असम्भव है सत्यवस्तु की ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती। इसलिए अगत्या वह अविद्यामूलक है यह मानना पड़ता है। क्योंकि ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक होता है।

इस तरह वेदान्त सूत्र का तात्पर्य आत्मा के कर्तृत्वभोक्तृत्वादि रहित परमार्थिक स्वरूप के प्रदर्शन में है परन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध अहंकर्ता भोक्ता सुखी दुःखी आदि आत्मा का स्वरूप उससे विरुद्ध है।

उसके परिहार के लिए आत्मा में प्रतीत होने वाला कर्तृत्वादि धर्म अज्ञान मूलक है उसमें अध्यस्त हैं यह स्वीकार किया जाता है। अन्यथा प्रत्यक्ष विरोध होने से उक्त विषय और प्रयोजन सिद्ध नहीं होंगे। जिससे कि वेदान्त वाक्य अप्रामाणिक होंगे।

इस अध्यास में सूत्रकार की भी सम्मति है। तद्गुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्, ब्र० सू० २।३।२९। श्रुतियों में जीव के उत्क्रमण गति आगति आदि श्रुत होने से जीव अणु परिमाण है ऐसी पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त किया जीव विभु व्यापक है। अन्तःकरण के कर्तृत्व आदि धर्म ही प्रधान है जिस आत्मा के संसारी भाव में वैसा होने से उत्क्रान्ति आदि का व्यवहार आत्मा में होता है न कि आत्मा में स्वतः उत्क्रमणादि हैं। प्राज्ञ परमात्मा के समान। परमात्मा की व्यापकता सभी भाष्यकारों ने और न्याय आदि दर्शनकारों ने माना है। परन्तु सगुण उपासनाके प्रकरण में उपाधि के गुण से उसमें भी अणीयान् व्रीहेर्वायव द्वा आदि व्यवहार होता है। तद्वत् यहां भी समझना चाहिए। इससे बादरायण को भी अन्तःकरण के धर्म का अध्यास आत्मा में होता है अभिप्रेत है। इसलिए भगवान् भाष्यकार उपोद्घात प्रक्रिया से अध्यास का ही प्रथम वर्णन किया।

अनन्तर स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाव भासोऽध्यासः यह अध्यास का लक्षण बतलाकर [1]असत्ख्याति आत्म ख्याति अख्याति अन्यथाख्याति वादियों के मत का

१—द्रष्टव्य प्रकृत पुस्तक के २६ पृष्ठ से ६२ पृष्ठ तक,

निरूपण कर सिद्धान्त सम्मत अनिर्वचनीयख्याति ही युक्ति युक्त है ऐसा तत्तन्मतावलम्बियों का खण्डन कर प्रतिपादन किया। फिर इन्द्रियमन आदि के अविषय प्रत्यगात्मा में अध्यास सम्भव नहीं है यह शङ्का कर अस्मत्प्रत्ययका विषय आत्मा है जिससे कि अध्यास की अनुपपत्ति नहीं है यह प्रदर्शित किया। पश्चात् अध्यास मूलक ही सम्पूर्ण लोक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार तथा प्रमाण प्रमेय आदि हैं यह कहकर अध्यास की अनादिता सिद्ध की।

अनन्तर जिज्ञासाधिकरण में अथ शब्द की प्रारम्भार्थकता या केवल मङ्गलार्थकता का निराकरण कर आनन्तर्यार्थक अथ शब्द है यह प्रतिपादन कर स्वाध्यायानन्तर्य के धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा में तुल्य होने पर भी साधन चतुष्टय सम्पत्ति का ही आनन्तर्य पेक्षित है ब्रह्म जिज्ञासा में नकि कर्म ज्ञान का यह प्रतिपादन किया गया।

ब्रह्म जिज्ञासा पद में षष्ठी समास है, और षष्टी कर्म मे है सम्बन्धसामान्यमें नहीं यह कह कर ब्राह्मण वेद आदि अर्थ परक ब्रह्म शब्द नहीं है किन्तु परमात्मपरक हैं उसका ज्ञान ही सम्पूर्ण अनर्थ का मूल अज्ञान के निवारण में समर्थ है अतः ब्रह्म जिज्ञास्य है। यह प्रतिपादन किया गया। पुनः ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध दोनों पक्ष में जिज्ञास्यता को अनुपपत्ति है यह शंका कर, आत्मा और ब्रह्म के एक होनें से आत्मत्वेन सामान्यतः ब्रह्म के प्रसिद्ध होने पर भी, विशेष रूप से अज्ञात होने से ब्रह्मजिज्ञास्य है यह निरूपण किया गया।

पश्चात् जन्मादिसूत्र से प्रतिपादित ब्रह्म का लक्षण जगत्कर्तृत्व आदि प्रधान काल आदि में भी सम्भव हैं—

तो जगत्कारणता ब्रह्म में ही क्यों इस आशंका का निराकरण अनेक कर्तृ-भोक्तृ संयुक्त जगत् का कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही है यह प्रतिपादन किया। जन्मादि सूत्र में आदि पद से स्थिति और संहार का भी ग्रहण होने से ब्रह्म में अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता सूचित है यह प्रतिपादन किया। ब्रह्म की सर्वज्ञता दृढ़ करने के लिए शास्त्र योनित्वात् यह तृतीय सूत्र है सम्पूर्ण ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण सर्वज्ञ ब्रह्म ही है, अथवा शास्त्र ही उसमें प्रमाण हैं, वह ब्रह्मशास्त्रैक समधिगम्य है अनुमान से उसकी सिद्धि सम्भव नहीं, यह बतलाया गया।

फिर सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य सिद्ध ब्रह्म में ही है यह तत्तुसमन्वयात् सूत्र से प्रतिपादित है। सम्पूर्ण वेद के क्रियार्थक होने से सिद्ध वस्तु परक वेदान्त भाग अप्रमाण हैं ऐसा पूर्व पक्षियों के मतका उत्थापन कर सिद्धवस्तु परक भी वाक्य प्रामाणिक और प्रयोजन युक्त होते हैं जिससे कि सिद्धब्रह्म बोधक

वेदान्त वाक्य में भी अनर्थ निवृत्तिरूप प्रयोजनवत्ता के होने से प्रामाणिकता है यह प्रतिपादन किया।

इस तरह चतुः सूत्रीपर्यन्त भाष्य भामती के विषय का संक्षिप्त प्रतिपादन किया गया। अब अध्यास का प्रकार बतलाकर भूमिका समाप्त की जायगी।

अध्यास का प्रकार यह है। शुद्ध चिदात्मामें अनादि भूत माया का अध्यास पूर्व में होता है।

अनन्तर मायाध्यासविशिष्ट चिदात्मामें माया का परिणाम स्वरूप अहङ्कार का अध्यास होता है। केवल चिदात्मा में अहङ्कार का अध्यास नहीं होता। उसके स्वप्रकाश होने से तद्विषयक अज्ञान सम्भव नहीं है। किसी रूप से अज्ञात-वस्तु ही अध्यास का अधिष्ठान होती है। प्रथम अध्यास अनादि होने से वहां पर अन्य अधिष्ठान के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। यह बात दूसरी है।

अहङ्काराध्यास विशिष्ट चिदात्मा में अन्तःकरण के धर्म इच्छा संकल्प आदि और इन्द्रिय के धर्मकाणत्व बधिरत्व आदि का अध्यास होता है। तादृशधर्म विशिष्ट चिदात्मा में ही मनुष्यत्व आदि विशेष रूपसे शरीर का अध्यास होता है।

मनुष्यत्वादिधर्म आत्मा में देह के धर्म स्थूलत्व कृशत्व आदि का अध्यास होता है।

जिस प्रकार शुक्ति में रजत का अध्यास होने पर अध्यस्त रजत में शुक्ति के धर्म इदन्त्व का अध्यास होता है। जिससे कि इदं रजतं यह प्रतीति होती है। उसी प्रकार पूर्वोक्त सभी अध्यासों में अध्यस्त माया आदि में भी अध्यस्तचिदात्मा का अध्यास होता है यह परस्पर अध्यास ही ग्रन्थि है।

इस तरह अध्यास की परम्परा में शुद्ध चिदात्मा में, अध्यस्त अन्तःकरण आदि के अशुद्धत्व आदि धर्म वास्तव में स्पर्श नहीं करते। अधिष्ठान में आरोपित वस्तु या उसके धर्म के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं रहता। अध्यस्त माया के साथ अधिष्ठान भूत चिदात्मा का आध्यासिक सम्बन्ध भी अनादि है। उस अनादि सम्बन्ध से चिदात्मा से सम्बद्ध माया में चिदात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से अन्तर में प्रवेश किए हुए के समान तथा व्यापक होने से बाहर व्याप्त किए हुए के समान प्रतीत होता है। माया विशिष्ट चेतन ईश्वर कहा जाता है। केवल चिदात्मा ईश्वर नहीं है। माया से उपहित चेतन ही साक्षी शब्द से व्यवहृत होता है। माया के जड़ होने से तद्विशिष्ट चेतन में साक्षित्व का व्यवहार नहीं होता है। माया के सम्बन्ध के बिना शुद्ध चेतन मे भी। साक्षित्व नहीं है। इस तरह माया के सम्बन्ध से ही चेतन में ईश्वरत्व और साक्षित्व का व्यवहार होता है।

माया के परिणाम भूत अन्तःकरण से अवच्छिन्न चेतन, अथवा उसमें प्रतिबिम्बित चेतन ही जीव शब्द से व्यवहृत होता है। वह जीव अनादि माया वशात् शुद्धबुद्ध मुक्त प्रत्यगात्म स्वरूप होने पर भी अपने को बद्धमान बैठा है। वेदान्त वाक्यों के श्रवण मनन और निदिध्यासन से अपने स्वरूप का परिज्ञान कर मुक्त होता है। श्रवण के अनन्तर भी असम्भावना और विपरीत भावना के निवृत्ति के लिए मनन निदिध्यासन आवश्यक है।

मोक्ष में कोई अपूर्व वस्तु प्राप्तव्य नहीं है। किन्तु अपने स्वरूप में स्थित होना ही है। स्वरूप स्थिति के बद्ध अवस्था में होने पर भी वह अविज्ञात है। अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। ज्ञान का भी मोक्षकार्य नहीं हैं क्योंकि अविद्या निवृत्ति से उपलक्षित आत्मा ही अद्वैत सिद्धान्त में मोक्ष है। कहा भी है निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः। अधिष्ठानावशेषोहि नाशः कल्पित वस्तुनः। ज्ञान से प्राप्त ही आत्मरूप वस्तु की प्राप्ति कंठ में पड़े हुए विस्मृत हार के समान और त्यक्त भी सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति पैर में लिपटे हुए रस्सी में प्रतित सर्प के समान मानी जाती है।

ज्ञान से द्वैत की निवृत्ति मुग्दरपात से घटध्वंस के समान नहीं की जाती। यदि ऐसा हो तो उसका निवर्तक अन्य के न होने से द्वैतापत्ति हो जायगी इत्यादि।

विश्व की समग्र भाषाओं में श्रेष्ठतम स्थान रखनेवाली संस्कृत भाषाका दर्शन साहित्य अत्यन्त विशाल और महत्वपूर्ण है। इन सभी दर्शनों में वेदान्त दर्शन की प्राधान्यता विज्ञों से तिरोहित नहीं है। जैसा कि कहा भी है तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा। न गर्जति महाशक्तिः यावद् वेदान्त केशरी। सिंह के सामने शृगाल की भांति अन्य सभी शास्त्र वेदान्त के सामने मौन हो जाते हैं। समस्त पिंड और ब्रह्माण्ड में एक ही श्रेष्ठ तत्व है और उसके साथ मानव किस प्रकार तादात्म्य भाव को प्राप्त होता है यह बतलाने के लिए ही वेदान्त दर्शन प्रवृत्त है। वेदान्त दर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। जिस पर कि श्री शंकर स्वामी का भाष्य अन्य सभी आचार्यों के भाष्य से प्रशस्यतम है। उस, भाष्य के गम्भीरार्थक होने से उस पर श्री वाचस्पति मिश्र निर्मित भामती टीका अन्य सभी टीकाओं से महत्वशालिनी है। भाष्य के भावों के परिज्ञान के लिए भामती का अध्ययन अनिवार्य माना जाता है।

भामती की दुरूहता किसी से छिपी नहीं है। वर्तमान समय में जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित है उसमें इसका अनुवाद न होने से कोमलमति

छात्रों के लिए वह दुरधिगम्य थी। इस विचार से परम कारुणिक भगवान् विश्वनाथ की असीम अनुकम्पा से मैं इसके अनुवाद में प्रवृत्त हुआ। सम्पूर्ण भामती का भाषानुवाद चिरकालसाध्य होने से परीक्षा में निर्धारित केवल चतुःसूत्रीपर्यन्त ही इसका अनुवाद कर रहा। विषय के गम्भीर होने से भाषा में कहीं-कहीं दुरूहता हो गई है। फिर भी यथासंभव दुरधिगम स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसमें कहां तक सफलता मिली है यह तो विज्ञजन ही बतला सकते हैं। मैं तो उनके सामने अपनी तुच्छ कृति को प्रस्तुत करता हुआ उनसे विनम्र निवेदन करता हूँ कि मेरे अल्पज्ञता और अनुभवहीनता के कारण जो त्रुटियाँ हो उनको निर्दिष्ट करने की कृपा करेंगे, जिससे कि अग्रिम संस्करण में उसका परिहार किया जा सके।

कृतज्ञता प्रकाश

जिन गुरुओं की कृपा से मुझे इस शास्त्र में प्रवेश हुआ उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ और उनके प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। हमारे पूज्य चरण गुरुवर्य स्वर्गीय श्री पं० रामयश त्रिपाठी, जिनकी कृपा से मेरा भामती में प्रवेश हुआ। और माननीय पूज्यपाद १००८ श्रीस्वामी महेश्वरानन्दजी सरस्वती भूतपूर्व कवितार्किक चक्रवर्ती, महादेव शास्त्री सम्मान्य पूज्यपाद श्री पं० रघुनाथ शर्मा, भूतपूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, पूज्य श्री पं० कमलाकान्त मिश्र, अध्यक्ष गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, आदि इन्हीं विद्वानों के द्वारा मुझे वेदान्त दर्शन का ज्ञान प्राप्त हुआ है। इनका मैं अधमर्ण हूँ। इनकी प्रेरणाओं और परामर्शों से मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

हमारे सहयोगी और सतीर्थ्य पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, विविध विषयों के आचार्य, जो वर्तमान समय में वाराणसेय सं० विश्वविद्यालय में पुराण, इतिहास के व्याख्याता हैं। उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। इन्होंने ही मुझे इस कार्य के लिए प्रेरणा दी है।

मैं अपने उन गुरुओं को भी जिन्होंने मुझे बाल्यावस्था में ही संस्कृत भाषा में अनुराग उत्पन्न कर व्याकरण साहित्य आदि पढ़ाया है उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। स्वर्गीय पूज्य श्री पं० लक्ष्मी प्रसाद त्रिपाठी, स्वर्गीय श्री पं० महादेव प्रसाद पाण्डेय, पं० श्री प्रसाद ब्रह्मचारी इन्हीं लोगों के कृपा से व्याकरण का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। प्रेस की प्रतिलिपि तैयार करने में सहयोग देने वाले हमारे प्रिय छात्र, श्री विद्यासागर पाण्डेय श्री दुर्गादत्त उपाध्याय श्री शिवजी उपाध्याय इन सभी

शाङ्करभाष्यम्

आह—कोऽयमध्यासो नामेति, उच्यते स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः।

भामती

कोऽयमध्यासो नाम। क इत्याक्षेपे। समाधाता लोकसिद्धमध्यास लक्षणमाचक्षाण एवाक्षेपं प्रतिक्षिपति—उच्यते स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः। अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।

सुभद्रा—पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि यह अध्यास क्या है? यहाँ किम् शब्द आक्षेप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है सिद्धान्ती लोकसिद्ध अध्यास का लक्षण कहता हुआ आक्षेप का निराकरण करता है:—स्मृति सदृश दूसरे में पूर्वकाल में देखी गई वस्तु की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। अवसाद युक्त अथवा अवमानयुक्त जो प्रतीति उसे अवभास कहते हैं। उत्तरकालिक अन्यज्ञान से पूर्वकालिकज्ञान की निवृत्ति को अवसाद या अवमान कहते हैं। इससे मिथ्याज्ञान यह सिद्ध होता है।

विशेष:—यदि अवसाद और अवमान एक ही हैं तो दोनों को क्यों कहा? उत्तर:—अधिष्ठान के यथार्थस्वरूप के साक्षात्कार से पूर्वज्ञान की निवृत्ति को अवसाद कहते हैं और युक्ति से पूर्वज्ञान में अप्रामाणिकता का होना अवमान कहा जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि जो धर्म जिसमें न रहे उसमें उसकी प्रतीति का होना ही अध्यास कहा जाता है।

भामती

तस्येदमुपव्याख्यानं—पूर्वदृष्टेत्यादि। पूर्वदृष्टस्यावभासः पूर्वदृष्टावभासः। मिथ्याप्रत्ययस्चारोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्टग्रहणेनानृतमारोपणीयमुपस्थापयति, तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति दृष्टग्रहणम्। तथापि वर्तमानं दृष्टं 'दर्शनं' नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्। तत्रपूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयाऽनिर्वाच्यमित्यनृतम्। आरोपविषयं सत्यमाह—परत्रेति। परत्र शुक्तिकादौ परमार्थसति, तदनेन सत्यानृतमिथुनमुक्तम्। स्यादेतत्—परत्र पूर्वदृष्टावभास इत्यलक्षणमतिव्यापकत्वात्। अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाक्ष्यामवभासः। अस्ति च पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्यामवभासः समीचीनः।

सुभद्रा—पूर्व व्याख्यात अवभास पद से ही अध्यास का स्पष्टीकरण हो जाता है तो 'स्मृतिरूपः' इत्यादि विस्तृत लक्षण की क्या आवश्यकता थी? इसका

समाधान करते हुये भामतीकार कहते हैं :—'तस्येदमुपव्याख्यानमिति' अर्थात् यह उसी की विस्तृत व्याख्या है। पहले देखी हुई वस्तु की प्रतीति ही पूर्वदृष्टाव-भास कही जाती है। मिथ्याज्ञान के आरोपविषय (शुक्ति) तथा आरोपणीय (रजत) का जब तक तादात्म्य नहीं होगा तब तक मिथ्याज्ञान (यह रजत है) नहीं हो सकता। लक्षण में भाष्यकार भगवान शंकर ने पूर्वदृष्ट शब्द के ग्रहण से आरोपणीय (रजत की) असत्यता का बोध कराते हैं। आरोपणीय वस्तु का ज्ञानमात्र ही अध्यास में अपेक्षित होता है न कि उसकी वास्तविक सत्ता इसी बात को सूचित करने के लिये दृष्ट शब्द का ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिये जैसे चित्राङ्कित सर्प जो कि अवास्तविक है किन्तु वह ज्ञान का विषय होकर रस्सी में दोषवशात् प्रतीत होता है। तथापि वर्तमानकालिक ज्ञान भ्रम का उपयोगी नहीं है इसीलिये पूर्वशब्द का निवेश किया।

वहाँ पर पूर्वदृष्ट वस्तु स्वरूप से सत् होने पर भी आरोपणीय होने के कारण अनिर्वचनीय है अतः अनृत शब्द कहा गया है। वस्तुतः भ्रम में भासित होने वाला रजत अनिर्वचनीय होने से स्वरूपतः भी सत् नहीं है। यह बात 'स्वरूपेण सदपि' के अपि शब्द से सूचित किया है। आरोप का विषय अधिष्ठान सत्य है इसे परत्र शब्द से व्यक्त किया है। परत्र अर्थात् अधिष्ठानभूत सत्य शुक्तिकादि में मिथ्याभूत रजत की प्रतीति ही भ्रम है। इसी से सत्यानृतमिथुन कहा गया है।

'परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः' इसकी सार्थकता बतलाकर भामतीकार 'स्मृतिरूपः' की व्याख्या का उपक्रम करते हैं। अध्यास के 'परत्रपूर्वदृष्टावभासः' लक्षण में अतिव्याप्ति है क्योंकि स्वस्तिमती गौ मे (स्वस्ति चिह्न वाली गौ में) पूर्वदृष्ट गोत्व का कालाक्षी नामवाली गौ में भी प्रतीति होती है। पाटलिपुत्र में पहले देखे हुये देवदत्त का माहिष्मती नगरी में प्रतीति होती है। जो कि यथार्थ-ज्ञान है किन्तु उसमें अध्यास का लक्षण चले जाने से अतिव्याप्ति होगी।

भामती

अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धं यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इत्यत आह—स्मृतिरूप इति-स्मृते रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः। असंन्निहित विषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं सन्निहितविषयं प्रत्यभिज्ञानं समीचीनमिति नातिव्याप्तिः।

सुभद्रा—अवभास शब्द का अर्थ पहले अवसाद या अवमान किया गया है अतः प्रत्ययान्तर से बाध न होने के कारण उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है। अर्थात् स्वस्तिमती गौ मे प्रतीत गोत्व का कालाक्षी में जो अवभास होता है वह प्रत्यभिज्ञा

को हृदय से धन्यवाद देता हूँ और उनका अभ्युदय हृदय से चाहता हूँ। मुद्रक—श्री शिवपूजन पाण्डेय को भी मैं धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, इन्होंने मेरे प्रति बड़ी सद्भावना प्रदर्शित किया है।

अन्त में मैं पूज्य श्री १००८ गीता स्वामी जी महाराज जो वेदान्तमर्मज्ञ और एक परोपकारी महात्मा हैं जिनका वर्तमान निवास मीरजापुर में है उनके प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इनका मेरे ऊपर अगाध स्नेह है इन्होंने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया है। इन्हीं के द्वारा स्थापित संयुक्त संस्कृत विद्यालय मीरजापुर में मैं वर्तमान समय में प्रधान पद पर हूँ। मुद्रण दोषसे, और प्रूफ संशोधन में जो अशुद्धियाँ रह गई हैं उसे पाठकगण क्षमा करेंगे।

श्रीकृष्णार्पण मस्तु

प्रधानाचार्य— संयुक्त संस्कृत महाविद्यालय मीरजापुर	विनीत— सरयूप्रसाद उपाध्याय मा० कृ० ११, वि० सं० २०२३
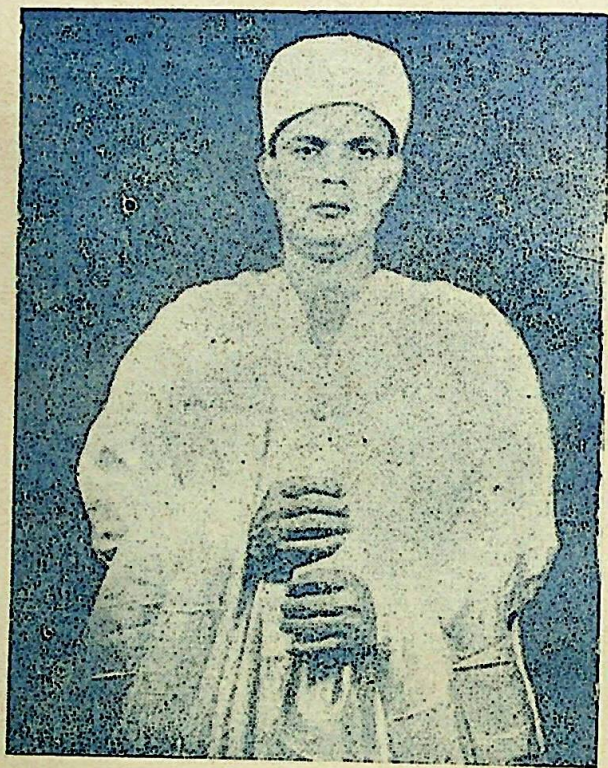
सरयूप्रसाद उपाध्याय

॥ परब्रह्मपरमात्मने नमः ॥

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्

चतुःसूत्रीपर्यन्तभामतीभाषानुवाद सहितम्

—•—

अथ भामती

अनिर्वाच्याऽविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽवनयः ।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥१॥

यत्पादपंकजपरागनिषेवणेन सन्तारिता भवाब्धिमशेषेण ।
तन्नौमि रजनीचरधूमकेतुं सीतापतिं सकललोकसुखैकहेतुम् ॥२॥

सतां सिद्धिकरः श्रीशः लोककल्याणकारकः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽसौ, पायान्नो जगदीश्वरः ॥२॥

पादारविन्दयुगलं गिरिशस्य नत्वा,
ध्यात्वा नगेन्द्र तनयां जगदेकधात्रीम् ।
संस्मृत्य शर्वतनयं सुखदं गणेशम्,
व्याख्यायते खलु यथामतिभामतीयम् ॥३॥

निषेधशेषाय समस्तसाक्षिणे प्रकाशरूपाय सदा दृशाय ।
समग्रदोषैः परिवर्जिताय प्रत्यक्स्वरूपाय सुखात्मने नमः ॥४॥

श्रीमद्गुरुपदाम्भोजद्वन्द्वं नत्वा तु भक्तितः ।
भामत्याः गूढभावायाः भाषाटीका प्रकाश्यते ॥५॥

अथ सुभद्रा

श्री गौरीस्तन पान हेतु जिसने क्रोडस्थ हो हर्ष से,
भ्राता षण्मुख को हटाकर हठात् पी के स्वयं दुग्ध को
जो लम्बोदर तुम हो पद उठा सामोद हैं नाचते,
वे मेरी कृति में सुभद्र [illegible] देवें, उन्हें है नमः ॥

अर्थ—अनादि भावरूप मूल अविद्या एवं पूर्व पूर्वभ्रमजन्य संस्कार रूप अनिर्वचनीय अविद्या के कारण जिस ब्रह्म के पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश रूप पञ्चभूत अतात्विक स्वरूप हैं एवं जिससे नानारूपात्मिका संपूर्ण चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई है उस अपरिमित अनन्त सुख-ज्ञान-प्रकाश-स्वरूप अमृत (अविनाशी) ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ।

विशेष:—जो न तो सद्रूप से और न तो असद् रूप से निरुपित किया जा सके उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अविद्या तथा अज्ञान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। अज्ञान तथा उसका कार्य सम्पूर्ण-प्रपञ्च सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्मज्ञान से इनका बोध होता है। जैसे साप को जान लेने पर उसमें चांदी की पूर्व प्रतीति का बाध हो जाता है उसी तरह ब्रह्मज्ञान हो जाने पर संपूर्ण दृश्य प्रपञ्च अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। अतः इन्हें सत् नहीं कहा जा सकता। खरगोश में सींग तथा आकाश में फूल की प्रतीति नहीं होती इसलिये इन्हें असत् भी नहीं कहा जा सकता। दोनों अविद्याओं का अनिर्वचनीय विशेषण इसीलिये सार्थक है।

जैसे शुक्ति विषयक अज्ञान ही रजत भ्रम का जनक है उसी तरह ब्रह्मविषयक अज्ञान ही संपूर्ण प्रपञ्च भ्रम का जनक है इसीलिये भामतीकार ने अनिर्वाच्य-अविद्याद्वितय सचिव विशेषण ब्रह्म के लिये दिया है।

अविद्या का साचिव्य होने से ही ब्रह्म जगत् के निर्माण में समर्थ है। ब्रह्म असमर्थ है ऐसी शंका न हो इसलिये प्रभवतः कहा। इससे उसका स्वयं सामर्थ्य व्यक्त होता है। सामर्थ्यवान् कर्ता को सामग्री की अपेक्षा रहने पर भी उसका सामर्थ्य नष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिये काष्ठादि के छेदन में कुठारादि की अपेक्षा रखते हुए भी छेदनकर्ता स्वतन्त्र ही कहा जाता है। इस तरह ब्रह्म विकारी हो जायगा ऐसी शङ्का न करनी चाहिये क्योंकि पञ्चभूतादि वस्तु उसके विवर्त हैं। अतात्विक अन्यथा भाव को विवर्त कहते हैं। जो वस्तु दूसरे भाव को न प्राप्त होकर भी अन्यरूप से प्रतीति का विषय हो उसे विवर्त कहते हैं। जैसे रस्सी वस्तुतः सर्पभाव को न प्राप्त होकर भी सर्प रूप से प्रतीत होती है। किन्तु इससे उसमें सर्प के गुण दोष नहीं आते। भगवान् भाष्यकार ने कहा भी है, यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि, स न सम्बध्यते? अध्यासभाष्यः—जिसमें जिसका अध्यास (भ्रमात्मक प्रतीति) होती है वह अधिष्ठान, अध्यस्त (भ्रमात्मक प्रतीति के विषय) के गुण दोष से लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता। इस तरह से विवर्तोपादानत्व के अभिप्राय से ब्रह्म का तटस्थ

लक्षण बतलाकर उसका स्वरूप लक्षण अपरिमित सुख ज्ञान रूप कहा है।

टिप्पणी :—लक्षण दो प्रकार का होता है तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण लक्ष्य में रहने वाले धर्म का जो व्यापक न हो ऐसे लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं, जैसे पृथिवी का गन्धवत्व, लक्ष्य पृथिवी में रहने वाला धर्म पृथिवीत्व वह उत्पत्ति कालीन घट में भी है, परन्तु न्याय सिद्धान्त के अनुसार आद्यक्षण में उत्पन्न द्रव्य, गुण और क्रिया से शून्य रहता है, इसलिए उसमें गन्ध गुण नहीं है, तो गन्धवत्व पृथिवीत्व का अव्यापक है अतः वह तटस्थ लक्षण है, लक्ष्य में रहने वाले धर्म का व्यापक लक्षण स्वरूप लक्षण होता है, पृथिवीत्व जातिमत्व पृथिवी का स्वरूप लक्षण है, स्व में स्व व्यापकता होनेसे, वह स्वरूप लक्षण है। इसी प्रकार ब्रह्म का भी उक्त श्लोक में वर्णित, जिससे चराचर जगत् उत्पन्न हुआ यह तटस्थ लक्षण है, क्योंकि लक्ष्य ब्रह्ममें रहनेवाले ब्रह्मत्व का वह व्यापक नहीं है, ब्रह्मत्व सर्वदा ब्रह्म में रहेगा उक्त लक्षण जगदुत्पत्ति काल में ही है, परन्तु सत्यं ज्ञानं मा नन्दं ब्रह्म, सत्य ज्ञान सुखादि सर्वदा ब्रह्म में रहते हैं, अतः वह स्वरूप लक्षण है।

भामती

निश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चरचरामस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥२॥

सुभद्रा—वेद जिस ब्रह्म के निःश्वास हैं और पञ्चमहाभूत जिसके वीक्षणमात्र से उत्पन्न हैं, यह चराचर जगत् जिसका मंदहास्य है एवं महाप्रलय जिसका शयन है (उसे नमस्कार करता हूँ)

विशेष—जिस तरह श्वास लेने में पुरुष को प्रयास नहीं करना पड़ता उसी तरह परमात्मा को वेद-निर्माण में प्रयास की अपेक्षा नहीं है। भगवती श्रुति भी कहती है:—"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतत् ऋग्वेद यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः" इत्यादि। श्वासके अतिरिक्त अवलोकन क्रिया में जैसे किञ्चित् प्रयास की अपेक्षा होती है उसी तरह पञ्चमहाभूतों के निर्माण में किञ्चित् प्रयास की अपेक्षा है। जैसे हास्य मे अवलोकन की अपेक्षा कुछ अधिक प्रयास करना पड़ता है उसी तरह पञ्चमहाभूतों की अपेक्षा चराचर सृष्टि के निर्माण में अधिक प्रयास अपेक्षित है।

भामती

षड्भिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि।
शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च ॥३॥

सुभद्रा—छः अङ्गों एवं विविध अव्ययों से युक्त शाश्वत जो वेद और शिव हैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

विशेष—इस श्लोक से वेद तथा भगवान् शिव की समता व्यक्त होती है। जिस तरह वेद के व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दोविचिति तथा ज्योतिष ये छः अंग हैं, उसी तरह भगवान् शिव के भी सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वातन्त्र्य नित्यशक्ति एवं अचिन्त्यशक्ति ये छः अंग है। जैसे वेद में विविध अव्यय हैं उसी तरह भगवान् शिव भी ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, जगन्निर्माण की शक्ति आत्मज्ञान और अधिष्ठातृत्व ये दश अव्ययों युक्त हैं।

भामती

मार्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम्।
विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ॥४॥

सुभद्रा—जगद्वन्दनीय तथा संपूर्ण सिद्धियों को देने वाले भगवान् सूर्य, कार्तिकेय एवं गणेश जी की वन्दना करता हूँ।

भामती

ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे।
ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः ॥५॥

सुभद्रा—ब्रह्मसूत्र के निर्माता, सर्वज्ञ तथा भगवान् विष्णु की ज्ञानशक्ति के अवतार वेदव्यास को नमस्कार करता हूँ।

भामती

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शंकरं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥६॥

सुभद्रा—विशुद्धविज्ञानस्वरूप करुणा के कोष भगवान शंकराचार्य को नमस्कार करके तत्प्रणीत जो प्रसन्नगम्भीर भाष्य है उसकी व्याख्या करता हूँ।

विशेष—प्रसन्न अर्थात् प्रसादगुण से युक्त होते हुये भी जिसका तात्पर्य गूढ़ हो उसे प्रसन्न गम्भीर कहते हैं।

भामती

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूत वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥७॥

सुभद्रा—जैसे गलियों का अपवित्र जल भी गङ्गाप्रवाह में पतित होने पर पवित्र हो जाता है उसी तरह आचार्य शङ्कर की कृति भी हमारी वाणी को पवित्र कर देगी।

भामती

अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः, यथा समनस्केन्द्रिय सन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः, करटदन्ता वा, तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। तथाहि—'बृहत्वाद्बृंहणत्वाद्वाऽऽत्मैव ब्रह्मेति गीयते, स—चायमाकीट पतङ्गेभ्य आ च देवर्षिभ्यः प्राणभृन्मात्रस्येदंकारास्पदेभ्यो देहेन्द्रिय मनोबुद्धविषयेभ्यो विवेकेन 'अहम्, इत्यसन्दिग्धाविपर्यस्तापरोक्षानुभवसिद्ध इति न जिज्ञासास्पदम्, नहि जातु कश्चिदत्र सन्दिग्धेऽहं वा नाहं वेति, न च विपर्यस्यति नाहमेवेति।

सुभद्रा—जो सन्देह-रहित और निष्प्रयोजन होता है वह प्रेक्षावान् (विचारक) को जिज्ञासा का विषय नहीं होता। जैसे स्पष्ट प्रकाश होने पर मनःयोगपूर्वक चक्षुरिन्द्रिय से संम्बद्ध होने पर घट सन्देह का विषय नहीं है इसलिये उसकी जिज्ञासा भी नहीं होती। एवं प्रयोजन शून्य होने के कारण काक-दन्त भी जिज्ञासा का विषय नहीं है। अभिप्राय यह है कि जो-जो जिज्ञासा का विषय है वह-वह सन्दिग्ध और सप्रयोजन होता है। अतः जिज्ञास्यत्व का व्यापक सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व हुआ। जिज्ञास्यत्व उसका व्याप्य हुआ। व्यापक न रहने पर व्याप्य नहीं होता जैसे व्यापक अग्नि के न रहने पर व्याप्य धूम भी नहीं रहता, इसलिये व्यापक सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व को निवृत्ति होने से जिज्ञासा भी निवृत्त होती है। अतएव यहाँ ब्रह्म की जिज्ञासा साधन-चतुष्टय-सम्पन्न पुरुष को होती है। यह कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों से आत्मा ही ब्रह्म है यह सिद्ध होता है। ऐसा आत्मा कीट पतङ्ग से लेकर देव ऋषि-ब्रह्मादि पर्यन्त प्राणि-मात्र के सन्देह का विषय न होने से जिज्ञास्य नहीं हो सकता। अर्थात् इदम्प्रतीति के विषय शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय इत्यादि से पृथक् 'अहम्' इसी प्रतीति का विषय होकर आत्मा भासता है। अतः वह जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता। किसी भी पुरुष को 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा सन्देह नहीं होता और न तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा विपर्यास विपरीत ज्ञान ही होता है। इसलिये मुमुक्षु को ब्रह्म-विषयक विचार नहीं करना चाहिये क्योंकि उसके प्रति सन्देह नहीं है।

भामती

न च 'अहं कृशः स्थूलो गच्छामि' इत्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्य दर्शनात् देहालम्बनोऽयमहङ्कार इतिसाम्प्रतम्; तदालम्बनत्वे हि योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थाविरे प्रणप्तृननुभवामीति प्रति सन्धानं न भवेत्।

सुभद्रा—यदि यह कहा जाय कि 'मैं मोटा हूँ या मैं दुबला हूँ मैं जा रहा हूँ' इत्यादि प्रतीतियाँ शरीर को ही विषय करती हैं न कि आत्मा को, क्योंकि स्थूलता और कृशता शरीर के ही धर्म हैं। इसलिये अहंकार देहाश्रित है यह कहना असङ्गत है। उपर्युक्त देहाश्रित अहंकार को अंगीकार करने से "जो मैं बाल्यकाल में माता-पिता का अनुभव किया वही मैं वृद्धावस्था में पौत्र प्रपौत्रादि का भी अनुभव कर रहा हूँ" जो ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वह नहीं हो सकती।

भामती

नहि बालस्थविरयोः शरीरयोरस्ति मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धो येनैकत्व मध्यवसीयेत। तस्माद्येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्। तथा च बालादि शरीरेषु व्यावर्तमानेष्वपि परस्परमहंकारा-स्पदमनुवर्तमानं तेभ्यो भिद्यते। अपि च स्वप्नान्ते दिव्यं शरीरभेदमास्थाय तदुचितान् भोगान् भुंजान एव प्रतिबुद्धो मनुष्य शरीरमात्मानं पश्यन्नाहं देवो मनुष्य एवेति' देवशरीरे बाध्यमानेऽप्यहमास्पदमबाध्यमानं शरीराद् भिन्नं प्रतिपद्यते। अपि च योगव्याघ्रः शरीर भेदेऽप्यात्मान मभिन्नमनुभव-तीति नाहंकारालम्बनं देहः। अतएव नेन्द्रियाण्यप्यस्यालम्बनम्, इन्द्रिय भेदेऽपि योऽहमद्राक्षं स एवैतर्हि स्पृशामीत्यहमालम्बनस्य प्रत्यभिज्ञानात्।

सुभद्रा—प्रतिक्षण बढ़ने और घटने से बाल और वृद्ध के शरीर में स्वल्प भी सादृश्य के न होने से एकता का ही अनुसन्धान नहीं हो सकता। इसलिये जिनके निवृत्त होने पर भी जो अनुगत रहता है वह उससे भिन्न होता है जैसे फूलों के परस्पर भिन्न रहने पर भी सूत्र माला में अनुगत रहता है। इसलिये बाल्यावस्था-युवावस्था और वृद्धावस्था के शरीर के भिन्न रहने पर भी उनमें अनुवृत्त रहने वाला एकाकार-प्रतीति का विषय अहङ्कार उनसे भिन्न है और भी बात है कि स्वप्न में दिव्य शरीर धारण कर उसके योग्य भोगों को भोगता हुआ पुरुष जागने पर अपने को मनुष्य शरीर में देखता हुआ 'मैं देव नहीं हूँ किन्तु मनुष्य हूँ" इससे देव शरीर के निवृत्त होने पर भी 'अहम्' प्रतीति-विषयक आत्मा शरीर से भिन्न है यह निश्चित होता है। दूसरी बात ये है कि मनुष्य होने पर भी खेल तमाशों में कोई व्याघ्र-चर्मादि धारण कर अपने को उस समय शरीर भेद होने पर भी आत्मा की एकता का ही अनुभव करता है। अथवा कोई योगशक्ति-सम्पन्न पुरुष कृत्रिम व्याघ्र देह धारण करके भी शरीर के भिन्न होने पर भी आत्मा के अभेद का ही अनुभव करता है। इससे भी शरीर आत्मा नहीं हो सकता। क्योंकि 'अहम्' प्रतीति आत्मा को ही लेकर होती है। इसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हो सकतीं। यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा होती तो उनमें

भेद होनेपर भी 'जिसको मैंने देखा उसी का इस समय स्पर्श कर रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती ।

भामती

विषयेभ्यस्तावदस्य विवेकः स्थवीयानेव बुद्धि- मनसोश्च करणयो-रहङ्कर्तेति कर्तृप्रतिभासप्रख्यानालम्बनत्वायोगः कृशोऽहमन्धोऽहमित्यादयश्च प्रयोगा असत्यभेदे कथञ्चिन्मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिवदौपचारिका इति युक्तमुत्पश्यामः । तस्मादिदङ्कारा-स्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो व्यावृत्तः स्फुटतराहमनुभवगम्य आत्मा संशयाभावादजिज्ञास्य इति सिद्धम् ।'

सुभद्रा :—विषयों से आत्मा का भेद स्पष्ट ही है। बुद्धि और मन भी आत्मा नहीं हो सकते । क्योंकि वे करण हैं । (साधन हैं ।) मैं मन से स्मरण करता हूँ. मैं बुद्धि से निश्चय करता हूँ ऐसी प्रतीति होने से वे करण हैं । जैसे कुठार से लकड़ी काटता है, यहाँ पर कुठार करण है । जो करण होता है वह कर्त्ता नहीं होता । अतः बुद्धि और मन भी करण होने से मैं कर्ता हूँ—ऐसी प्रतीति और शब्द के आलम्बन विषय नहीं हो सकते । इससे सिद्ध हुआ कि "अहम्' प्रतीति-विषय शरीर इन्द्रियादि से भिन्न है। यदि शरीर इन्द्रिय आत्मा नहीं हैं तो 'मैं दुबला हूँ मैं अन्धा हूँ' इत्यादि प्रतीतियाँ नहीं हो सकती—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वे सब प्रतीतियाँ अभेद के न रहने पर भी "मञ्चाः क्रोशन्ति" मचान चिल्ला रहे हैं—इससे उसपर रहने वाले पुरुष के चिल्लाने का उसमें आरोप करके प्रयोग होता है । वैसे ही देह-इन्द्रिय में रहने वाली कृशता-अन्धता का भी 'अहम्' पदवाच्य आत्मा में आरोप करके कथंचित् निर्वाह हो सकता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि देह-इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा "अहम्" अनुभव से सिद्ध संशय के अभाव में जिज्ञासा का विषय नहीं हो सका । एवं निष्प्रयोजन होने से भी वह जानने के योग्य नहीं है ।

भामती

अप्रयोजनत्वाच्च । तथाहि- संसार निवृत्तिरपवर्ग इह प्रयोजनं विवक्षितम् संसारश्चात्मयाथात्म्याननुभवनिमित्त आत्मयाथात्म्यज्ञानेन सहानुवर्तते कुतोऽस्य निवृत्तिः; अविरोधात् कुतश्चात्मयाथात्म्याननुभवो ? नह्यहमित्यनुभवादन्यदात्मयाथात्म्यज्ञानमस्ति । न चाहमिति सर्वजनीनस्फुटतरानुभवसमर्थित आत्मा देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः शक्य उपनिषदां सहस्रैरप्यन्यथयितुम्, अनुभवविरोधात् । न ह्यागमा सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते । तस्मादनुभवविरोधादुपचरितार्था एवोपनिषद इति युक्तमुत्पश्याम इत्याशयवानाशङ्क्य परिहरति-युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोरिति ।

सुभद्रा :—एवं प्रयोजन शून्य होने से भी वह जिज्ञास्य नहीं है। क्योंकि संसार-निवृत्ति ही (मोक्ष) प्रयोजन है। संसार आत्मा के यथार्थ स्वरूप के न जानने से ही होता है। अतः आत्मा के यथार्थ-स्वरूप के ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति अर्थात् मोक्ष हो सकता है। यह अनादि संसार अनादि आत्मा के यथार्थ-ज्ञान के साथ ही चला आ रहा है। इमसे विरोध न होने से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि :—आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है उसका अनुभव न होने से ही संसार है तो आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कैसे नहीं होता ? क्योंकि अहम् इस अनुभव से युक्त आत्मा का, यथार्थ ज्ञान नहीं है। एवं यदि यह कहा जाय उपनिषद आत्मा को अकर्ता अभोक्ता इत्यादि बतलाती हैं। "अहम्" अनुभवगम्य आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-विशिष्ट ही प्रतीत होता है। इससे संशय होने से जिज्ञास्य है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वलोकानुभव सिद्ध आत्मा का उपनिषदों में अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुभव-विरोध है। जैसे घट, पट नहीं हो सकता, अनुभव-विरोध से। तो उसको हजार वेद भी बनाने में समर्थ नहीं हैं। इसलिये सर्वजनानुभव विरुद्ध होने से उपनिषदें गौण अर्थ को ही कहती हैं या लाक्षणिक है। यही ठीक जँचता है। इस अभिप्राय से शंका करके परिहार करते हैं।

शङ्कर भाष्यम् :—

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषय विषयिणोस्तमः प्रकाशवद् विरुद्ध स्वभाव योरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद् धर्माणामपिसुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः,

भामती

अत्र च युष्मदस्मदित्यादिर्मिथ्या भवितुं युक्तमित्यन्तः शंकाग्रन्थः। तथापीत्यादिः परिहारग्रन्थः। तथापीत्यभिसम्बन्धाच्छङ्कायां यद्यपीति पठितव्यम्. इदमस्मत्प्रत्यगोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद् ग्रहणमत्यन्तभेदोपल क्षणार्थम्। यथा ह्यहङ्कार प्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकारः, एते वयमिमे वयमास्महे, इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति। चित्स्वभाव आत्मा विषयी जड़स्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषया विषयाः। एते हि चिदात्मानं विषयवन्ति अवबध्नन्ति निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। परस्परानध्यासहेतावत्यन्तवैलक्षण्ये दृष्टान्तः तमः प्रकाशवदिति। न हि जातु कश्चित्समुदाचरद्वृत्तिनौ प्रकाशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति। तदिदमुक्तम्—इतरेतरभावा नुपपत्ताविति। इतरेतरभावः इतरेतरत्वं तादात्म्यमिति यावत्। तस्यानुपपत्ताविति।

सुभद्रा :—भाष्यकारने—युस्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरित्यादि—भाष्य में युस्मदस्मद् से लेकर 'मिथ्या भवितुं युक्तम्' तक शंका किया है। "तथापि"—लेकर उसका परिहार है। समाधान में 'तथापि' कहने से शंका ग्रन्थ में भी "यद्यपि" ऐसा पढ़ना चाहिये। "इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" ऐसा कहना था "युस्मद्" शब्द का ग्रहण अत्यन्त भेद प्रदर्शन के लिये है। क्योंकि "अहम्" शब्द का विरोधी जैसा 'त्वम्' है, वैसा "इदम्" नहीं। "यह हम सब हैं"—ऐसा सामान्य प्रयोग देखा जाता है। अतः "युस्मद्" शब्द की तरह अहंकार का विरोधी "इदम्" नहीं हो सकता। इसलिये "युस्मद्" का ही प्रयोग उचित है। "युस्मद्" शब्द के प्रतीति का विषय जो देहेन्द्रियादि विषय हैं और "अस्मद्" शब्द के प्रतीति का विषय जो विषयी आत्मा है—इनमें अन्धकार और प्रकाश के समान विरोध होने से विषय-विषयी में एकता सम्भव नहीं—यह भगवान् भाष्यकार का अभिप्राय है। आत्मा चैतन्य स्वभाव वाला विषयी है। बुद्धि, इन्द्रिय, देह जड़ स्वभाव वाले विषय हैं। क्योंकि देहेन्द्रियादि अपने रूपसे ही अन्तःकरण के तादात्म्य को प्राप्त चिदात्मा का निरूपण करते हैं। जिस समय अन्तःकरण चक्षुरिन्द्रियादि रूप नाली के द्वारा निकल कर विषयप्रदेश में प्रवेश करता है—उस समय विषय रूप से उसका परिणाम होता है। अतः विषयी आत्मा का विषय के आकार का प्राप्त होना ही उसका बांधना है। इसलिये भामतीकार देहेन्द्रियादि विषय को आत्मा को बाँधने वाला होने से विषय कहा। उपर्युक्त विषय और विषयी का परस्पर अत्यन्त भेद होने से अध्यास नहीं हो सकता। विषय और विषयी का विरोध दिखलाने के लिये ही अन्धकार और प्रकाश का दृष्टान्त दिया। यदि यों कहा जाय कि अति विलक्षण-स्वभाव-सम्पन्न अन्धकार और प्रकाश के होने पर भी उलूकादि को अन्धकार में प्रकाश की एवं प्रकाश में अन्धकार की प्रतीति देखी गयी है, अतः इस दृष्टान्त के आधार पर विषय-विषयी में अध्यास सम्भव है—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिसको 'यह अन्धकार है' 'यह प्रकाश है' ऐसा स्पष्ट ज्ञान है उसको अन्धकार में प्रकाश तथा प्रकाश में अन्धकार की प्रतीति नहीं हो सकती। उल्लू को तो यह ज्ञान ही नहीं है।

शंका :—यहाँ परशिष्टों में अग्रणी भगवान् भाष्यकार ने मङ्गल नहीं किया, भाष्यके प्रारम्भमें, युस्मदस्मदित्यादि से भाष्य का ही प्रारम्भ किया। 'समाधान, भाष्यकार अध्यास भाष्यका प्रारम्भ करते हुए ब्रह्मके स्वरूप का अनुसन्धान किया ही है, उसके बिना, अध्यास संभव नहीं है यह कहना बन नहीं

सकता इसलिए युस्मादित्यादि सन्दर्भ से ही ब्रह्म का स्मरण रूप मङ्गल भाष्यकार ने किया ही है। क्योंकि अस्मदर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म है।

शाङ्कर-भाष्यम्

इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्;

भामती

स्यादेतत्। मा भूद्धर्मिणोः परस्परभावः, तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्य-नित्यत्वानित्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासः, यथा कुसुमाद्भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छतया जपाकुसुमप्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्यरुणः स्फटिक इत्यारोपविभ्रमः, इत्यत उक्तम्—तद्धर्माणामपीति। इतरेतरत्रधर्मिणि धर्माणां भावो विनिमयस्तस्यानुपपत्तिः। अयमभिसन्धिः रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात्; चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति; यथाहुः—"शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति तदिह पारिशेष्याद्विषयविषयिणोरन्योन्यात्मसम्भेदेनैव तद्धर्माणामपि परस्पर सम्भेदेन विनिमयात्मना भवितव्यम्, तौ चेद्धर्मिणावत्यन्तविवेकेन गृह्यमाणावसम्भिन्नौ; असम्भिन्नाः सुतरां तयोर्धर्माः, स्वाश्रयाभ्यां व्यवधानेन दूरापेतत्वात्, तदिदमुक्तम्—सुतरामिति।

सुभद्रा :—ठीक है। धर्मी (विषय और विषयी) के परस्पर तादात्म्य का अध्यास न हो, परन्तु उनके धर्म जडता अनित्यता आदि हैं एवं विषयी के धर्म, प्रकाश नित्यता आदि हैं। तो उनका अध्यास क्यों ? न हो, क्योंकि ए देखने में आता है कि धर्मियों में भेद-ज्ञान के वर्तमान रहने पर भी उनके धर्मों में अध्यास हो जाता है—जैसे जपाकुसुम से अति भिन्न स्फटिकमणि की प्रतीति होने पर भी स्फटिक-मणि के अति स्वच्छता के कारण उक्त पुष्प का बिम्ब-ग्रहण होने से स्फटिक-मणिरक्त है—ऐसा भान होता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने "तद्धर्माणामपीतरेतर भावानुपपत्तिः" कहा। बात ये है—कि धर्मों का परस्पर अध्यास होने में धर्मी में एक का एकत्र प्रतिबिम्ब होना चाहिये, अथवा धर्मियों में भी परस्पर तादात्म्य का अध्यास हो। उपर्युक्त दो कारणों के बिना धर्मों का भी अध्यास नहीं हो सकता। अतएव उक्त प्रथम हेतु एक का एक में प्रति-

बिम्ब होने से (स्फटिक मणि में जपा कुसुम का प्रतिबिम्ब होने से) उसमें रक्तिमा का अध्यास होता है तो यह उचित नहीं क्योंकि रूपवान् द्रव्य अत्यन्त स्वच्छ होने से अन्य रूपवान् द्रव्य के प्रतिबिम्ब (फोटो) ग्रहण करने में समर्थ है। चिदात्मा तो रूपरहित है इसलिये विषय के छाया ग्रहण करने में समर्थ नहीं—जैसे कहा भी है कि शब्द, गन्ध, रस इनकी प्रतिबिम्बता कैसी ? अतः प्रथम हेतु न होने से अध्यास नहीं हो सकता। एवं दूसरा हेतु-धर्मी के परस्पर तादात्म्य कर अध्यास भी यहाँ नहीं है। क्योंकि जड़-चेतन विलक्षण स्वभाव वाले हैं और यह पूर्व कहा भी जा चुका है। इसी बात को भामतीकार यों कहते हैं :—"तदिह पारिशेष्यादित्यादि" से—अर्थात् विषय-विषयी इनका परस्पर संमिश्रण होने से ही उनके धर्मों का परस्पर विनिमय (एक का दूसरे में आरोप) हो सकता है, यदि वे धर्मी अत्यन्त भिन्न रूप से गृहीत होकर जाने गये हैं तो सुतरां उनके धर्मों में भी परस्पर तादात्म्य का अध्यास नहीं हो सकता। अपने आश्रय के व्यवधान से वे दूर हो जाते हैं इसलिये भाष्य में "सुतराम्" यह कहा।

भामती

तद्विपर्ययेणेति। विषयविपर्ययेणेत्यर्थः। मिथ्याशब्दोऽपह्नववचनः। एतदुक्तं भवति—अध्यासो भेदाग्रहेण व्याप्तः तद्विरुद्धश्चेदास्ति भेदग्रहः, स भेदाग्रहं निवर्तयन् स्वव्याप्यमध्यासमपि निवर्तयतीति। मिथ्येति भवितुं युक्तम् यद्यपि तथापीति योजना। इदमत्राकूतम्—भवेदेतदेव—यद्यहमित्यनुभवे आत्मतत्त्वं प्रकाशेत, न त्वेतदस्ति। तथा हि समस्तोपाध्यनवच्छिन्नानन्तानन्द चैतन्यैकरसमुदासीनमेकमद्वितीयमात्मतत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु गीयते।

सुभद्रा—इसलिए अस्मत्प्रत्यय के विषय-विषयी चिदात्मा में विषय और उनके धर्मों का अध्यास तथा उसके विपरीत विषय में विषयी आत्मा और उसके धर्मों का अध्यास मिथ्या होना ही युक्त है। मिथ्या शब्द यहाँ प्रतिषेधार्थक है अनिर्वचनीयार्थक नहीं। निष्कर्ष यह है कि अध्यास अर्थात् एक के धर्म का या स्वरूप का दूसरे में आरोप तभी हो सकता है जबकि उसमें भेद गृहीत न हो। क्योंकि जहाँ भेद नहीं गृहीत होता वहीं पर अध्यास होता है. अध्यास व्याप्य है, भेदाग्रह व्यापक है। अतः प्रकृत में विषय देहेन्द्रियादि विषयी चिदात्मा में भेद गृहीत होने से व्यापक भेदाग्रह के न होने से व्याप्य अध्यास भी नहीं हो सकता—जैसे शुक्ति रजत में पुरोवर्ति शुक्ति में दोषवशात् रजत का भेद गृहीत नहीं होता, अतः वहाँ पर रजत का शुक्ति में अध्यास होता है। यद्यपि अध्यास

मिथ्या ही है—यह ठीक है, तथापि यह बात तब हो सकती है जब "अहम्" इस अनुभव में आत्म-तत्व प्रकाशित होता। देखिये समस्त श्रुति, स्मृति-इतिहास, पुराण में समस्त उपाधि रहित अनंत आनंद-प्रकाश-स्वरूप एकरस उदासीन आत्म-तत्व ही कहा गया है।

भामती

न चैतान्युपक्रमपरामर्शोपसंहारैः क्रियासमभिहारेणात्मतत्त्वमभिदधति तत्पराणि सन्ति शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्तुम्। अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति, न न्यूनत्वं प्रागेवोपचरितत्वमिति। अहमनुभवस्तु प्रादेशिकमनेकविधशोकदुःखादिप्रपञ्चोपप्लुतमात्मानमादर्शयन् कथमात्मगोचरः कथं वाऽनुपप्लवः। न च—ज्येष्ठप्रमाणं प्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैष—तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्; तस्यापौरुषेयतया निरस्त समस्त दोषाशंकस्य बोधकतया स्वतः सिद्धप्रमाणभावस्य. स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्। प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात्तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत्? न, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्। न ह्यागमज्ञानं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति, येन कारणाभावान्न भवेत्, अपितु तात्त्विकम्। न च तत्तस्योत्पादकम्, अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकप्रमाणेभ्यस्तज्ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्तत्प्रतिपत्तिहेतवः।

सुभद्रा—प्रारम्भ, मध्य और अन्त में उक्त-आत्म स्वरूप का प्रतिपादन करती हुई इन श्रुतियों को इन्द्र भी गौणार्थ (लाक्षणिक) बतलाने में समर्थ नहीं हो सकता। किसी वस्तु को बारम्बार कहने से उस वस्तु की दृढ़ता निश्चित होती है। अहो! यह (सुन्दरी) दर्शनीय है, दर्शनीय है, ऐसा यदि दो बार कहा जाय तो वह अवश्य दर्शनीय है यह बात दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। अर्थात् उसमें अप्रामाण्य शंका का अवकाश नहीं रहता। इसलिये वह अप्रामाणिक या गौणार्थपरक नहीं हो सकता। "अहम्" इस अनुभव में जो आत्मा भासित होता है वह नानाविध शोकमोह दुःखादि से व्याप्त होकर ही भासता है "अहं कर्ता" "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि प्रतीति के आधार पर न कि श्रुति प्रतिपादित आत्मतत्व। इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि उक्त आत्मतत्व "अहम्" अनुभव में नहीं भासता तो वह आत्म-तत्व संशय का विषय होने से जिज्ञास्य है। इससे शास्त्रारम्भ सार्थक है। यदि यह कहा जाय कि जितने प्रमाण हैं, उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्येष्ठ है अतः उक्त प्रमाण के विरोध से प्रत्यक्ष की अपेक्षा

रखने वाली श्रुतियाँ अप्रामाणिक या गौण अर्थ को कहने वाली हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वेद के अपौरुषेय होने से समस्त दोष की शंका, उसमें दूर हो गई है। तथा स्वतः प्रामाण्य जिसमें हैं—ऐसी श्रुतियाँ जो प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न करतीं हैं उनमें प्रत्यक्ष विरोध होने से अप्रामाणिकता नहीं आ सकती।

श्रुतियाँ निर्दोष होने से जिस आत्म-स्वरूप को बतला रहीं हैं, उसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध होने पर भी अप्रामाण्य नहीं हो सकता। जैसे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा चन्द्र-सूर्यादि ग्रहों का अल्प परिमाण गृहीत होने पर भी ज्योतिष शास्त्र द्वारा उनका महत्परिमाण सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष का वहाँ बाध हो जाता है, वैसे यहाँ पर भी उक्त आत्म-स्वरूप बोधक निर्दोष श्रुतियों से प्रत्यक्ष का ही बाध युक्त है। यदि यह कहा जाय कि श्रुति स्वजन्यप्रमात्मक-ज्ञान में प्रत्यक्षादि की अपेक्षा नहीं रखती इसलिये प्रामाण्य है, किन्तु अन्य वाक्यों की तरह वेद-वाक्य भी श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से अपने ज्ञानोत्पत्ति में प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता ही है। इस कारण से उसमें अन्य की अनपेक्षता रूप स्वतः प्रामाण्य नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष विरोध होने से ज्ञानोत्पत्ति के अभाव में अप्रामाण्य है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आगम-जन्य ज्ञान से स्वकारण भूत श्रोत्रादि रूप प्रत्यक्ष प्रमाण में व्यावहारिक प्रामाण्य का अपलाप नहीं किया जाता, किन्तु उसमें तात्विक प्रामाण्य नहीं माना जाता, अतः व्यावहारिक प्रामाण्य का अपलाप न होने से आगम-जन्य ज्ञान के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है। आशय यह है कि श्रुति द्वारा प्रत्यक्षादि में केवल पारमार्थिकता का ही निषेध किया जाता है, न कि व्यावहारिकता का। अर्थात् तीनों काल में जिसका बाध न हो वह उनमें नहीं माना जाता किन्तु व्यवहार काल में उसका बाध न होने से प्रत्यक्षादि में व्यावहारिक प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, इसलिये श्रुति अपने से उत्पन्न ज्ञान में व्यावहारिक प्रामाण्य-विशिष्ट प्रत्यक्षादि की अपेक्षा रखती हुई भी उत्पादक प्रत्यक्षादि का विरोध न होने से प्रामाणिक है। इसी बात को भामतीकार ने "उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्" इस शब्द से कहा—अर्थात् श्रुतिजन्य ज्ञान को उत्पन्न करने वाला प्रत्यक्षादि प्रमाण के साथ पारमार्थिक आत्मस्वरूप बोधक श्रुतियों का विरोध नहीं है। तात्विक - प्रामाण्य - विशिष्ट प्रत्यक्षादि प्रमाण श्रुति-जन्य ज्ञान के उत्पादक नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक प्रामाण्य-विशिष्ट ही उत्पादक है। उसका उपघात वह करता नहीं, जिससे कि विरोध हो यहाँ पर यह शंका होती है कि श्रुतियाँ ब्रह्मातिरिक्त सबको अतात्विक बतला रहीं हैं, इससे अतात्विक-प्रामाण्य-विशिष्ट-प्रत्यक्ष से ज्ञात अतात्विक-प्रामाण्य वाले आगम वेद से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान भी अतात्विक ही है—तो यह ठीक नहीं,

क्योंकि अतात्त्विक प्रमाण वाला अर्थात् अविद्याकृतव्यावहारिक प्रमाण से भी तात्त्विक-यथार्थ-ज्ञान की उत्पत्ति देखी गई है—जैसे कि ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि धर्म के न रहने पर भी ये ध्वनि के अथवा वायु संयोग के धर्म हैं, एवं उनका वर्ण में आरोप करके उनसे यथार्थ ज्ञान होता है।

भामती

न हि लौकिका 'नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरूवा' प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः। न चानन्यपरं वाक्यं स्वार्थउपचरितार्थं युक्तम्। उक्तं हि "न विधौ परः शब्दार्थ" इति। ज्येष्ठत्वं चानपेक्षितस्य बाध्यत्वे हेतुर्न बाधकत्वे, रजतज्ञानस्यज्यायसः शुक्तिज्ञानेन कनीयसा बाधदर्शनात्। तदनपबाधने तदपबाधत्मनस्तस्योत्पत्तेरनुपपत्तेः। दर्शितं च तात्त्विकप्रमाणभावस्यानपेक्षितत्वम्।

सुभद्रा—लोक में "नाग" इस पद से हाथी का बोध, एवं "नग" इस पद से वृक्ष पर्वतादि का बोध होता है, तो वे भ्रान्त नहीं माने जाते। अथवा नील-गाय न जानने वाला पुरुष यदि किसी गवय-ज्ञाता से पूछता है कि—गवय कैसा है? तो वह रेखा से गवय का आकार बनाकर उसे उसका (गवय) ज्ञान कराता है तो जैसे रेखोल्लिखित-गवय तात्त्विक न होने पर भी उसको तात्त्विक गवय का ज्ञान करा देता है, वैसे श्रुति भी तात्त्विक-ज्ञान करा देगी। इस तरह श्रुतियों में अप्रामाण्य-दोष हटा कर उसका उपचरितार्थत्व (गौणार्थत्व) हटा रहे हैं—"न चानन्यपरं वाक्यमिति" से, जो वाक्य अन्य परक नहीं हैं' उनको अपने अर्थ में गौड़ या लाक्षणिक मानना ठीक नहीं क्योंकि कहा भी है:—"न विधौ परः शब्दार्थः" इति विधायक वाक्य में पर अर्थात् लाक्षणिक अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता, इस तरह प्रत्यक्ष आगम-जन्य ज्ञान में उपजीव्य है—(उपकारक) है। उसका विरोध होने से उसमें अप्रामाण्य है—इसको दूर कर अब ज्येष्ठ-प्रत्यक्ष-प्रमाण के प्रथम प्रवृत्त होने से वह बलवान् है अतः उसके विरोध से आगम-जन्य ज्ञान दुर्बल होने के कारण अप्रामाणिक है—तो इसे भी कह रहें हैं:—"ज्येष्ठत्व" मित्यादि से—ज्येष्ठ होने के कारण कोई ज्ञान अपने से कनिष्ठ ज्ञान को नहीं बाधता, यदि अनन्तर उत्पन्न ज्ञान उसकी अपेक्षा नहीं रखता प्रत्युत कनिष्ठ ज्ञान से ही ज्येष्ठ ज्ञान बांधा जाता है—जैसे भ्रम स्थल में पूर्वोत्पन्न-रजत-ज्ञान भी अनन्तर उत्पन्न शुक्ति ज्ञान रजत-ज्ञान को न बांधे तो रजत-ज्ञान के निवृत्ति-स्वरूप उस ज्ञान की उत्पत्ति ही न हो, इसी तरह आगम जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष के अनन्तर होने पर भी प्रत्यक्षगत तात्त्विक प्रामाण्य की अपेक्षा न रखता हुआ उसको बांधने में समर्थ है।

भामती

तथा च पारमर्षं सूत्रम्—"पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यंप्रकृतिवत्" (जै० अ० ६ पा० ५ सू० ५५) इति । तथा 'पूर्वात्पर बलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् । अन्योन्य निरपेक्षाणां यत्रजन्म धियां भवेत् ॥' इति । अपि च येऽप्यहंकारा-स्पदमात्मानमास्थिषत तैरप्यस्य न तात्त्विकत्वमभ्युपेतव्यम्. 'अहमिहैवास्मि सदने जानान' इति सर्वव्यापिनः प्रादेशिकत्वेन ग्रहात्—उच्चतरगिरि-शिखरवर्तिषु महातरुषु भूमिष्ठस्य दूर्वाप्रवालनिर्भासप्रत्ययवत् । न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वमनुभूयते न त्वात्मन इतिसाम्प्रतम्, नहि तदैवं भवति अहमिति गौणत्वे वा न 'जानान' इति ।

सुभद्रा—इसी बात को "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रवृत्तिवत्" इससे कह रहे हैं—यह मीमांसा का सूत्र है, जैमिनि-मुनि-प्रणीत-मीमांसा दर्शन के ६ अ० ५ । ५ । ५४ सू० हैं । ज्योतिष्टोम यज्ञ में ऋत्विज् लोग यज्ञ शाला से परस्पर एक दूसरे-का कच्छ धारण करते हुये निकलते हैं, उसमें यदि उद्गाता प्रमाद से ऋत्विज् के कच्छ को छोड़ दे तो उस यज्ञ को बिना दक्षिणा दिये ही समाप्त कर पुनः यज्ञ करे, उसमें जो पूर्व में देना हो वह दक्षिणा दे । यह प्रायश्चित्त विधान किया गया है । यदि प्रति-हर्ता प्रमाद से छोड़ दे तो सर्वस्व दक्षिण-याग करे । इस तरह से यदि उद्गाता और प्रतिहर्ता क्रम से विच्छेद को प्राप्त हों तो अदक्षिण-याग और सर्वस्व-दक्षिण-याग, इन विरुद्ध का समुच्चय न होने से उद्गात्रपच्छेद निमित्तक अदक्षिण-याग करना चाहिये, या प्रतिहर्त्रपच्छेद निमित्तक यह संशय होने पर उद्गाता का अपच्छेद पहिले हुआ उस समय प्रतिहर्ता का अपच्छेद नहीं है, अतः असंजात-विरोध होने से उद्गात्रपच्छेदनिमित्तक अदक्षिण-यज्ञ ही करना चाहिये-ऐसा पूर्वपक्ष होने पर उक्त सिद्धान्त-सूत्र कहा गया । निमित्त-भूत अपच्छेद के पूर्व और अपर होने पर पूर्व दुर्बल है । पूर्व की अपेक्षा न रखता हुआ उत्तर पूर्व को बाध कर ही उत्पन्न होता है, इसलिये सर्वस्व-दक्षिण-याग ही करना चाहिए—यह सिद्धान्त किया गया । इससे दृष्टान्त दिया गया है—"प्रकृतिवत् अर्थात् प्रकृति की तरह । जैसे प्रकृति—याग में "कुशमयं बर्हिस्तृणाति" ऐसी विधि है, एवं विकृति—याग में 'शरमयं बर्हिस्तृणाति" यह विधि सुनी जाती है । "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या" इस अतिदेश से प्रकृति-याग के उपकारक कुशों से ही विकृति-याग में आस्तरण प्रवृत्त हैं । परन्तु पृथक् "शरमय" विधि व्यर्थ न हो इसलिये—परशरमय बर्हि से पूर्व कुशमय-बर्हि का बाध जैसे विकृति याग में होता हैं उसी तरह से श्रुति-जन्य ज्ञान होने पर पूर्व-प्रत्यक्ष-जन्य-कर्तृत्वादि-विशिष्ट-ज्ञान का बाध हो जाता है । इस तरह से श्रुति प्रति-पादित आत्म-तत्व का "अहम्"

प्रतीति में ज्ञान नहीं होता यह बतलाकर वादि-निरूपित भी आत्मा "अहम्" प्रत्यय में नहीं भासता यह बतला रहे हैं। दूसरी बात यह भी है कि जो अहंकारास्पद आत्मा को स्वीकार करते हैं, वे भी "अहम्" प्रतीति-विषयीभूत आत्म ज्ञान को यथार्थ नहीं मान सकते क्योंकि "अहमि हैं वास्मिं सदने जानानः"। मैं जानता हुआ यहाँ ही इस घर में हूँ—यह प्रतीति व्यापक-आत्मा की एक प्रदेश में ही स्थिति बतला रही है। जैसे अत्यन्त ऊँचे पर्वत के शिखर पर विद्यमान विशाल वृक्षों में भूमि पर स्थित पुरुष को दूर्वा के पत्ती के समान प्रतीति होती है। आशय यह है कि तार्किकादि भी आत्मा को व्यापक मानते हैं। उक्त प्रतीति में आत्मा एकदेशस्थ होकर ही प्रतीत हो रहा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उनके मत में भी आत्मा "अहम्" प्रतीति में नहीं भासता, यदि यह कहा जाय कि प्रादेशिकता का अनुभव देह में ही है न कि आत्मा में. तो "अहम्" ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये क्योंकि आपने देहादि से विविक्त व्यापक आत्मा माना है, एवं यह कहना कि उक्त प्रतीति गौण है अर्थात् हमारा शरीर यहाँ पर है अतः "अहम्" पद वाच्य आत्मा शरीरादि से भिन्न होने पर भी "सिंहो माणवकः" की तरह गौण वृत्ति से देह में प्रयुक्त हुआ है; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि देह में ही ज्ञातृत्व का होना ठीक नहीं, और "जानानः" पद का भी प्रयोग है इससे वादि-सम्मत आत्मा भी "अहम्" प्रतीति में नहीं भासता यह सिद्ध हुआ।

भामती

अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तत इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्रोः सम्प्रतिपत्तिः स गौणः सच भेदप्रत्ययपुरःसरः "तद्यथा नैयमिकाग्निहोत्रवचनोऽग्निहोत्रशब्दः" (जै० अ० १ पाद ४ सू० ४) प्रकरणान्तरावधृतभेदे कौण्डपायिनामयनगते कर्मणि "मासमाग्निहोत्रं जुहोती" (जै० अ० ७ पा० ३ सू० १) इत्यत्र साध्यसादृश्येन गौणः माणवके चानुभवसिद्धभेदे सिंहात्सिंह शब्दः।

सुभद्रा—दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ में लक्ष्यमाण गुण (धर्म) के सम्बन्ध से रहता है - ऐसी जहाँ पर प्रयोक्ता और बोद्धा को प्रतीति हो तो वह गौण है और वह भेद प्रतीति पूर्वक होता है। जैसे नित्याग्निहोत्रवाची अग्निहोत्र शब्द कौण्डपायियों के अयनगत कर्मान्तर प्रकरण में पठित "उपसद्भिश्चरित्वा" "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य में अर्थात् नित्य अग्निहोत्र से भिन्न उक्त वाक्य विहित होत्र में विधेय अग्निहोत्र के सादृश्य से गौण है एवं "सिंहोमाणवकः" इत्यादि स्थल में भी माणवक और सिंह का भेद अनुभव सिद्ध ही है—ऐसे स्थल में गौण माना जाता है।

भामती

न त्वहंकारस्य मुख्योऽर्थो निर्लुंठितगर्भतया देहादिभ्यो भिन्नोऽनुभूयते येन परशब्दः शरीरादौ गौणो भवेत् । न चात्यन्तनिरूढतया गौणेऽपि न गौणत्वाभिमानः सार्षपादिषु तैलशब्दवदिति वेदितव्यम् । तत्रापि स्नेहाचिलभवाद्भेदे सिद्ध एव सार्षपादीनां तैलशब्दवाच्यत्वाभिमानो, न त्वयंयोस्तैलसार्षपयोरभेदाध्यवसायः । तत्सिद्धं गौणत्व मुभयदर्शिनो गौणमुख्यविवेकज्ञानेन व्याप्तम्, तदिह व्यापकं विवेकज्ञानं निवर्तमानं गौणतामपि निवर्तयतीति । न च बालस्थविर शरीरभेदेऽपि सोऽहमित्येकस्यात्मनः प्रतिसन्धानाद् देहादिभ्यो भेदेनास्त्यात्मानुभव इति वाच्यम्, परीक्षकाणां खल्वियं कथा न लौकिकानाम् ।

सुभद्रा—प्रकृत में "अहम्" शब्द का मुख्य अर्थ देहेन्द्रियादि से पृथक् होकर स्वीय असाधारण धर्मज्ञान और व्यापक महत्व इत्यादि से विशिष्ट होकर अनुभव का विषय नहीं है। सारांश यह है कि देहादि से पृथक् होकर यदि आत्मा का भान होता तो देहादि रूप अर्थ में "अहम्" शब्द गौण माना जाता किन्तु ऐसा न होने से गौण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि शरीरादि में "अहम्" शब्द अत्यन्त निरूढ़, (प्रसिद्ध) होने से मुख्य के समान प्रतीति होता है अतः गौणार्थक होने पर भी देहादि में "अहम्" शब्द के गौणार्थ का अभिमान नहीं है, जैसे सरसों इत्यादि के तैल में तैल शब्द। तिल से उत्पन्न स्नेह में वह मुख्यार्थक है, परन्तु उसका सरसों आदि के तेल में प्राचुर्येण प्रयोग होता है अतः जैसे सरसों के तेल में गौणार्थक होने पर भी तैल शब्द के गौणार्थकत्व का अभिमान नहीं है उसीतरह यहाँ पर भी समझना चाहिये। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पर भी तिल के तेल से सरसों के तेल में भेद सिद्ध होने पर हो सरसों इत्यादि के तेल में तैल शब्द के वाच्य रूप अर्थ का अभिमान है। न कि तिल का तेल और सरसों के तेल रूप अर्थों का अभेद। अर्थात् निरूढ़-स्थल में गौण प्रयोग होने पर भी अर्थों का अभेद नहीं है। प्रकृत स्थल में "अहम्" शब्द का मुख्य अर्थ जो व्यापकत्वादि-गुण-विशिष्ट आत्मा और गौणार्थ शरीरादि में तादात्म्य अभेद ही प्रतीत होता है। इससे दृष्टान्त का दार्ष्टान्त में वैषम्य होने से गौण नहीं माना जा सकता। सारांश यह है कि जहाँ पर गौणार्थ और मुख्यार्थ में भेद रहता है वहाँ ही गौणता रहती है, अर्थात् दोनों अर्थों का भेद व्यापक है और गौणत्व-प्रतीति व्याप्य। अतः व्यापक-भेद-ज्ञान न होने से व्याप्य-गौणार्थ-प्रतीति भी निवृत्त हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि बाल्यावस्था और वृद्धावस्था के शरीर में भेद होने पर भी "मैं वही हूँ" इस एक

आत्मा का अनुसन्धान होने के कारण शरीरादि से भिन्न आत्मा का अनुभव है, अत: भेद प्रतीति होने से देहादि में "अहम्" शब्द गौण है तो यह बात परीक्षकों के लिये है, लौकिकों के लिये नहीं।

भामती

परीक्षका अपि हि व्यवहार-समये न लोकसामान्यमतिवर्तन्ते वक्ष्यत्य-नन्तरमेव हि भगवान् भाष्यकारः—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति। बाह्या अप्याहुः—"शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विवेचयन्ति न प्रतिपत्तार" इति। तत्पारिशेष्याच्चिदात्मगोचरमहंकारमहमिहास्मि सदन इति प्रयुञ्जानो लौकिकः शरीराद्यभेदग्रहादात्मनः प्रादेशिकत्वमभिमन्यते नभस इव घट-मणिकमल्लिकाद्युपाध्यवच्छेदादितियुक्तमुत्पश्यामः। न चाहंकार प्रामाण्याय देहादिवदात्मापि प्रादेशिक इति युक्तम्, तदा खल्वयमणुपरिमाणो वा स्याद्देहपरिमाणो वा, ? अणुपरिमाणत्वे 'स्थूलोऽहं दीर्घ' इति च न स्यात्। देहपरिमाणत्वे तु सावयवतया देहवत् अनित्यत्व-प्रसङ्गः' किं चास्मिन् पक्षेऽवयवसमुदायो वा चेतयेत् प्रत्येक वाऽवयवाः। प्रत्येकं चेतनस्व-पक्षे बहूनां चेतनानां स्वतन्त्राणामेकवाक्यताऽभावादपर्यायं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरमुन्मथ्येत, अक्रियं वा प्रसज्येत। समुदायस्य तु चैतन्य-योगे वृक्णा एकस्मिन्नवयवे चिदात्मनोऽप्यवयवो वृक्ण इति न चेतयेत्। न च बहूना-मवयवानामविनाभावनियमो दृष्टो य एवावयवो विशीर्णस्तदा तदभावे न चेतयेत्—

सुभद्रा—दूसरी बात यह है कि परीक्षक भी व्यवहार काल में लोक सामान्य का अतिक्रमण नहीं करते। (अपरोक्ष-भ्रम का अपरोक्ष साक्षात्कार से ही निवृत्ति होती है न कि यौक्तिक-ज्ञान से) रस्सी में उत्पन्न अपरोक्ष-सर्प-भ्रम का "यह सर्प नहीं है" गविशून्य होने से यह यौक्तिक-ज्ञान उसका उन्मूलन नहीं करता किन्तु रस्सी का यथार्थ साक्षात्कार ही उसके उन्मूलन में समर्थ है, इसलिये परीक्षकों को युक्ति से तात्विक ज्ञान होने पर भी उनका व्यवहार पूर्ववत् ही होता है आगे चलकर भगवान् भाष्यकार कहेंगे ही कि—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' अर्थात् प्रवृत्यादि रूप व्यवहार के समय में शास्त्रज्ञों को भी पश्वादि के समान देहात्म-प्रतीत होता है। उसमें कोई विशेषता नहीं है और भी कहा है कि शास्त्र-चिन्तक ऐसा विवेचन करते हैं न कि सब बोद्धा (सामान्य समझने वाले जन)। इसलिये अगत्या चिदात्म-विषयक अहंकार को 'मैं यहाँ पर इस घर में हूँ' यह प्रयोग करता हुआ लौकिक शरीरादि में अभेद ज्ञान से ही आत्मा को प्रादेशिक मानता है। जैसा कि महत्परिमाण वाले आकाश को घट, दीया, घड़ा, कसोरा और नाद

इत्यादि उपाधियों से युक्त आकाश को उन स्थलों में प्रादेशिक माना जाता है और यही युक्त भी है। यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रतीति की प्रामाणिकता के लिये देहादि के समान आत्मा भी प्रादेशिक है तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि आत्मा अणु- परिमाण है कि या देह के समान मध्यम-परिमाण वाला। क्योंकि व्यापक आत्मा तो प्रादेशिक हो नहीं सकता और अणु-परिमाण वाला आत्मा स्वीकृत होने से 'मैं मोटा हूँ' 'मैं लम्बा हूँ' ए प्रतीतियाँ नहीं हो सकती और यदि देह के समान मध्यम परिमाण वाला माना जाय तो सावयव होने के कारण देह की तरह अनित्य हो जायगा, आशय यह है कि मध्यम-परिमाण अवयवी रूप आत्मा को मानने में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जैसे वह पटादि अपने अवयव-सूत्र से आरब्ध होते हैं वैसे अवयवी रूप आत्मा भी अपने अवयवों से आरम्भ किया जाता है या अवयव समुदाय रूप हैं। प्रथम पक्ष में जन्य होने से अनित्य हो जायगा जो तार्किकों को भी अभीष्ट नहीं है, वे भी आत्मा को नित्य मानते हैं और मुक्ति में उसका सम्बन्ध नहीं रह सकता अर्थात् बन्धमोक्ष-व्यवस्था नहीं बन सकती। द्वितीय पक्ष में अवयव समुदाय चेतन है? प्रत्येक को चेतन मान लेने पर बहुत से स्वतन्त्र चेतन हो जाने से ऐकमत्य न होने पर बिना क्रम के विरुद्ध दिशाओं में जाने की प्रवृत्ति होनेसे विरुद्ध क्रिया होने से शरीर ही नष्ट हो जायगा या क्रिया ही नहीं होगी। आशय यह है कि यदि आत्मा के प्रत्येक अवयव स्वतन्त्र चेतन हैं तो कोई पूर्व दिशा जाने की इच्छा करने वाले अन्य दिशा में जाने का उत्साह नहीं करते। कोई दक्षिण दिशा में, कोई पश्चिम दिशा में, कोई उत्तर दिशा में ठहरने की इच्छावाले हैं—इस तरह से विरुद्ध दिशा में जाने की क्रिया वाला होने से शरीर ही उन्मथित हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि आत्मा के अवयवों के निकलने पर भी शरीर के उससे भिन्न होने पर एक दूसरे में रुकावट डालेंगे जिससे शरीर का नाश नहीं होगा तो परस्पर विरोध होने से क्रिया ही नहीं सम्पन्न होगी। अवयव समुदाय के चेतन मानने पर किसी एक अवयव छिन्न होने के कारण चिदात्मा का भी अवयव छिन्न हो जायगा अतः चेतनता नहीं बनेगी। क्योंकि आत्मा के अवयव बाहर रहकर शरीर में प्रवेश करते हुये परस्पर सम्बद्ध होकर चेतनता को प्राप्त होते हैं, अथवा स्वतः इकट्ठा होकर चैतन्य-भाव को प्राप्त होते हैं अथवा कादाचित्क कभी उनका परस्पर सम्बन्ध हो जानेसे उनमें चैतन्य होता है—ए तीन विकल्प उपस्थित होते हैं। उसमें प्रथम-पक्ष में पूर्वोक्त दोष है। द्वितीय पक्ष में बहुतसे अवयवों का सर्वदा अविनाभाव-नियम नहीं देखा जाता अर्थात् सर्वदा संयोग ही हो ऐसी बात नहीं है तो किसी भी अवयव के विभाग होने पर चेतनता नहीं रहेगी। तृतीय पक्षमें कादाचित्क संयोग जैसे है वैसे ही कादाचित्क वियोग भी हो सकता है।

इससे तीनों पक्ष में अनित्यता और चेतनता का अभावरूप दोष रह जाता है। अतः जैन सम्मत आत्मा का मध्यम-परिमाण मानना अयुक्त है। और भी बात है यदि आत्मा शरीर के परिमाण के समान मध्यम परिमाण वाला माना जाय तो योगियों का एक साथ अनेक शरीर में प्रवेश नहीं बन सकता और मनुष्य शरीर निवृत्त होने पर उसके समान परिमाण वाले आत्मा का कर्मवश गज इत्यादि के शरीर में प्रवेश करते हुये पूंछ और शरीर सूढ़ इत्यादि अवयवों से सुख दुःख का उपभोग कैसे होगा यदि आत्मा संकोच-विकासशाली मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मध्यम परिमाण होने से अवयव युक्त आत्मा विनाशी हो जाने से पूर्वोक्त व्यवस्था बन नहीं सकती। इत्यादि दोष से उक्तपक्षअयुक्त है।

भामती

विज्ञानालम्बनत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं तदवस्थमेव, तस्य स्थिरवस्तु-निर्भासत्वादस्थिरत्वाच्च विज्ञानानाम्। एतेन 'स्थूलोऽहमन्धोऽहं गच्छामी' त्यादयोऽप्यध्यासतया व्याख्याताः। तदेवमुक्तक्रमेणाहं प्रत्यये पूतिकूष्माण्डी-कृते भगवती श्रुतिरप्रत्यूहं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखशोकाद्यात्मत्वमहमनुभव-प्रसञ्जितमात्मनो निषेद्धुमर्हतीति। तदेवं सर्वप्रवादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराण-प्रथितामिथ्याभावस्याहं प्रत्ययस्य स्वरूप निमित्तफलैरूपव्याख्यानम्—अन्योन्यस्मिन्नित्यादि।

सुभद्रा—बौद्ध-सम्मत विज्ञान-रूप आत्मा भी 'अहम्' प्रतीति का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उनके विज्ञान क्षणिक हैं। अहम्' प्रतीति तो स्थिर वस्तु को विषय करती है। 'जो मैं बाल्यावस्थामें पढ़ता था' 'वही मैं वृद्धावस्था में पढ़ रहा हूँ' इत्यादि इसलिये विज्ञान को "अहम्" प्रतीति का विषय मानने पर भी उसको भ्रान्त मानना पड़ेगा। इससे 'मैं मोटा हूँ' मैं अन्धा हूँ' 'मैं जाता हूँ' ए सब भी भ्रमात्मक हैं। अतः स्थूलता अन्धता इत्यादि देहेन्द्रियादि के धर्म हैं आत्मा के नहीं- इसलिये देह की स्थूलता और कृशता, इन्द्रिय की अन्धता, अन्तःकरण की कर्तृता भोक्तृता इन सबका आत्मा में आरोप करके ही उक्त प्रतीतियां हो सकतीं हैं। इससे वे प्रतीतियाँ भ्रमात्मक सिद्ध होती हैं। एवं उक्त रीति से 'अहम्' प्रतीति दुर्गन्धित कूष्माण्ड (कोहड़ा) के समान ऊपर से देखने में सुन्दर मालूम पड़े किन्तु भीतर से सड़ा हुआ हो उसी तरह से उक्त प्रतीतियाँ सुन्दर भले ही मालूम पड़े परन्तु निःसार हैं। अतः भगवती श्रुति कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्वादि-विशिष्ट आत्मा जो 'अहम्' अनुभव का विषय है उसका निषेध करती हुई सच्चिदानन्द रूप आत्म तत्व का प्रतिपादन करती हैं। अतः सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति, इतिहास, पुराणादि से प्रसिद्ध है मिथ्याभाव जिस अहं प्रतीति का उसी

का स्वरूपतः निमित्ततः और फलतः व्याख्यान भाष्यकार 'अन्योन्यास्मिन्नित्यादि' से कर रहें हैं ।

शाङ्कर-भाष्यम्

तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदम् , ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।

भामती

अत्र चान्योन्यस्मिन् धर्मिणि आत्मशरीरादौ अन्योन्यात्मकतामध्यस्य अहमिदं शरीरादीति (इदमिति च वस्तुतो न प्रतीति तः) लोकव्यवहारः लोकानां व्यवहारः, स चायमहमिति व्यपदेशः । इति शब्दसूचितश्च शरीराद्यनुकूलं प्रतिकूलं च प्रमेयजातं प्रमाणेन प्रमाय तदुपादानपरिवर्जनादिः । अन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य अन्योन्यस्मिन् धर्मिणि देहादिधर्मान् जन्म-मरण-जराव्याध्यादीनात्मनि धर्मिणि अध्यस्तदेहात्मभावे समारोप्य तथा चैतन्या-दीनात्मधर्मान् देहादावध्यस्तात्मभावे समारोप्य, ममेदं जरा-मरणपुत्र पशुस्वाम्यादीति व्यवहारो व्यपदेशः, इति शब्दसूचितश्च यदनुरूपः प्रवृत्त्यादिः । अत्र चाध्यासव्यवहारंक्रियाभ्यां यः कर्त्तोन्नीतः स समान इति समानकर्तृकत्वेनाध्यस्य व्यवहार इत्युपपन्नम् । पूर्वकालत्वसूचितमध्यासस्य व्यवहारकारणत्व सूचयति मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः । मिथ्या ज्ञानमध्या-सस्तन्निमित्तस्तद्भावाभावानुविधानाद्व्यवहारभावाभावयोरित्यर्थः तदेव-मध्यासस्वरूपं फलं च व्यवहारमुक्त्वा तस्य निमित्तमाह इतरेतराविवेकेन, विवेकाग्रहेणेत्यर्थः । अथ अविवेक एव कस्मान्न भवति तथा च नाध्यास इत्यत आह—अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः । परमार्थतो धर्मिणोरतादात्म्यं विवेको धर्माणां चासंकीर्णता विवेकः ।

सुभद्राः—एक दूसरे धर्मी में आत्मा और शरीरेन्द्रियादि में अन्योन्यात्मकता का आत्मारूपधर्मी देहेन्द्रियादि धर्मी के तादात्म्य और उसके धर्म का देहेन्द्रियादि-रूप धर्मी में आत्म रूप धर्म के तादात्म्य और उसके धर्मों का अध्यास करके अत्यन्त भिन्न भी धर्म-धर्मियों का परस्पर भेद न गृहीत होने से सचा और झूठा को एककर अर्थात् मिलाकर 'अहमिदम्' 'ममेदम्' ऐसा नैसर्गिक लोकव्यवहार सम्पन्न होता है । आत्मा में देहेन्द्रियादि के तादात्म्य और धर्म का अध्यास शरीरेन्द्रियादि में आत्मा के तादात्म्य और धर्म का अध्यास-स्वरूप है । उसमें निमित्त इतरेतराविवेक अर्थात् (एक दूसरे का भेद-ज्ञान न होना) यह मैं, यह मेरा, इत्यादि व्यवहार

समझना चाहिये। यद्यपि 'मैं यह देहादि हूँ' ऐसी प्रतीति लोक में नहीं होती किन्तु 'मैं मोटा हूँ' मैं दुबला हूँ' मैं अन्धा हूँ, 'मैं बहिरा हूँ' इत्यादि प्रतीति ही होतीं हैं फिर भी मोटापन, अन्धता इत्यादि देहेन्द्रियादि के ही धर्म हैं आत्मा के अध्यास के बिना उक्तप्रतीतियाँ बन नहीं सकतीं, इसलिये भामतीकार ने कहा है कि—"इदमिति-वस्तुतः न प्रतीतितः" । "अहं स्थूलः" यही प्रतीति का आकार हो परन्तु वस्तु-गत्या उस प्रतीति में देह ही भासता है। इस तरह से 'अयमहम्' 'यह मैं' इत्यादि लोक-व्यवहार सम्पन्न होता है। भाष्य 'इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' ऐसा कहा उसमें 'इति' शब्द से यह सूचित किया कि शरीरेन्द्रियादि के अनुकूल प्रमेय वस्तु को प्रमाण के द्वारा जानकर उनको ग्रहण करना और प्रतिकूल वस्तुओं का त्याग करना इत्याद 'अन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य' इस भाष्य से सिद्ध होता है कि देहेन्द्रियादि का तादात्म्य अध्यस्त है। ऐसे धर्मी आत्मा में देहादि के धर्म जैसे-जन्म, मृत्यु, जीर्ण और रोग-ग्रस्त होना आदि सबका अध्यास आत्मा में करके एवं देहादि में आत्माका तादात्म्य अध्यस्त है—उसमें आत्मा का धर्म चैतन्यादि अर्थात् जानना इन सबका आरोप करके 'यह मैं' 'यह मेरा' व्यवहार होता है। 'यह मे' यह धर्मी का तादात्म्याध्यास है। 'यह मुझको वृद्धावस्था सता रही है' 'मेरी मृत्यु सन्निकट है' 'मैं पुत्र पशु इत्यादि का स्वामी हूँ' यह धर्माध्यास का विवेक समझना चाहिये। यहाँ पर भाष्य में जो 'अध्यस्य' व्यवहार कहा है वह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे 'भुक्त्वा व्रजति' खाकर जाता है यह भोजन क्रिया और गमन-क्रिया इन दोनों का कर्ता एक ही है उस तरह से अध्यास-क्रिया और व्यवहार-क्रिया दोनों का कोई एक कर्ता उपलब्ध नहीं होता—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। व्यवहार-क्रिया से आक्षिप्त कर्ता ही—अध्यास-क्रिया का कर्ता युक्त है। अतः समान-कर्तृक होने से 'अध्यस्य' यहाँ पर 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। जैसे 'भुक्त्वा व्रजति' में गमन-क्रिया और भोजन-क्रिया भिन्न हैं, तो गमन काल के पूर्व में भोजन का काल विवक्षित है, अतः वहाँ 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। यहाँ पर अध्यास व्यवहार एक ही है इसलिये 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं होना चाहिये, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अध्यास भ्रम-रूप है और ग्रहण त्याग शब्द-प्रयोग व्यवहार है। इस तरह से दोनों में भेद है। पूर्वकाल में क्त्वा प्रत्यय से सूचित अध्यास की व्यवहार- हेतुता को भाष्यकार कह रहे हैं 'मिथ्या-ज्ञान निमित्तः' मिथ्या-ज्ञान रूप जो अध्यास तन्निमित्तक हो 'मैं' 'मेरा' इत्यादि व्यवहार होते हैं, अर्थात् मिथ्या-ज्ञान के होने पर उक्त व्यवहार होते हैं और उसके न रहने पर नहीं होते, इस तरह से अध्यास का स्वरूप (एक दूसरे के धर्मों का प्रतीत होना और व्यवहार कहकर निमित्त बतला रहे। 'इतरेतराविवेकन' (एक दूसरे के भेद का ज्ञान न होना) ही अध्यास में निमित्त है। यदि यह कहा

जाय कि इनका परस्पर तादात्म्य ही वास्तविक है तो यह ठीक नहीं, इसीलिये भाष्यकार ने 'अत्यन्तविविक्तयोः' कहा (अत्यन्त भिन्न धर्म- धर्मी) आशय यह है कि देहेन्द्रियादि और आत्मा ए दोनों धर्मी वस्तुतः अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि देहेन्द्रियादि जड़ हैं, आत्मा चेतन हैं अतः जड़-चेतन इनमें वास्तविक अभेद नहीं हो सकते न तो उनके धर्मों में ही वास्तविक अभेद है । अस्तु

भामती

स्यादेतत्—विविक्तयोर्वस्तुसतोर्भेदाग्रहनिबन्धनस्तादात्म्यविभ्रमो युज्यते शुक्तेरिव रजताद्भेदाग्रहे रजतादात्म्यविभ्रमः, इह तु परमार्थसतश्चिदात्मनो न भिन्नं देहाद्यस्ति वस्तुसत् तत्कुतश्चिदात्मनो भेदाग्रहः कुतश्च तादात्म्य-विभ्रम इत्यत आह—सत्यानृते मिथुनीकृत्य, विवेकाग्रहादध्यस्येति योजना । सत्यं-चिदात्मा, अनृतं बुद्धीन्द्रियदेहादि, तेद्वे धर्मिणी मिथुनीकृत्य युगली-कृत्येत्यर्थः । न च सम्वृतिपरमार्थसतोः पारमार्थिकं मिथुनमस्तीत्यभूतद्भावा-र्थस्य च्वेः प्रयोगः ।

सुभद्रा—फिर शंका होती है कि-वस्तुतः भिन्न और सत्य दो पदार्थों में भेद-ज्ञान न होने से भ्रम होता है—जैसे सीप और चाँदी-ए दोनों वास्तविक भिन्न हैं दोषवशात् दोनों में भेद गृहीत नहीं होता, जिससे शुक्ति में रजत का तादात्म्य भ्रम सम्पन्न हुआ । प्रकृत में परमार्थतः सत् चिदात्मा से भिन्न देहेन्द्रियादि की वास्तविक सत्ता ही नहीं है तो कैसे चिदात्मा से उनमें भेदाग्रह हुआ और तादात्म्य का भ्रम हुआ इसलिये भाष्य में कहा 'सत्योनृते मिथुनीकृत्य' सत्य और मिथ्या इन दोनों को एक करके । सत्य जो चिदात्मा और झूठ देहेन्द्रियादि उन दोनों का मिथुनीकरण (युगलीकरण) करके अर्थात् अधिष्ठानभूत सत्य चिदात्मा में आरोप देहेन्द्रियादि का एक ज्ञान का विषय होना ही मिथुनीकरण है जैसे सत्य सीप और मिथ्या रजत इन दोनों का 'इदं रजतम्' एकज्ञान-विषयता है-तद्वत् वास्तविक सत्य और फर्जी सत्य इन दोनों का वास्तविक एकीकरण सम्भव नहीं है इसी से अभूतद्भावार्थक च्वि प्रत्ययान्त का प्रयोग किया ।

भामती

एतदुक्तं भवति—अप्रतीतस्यारोपायोगादारोप्यस्य प्रतीतिरुपयुज्यते न वस्तुसत्त्वेति । स्यादेतत्-आरोप्यस्य प्रतीतौ सत्यां पूर्व-दृष्टस्य समारोपः, समारोप-निबन्धा च प्रतीतिरिति दुर्वारं परस्पराश्रयत्वमित्यत आह—नैसर्गिक इति । स्वाभाविकोऽनादिरयं व्यवहारः । व्यवहारानादितया तत्कारणस्या-प्यध्यासस्यानादितोक्ता । ततश्च पूर्वपूर्वमिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य बुद्धीन्द्रिय-

शरीरादेरुत्तरोत्तराध्यासोपयोग इत्यनादित्वाद्बीजाङ्कुरवन्न परस्पराश्रयत्वा-मित्यर्थः।

सुभद्रा—यह बात सिद्ध होती है कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं है उसका आरोप नहीं हो सकता, इसलिए जिसका आरोप किया जाय तो उसका ज्ञान ही अध्यास में उपयुक्त है न कि उसकी वास्तविक सत्ता। जैसे किसी ने वास्तविक सर्प नहीं देखा है परन्तु चित्र में सर्प देखा है, उसे सर्प का ज्ञान है तो वह पुरुष भी अन्धकार में रस्सी में सर्प के भ्रम से गृहीत होता है। तो प्रकृत में देहेन्द्रियादि की पारमार्थिक सत्ता न होने पर भी अनादि अविद्यागृहीत दोषवशात् ज्ञात उन सबों का भ्रम हो सकता है। अच्छा तो जिस वस्तु का आरोप किया जाता है उस वस्तु का ज्ञान भ्रम में उपयुक्त है तो आरोप्य देहेन्द्रियादि को प्रतीति होने पर उसका आरोप हो और आरोप होने पर प्रतीति होगी जिससे कि अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि प्रातीतिक सत्ता भी अध्यास के अधीन है। शुक्ति में रजत का आरोप होने पर ही उसको प्रातीतिक सत्ता मानी जाती है। वहाँ पर बाजार में अथवा घर में रजत देखा गया है अतः उसका ज्ञान है इसलिये वहाँ पर अध्यास बन जाता है। परन्तु देहेन्द्रियादि सब, वेदान्तियों के मत से आत्मा में ही अध्यस्त हैं। उनकी प्रतीति अध्यास होने पर ही होनी चाहिये और अध्यास तभी हो सकता है जबकि उनकी पूर्व में प्रतीति हो, अतः अन्योन्याश्रय-दोष दुर्वारणीय है। इसलिये भाष्यकार ने 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' यह कहा अर्थात् स्वाभाविक अनादि यह व्यवहार है। व्यवहार के अनादि होने से उसका कारणभूत अध्यास भी अनादि है। इसलिये पूर्व-पूर्व शरीरेन्द्रिय अन्तःकरणादि का जो अनुभव एवं तज्जन्य संस्कार द्वारा बीजाङ्कुर के समान उत्तरोत्तर शरीरेन्द्रियादि के अध्यास में कारण हैं। जैसे बीज के बिना अंकुर नहीं हो सकता एवं अंकुर के बिना बीज नहीं हो सकता क्योंकि बीज फल में रहता है। फल अंकुर जब वृक्ष रूप में परिणित होगा तो जैसे वहाँ पर अनादि मान कर परिहार किया जाता है वैसे प्रकृत में भी समझना चाहिये।

भामती

स्यादेतत्—अद्धा पूर्वंप्रतीतिमात्रमुपयुज्यते आरोपे, न तु प्रतीयमानस्य परमार्थसत्ता। प्रतीतिरेव त्वत्यन्तासतो गगन—कमलिनीकल्पस्य देहान्द्रि-यादेर्नो पपद्यते। प्रकाशमानत्वमेव हि चिदात्मनोऽपि, सत्वं, न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता वा, द्वैतापत्तेः।

सुभद्रा—अच्छा तो आरोप में केवल पहिले प्रतीति ही उपयुक्त है न कि जो प्रतीत होता है उसको वास्तविक सत्ता। परन्तु वेदान्तियों के मत में अत्यन्त

असत् अर्थात् तुच्छ आकाश में कमलिनी के समान शरीरेन्द्रियादि की प्रतीति ही नहीं हो सकती क्योंकि चिदात्मा को सत्ता भी केवल प्रकाशमानत्व-रूप है, अर्थात् जो प्रकाशित हो वह सत् है न कि उसके अतिरिक्त तार्किकादि-सम्मत सत्ता जाति का समवाय। क्योंकि यदि उक्त सत्ता सामान्य-समवाय या बौद्ध-सम्मत अर्थक्रियाकारित्व-रूप सत्ता मानी जाय तो द्वैतापत्ति होने से अपसिद्धान्त होगा।

भामती

सत्तायाश्चार्थक्रियाकारितायाश्च सत्तान्तरार्थक्रियाकारितान्तरकल्पनेऽनवस्थापातात्, प्रकाशमानतैव सत्ताभ्युपेतव्या। तथा च देहादयः, प्रकाशमानत्वान्नासन्तः चिदात्मवद् असत्वे वा न प्रकाशमानास्तत् कथं सत्यानृतयोर्मिथुनीभावास्तदभावे वा कस्य कुतो भेदाग्रहस्तदसम्भवे कुतोऽध्यास इत्याशयवानाह —

सुभद्रा—यदि द्वैत मानकर उक्त उभय रूप सत्ता अङ्गीकार किया जाय तो भी निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि प्रश्न यह होगा कि सत्ता सत् है या नहीं, अर्थात् सत्ता में सत्ता रहती है कि नहीं? यदि सत्ता में वही सत्ता मान ली जाय तो आत्माश्रय दोष होता है और यदि उसमें दूसरी सत्ता मान ली जाय तो उस सत्ता के अधीन पहिली सत्ता एवं पहिली सत्ता के अधीन दूसरी सत्ता अतः अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि पुनः तीसरी सत्ता मानकर उक्त दोष निवारण किया जाय तो वह तीसरी सत्ता भी सद्रूपा है या नहीं, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है, अतः वह सत्ता प्रथम सत्ता के अधीन होने से एवं प्रथम सत्ता की सत्ता द्वितीय सत्ता के अधीन होने के कारण तथा द्वितीय सत्ता की सत्ता तृतीय सत्ता के अधीन होने पर चक्रकापत्ति दोष दुर्निवारणीय है। उक्त दोष निवारण के लिए यदि और भी सत्ता मानी जाय तो अनवस्था-दोष गल-ग्रस्त है। इसलिये प्रकाशमानता-रूप ही सत्ता वेदेन्तियों को भी मानना पड़ेगा, तो यदि देहेन्द्रियादि सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकाशित होते हैं। तो ब्रह्म की तरह अबाध्य होने से इनकी भी पारमार्थिक सत्ता है; यदि नहीं प्रकाशित होते तो शशशृंगादि के समान तुच्छ है तो उभयथा अध्यास असंगत है। इसी बात को भामतीकार ने पूर्वपक्ष के रूप में उठाया है। देहादि यदि प्रकाश-मान हैं तो मिथ्या नहीं, चिदात्मा के समान, यदि अप्रकाशमान हैं तो शशशृंगादि के समान प्रकाशितनहीं हो सकते, अतः सत्यानृत का मिथुनीकरण ही सम्भव नहीं तो उसके अभाव में भेदाग्रह नहीं हो सकता, उसके न होने पर अध्यास कैसे, इस आशय से आक्षेप करनेवाला कह रहा है। कोऽयमध्यासो नाम।

शाङ्करभाष्यम्

आह—कोऽयमध्यासो नामेति, उच्यते स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः।

भामती

कोऽयमध्यासो नाम। क इत्याक्षेपे ! समाधाता लोकसिद्धमध्यास लक्षणमाचक्षाण एवाक्षेपं प्रतिक्षिपति—उच्यते स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासः। अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।

सुभद्रा—पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि यह अध्यास क्या है? यहाँ किम् शब्द आक्षेप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है सिद्धान्ती लोकसिद्ध अध्यास का लक्षण कहता हुआ आक्षेप का निराकरण करता है :—स्मृति सदृश दूसरे में पूर्वकाल में देखी गई वस्तु की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। अवसाद युक्त अथवा अवमानयुक्त जो प्रतीति उसे अवभास कहते हैं। उत्तरकालिक अन्यज्ञान से पूर्वकालिकज्ञान की निवृत्ति को अवसाद या अवमान कहते हैं। इससे मिथ्याज्ञान यह सिद्ध होता है।

विशेष :—यदि अवसाद और अवमान एक ही हैं तो दोनों को क्यों कहा? उत्तर :—अधिष्ठान के यथार्थस्वरूप के साक्षात्कार से पूर्वज्ञान की निवृत्ति को अवसाद कहते हैं और युक्ति से पूर्वज्ञान में अप्रामाणिकता का होना अवमान कहा जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि जो धर्म जिसमें न रहे उसमें उसकी प्रतीति का होना ही अध्यास कहा जाता है।

भामती

तस्येदमुपव्याख्यानं—पूर्वदृष्टेत्यादि। पूर्वदृष्टस्यावभासः पूर्वदृष्टावभासः। मिथ्याप्रत्ययश्चारोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्ट-ग्रहणेनानृतमारोपणीयमुपस्थापयति, तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तु-सत्तेति दृष्टग्रहणम्। तथापि वर्तमानं दृष्टं 'दर्शनं' नारोपोपयोगीति पूर्वे-त्युक्तम्। तत्रपूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयाऽनिर्वाच्यमित्यनृतम्। आरोपविषयं सत्यमाह—परत्रेति। परत्र शुक्तिकादौ परमार्थसति, तदनेन सत्यानृतमिथुनमुक्तम्। स्यादेतत्—परत्र पूर्वदृष्टावभास इत्यलक्षणमति-व्यापकत्वात्। अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाक्ष्या-मवभासः। अस्ति च पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्यामव-भासः समीचीनः।

सुभद्रा—पूर्व व्याख्यात अवभास पद से ही अध्यास का स्पष्टीकरण हो जाता है तो 'स्मृतिरूपः' इत्यादि विस्तृत लक्षण की क्या आवश्यकता थी? इसका

समाधान करते हुये भामतीकार कहते हैं :—'तस्येदमुपव्याख्यानमिति' अर्थात् यह उसी की विस्तृत व्याख्या है । पहले देखी हुई वस्तु की प्रतीति ही पूर्वदृष्टाव-भास कही जाती है । मिथ्याज्ञान के आरोपविषय (शुक्ति) तथा आरोपणीय (रजत) का जब तक तादात्म्य नहीं होगा तब तक मिथ्याज्ञान (यह रजत है) नहीं हो सकता । लक्षण में भाष्यकार भगवान शंकर ने पूर्वदृष्ट शब्द के ग्रहण से आरोपणीय (रजत की) असत्यता का बोध कराते हैं । आरोपणीय वस्तु का ज्ञानमात्र ही अध्यास में अपेक्षित होता है न कि उसकी वास्तविक सत्ता इसी बात को सूचित करने के लिये दृष्ट शब्द का ग्रहण किया गया है । उदाहरण के लिये जैसे चित्राङ्कित सर्प जो कि अवास्तविक है किन्तु वह ज्ञान का विषय होकर रस्सी में दोषवशात् प्रतीत होता है । तथापि वर्तमानकालिक ज्ञान भ्रम का उपयोगी नहीं है इसीलिये पूर्वशब्द का निवेश किया ।

वहाँ पर पूर्वदृष्ट वस्तु स्वरूप से सत् होने पर भी आरोपणीय होने के कारण अनिर्वचनीय है अतः अनृत शब्द कहा गया है । वस्तुतः भ्रम में भासित होने वाला रजत अनिर्वचनीय होने से स्वरूपतः भी सत् नहीं है । यह बात 'स्वरूपेण सदपि' के अपि शब्द से सूचित किया है । आरोप का विषय अधिष्ठान सत्य है इसे परत्र शब्द से व्यक्त किया है । परत्र अर्थात् अधिष्ठानभूत सत्य शुक्तिकादि में मिथ्याभूत रजत की प्रतीति ही भ्रम है । इसी से सत्यानृतमिथुन कहा गया है ।

'परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः' इसकी सार्थकता बतलाकर भामतीकार 'स्मृतिरूपः' की व्याख्या का उपक्रम करते हैं । अध्यास के 'परत्रपूर्वदृष्टावभासः' लक्षण में अतिव्याप्ति है क्योंकि स्वस्तिमती गो मे (स्वस्ति चिह्न वाली गौ में), पूर्वदृष्ट गोत्व का कालाक्षी नामवाली गौ में भी प्रतीति होती है । पाटलिपुत्र में पहले देखे हुये देवदत्त का माहिष्मती नगरी में प्रतीति होती है । जो कि यथार्थ-ज्ञान है किन्तु उसमें अध्यास का लक्षण चले जाने से अतिव्याप्ति होगी ।

भामती

अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धं यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इत्यत आह—स्मृतिरूप इति—स्मृते रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः । असंनिहित विषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं संनिहितविषयं प्रत्यभिज्ञानं समीचीनमिति नातिव्याप्तिः ।

सुभद्रा—अवभास शब्द का अर्थ पहले अवसाद या अवमान किया गया है अतः प्रत्ययान्तर से बाध न होने के कारण उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं है । अर्थात् स्वस्तिमती गो मे प्रतीत गोत्व का कालाक्षी में जो अवभास होता है वह अन्यज्ञा

से बाधित नहीं होता एवं पाटलिपुत्र में दृष्ट देवदत्त की अन्यत्र प्रतीति भी ज्ञानान्तर से बाधित न होने के कारण अवभास शब्द का अर्थ न घटित होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसलिये 'अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धम्' कहा गया है। अवभास पद यथार्थज्ञान में भी प्रसिद्ध है केवल अयथार्थज्ञान में ही नहीं जैसे नील का अवभास पीत का अवभास। इसलिये 'स्मृतिरूप' कहा है। स्मृति के रूप के समान रूप है जिसका उसे स्मृति रूप कहते हैं अर्थात् जिसका विषय सन्निहित न हो उसे ही स्मृतिरूप कहते हैं। खण्डितमती गो में दृष्ट गोत्व का कालाक्षी गो में प्रतीत होना तथा पाटलिपुत्र में दृष्ट देवदत्त का माहिष्मती में प्रतीत होना आदि प्रत्यभिज्ञा स्थल में जो दोष दिया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि उनके विषय सन्निहित हैं असन्निहित नहीं। भाव यह है कि जिस पूर्वदृष्ट गोत्व, देवदत्तादि की प्रमीति अन्यदेश में हो रही है वह उसमें भी विद्यमान है अतः वहाँ पर अतिव्याप्ति नहीं है। पर इतने से भी अतिव्याप्ति दोष का क्षालन नहीं होता क्योंकि स्मृति विषय के समीप न होने से वहां पर अध्यास का लक्षण घटित हो जायगा किन्तु "परत्र-पूर्वदृष्ट" कहने से दोष का वारण हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः" का अर्थ होता है पहले देखे गये देश से पृथक् देश में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित असन्निहित पूर्वदृष्ट में रहने वाली प्रकारता से संवलित ज्ञान। ऐसे ज्ञान को भ्रम या अध्यास कहते हैं। स्मरण में पूर्वदृष्ट देश से भिन्न देश में रहने वाली विशेष्यता नहीं है क्योंकि जैसा अनुभव होता है जैसा ही संस्कार होने से स्मरण होता है।

जिस देश में जिस वस्तु का अनुभव हुआ वैसी ही स्मृति होने के कारण पूर्वदृष्ट देश विशेष्यताक ही स्मरण होगा न कि तद्भिन्न देश विशेष्यताक, अतः स्मृति में दोष नहीं है।

यद्यपि "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रमात्मक स्थल में वेदान्त सिद्धान्त में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मान्य होने से वहां पर भासित होने वाला रजतरूप-विषय सन्निहित ही है न कि असन्निहित इसलिये अव्याप्ति है। साथ ही "पर्वतो वह्निमान्" इत्यादि अनुमिति स्थल में महानसादि पूर्वदृष्ट देश से भिन्न पर्वतनिष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारता जो वह्नि में है वह वह्नि के प्रत्यक्ष न होने के कारण असन्निहित-विषयता-गर्भित होने से अतिव्याप्ति भी है। तथापि असन्निहित शब्द का अर्थ अधिष्ठान में आरोप्य का वस्तुतः न होना अर्थात् अधिष्ठान के समान सत्ता न होना ही है।

"इदं रजतम्" इस स्थल में अनिर्वचनीय रजत की प्रातीतिक सत्ता है अतः

अधिष्ठान भूत शुक्ति की व्यावहारिक सत्ता के समान सत्ता न होने से वहाँ पर अव्याप्ति दोष नहीं है । अनुमेय वह्नि में अधिष्ठानभूत पर्वत के समान ही व्यावहारिक सत्ता होने के कारण अधिष्ठान के असमान सत्ता न होने से असंनिहितत्त्व निवृत्त हो जाता है अतएव अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है ।

भामती

नाप्यव्याप्तिः स्वप्नज्ञानस्यापि स्मृतिविभ्रमरूपस्यैवंरूपत्वात्, तत्रापि हि स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लववशादसन्निधानापरामर्शे तत्र तत्र पूर्वं दृष्टस्यैव संनिहितदेशकालत्वस्य समारोपः ।

सुभद्रा—उक्त लक्षण की न तो अव्याप्ति ही है । यदि यह कहा जाय कि स्वप्न में जो वस्तुएं प्रतीत होती हैं उनका कोई अधिष्ठान चाहिये तो आत्मा तो उनका अधिष्ठान हो नहीं सकता, क्योंकि पारमार्थिक सत् आत्मा को अधिष्ठान मानने पर वे प्रातिभासिक वस्तुयें भी व्यावहारिक हो जायगी । पारमार्थिक अधिष्ठान में प्रतीत होने वाली वस्तुयें व्यावहारिक हुआ करती हैं । क्योंकि सीप, रस्सी की तरह वहाँ व्यावहारिक अधिष्ठान कोई है नहीं अतः स्वप्न में भ्रम का लक्षण नहीं घटित होने से अव्याप्ति है तो ठीक नहीं । क्योंकि स्मृति विभ्रम रूप स्वप्न ज्ञान भी ऐसा ही है । वहाँ पर भी स्मर्यमाण पित्रादि में निद्रादि दोष वश असामीप्य का परामर्श न होने के कारण पूर्वदृष्ट समीप देशकालत्व का आरोप होता है । स्मृति शब्द में भाव मे क्तिन् प्रत्यय न मानकर "अकर्तरिच कारके संज्ञायाम्" इस सूत्र में चकार ग्रहण होने से एवं संज्ञा की तरह प्रसङ्ग में भी कर्तृभिन्न कारक में क्तिन् प्रत्यय का विधान होने से उक्त स्थल में कर्म में क्तिन् प्रत्यय करने से स्मृति शब्द का स्मृति विषय अर्थ हुआ । स्मरण-विषय पित्रादि में जो सामीप्ययुक्त अनुभव वह स्वप्न में उसी काल का होकर प्रतीत होता है । जैसे पाक से रक्तघट में यह इस समय श्यामवर्ण है यह प्रतीति भ्रम है उसी तरह पूर्व अनुभूत पित्रादि में सामीप्य का स्वप्नकाल में भी प्रतीत होना भ्रम है । वस्तुतः स्वाप्निक पदार्थ भी अन्तःकरण उपाधि से युक्त अथवा अविद्योपाधि से युक्त साक्षी चेतन में अध्यस्त होने से उनका भी आत्मा ही अधिष्ठान है इसलिये ये व्यावहारिक हो जायँगे यह शंका उचित नहीं है क्योंकि व्यावहारिकता में अधिष्ठान की पारमार्थिकता प्रयोजक नहीं है । किन्तु अविद्यातिरिक्त दोष से उत्पन्न न होना प्रयोजक है । स्वाप्निक पदार्थ अविद्यातिरिक्त निद्रा-दोष जन्य होने से व्यावहारिक नहीं है । इस तरह से अधिष्ठानभूत शुक्त्यादि में आरोपित रजत की तरह परमार्थभूत अधिष्ठान आत्मा में आरोपित स्वप्नकालिक पित्रादि या घट पट आदि भी भ्रम है यह सिद्ध हो जाता है ।

भामती

एवं 'पीतःशंखस्तिक्तो गुड' इत्यत्राप्येतल्लक्षणं योजनीयम्, तथाहि वहिर्निगच्छदत्यच्छनयनरश्मि संपृक्तपित्तद्रव्यवर्तिनीं पीततां पित्तरहितामनुभवन् शंखं च दोषाच्छादितशुक्लिमानमनुभवन् पीततायाश्च शंखासम्बन्धमननुभवन्नसम्बन्धाग्रहसारूप्येण पीतं तपनीयपिण्डं पीतं विल्वफलमित्यादौ पूर्वदृष्टं सामानाधिकरण्य पीतत्वशंखयोरारोप्याह पीतः शंख इति।

सुभद्रा—इसी तरह 'शंख पोला है, गुड़ तीता है' यहाँ पर भी १-स्मृतीविभ्रमः स्मृतिविभ्रमः। स्मर्यमाण, स्मरण के विषय में स्मृतिविषय से अन्य धर्म का आरोप। अध्यास लक्षण घट जाता है यदि कहा जाय कि शंख में पीतिमा पूर्वदृष्ट नहीं है क्योंकि नेत्र के किरणों से सम्बद्ध पित्त द्रव्यनिष्ठ पीतिमा पूर्वदृष्ट नहीं है तो पूर्वदृष्टावभासत्व के अभाव से लक्षण संगमन नहीं होगा अतः अव्याप्ति होगी। पर यह ठीक नहीं है क्योंकि अत्यन्त स्वच्छ नेत्र के किरणों से सम्बद्ध पित्त-द्रव्य-वृत्ति पीतिमा और पित्तद्रव्य शून्यता का अनुभव करते हुये और दोष से आच्छन्न शुक्लवर्ण वाले शंख का अनुभव करते हुये तथा पीतिमा के शंख के साथ सम्बन्धभाव का अनुभव न करते हुये असम्बन्ध का ग्रहण न होना उसकी समानता से पीला सुवर्ण है, पीला बिल्वफल है इत्यादि स्थल में पूर्वदृष्ट सामानाधिकरण्य के (एक जगह रहने को) पीतत्व और शंख में आरोप करके "पीतः शङ्खः" यह भ्रम उत्पन्न होता है।

आशय यह है कि 'पीतः शंखः' इत्यादि भ्रमस्थल में शंख में पीतिमा न रहने पर भी उससे युक्त होकर शंख भासता है किन्तु उसमें आरोपित पीतिमा के पहले अनुभव न होने से अध्यास लक्षण नहीं घटित हो सकता। यदि यह कहा जाय कि सुवर्ण, पीला फूल फल इत्यादि में पहले पीतिमा का अनुभव है अतः उसी का आरोप शंख में हो जायगा तो लक्षण की अनुपपत्ति कैसी? तो उसका समाधान इस तरह होगा कि जिस पुरुष को कभी पीतिमा का अनुभव नहीं है उसे यदि नेत्र में पित्त रोग (कामला) हो जाय तब यदि शंख पीला मालूम पड़े तो उस भ्रम में पूर्वदृष्टावभास रूप अध्यास-लक्षण कैसे घटित होगा तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर भी पूर्व दर्शन की संभावना है। इस बात को भामतीकार पूर्वोक्त लक्षण-सन्दर्भ से व्यक्त कर रहे हैं :—"वहिर्निगच्छदत्यच्छ" इत्यादि।

पित्त रोग से उत्पन्न नेत्र की पीतिमा नेत्र के किरणों से सम्बद्ध हुई और जो कि पित्त द्रव्य से रहित है ऐसी बाहर निकलती हुई पीतिमा का अनुभव हो रहा है और दोष के कारण शंख की वास्तविक श्वेतिमा नहीं भास रही है

ऐसे शंख का अनुभव करते हुये पुरुष को और भासमान होती हुई पीतिमा का शंख के साथ सम्बन्ध नहीं है ऐसा अनुभव करता हुआ पुरुष जैसे पीत सुवर्ण में पीतिमा और सुवर्ण द्रव्य के सम्बन्धभाव का अग्रहण नहीं होता वैसे ही प्रकृत में भी होने पर पीतसुवर्ण, पीत बिल्वफल में पीतगुण का तादात्म्य दृष्ट होने से 'पीत शंखः' यह भ्रम होता है। इस तरह से पूर्वदृष्ट पीतिमा का शंख में आरोप होने से अध्यास का लक्षण घटित होता है। क्योंकि नेत्र से निकले हुये पित्तद्रव्य की पीतिमा का पूर्व अनुभव उस पुरुष को जिसे कभी पीतिमा का अनुभव नहीं है भ्रम से पूर्व हो जाता है।

इस तरह से भामतीकार ने 'पीतः शंखः' इस भ्रमस्थल में पीतिमा का पूर्वानुभव दो ढंग से बताया। (१) नेत्र से बाहर निकली हुई पित्त द्रव्य की पीतिमा का अनुभव (२) सुवर्णादि में रहने वाली पीतिमा का अनुभव। पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि नेत्र से निकली हुई पित्त द्रव्य की पीतिमा यदि शंखको ढंकती है या नेत्र से निकलने वाला पित्त द्रव्य शंख को ढक लेता है तो उसकी पीतिमा का यदि अनुभव होता है तो सुवर्ण से ढके हुये शंख के समान सबको पीतिमा का अनुभव होना चाहिए। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे न्यायमत में जिसकी अपेक्षा बुद्धि से जो द्वित्व उत्पन्न होता है उसका उसी पुरुष द्वारा ग्रहण होता है न कि अन्य पुरुष से। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है। वस्तुतः उक्त 'पीतः शंखः' इत्यादि भ्रम में गृह्यमाण विषय का आरोप न होकर स्मर्यमाण अर्थात् स्मरण के विषय पीतिमा का ही आरोप होता है। जिस पुरुष को पहिले पीतिमा का अनुभव नहीं है उसे यदि उक्त भ्रम हो तो वहां पर पूर्व में पीतिमा का अनुभव न होने के कारण स्मरण नहीं होगा। उसे जन्मान्तरानुभूत पीतिमा का स्मरण संभव है।""इसी बात की पुष्टि पञ्चपादिकाकार इस ढंग से करते हैं:—जिस बालक को कभी तिक्तरस का अनुभव नहीं किया है उसे दुग्ध में तिक्तता का अध्यास जन्मान्तरानुभव कृत है।

भामती

एतेन 'तिक्तो गुड' इत्यादि प्रत्ययो व्याख्यातः। एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि बलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयद्दोषवशात्तद्देशतामनभिमुखतां च मुखस्याग्राहयत्पूर्वदृष्टाभिमुखादर्शोदकदेशतामाभिमुख्यं च मुखस्यारोपयतीति प्रतिबिम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति। एतेन द्विचन्द्रदिङ्मोहालातचक्रगन्धर्वनगरवंशोरगादिविभ्रमेष्वपि यथासंभवं लक्षणं योजनीयम्।

सुभद्रा—उपरोक्त 'पीतः शंखः' की ही तरह 'तिक्तोगुडः' भी समाधेय है। इस तरह से दर्पणादि में प्रतीयमान मुख अपने नेत्र से पहले न देखे जाने पर अध्यास का लक्षण घटित न होने से जो अव्याप्ति दोष होगा उसका परिहार भी भामतीकार कह रहे हैं :—'एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदका'दपु' इत्यादि। जानने वाले पुरुष के सामने स्थित स्वच्छ दर्पण या जलादि से संलग्न चाक्षुष तेज (नेत्र किरण) दर्पणादि से टकरा कर अधिक शक्तिशाली सूर्य की किरणों से पराभूत होकर लौट आती हैं और अपने मुख से सम्बद्ध होकर ग्रीवास्थ मुख का बोध कराती हुई दोषवशात् मुख में ग्रीवास्थता और अनभिमुखता को न ग्रहण कराती हुई पहले देखे हुये सामने स्थित दर्पण और जलादि देश में ही मानों मुख है ऐसा आरोप होता है।

"दर्पणे में मुखं दृश्यते" ऐसे में मेरा मुख दिखलाई पड़ता है यह प्रतीति होती है। पर वस्तुतः मुख वहाँ पर नहीं है। ग्रीवास्थ मुख ही दर्पणवृत्ति होकर प्रतीत हो रहा है तथा वह पूर्वानुभूत नहीं है अतः पूर्वदृष्ट न होने से अध्यास नहीं है इस शंका पर भामतीकार ने 'मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयत्' सन्दर्भ से ग्रीवास्थ-मुख का भी पूर्व दर्शन हो जाता है यह प्रतिपादित किया है।

'इदं रजतम्' इस भ्रमात्मक स्थल में 'शुक्तौ रजतम्' ऐसा भ्रम नहीं होता। प्रतिविम्ब के भ्रमस्थल में यह विलक्षणता है कि दर्पणादि अधिष्ठान की वृत्तिता भी मुख में भासित होती है। दर्पण में मेरा मुख है ऐसी प्रतीति होने से आधाराधेयभावसम्बन्ध भी अध्यस्त है।""परिमलकार के मत से यहाँ पर मुख में केवल दर्पण और मुख का आधाराधेयभाव रूप सम्बन्ध ही अध्यस्त है जो कि अनिर्वचनीय होने से मुख में उत्पन्न होता है जिससे अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक के मत से विलक्षणता सिद्ध होती है न कि दर्पणादि में प्रातीतिक मुख उत्पन्न होता है।

अन्य आचार्य प्रतिविम्बरूपमुख, उसकी दर्पण वृत्तिता और उसका आभिमुख्य इन सभी का अध्यास मानते हैं।""यदि दर्पणादि में प्रातीतिक मुख की उत्पत्ति न मानी जाय तो फोटो लेते समय दर्पणादि वृत्ति मुख का ग्रहण कैसे होगा? इसी तरह द्विचन्द्रादि भ्रम में भी यथा संभव लक्षण संगमन कर लेना चाहिये।

भामती

एतदुक्तं भवति न प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वं येन देहेन्द्रियादेः प्रकाश-मानतया सद्भावो भवेत्, नहि सर्पादिभावेन रज्ज्वादयो वा स्फटिकादयो वा

रक्तादिगुणयोगिनो न प्रतिभासन्ते ? प्रतिभासमाना वा भवन्ति तदात्मानस्तद्धर्माणो वा ? तथासति मरुषु मरीचिचयमुच्चावचमुच्चलत्तुङ्गतरङ्गभङ्गमालेयमभ्यर्णमवतीर्णा मन्दाकिनीत्यभिसंधाय प्रवृत्तस्तत्तोयमापीयापि पिपासामुपशमयेत्, तस्मादकामेनापि आरोपितस्य प्रकाशमानस्यापि न वस्तुतत्त्वमभ्युपगमनीयम् ।

सुभद्रा—प्रकाशमानता मात्र ही सत्ता नहीं है जिससे कि देहेन्द्रियादि की प्रकाशमान रूप से सत्ता हो । क्या सर्परूप से रस्सी एवं जपाकुसुमादि के सम्बन्ध से अत्यन्त स्वच्छ स्फटिकमणि रक्तवर्ण नहीं प्रतीत होती ? अपितु होती ही है । किन्तु प्रतीत होने मात्र से रस्सी वस्तुतः सर्प के स्वरूपवाली या उसके धर्म से युक्त नहीं हो जाती । यदि प्रतीत होने से ही वस्तु की सत्ता का निश्चय हो तो जो वस्तु जिसरूप से प्रतीत हो वही उसका वास्तविक रूप हो जाय । यदि ऐसी बात हो तो मरुभूमि में सूर्य की किरणों से जो जल की प्रतीति होती है तो उसे प्यासा व्यक्ति 'उछलते हुये तरङ्गों वाली गङ्गा जी मानो समीप आ गईं, ऐसा समझ कर अपनी प्यास शान्त कर लेता । पर ऐसा नहीं होता । अतः न चाहते हुये भी जो वस्तु आरोपित है वह प्रतीत होने पर भी वास्तविक सत् नहीं है यह स्वीकार करना पड़ेगा ।

भामती

न च मरीचिरूपेण सलिलमवस्तु सत् स्वरूपेण तु परमार्थसदेव देहेन्द्रियादयस्तु स्वरूपेणाप्यसन्त इत्यनुभवागोचरत्वात्कथमारोप्यते इति साम्प्रतम्, यतो यद्यसन्तो नानुभवगोचराः कथं तर्हि मरीच्यादीनामसतां तोयतयाऽनुभवगोचरत्वम्, न च स्वरूपसत्त्वेन तोयात्मनाऽपि सन्तो भवन्ति । यद्युच्येत नाभावो नाम भावादन्यः कश्चिदस्ति अपि तु भाव एव भावान्तरात्मनाऽभावः स्वरूपेण तु भावः, यथाहुः—भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया इति । ततश्च भावात्मनोपाख्येयतयाऽस्य युज्येतानुभवगोचरता प्रपञ्चस्य पुनरत्यन्तासतो निरस्तसमस्तसामर्थ्यस्य निस्तत्त्वस्य कुतोऽनुभवविषयभावः कुतो वा चिदात्मन्यारोपः ।

सुभद्रा—यदि यह कहा जाय कि किरण रूप से जल वास्तविक सत् नहीं है किन्तु स्वरूपतः जल वास्तविक सत् है अर्थात् जलरूप मरुमरीचिकादि स्थल में जल की प्रतीति भले ही सत्य नहीं हो सकती क्योंकि उस जल से प्यास नहीं बुझती किन्तु कूप, नदी तथा समुद्रादि में जल की वास्तविक सत्ता तो है । उस जल से स्नान पानादि सभी व्यवहार हो सकते हैं अतः वे जल पूर्वानुभव का

विषय होने से मरुमरीचिकादि में दोषवश अध्यस्त हो सकते हैं। किन्तु आप तो देहेन्द्रियादि दृश्यवर्ग की स्वरूपतः सत्ता भी स्वीकार नहीं करते अतः उनका आरोप अनुभव का विषय न होने से कैसे होगा ?

यदि स्वरूप से असत् की अनुभव गोचरता अंगीकार न की जाय तो जलरूप से असत् किरणों की जलरूप से प्रतीति कैसे होगी ? यदि यह कहें कि वे किरणें स्वरूपतः सत् हैं अतः उनकी जलरूप से प्रतीति सम्भव है तो स्वपतः सत् होने पर भी जलरूप से सत् वे नहीं हो सकतीं। यदि कहा जाय कि अभाव, भाव से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु भाव ही है। अन्य जो भाव पदार्थ है उस रूप से तो अभाव है पर स्वरूपतः भाव है। कहा भी गया है कि 'भावान्तर ही किसी की अपेक्षा अभाव कहे जाते हैं।' किरणों की जलरूप से असत्ता अर्थात् अभाव है और स्वरूप से भाव है। इस तरह भाव अभाव उभयरूपता मानी जाती है। वस्तुओं के दोनों स्वरूप वास्तविक होने से अनुभव के विषय हो सकते हैं। अद्वैत मत में तो देहेन्द्रियादि का प्रतिभासमात्र स्वरूप से भिन्नरूप नहीं है अतः असत् होने से अनुभव के विषय कैसे होंगे ? गगनकमलिनी की तरह अत्यन्त असत् प्रपञ्च जिसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं है और न तो स्वरूप है तो कैसे प्रपञ्च अनुभव का विषय होगा। चिदात्मा से अतिरिक्त देहेन्द्रियादि की प्रतीति न होने से चिदात्मा में आरोप सम्भव नहीं है।

भामती

न च विषयस्य समारासामर्थ्यस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं स्वप्रत्यय-सामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्धस्वभावमिदमुपजातमसतः प्रकाशनं तस्माद-सत्प्रकाशनशक्तिरेवाविद्येति साम्प्रतम्; यतो येयमसत्प्रकाशनशक्तिर्विज्ञानस्य, किं पुनरस्याः शक्यम्, असदिति चेत् ? किं तत् कार्यमाहोस्विदस्य ज्ञाप्यम् ? न तावत्कार्यमसतस्तत्त्वानुपपत्तेः, नापि ज्ञाप्यं ज्ञानान्तरानुपलब्धेः अनवस्था-पाताच्च। विज्ञानस्वरूपमेवासतः प्रकाश इति चेत् ? कः पुनरेष सदसतोः सम्बन्धः। असदधीननिरूपणत्वं सतो ज्ञानस्यासता सम्बन्ध इति चेत्, वतायमतिनिर्वृतः प्रत्ययतपस्वी यस्यासत्यपि निरूपणमायतते, न च प्रत्यय-स्तत्राधरः किंचित्; असत आधारत्वायोगात् असदन्तरेण प्रत्ययो न प्रथते इति प्रत्ययस्यैवैष स्वभावो न त्वसदधीनमस्य किंचिदिति चेत् ? अहो वतास्यासत्पक्षपातो यदयमतदुत्पत्तिरतदात्मा च तदविनाभावनियतः प्रत्यय इति तस्मादत्यन्तासन्तः शरीरेन्द्रियादयो निस्तत्त्वा नानुभवविषया भवितुमर्हन्तीति।

सुभद्रा—यदि यह कहा जाय कि देहेन्द्रियादि विषय में उक्त अर्थक्रिया-कारितादिरूप सम्पूर्ण सामर्थ्य के न होने पर और निःस्वभाव होने से यद्यपि वे असत् हैं तथापि ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह अपने समान आकारवाला जो पूर्व ज्ञान कारण रूप है उसके सामर्थ्य से दृष्टान्तसिद्ध न होने पर भी असाधारण स्वभावयुक्त ज्ञान में असत् वस्तु के प्रकाश करने का सामर्थ्य है। ज्ञान की सत्ता अपने कारणभूतपूर्वज्ञान के अधीन है। इस तरह असत् वस्तु को भी प्रकाशित करने वाली शक्ति को अविद्या कहते हैं। यह युक्तिसंगत नहीं क्योंकि यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होगा कि ज्ञान में जो असत् वस्तु के प्रकाशित करने की शक्ति है उस शक्ति का शक्य क्या है ? क्योंकि शक्ति शक्य निरूपित होती है। यदि यह कहा जाय कि असत् ही शक्य है तो वह कार्य है या ज्ञाप्य ? कार्य हो नहीं सकता क्योंकि जो असत् है उसमें कार्यत्व उत्पन्न ही नहीं हो सकता जैसे असत् शश-शृङ्गादि किसी के कार्य नहीं हैं। (असत को कार्य मान लेने पर उसका उत्पादक विज्ञान होने से उसमें प्रकाशन शक्तित्व का बाध हो जायगा)। द्वितीय ज्ञाप्य पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाप्य का अर्थ है जन्यज्ञान का विषय अर्थात् विज्ञान में रहने वाली जो शक्ति उससे उत्पन्न ज्ञान का विषय असत् है। इस अवस्था में जिसमें शक्ति रहती है उससे भिन्न दूसरा ज्ञान उपलब्ध नहीं है। यदि शक्त्याश्रयत्वेन अभिमत विज्ञान से अतिरिक्त दूसरा विज्ञान मान भी लिया लिया जाय तो वहाँ पर प्रश्न होगा कि उस दूसरे ज्ञान में असत् वस्तु के प्रकाशन की शक्ति है या नहीं ? यदि है तो पुनः विकल्प उठ सकता है कि उस ज्ञान में उक्त शक्ति है या नहीं ? इस तरह अनवस्था अर्थात् प्रथमज्ञानगत शक्ति में ज्ञाप्यत्व सिद्ध करने के लिये दूसरे ज्ञान की अपेक्षा उस ज्ञान की शक्ति में ज्ञाप्यता बनाने के लिये तीसरे की अपेक्षा होगी। इस तरह उत्तरोत्तर ज्ञान अपेक्षित होने से अनवस्था दुर्निवार है।

यदि द्वितीय ज्ञान में असत् प्रकाशन की शक्ति नहीं है यह कहा जाय तो उसी तरह प्रथम ज्ञान में भी उक्त शक्त्यभाव सिद्ध होगा। यदि यह कहें कि शक्ति का आश्रय भूत प्रथम ज्ञान ही जन्यज्ञान से विवक्षित है और असत् वस्तु का प्रकाश उसका स्वरूप ही है तो उक्त दोष नहीं है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'असत् का प्रकाश' कहने पर असत् का प्रकाश के साथ कोई सम्बन्ध बताना पड़ेगा। जैसे 'राजा का पुरुष' यह कहने पर स्वस्वामिभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है वैसा यहाँ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसी बात की पुष्टि 'कः पुनरेष सदसतोः सम्बन्धः' वाक्य से भामतीकार कर रहे हैं। सत् ज्ञान असत् को प्रकाशित करता है तो उसका असत् के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि असत् के अधीन

निरूपित होना ही सम्बन्ध कहा जाय जैसे घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि घट पटादि विषय से निरूपित हैं वैसे ही यहाँ भी असत् से निरूपित है तो यह ठीक नहीं क्योंकि विद्यमान वस्तुओं का ही सम्बन्ध देखे जाने से सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः सम्बन्ध की आधारता असत् (तुच्छ) में न होने से भामतीकार उपहास करते हुये लिखते हैं :—'अहो बतायमतिनिवृ'तः' इत्यादि। यह ज्ञानरूपी तपस्वी अत्यन्त सुखी है यह बड़ा आश्चर्य है जो असत् के अधीन भी निरूपित किया जाता है। भाव यह है कि ज्ञान का निरूपण रूप उपकार असत् से किया जा रहा है। ज्ञान अपने उपकारी असत् के साथ प्रत्युपकार करने में असमर्थ है क्योंकि रहने पर ही कोई किसी का प्रत्युपकार कर सकता है। असत् तो निःस्वभाव है और विद्यमान भी नहीं है। यदि यह कहें कि असत् का ज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, असत् के बिना ज्ञान प्रसिद्ध नहीं है उसका यह स्वभाव ही है कि वह असत् विषयक होता है तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि बौद्धों के मत से अविनाभावरूप व्याप्ति का मूल कार्यकारण भाव और तादात्म्य यही दो माना गया है। जिन दो वस्तुओं का कार्यकारण भाव या तादात्म्य रहता है वहीं पर अविनाभावरूप व्याप्ति मानी जाती है। प्रकृत में असत् और ज्ञान का न तो कार्यकारण भाव ही है और न तो तादात्म्य ही कार्यकारण भाव और तादात्म्य स्वरूपतः दो सत् वस्तुओं का ही हो सकता है। न तो ज्ञान असत् से उत्पन्न है और न असत् से उसका तादात्म्य ही है फिर भी उसमें अविनाभाव सम्बन्ध की कल्पना हास्यास्पद नहीं तो क्या है ? इस तरह से पूर्वोक्त युक्तियों से उसन्न असत् देहेन्द्रियादि तुच्छ होने के कारण ज्ञान के विषय नहीं हो सकते, प्रत्युत जो सत् है वही प्रतीति का विषय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि असत् ख्याति पक्ष युक्ति सङ्गत नहीं है।

भामती

अत्र ब्रूमः—निस्तत्त्वं चेन्नानुभवगोचरस्तत्किमिदानीं मरीचयोऽपि तोयात्मना सतत्त्वाः यदनुभवगोचराः स्युः, न सतत्त्वाः तदात्मना मरीचीनामसत्त्वात्, द्विविधं च वस्तूनां तत्त्वं सत्त्वमसत्त्वं च तत्रपूर्वं स्वतः परं तु परतः। यथाहुः—'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके। वस्तुनिज्ञायते किंचिद्रूपं कैश्चित्कदाचन' इति। तत्किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययस्तत्त्वगोचरः, तथा च समीचीन इति न भ्रान्तो नापि बाध्येत अद्धा न बाध्येत यदि मरीचीनतोयात्मतत्त्वानतोयात्मना गृह्णीयात्, तोयात्मना तु गृह्णन् कथमभ्रान्तः कथं वाऽबाध्यः। हन्त! तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत् तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मताऽनुपपत्तेः। नाप्यसत् 'वस्त्वन्तरमेव

हि वस्त्वन्तरस्यासत्त्वमास्थीयते भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' इति वदद्भिः। न चारोपितं रूपं वस्त्वन्तरं तद्धि मरीचयो वा भवेत् गङ्गादिगतं तोयं वा पूर्वस्मिन् कल्पे मरीचय इति प्रत्ययः स्यान्न तोयमिति। उत्तरस्मिंस्तु गङ्गायां तोयमिति स्यान्न पुनरिहेति। देशभेदास्मरणे तोयमिति स्यान्न पुनरिहेति। न च इदमत्यन्तमसन्निरस्तसमस्ततत्त्वरूपमलीकमेवेति साम्प्रतम्, तस्यानुभवगोचरत्वानुपपत्तेरित्युक्तमधस्तात्। तस्मान्न सत् नापि सदसत् परस्परविरोधादित्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम्। तदनेन क्रमेणाध्यस्तं तोयं परमार्थं तोयमिव, अतएव पूर्वदृष्टमिव, तत्त्वतस्तु न तोयं न च पूर्वदृष्टं किंतु अनृतम निर्वाच्यम्। एवं च देहादिप्रपञ्चोऽप्यनिर्वाच्योऽपूर्वोऽपि पूर्वमिथ्याप्रत्ययोपदर्शित इव परत्र चिदात्मन्यध्यस्यत इत्युपपन्नमध्यासलक्षणयोगात् देहेन्द्रियादिप्रपञ्चबाधनं चोपपादयिष्यते। चिदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणगोचरस्तन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सत्त्वेनैव निर्वाच्योऽबाधिता स्वयम्प्रकाशतैवास्य सत्ता सा च स्वरूपमेव चिदात्मनो न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता वेति सर्वमवदातम्।

सुभद्रा—इस तरह असत्ख्याति का खण्डन होने पर अनुमान के द्वारा सत्ख्याति सिद्ध हो जाता है। अनुमान का आकार :—"देहेन्द्रियादयः सन्तः प्रतीतिविषयत्वात् आत्मवत्" यह है। पूर्वपक्षी के द्वारा सत्ख्याति सिद्ध करने पर अनिर्वचनीयख्यातिवादी वेदान्ती कहते हैं कि यदि निस्तत्त्व वस्तु अनुभव का विषय नहीं होता तो किरणें जलरूप से निस्तत्त्व होकर भी तत्त्वसंवलित की तरह प्रतीति के विषय क्यों होते हैं? सत्ख्याति वादी पूर्वपक्षी कहता है वह तत्त्व सहित नहीं है बल्कि जलरूप से किरणें असत् ही हैं तो फिर असत्ख्याति ही आपने मान लिया। इस पर पूर्ववादी कहता है कि दो प्रकार के वस्तुओं के तत्त्व होते हैं। (१) सत्व (२) असत्व। इन दोनों में प्रथम (सत्व) स्वतः है दूसरा (असत्व) परतः है। भाव यह है कि जलरूप से प्रतीत किरण का रूप ही उस रूप से असत् होता है अपने रूप से तो वह सत् है ही अतः असत्ख्याति नहीं है। ....सिद्धान्ती फिर कहता है कि क्या किरणों में जल की प्रतीति तत्त्वविषयक है? क्योंकि आपने उसे किरण-विषयक माना है। यदि ऐसी बात है तो वह प्रतीति यथार्थ ही है भ्रान्त नहीं अतः बाध भी नहीं हो सकता। जलरूप से असत् भी किरणें अपने स्वरूप से बाध्य न होने से यदि भ्रम में भासती हैं तो उनका बाध नहीं हो सकता क्योंकि किरण रूप से प्रतीति यथार्थ है। सत्ख्यातिवादी पूर्वपक्षी पुनः कहता है :—'अद्धा' इत्यादि। ठीक है जल से भिन्न

स्वरूपवाली किरणों का यदि अतोयात्मना ग्रहण हो तब तो उनकी अबाध्यता युक्तियुक्त ही है और जलरूप से यदि उसका ग्रहण हो तो वह अभ्रान्त और अबाध्य कैसे हो सकता है ? यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किरणों में जो जल रूपता प्रतीत होती है वह सत् है या असत् अथवा उभयात्मक ? सत् नहीं हो सकता क्योंकि जलाभावात्मक किरणों में यदि जलरूपता सत् हो तो जलाभाव के साथ अभेद होने से जलात्मकता अनुपपन्न है। असत् भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि असत् से तुच्छ अभिप्रेत हो तो अपसिद्धान्त होगा। तुच्छ वस्तु प्रतीति के विषय नहीं होते यह पहले कहा जा चुका है। यदि असत् से सत् भिन्न का ग्रहण हो तो भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य वस्तु ही अन्य वस्तु का अभाव है यह 'भावान्तरमभावोऽन्यो' इत्यादि वाक्य से आपने ही स्वीकार किया है। आरोपित रूप वस्त्वन्तर है यह नहीं कह सकते क्योंकि वे किरणें हैं या गंगादिगत जल हैं ? 'इदमिहतोयम्' इस भ्रम में जल का तादाम्य 'इदं' मे प्रतीत होता है तो वह यदि सद्भिन्न वस्तुभूत है तो जलरूप वस्तु से अन्यवस्तुरूप किरणें हों या किरणों से अन्यवस्तु रूप जल हो यही दो हो सकता है अन्य की तो उस भ्रम में प्रतीत ही नहीं है। यदि किरणें हैं तो 'मरीचयः' ऐसी प्रतीति होगी न कि 'तोयम्'। यदि जल है तो 'गङ्गायां तोयम्' गङ्गा में जल है ऐसी प्रतीति होनी चाहिये न कि यहाँ। यदि यह कहा जाय कि देशविशेष का उस समय स्मरण नहीं होता अतः उक्त प्रतीति नहीं होती ? तब तो केवल 'तोयम्' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये न कि 'इह तोयम्' यहाँ जल है। और न तो अत्यन्त असत् (तुच्छ) ही हो सकता है क्योंकि वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता। यह पहले कहा जा चुका है। विरोध होने से सदसत् भी नहीं हो सकता। अतः किरणों में प्रतीति होने वाला जल न सत् है न असत् है, न सदसत् है प्रत्युत अनिर्वचनीय ही जल किरणों में भासित होता है यह अगत्या स्वीकार करना पड़ेगा।

इस तरह अध्यस्त जल वास्तविक जल की तरह तथा पूर्वदृष्टि की तरह वस्तुतः न तो जल ही है प्रत्युत अनिर्वचनीय जल किरणों में अविद्यादि दोष वशात् उत्पन्न हुआ है। इसी तरह परमार्थतः सद्रूप अधिष्ठान में देहेन्द्रियादि प्रपञ्च भी अध्यस्त होने के कारण अनिर्वचनीय है और अपूर्व है। अपूर्व होने पर भी पूर्व-पूर्व मिथ्याप्रतीति के कारण पूर्वदृष्ट की तरह प्रतीति होता है और दृश्यवर्ग से भिन्न चिदात्मा में अध्यस्त है। इस तरह से अध्यास का लक्षण घटित हो जाता है।

उक्त अनुमान (देहेन्द्रियादयः सन्तः इत्यादि) से देहेन्द्रियादि प्रपञ्च की जो सत्ता सिद्ध की गई थी उसमें तद्गत प्रतीयमानत्व हेतु का मरुमरीचिकोदकादि में व्यभिचार दिखलाकर उक्त हेतु की सोपाधिकता प्रदर्शित कर रहे हैं। सत्यरूप साध्य से

विशिष्ट ब्रह्म में प्रबाधितत्व है इसलिये साध्यव्यापकता प्रबाधितत्व मे है। देहेन्द्रियादि में प्रतीयमानत्वरूप हेतु है और प्रबाधितत्व नहीं है अतः उसमें साधनाव्यापकता है। इस तरह उपाधि का लक्षण घटित होने से उक्त हेतु दुष्ट हो गया।

यदि यह कहा जाय कि अनादि प्रवाह रूप देहेन्द्रियादि प्रपञ्च का बाध नहीं होता? तो भामतीकार चतुर्थ सूत्र में उसका स्पष्टीकरण करेंगे। ....यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध देहेन्द्रियादि भी मिथ्या हैं तो चिदात्मा भी मिथ्या है, उसकी सत्ता कैसे स्वीकार की जाय? तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि चिदात्मा श्रुति-स्मृतियों और इतिहास-पुराणादि प्रमाणों से सिद्ध है, श्रुति-मूलक और श्रुत्यादि से अविरुद्ध न्याय से निर्णीत शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला है। सद्रूप से निर्वाच्य है। पूर्वोक्त प्रकाशमानता रूप सत्ता का खण्डन मरुमरीचकादि दृष्टान्त से किया गया तो चिदात्मा में कैसी सत्ता अभिप्रेत है? इस पर अबाध्यत्व विशिष्ट प्रकाशमानता ही चिदात्मा की सत्ता सिद्ध होती है। (जिसका तीनों काल में बाध न हो और जो अपने प्रकाश में दूसरे की अपेक्षा न करे यही उक्त सत्ता का अर्थ है) देहादि प्रपञ्च प्रकाशित होने पर भी बाध्य है अतः उनमें उक्त सत्ता नहीं रहती। यदि यह शका हो कि उक्त सत्ता और चिदात्मा में भेद होने से अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी तो ठीक नहीं क्योंकि उक्त सत्ता चिदात्मस्वरूप ही है न कि तद्व्यतिरिक्त नैयायिक सम्मत सत्ता-सामान्य-समवाय या बौद्धसम्मत अर्थ क्रिया कारिता रूप। इस तरह सब स्पष्ट हो जाता है।

शाङ्करभाष्यम्

तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति॥ अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मकल्पनामाचक्षते, इति॥ सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।

भामती

स चायमेवंलक्षणकोऽध्यासोऽनिर्वचनीयः सर्वेषामेव सम्मतः परीक्षकाणाम्, तद्भेदे परं विप्रतिपत्तिरित्यनिर्वचनीयतां द्रढयितुमाह अन्यधर्मस्य, ज्ञानधर्मस्य रजतस्य ज्ञानाकारस्येति यावत् अध्यासोऽन्यत्र बाह्ये। सौत्रान्तिकनये तावद्बाह्यमस्ति वस्तु सत्तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। विज्ञानवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तु सत्तथाप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यं; तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। उपपत्तिश्च यादृशमनुभवसिद्धं रूपं तत्तादृशमेवाभ्युपेत-

ऽयमित्युत्सर्गोऽन्यथात्वं पुनरस्य बलवद्बाधकप्रत्ययवशात्, नेदं रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ न रजतगोचरतोचिता। रजतस्य धर्मिणो बाधे हि रजतं च तस्य च धर्मं इदन्ता बाधिते भवेताम्, तद्वरमिदन्तैवास्य धर्मो बाध्यतां न पुना रजतमपि धर्मि, तथा च रजतं बहिर्बाधितमर्थादान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत इति ज्ञानाकारस्य बहिरध्यासः सिध्यति।

सुभद्रा—पूर्वोक्त लक्षण-लक्षित अध्यास सर्वसम्मत है किन्तु परीक्षकों एवं विचारकों को उसके भेद में विप्रतिपत्ति है। आशय यह है कि अन्य में अन्य के धर्म को प्रतीति ही अध्यास है जिसे भाष्यकार आगे चलकर "अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम" सन्दर्भ से कहेंगे। इस तरह से अनिर्वचनीयता को दृढ़ करने के लिये "केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास" कह रहे हैं। अर्थात् अन्य में अन्य के धर्म का आरोप अध्यास है। बौद्धों के मत से ज्ञानाकार रजत का अन्यत्र बाह्य में आरोप होता है। बौद्धों के सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक चार अवान्तर भेद हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्य वस्तु की सत्ता मानते हैं। वैभाषिक बाह्य वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक मत में बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, वे केवल अनुमेय हैं। विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत में केवल लाक्षणिक विज्ञान की ही सत्ता मानी जाती है, बाह्य वस्तु मिथ्या हैं। शून्यवादी माध्यमिक के मत में सब शून्य ही है। यहाँ सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार के मत से उक्त अध्यास-लक्षण घटित कर रहे हैं। सौत्रान्तिक मत में बाह्य विषय ज्ञान में अपने आकार को समर्पित करते हैं। ज्ञान में रहने वाली अर्थगतसद्रूपता से बाह्य घट पट सुख दुःखादि सब वस्तु अनुमेय हैं। वैभाषिक मत में यथा योग्य सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। दोनों मत में ज्ञेय घट पटादि विषय ज्ञान में अपने आकार को समर्पित करते हैं। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थल में बाहर अपने आकार को समर्पित करने वाले रजत रूप विषय के न होने से 'इदं रजतम्' यह आकार ज्ञान का विषय नहीं बन सकता इसलिये वहाँ पर प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाला क्षणिक विज्ञान रूप आत्म चैतन्य ही रजताकार को प्राप्त होता हुआ सामने विद्यमान शुक्तिरूप अधिष्ठान में इदन्त्वेन आरोपित होता है अतः अन्यज्ञान का धर्म रजत बाह्य अधिष्ठान शुक्ति में आरोपित होने से अध्यास-लक्षण घटित होता है। विज्ञानवादियों के मत में भी ज्ञान के आकार का ही बाहर आरोप होता है। यद्यपि उक्त मत में बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है अतः अधिष्ठान न होने से उक्त अध्यास-लक्षण निष्पन्न नहीं हो सकता तथापि उनके मत में अनादि अविद्यावासना से आरोपित अलीक शुक्त्यादि बाह्यवस्तु मानकर उसमें आन्तर ज्ञान का

आरोप होने से उक्त लक्षण घट जाता है। ये तीनों आत्मख्यातिवादी हैं। माध्यमिक, शून्यवादी होने से असत्ख्यातिवादी हैं, जिसका निराकरण पहले हो चुका है।

वे अपने यहाँ युक्ति प्रदर्शित करते हैं:—जिसका जैसा अनुभवसिद्ध रूप है उसे वैसा स्वीकार करना चाहिये यह औत्सर्गिक नियम है। पूर्वानुभव सिद्ध रूप भी अनन्तर बलवान बाधक रूप से विपरीत हो जाता है। 'यह रजत नहीं है' इसमें इदन्ता मात्र का ही बाध होने से उस बाधज्ञान को रजतविषयक मानना अनुचित है। धर्मी रजत का बाध मानने पर धर्मी रजत और उसका धर्म इदन्ता दोनों बाधित हो जाते हैं। अतः लाघव के लिये केवल इदन्ता रूप धर्म का ही बाध मानना उचित है न कि रजत रूप धर्मी का। उक्त तीनों मतों की प्रतीति में रजत बाहर न होने के कारण आन्तर ज्ञान में ही स्थिर रहता है अतः ज्ञान के आकार का बाहर अध्यास सिद्ध होता है।

भामती

केचित्तु ज्ञानाकारख्यातावपरितुष्यन्तो वदन्ति "यत्रयदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम" इति अपरितोषकारणं चाहुः—विज्ञानाकारता रजतादेरनुभवाद्वा व्यवस्थाप्येतानुमानाद्वा? तत्रानुमानमुपरिष्टान्निराकरिष्यते। अनुभवोऽपि रजतप्रत्ययो वा स्याद् बाधकप्रत्ययो वा? न तावद्रजतानुभवः। स हीदंकारास्पदं रजतमावेदयति न त्वान्तरम्, अहमिति हि तदा स्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात्। भ्रान्तं विज्ञानं स्वाकारमेव बाह्यतयाऽध्यवस्यति, तथा च नाहङ्कारास्पदमस्य गोचरो, ज्ञानाकारता पुनरस्य बाधकप्रत्ययप्रवेदनीयेति चेत्? हन्त! बाधकप्रत्ययमालोचयत्वायुष्मान्। किं पुरोवर्ति द्रव्यं रजताद्विवेचयति आहो ज्ञानाकारतामप्यस्य दर्शयति। तत्र ज्ञानाकारतोपदर्शनव्यापारं बाधक प्रत्ययस्य ब्रुवाणः श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियः। पुरोवर्तित्वप्रतिषेधादर्थादस्य ज्ञानाकारतेति चेत्? न असन्निधानाग्रहनिषेधादसन्निहितो भवति प्रतिपत्तुः, अत्यन्तसन्निधानं त्वस्य प्रतिपत्त्रात्मकं कुतस्त्यम्।

सुभद्रा—अख्यातिवादी प्रभाकर आत्मख्यातिवादियों से असहमति व्यक्त करते हैं—जहाँ जिसका अध्यास होता है वहाँ उसके भेदज्ञान के गृहीत न होने के कारण तन्निबन्धन तन्निमित्तक भ्रम होता है। असन्तोष का कारण यह है कि 'इदं रजतम्' प्रतीति में रजत की विज्ञानाकारता अनुभव से स्थापित करेंगे या अनुमान से? अनुमान का निराकरण आगे किया जायगा। यदि अनुभव से उसे स्थापित करेंगे तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि उक्त अनुभव रजत की प्रतीतिरूप

है या 'नेदं रजतम्' इत्याकारक बाधकाज्ञनरूप ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि 'इदं रजतम्' यह प्रतीति इदं अधिष्ठान युक्त रजत को प्रकट करती है न कि आन्तर ज्ञान के आकार को। यदि आन्तर रजत को प्रकट करती तो अहं ऐसी प्रतीति उस समय होनी चाहिये क्योंकि क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धों के मत में अहमास्पद विज्ञान ही आत्मा है जो रजत रूप से प्रतीत हो रहा है तो प्रतिपत्ता (ज्ञाता) आत्मा और प्रत्यय ज्ञान रजत ये दोनों एक हैं। यदि यह शंका हो कि रजत का उल्लेख अहं शब्द से होना चाहिये था किन्तु दोषावशात् इदं शब्द से उसकी प्रतीति हो रही है तो उसका निराकरण इस तरह से कर रहे हैं:—दोष से उत्पन्न विज्ञान अपने आकार को ही बाह्यविषय-इदं रूप द्वारा प्रकाशित करता है। भाव यह है कि क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मत से ग्राह्य और अध्यवसेय ये दो ज्ञान के विषय स्वीकृत हैं। ज्ञान का जो अपना स्वरूप गृहीत होता है उसे ग्राह्य कहते हैं तथा बाह्य घट पटादि विषय अध्यवसेय कहे जाते हैं। भ्रमस्थल में बाह्य विषयों के न होने से अपना स्वरूप ही अध्यवसेय होता है। पुरोवर्ती अधिष्ठान में ज्ञानाकार रूप रजत दोषवशात् इदन्त्वेन आरोपित होता है जिससे अहन्त्वेन उल्लेख नहीं होता और रजत की विज्ञानाकारता 'नेदं रजतम्' इस बाधक प्रतीति से आरोपित बाह्य इदन्त्वाकार के बाध होने से रजताकार ही स्थित रहता है। वह ज्ञान रूप ही है। (यदि वहाँ पर अहन्त्व बाह्य घट पटादि विषयों की तरह अध्य-वसेय होता तो 'अहं रजतम्' यह प्रतीति होती किन्तु अहन्त्व के अध्यवसेयतया विषय न होने से वैसी प्रतीति नहीं होती।) अतः बाधक 'नेदं रजतम्' इत्यादि प्रतीति के बल से रजत की ज्ञानाकारता सिद्ध होती है। यहाँ बाधक प्रतीति का विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। क्या उक्त बाधक प्रतीति सामने स्थित शुक्तिरूप द्रव्य को रजत से भिन्न बतला रही है अथवा रजत की ज्ञानाकारता भी बतला रही है? यदि ज्ञानाकारता भी प्रदर्शित करती है तो क्या साक्षात् या अर्थतः? साक्षात् रजत की ज्ञानकारता उक्त प्रतीति दिखला नहीं सकती क्योंकि अनुभव विरुद्ध है। 'नेदं रजतम्' प्रतीति में यह रजत नहीं है, ऐसा भासित होता है न कि वह रजत ज्ञानाकार भी है। 'रजत ज्ञानाकार है' यह दिखलाने का व्यापार बाधक प्रतीति को कहने वाले आप मूर्ख ही प्रतीत होते हैं। उस रजत में पुरोवर्तित्व का निषेध कर दिया जाय तो रजत की ज्ञानाकारता सिद्ध हो जायगी यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस प्रतीति में समीपस्थ द्रव्य में रहने वाले इदन्त्वरूप धर्मका ही बाध होता है पर वह बाध तो रजत का अन्य देश में सम्बन्ध होने पर भी हो सकता है—इससे रजत की ज्ञानाकारता तो सिद्ध नहीं होती। अख्यातिवादी आत्मख्यातिवादी के मत में यह दोष दिखला रहा है:—रजत के असन्निधान

(सामीप्याभाव) का, अग्रहण ही सामीप्यरूप से व्यवहार का हेतु होने के कारण भ्रम है । उसका निषेध अर्थात् असन्निधान ग्रह ही बाध है इससे जिसको उक्त प्रतीति के बाद बाध होता है उसे रजत असन्निहित हो जाता है । आन्तरज्ञान तो अत्यन्त सन्निहित है । अतः यदि निषेध होने से रजत असन्निहित होता है तो अत्यन्त सन्निहित ज्ञानाकारिता कैसे होगी ?

भामती

न चैषरजतस्य निषेधो न चेदन्तायाः किन्तु विवेकाग्रह प्रसञ्जित रजतं व्यवहारस्य । न च रजतमेव शुक्तिकायाम् प्रसञ्जितं रजत ज्ञानेन नहि रजत निर्भासस्य शुक्तिका लम्बनं युक्तम् अनुभवविरोधात् । नखलुसत्तामात्रेणा लम्बनम् अतिप्रसङ्गात् । सर्वेषामर्थानां सत्त्वाविशेषादातम्बनत्व प्रसङ्गात् । नापि कारणत्वेन इन्द्रियादीनामपिकारणत्वात्, तथा च भासमानतैवा-लम्बनार्थः अपिचेन्द्रियादीनां समीचीनज्ञानोपजनने सामर्थ्यं, मुपलब्धमिति कथमेभ्यो मिथ्याज्ञान सम्भवः दोषसहितानां तेषां मिथ्याप्रत्ययेऽपि सामर्थ्य-मिति चेत्, न दोषाणां कार्योपजनन सामर्थ्यं विघातमात्रे हेतु, त्वात् अन्यथा दुष्टादपि कुटजवीजाद् वटाङ्कुरोत्पत्ति प्रसङ्गात् । अपिच स्वगोचर व्यभिचारे विज्ञाननां सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः । तस्माद् सर्वं विज्ञानं समीचीनमास्थेयम् ।

सुभद्रा—और भी बात है जैसे विज्ञानवादी बौद्ध के मत मे सब वाह्य वस्तु अलीक है तो वाह्यता के अलीक होने पर भी भ्रम मे जैसे उसका आरोप होता है, वैसे ही अलीक रजत का भी आरोप हो जायगा फिर उस प्रतीति से केवल वाह्यरूपता का हो निषेध करके रजत को ज्ञानाकार मानना ठीक नहीं । यदि यह कहा जाय कि रजत रूप धर्मी का बाध मानने में गौरव है अतः केवल इदन्तारूप वाह्यता धर्म का ही निषेध है तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अख्यातिवादी हमारे मत में न तो धर्म का ही बाध है न धर्मी का ही । किन्तु भेदज्ञान गृहीत न होने से प्राप्त इदं रजतम् यह व्यवहार मात्र का बाध होता है अतः हमारे मत से आपके मत की अपेक्षा भी लाघव है । यदि ऐसी शंका हो कि केवल व्यवहार का ही निषेध नहीं होता किन्तु सीप मे प्रतीति होने वाली चाँदी का भी निषेध होता है, क्योंकि रजत के ज्ञान से शुक्ति मे रजत भी प्राप्त है न कि केवल व्यवहार मात्र, तो रजत की प्राप्ति ही नहीं है फिर उसका निषेध कैसे होगा क्योंकि प्राप्तिपूर्वक हो निषेध होता है ।

यदि उसकी प्राप्ति मानी जाय तो रजतज्ञानका आधार शुक्ति का नहीं हो सकती क्योंकि अन्य के ज्ञान का आधार अन्य नहीं होता अनुभव के विरोध होने से, अन्यथा घटज्ञान का आधार पट भी हो जायगा। यदि कहा जाय कि रजत ज्ञान का आधार पुरोवर्तीद्रव्य होगा तो यह भी उचित नहीं क्योंकि सत्तामात्र से आलम्बन आधार नहीं होते, अतिप्रसंग होने से, यदि सत्ताभाव से आलम्बन माना जाय तो वहाँ पर विद्यमान लोष्ट, (महीके ढ़ेले आदि) भी हो जायगे यदि यह कहा जाय कि रजत ज्ञान में शुक्ति (सीप) कारण है न कि लोष्ट आदि, अतः उसका शुक्ति आलम्बन हैं तो कारणत्वे न आलम्बन मानने पर चक्षुरादि इन्द्रियों में भी कारणता होने से आलम्बनता की प्रसक्ति होगी। इसलिये भास-मानता, प्रकाशित, होना ही आलम्बन शब्द का अर्थ है रजत ज्ञान में शुक्ति नहीं भासती तो वह कैसे आधार होगी। यदि शुक्ति का भान माना जाय तो अनुभव विरोध है और यदि रजत ज्ञान शुक्ति को विषय करता है तो वह मिथ्याज्ञान होगा जो कि संभव नहीं है क्योंकि यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न करने का सामर्थ्य इन्द्रियादिक में 'अन्यत्र' उपलब्ध है तो उनसे मिथ्याज्ञान कैसे उत्पन्न होगा। यदि दोष रहित इन्द्रियों से ही यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है न कि दोष युक्त इन्द्रियों से, उनसे मिथ्याज्ञान ही होता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि दोष इन्द्रियादि में कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति को रोकता है न कि विपरीत ज्ञान के शक्ति को उत्पन्न करता है, नहीं तो दोष युक्त कुटज के बीज से बट वृक्ष के अङ्कुर की उत्पत्ति होने लगेगी। और भी बात है, यदि दोषयुक्त इन्द्रियों से मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति मानी जाय तो ज्ञान अपने विषय के व्यभिचारी हो जायेंगे जिससे कि उनपर विश्वास नहीं होगा तो निश्शंक प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये सब ज्ञान यथार्थ है यही मानना ठीक है। अनुमान भी इसमे प्रमाण है। (सर्वे, विगीता प्रत्ययाः यथार्थाः प्रत्ययत्वात् संप्रतिपन्नवत्। अर्थात् सब, विवादास्पद ज्ञान यथार्थ हैं ज्ञान होने से उभय सम्मत यथार्थ ज्ञान के समान)।

भामती

तथा च रजतं इदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे, तत्रेदमिति पुरोवर्ति द्रव्यमात्रग्रहणम् दोषवशात्, दत्तशुक्तित्व सामान्य विशेषस्याग्रहात्, तन्मात्रं च गृहीतं सदृशतया संस्कारोद्बोध क्रमेण रजते स्मृतिं जनयति। सा च गृहीत ग्रहणस्वभावाऽपि दोषवशा, द्गृहीतत्तांशप्रमोषा, द्ग्रहणमात्र-मवतिष्ठते। तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च भेदाग्रहात् सन्निहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण इदं रजतमितिभिन्ने अपि स्मरणग्रहणे अभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्य व्यपदेशं च प्रवर्तयतः।

क्वचित्पुनग्रहणो एव मिथोऽग्रहीतभेदे यथापीतः शङ्ख इति। अत्र हि विनिर्गच्छन्नयनरश्मिवर्तिनः पित्तद्रव्यस्य काचस्येवाति स्वच्छस्य पीतत्वं गृह्यते पित्तंतु न गृह्यते। शङ्खोऽपि दोषवशाच्छुक्लगुणरहितः स्वरूप मात्रेण गृह्यते। तदनयोर्गुणगुणिनोरसंसर्गाग्रह सारूप्यात्पीततपनीयपिंड प्रत्ययाविशेषेण भेदव्यवहारः सामानाधिकरण्य व्यपदेशश्च। भेदाग्रहप्रसञ्जिता भेदव्यवहारबाधनाच्च नेदमिति विवेक प्रत्ययस्य बाधकत्वमप्युपपद्यते, तदुपपत्तौ च प्राक्तनस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वमपि लोकसिद्धं सिद्धं भवति। तस्मा-द्यथार्थाः सर्वे विप्रतिपन्नाः संदेहविभ्रमाः प्रत्ययत्वाद् घटादिप्रत्ययवत्। तादिदमुक्तम्—यदध्यास, इति। यस्मिन्शुक्तिकादौ यस्यरजतादे रध्यास इति लोकप्रसिद्धिः नासावन्यथाख्यातिनिबन्धना किन्तु गृहीतस्य रजतादे स्तत्स्मरणस्य च गृहीततांशप्रमोषेण गृहीतमात्रस्य य इदमिति पुरोऽवस्थि-ताद्द्रव्यमात्राच्चत्प्रज्ञानाच्चविवेकः तदग्रहण निबन्धनोभ्रमः। भ्रान्तत्वं च ग्रहण-स्मरणयो रितरेतरसामानाधिकरण्यव्यपदेशो रजतादि व्यवहारश्चेति।

सुभद्रा—इस तरह से रजतम्, इदम् यह दो ज्ञान है, स्मृतिरूप और अनुभव-रूप, वहांपर इदम् यह अनुभवरूप ज्ञान है, और रजतम्, यह स्मरणरूप ज्ञान है, इदम् यह केवल पुरोर्वतिद्रव्य मात्र का ग्रहण (अनुभव) है दोषवश उसमें स्थित शुक्तित्व सामान्य विशेष का ज्ञान नहीं होता, तन्मात्र केवल इदन्त्वेन, पुरोवर्तित्वेन, अर्थात् सामने स्थित केवल द्रव्यरूप से गृहीत होकर सदृश होने से, रजत के समान चाकचिक्यादि, (चमक) से युक्त होने के कारण तद्विषयक संस्कार को उद्बुद्धकर क्रम से रजत विषयक स्मरण को उत्पन्न करता है। वह स्मृति भी गृहीत ग्रहण स्वभाव युक्त होने पर भी दोष वश गृहीतत्व अंश का प्रमोष, परित्याग, होने से केवल ग्रहण मात्र रूप से स्थिति होती है। आशय यह है कि यद्यपि स्मरण का यह स्वभाव है कि जैसा पूर्व में गृहीत हो, यानी अनुभूत हो वैसा ही होता है यदि पूर्व में घट का ग्रहण है तो पट की स्मृति नहीं होती, अर्थात पहिले अनुभूत होकर यह गृहीत है ऐसा प्रकाश करने का स्वभाव है जिसका ऐसी है तथापि रागादि दोष दूषित अन्तःकरण से होने के कारण गृहीत है ऐसा प्रतीत न होकर उस अंश को छोड़कर केवल ग्रहण ज्ञान रूप से ही शेष रहता है। (अख्यातिवादी भ्रमस्थल में विशिष्ट एक ज्ञान न मानकर दो ज्ञान मानता है। जिसमे कि एक, इदं यह अनुभवरूप ज्ञान है। वह अनुभव कांचादि दोष दूषित नेत्र वाले पुरुष को होने से उक्त दोषवश शुक्ति विषयक न होकर केवल इदं पुरोर्वति द्रव्य मात्र विषयक होता है एवं स्मरण भी रागादि दोषवश और चाकचिक्यादि विषयगत दोषवश रजत विषयक होकर

दोनों समानाकार हो जाते हैं उनमे भेद गृहीत नहीं होता) इस तरह से रजत का स्मरण रूप ज्ञान और पुरोवर्ति द्रव्य का ग्रहण, अनुभव, रूप ज्ञान इनमे परस्पर स्वरूप से और विषय से भेद ज्ञान न होने से अर्थात् उन दोनों मे यह स्मरण है और यह अनुभव है ऐसा ज्ञान नहीं होता, इस तरह से स्वरूपतः भेद का ज्ञान नहीं हुआ, और न तो उन दोनों के विषय में ही भेद गृहीत हुआ, (कि) अनुभवतो पुरोवर्तिद्रव्य (शुक्ति) का है, और स्मरण रजत का है ऐसा दोषवश होने पर इदं रजतम् इस यथार्थ ज्ञान के सदृश होनेसे अर्थात् जहाँ पर रजत सन्निहित है वहाँ पर उक्त ज्ञान यथार्थ है यह सभी वादियों का सम्मत है तो जैसे वहाँ पर इदं पदार्थ और रजत पदाथ का असंसर्ग, संसर्ग भाव, नहीं गृहीत होता है, वे दोनों तादात्म्ये न सम्बद्ध है। अतः एक ज्ञान होने से उनमें स्वरूपतः और विषयतः भेद नहीं है, इसलिये जैसे वहाँ पर अभेद व्यवहार और समानाधिकरण्य प्रदेश होता है इसी तरह से भ्रमस्थल में भी उक्तग्रहण और स्मरण भिन्न होने पर भी दोषवश अपने स्वरूप गत और विषय गत भेद को न प्रकाशित करते हुये अभेद व्यवहार, पुरोवर्ति, रजत, विषयक प्रवृत्ति और समान लिंग वचन युक्त पद के प्रयोग को करते हैं। कहीं पर दो अनुभव रूप ज्ञान ही परस्पर भिन्न न होकर केवल प्रतीत होते हुए उक्त व्यवहार को प्रवृत्त करते हैं, जैसे पीतः शाखः यहाँ पर शंख पीला है यह ज्ञान। यहाँ पर निकलती हुई नेत्र के किरणों में विद्यमान पीतिमा ही गृहीत होती है दोषवश पित्त द्रव्य स्वच्छ कांच के समान जैसे स्वच्छकांच द्रव्य की केवल हरीतिमा ही गृहीत होता है उसी तरह पित्त द्रव्य ज्ञान का विषय न होकर केवल तद्गत पीतिमा ही गृहीत होता है एवं दोषवश शंख भी शुक्ल गुण से रहित होकर स्वरूपतः द्रव्यरूप से गृहीत होता है तो ए दोनों गुण और गुणी, द्रव्य, अर्थात पीतगुण और शंखरूप द्रव्य इन दोनों का पीत सुवर्ण रूप यथार्थ ज्ञान से कोई विशेषता न होने से अभेद व्यवहार शंख पीत है, यह ज्ञान, और समानाधिकरण्य व्यपदेश बन जाता है। यदि इदं रजतम् यह भ्रमात्मक ज्ञान भी यथार्थ है, तो नेदंरजतम् यह बाध नहीं होगा क्योंकि यथार्थ ज्ञान का बाध नहीं होता ऐसी शंका न करनी चाहिये, क्योंकि भेदज्ञान के न होने पर प्राप्त अभेद व्यवहार मात्र का ही बाध होने से नेदं इस भेदज्ञान की बाधकता भी बन जाती हैं, उसके होने पर पूर्वज्ञान, इदं रजतम्, इसमें लोक सिद्ध भ्रमात्मकता भी सिद्ध हो जाती है। इस हेतु से सभी विवादास्पद संदेह और भ्रमरूप से प्रसिद्ध ज्ञान भी भी यथार्थ हैं ज्ञान से घटादि रूप यथार्थ ज्ञान की तरह। इस अनुमान से सब ज्ञान यथार्थ हैं यह सिद्ध होता है, तो इसलिये भाष्य मे पदन्यासः ऐसा कहा जिस शुक्ति आदि मे जिस रजत आदि का अध्यास लोक सिद्ध है वह अन्य में

अन्य की ख्याति निमित्तक नहीं, किन्तु यथार्थ ज्ञान रूप से प्रसिद्ध रजतादि स्थल में अनुभूत रजत आदि का जो स्मरण उसमे गृहीतत्व अंश का दोषवशात् परित्याग होने से केवल गृहीत मात्र रजत आदि का, इदम् यह जो सामने स्थित द्रव्य मात्रका ज्ञान उससे जो विवेक भेद, वह न ज्ञात होकर, अर्थात् उक्त दोनों ज्ञानों में भेद न गृहीत होने से, तन्मूलक भ्रम है । इस तरह से उक्त ग्रहण और स्मरण इन दोनों ज्ञानों में भ्रान्तत्व और सामानाधिकरण्य व्यपदेश और रजतादिव्यवहार उपपन्न होताहै । इससे ज्ञान में रहने वाली उक्त सामानाधिकरण्य व्यपदेश और रजतादि व्यवहार की जनकता ही भ्रम है, न कि अन्य मे अन्य की प्रतीत यह सिद्ध हुआ ।

भामती

अन्ये तु अत्राप्यपरितुष्यन्तः यत्र यदध्यासस्तस्य विपरीतधर्मत्व कल्पनामाचक्षते । अत्रेदमाकूतम्—अस्तितावद् रजतार्थिनो रजतमिदंमिति प्रत्ययात्पुरोवर्तिनिद्रव्ये प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्य व्यपदेशश्चेति सर्वजनीनम् । तदेतन्न तावग्दहण स्मरणयोस्तग्दोचरयोश्च मिथोभेदाग्रहणमात्राद्भवितुमर्हति । ग्रहण निबन्धनौ हि चलनस्य व्यवहारव्यपदेशौ कथमग्रहणमात्राद्भवेताम् । ननूक्तं नाग्रहणमात्रात् किन्तु ग्रहणस्मरणे एव मिथः स्वरूपतः विषयतश्चा—गृहीतभेदे समीचीनपुरस्थित रजत विज्ञानसा; दृश्येनाभेद व्यवहारं सामानाधिकरण्य व्यपदेशं च प्रवर्तयतः । अथ समीचीन सारूप्य मनयोर्गृह्यमाणं वा व्यवहारप्रवृत्तिहेतुः अगृह्यमाणं वा सत्तामात्रेण । गृह्यमाणत्वेऽपि समीचीन ज्ञान सारूप्यं अनयोरिदमिति रजत मिति च ज्ञानयोः इति ग्रहणं अथवा तयोरेव स्वरूपतो विषयतश्च मिथो भेदाग्रह ग्रहणम् । तत्र न तावत्समीचीन ज्ञान सदृशी इति ज्ञानम् समीचीन ज्ञान वद्व्यवहार प्रवर्तकम्, नहि गोसदृशोगवय इति ज्ञानम् गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति । अनयोरेवभेदाग्रह इति ज्ञानं तु पराहतम् नहि भेदाग्रहेऽनयोरिति भवति अनयोरितिग्रहेभेदा ग्रहणमिति च भवति । तस्मात्सत्ता मात्रेण भेदाग्रहोऽगृहीत एव व्यवहार हेतु रितिवक्तव्यम् । तत्रकिमयंमारोपरत्पाद क्रमेण व्यवहारहेतुः आहोऽनुत्पादितारोप एव स्वतः इति ।

सुभद्रा—अन्य आचार्य इस अख्यातिवाद से सन्तुष्ट न होते हुए जिसमें जिसका अध्यास है उसी के विपरीत धर्मत्व की कल्पना को कहते हैं । अर्थात् अन्यथा ख्याति मानते हैं । यहाँ पर यह अभिप्राय है—कि रजतार्थी पुरुष का यह रजत है इस ज्ञान से पुरोवर्तीद्रव्य में प्रवृति और सामानाधिकरण्य व्यपदेश (इदं रजतम्) यह समानलिङ्ग वचन का शब्द प्रयोग रूप व्यवहार) सर्व जन अनुभव सिद्ध है ।

तो यह केवल ग्रहण, पुरोवर्तीद्रव्य का, स्मरण, रजत का और उसके विषय के यह शुक्ति हैं, ऐसा ग्रहण, और स्मरण रजत का है इस प्रकार के भेद ग्रहीत न होने से उपपन्न नहीं होता। ग्रहण निमित्तक व्यवहार और व्यपदेश चेतन पुरुष को केवल अग्रहण से, अर्थात् भेदके न गृहीत होने से कैसे होंगे। यदि यह कहा जाय कि केवल अग्रहण से नहीं होते किन्तु ग्रहण और स्मरण ही परस्पर विषय से और स्वरूप से भेद न गृहीत होने से, और सामने स्थित यथार्थ रजत ज्ञान के सदृश होने से उक्त व्यवहार और व्यपदेश को प्रवृत करा देंगे यह पूर्व में उक्त है। तो क्या यथार्थ ज्ञान का सादृश्य उक्त ग्रहण और स्मरण में गृहीत होकर व्यवहार और प्रवृत्ति में हेतु है, या न गृहीत होकर केवल सत्तामात्र से। जैसे अदृष्ट केवल स्वरूपत्व विद्यमान होकर ज्ञात न होकर भी कार्य के प्रति कारण है इस तरह से स्वरूपतः विद्यमान अज्ञात होकर भी उक्त सादृश्य व्यवहार प्रवृत्ति में हेतु है। प्रथम पक्ष में क्या उक्त दोनों ज्ञानों में यथार्थ, ज्ञान की समानरूपता इदम्; यह रजतम्, यह ऐसा ग्रहण होता है, (अर्थात् भ्रमस्थल में भी इदं रजतम् यह ज्ञान जो ग्रहण और स्मरण रूप है, वह यथार्थ इदं रजतम् इस ज्ञान के सदृश है ऐसा ग्रहण है अथवा ग्रहण और स्मरण में ही परस्पर स्वरूप से और विषय से भेद न गृहीत होना ऐसा ग्रहण है तो यथार्थ ज्ञान के सदृश यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान के समान व्यवहार को प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं है। गो के समान गवय है ऐसा ज्ञान गो चाहनेवाले पुरुष को प्रवृत्त नहीं कराता। (अनयोरेव) ग्रहण और स्मरण में ही भेद का अग्रह है यह ज्ञान तो बदलो व्याघात के समान है, भेद न गृहीत होने पर अनयोः इन दोनों में ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि द्वित्व संख्या का व्यवहार भेद गृहीत होने पर ही होता है। अनयोः ऐसा ग्रहण होने पर भेद गृहीत नहीं हुआ ऐसा नहीं कह सकते उक्त युक्ति से। इसलिए सत्ता मात्र से भेद का अग्रहण गृहीत न होकर ही व्यवहार का हेतु है ऐसा कहना चाहिए। तो क्या यह भेदाग्रह पुरोवर्ती इदं पदार्थ में रजत तादात्म्य के आरोप की उत्पन्न करने के क्रम से व्यवहार में हेतु है, अथवा आरोप ज्ञान बिना उत्पन्न किए ही स्वतः व्यवहार में हेतु है।

भामती

वयं तु पश्यामः चेतन व्यवहारस्या ज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः आरोपज्ञान-क्रमेणैवेति। ननु सत्यं चेतन व्यवहारो नाज्ञानपूर्वकः किन्त्वविदितग्रहण-स्मरण पूर्वक इति मैवम्—नहि रजतप्रातिपदिकार्थं स्मरणमात्रं प्रवृत्ता-कपयुज्यते। इदंकारास्पदाभिमुखो खलु रजत र्थिनां प्रवृत्तिरित्यविवादम्।

कथं चायमिदंकारास्पदे प्रवर्तेत । यदि तु न तदिच्छेत् । अन्यदिच्छत्यन्यत्करोतीति व्याहतम् । न चेदिदंकारास्पदं रजतमिति जानीयात् कथं रजतार्थी तदिच्छेत् । यद्यतथात्वेनाग्रहणादिति ब्रूयात्सच प्रतिवक्तव्योऽथ तथा त्वेनाग्रहणात्कस्मान्नोपेक्षेतेति । सोऽयमुपादानोपेक्षाभ्यामभित आकृष्यमाण इवेतनोऽव्यवस्थित इदंकारास्पदे रजतसमारोपेणोपादान एव व्यवस्थाप्यत इति भेदाग्रहः समारोपोत्पादक्रमेण चेतनप्रवृत्तिहेतुः । तथाहि भेदाग्रहादिदंकारास्पदे रजतत्वं समारोप्य तज्जातीयस्योपकारहेतुभावमनुचिन्त्य तज्जातीयतयेदंकारास्पदे रजते तमनुमाय तदर्थी प्रवर्तते इत्यानुपूर्व्यं सिद्धम् । न च तटस्थ रजत स्मृतिरिदंकारास्पदस्योपकारहेतुभावमनुमापयितुमर्हति रजतत्वस्यहेतोरपक्षधर्मत्वात् एकदेशदर्शनं खल्वनुमापकं नत्वनेकदेश दर्शनम् ।

यथाहुः ज्ञातसम्बन्ध स्यैकदेशदर्शनादिति । समारोपे त्वेकदेशदर्शनमस्ति । तत्सिद्धमेतद्विवादाध्यासितं रजतादि ज्ञानं पुरोवर्तिवस्तु विषयम् रजताद्यर्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात्, यद्यदर्थिनं यत्रनियमेन प्रवर्तयति तज्ज्ञानं तद्विषयम् यथोभयसिद्धसमीचीनरजतज्ञानं तथा चेदं तस्मात्तथेतिः यच्चोक्तमनवभासमानतया न शुक्तिरालम्बनमिति तत्र भवान्पृष्टो व्याचष्टाम् किं शुक्तिकात्वस्य इदं रजतमिति ज्ञानं प्रत्यनालम्बनत्वं आहोस्विद्द्रव्यमात्रस्य पुरःस्थितस्य सितभास्वरस्य । यदि शुक्तिकात्वस्यानालम्बनत्वम् । अद्धा, उत्तरस्यानालम्बनत्वं ब्रुवाणस्य तवैवानुभवविरोधः । तथाहि—रजतमिदमित्यनुभवन्ननुभविता पुरोवर्ति वस्त्वङ्गुल्यादिना निर्दिशति । दृष्टं च दुष्टानां कारणानामौत्सर्गिककार्यप्रतिबन्धेन कार्यान्तरोपजनन सामर्थ्यम्, यथादावाग्निदग्धानां वेत्रबीजानांकदलीकांड जनकत्वम्, भस्मक दुष्टस्य चौदर्यस्यतेजसो वह्वन्नपचनमिति । प्रत्यक्षबाधापह्नृत विषयं च विभ्रमाणां यथार्थत्वानुमानमाभासः, हुतवहानुष्णत्वानुमानवत् । यच्चोक्तम् मिथ्याप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वप्रमाणेष्वनाश्वास इति, तत्बोधकत्वेन स्वतः प्रामाण्यंनाव्यभिचारेणोति व्युत्पादयद्भिरस्माभिः परिहृतं न्यायकणीकाया मिति नेह प्रतन्यते । दिङ्मात्रं चास्यस्मृतिप्रमोषभङ्गस्योक्तम् । विस्तरस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामवगन्तव्य इति, तदिदमुक्तम् अन्येतु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्व कल्पनामाचक्षत इति । यत्र शुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पनाम् रजतत्वधर्मकल्पनामिति योजना । ननु सन्तुनाम परीक्षकाणां विप्रतिपत्तयः प्रकृतेतु कि मायातमित्यत आह

सर्वथास्त्वपिस्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। अन्यस्यान्यधर्मकल्पनाऽनृतता साचानिर्वचनीयतेत्यधस्तादुपपादितं तेन सर्वेषामेवपरीक्षकाणां मतेऽन्यस्यान्यधर्मकल्पनाऽवश्यं भाविनीत्यनिर्वचनीयता सर्वतन्त्राविरुद्धोऽर्थं इत्यर्थः। अख्यातिवादिभिरकामैरपि सामानाधिकरण्यव्यपदेश प्रवृत्ति नियमस्नेहादिदमभ्युपेयमिति भावः।

सुभद्रा—हमारे मत से तो चेतन का व्यवहार अज्ञानपूर्वक न होने से आरोप ज्ञान के उत्पत्ति क्रम से ही व्यवहारमें हेतु है। सत्य है, चेतन का व्यवहार अज्ञानपूर्वक नहीं होता किन्तु इदं यह ग्रहण रूप जो ज्ञान और रजतम् यह स्मरणरूप ज्ञान इन दोनों का भेद ज्ञान न होने से तत्पूर्वक होता है। तो यह उचित नहीं। क्योंकि केवल रजतरूप प्रातिपदिक के अर्थ का स्मरण मात्र प्रवृत्तिमें उपयोगी नहीं है। रजत चाहने वाले पुरुषकी प्रवृत्ति इदंकार, अर्थात् यह रजत है ऐसा जो ज्ञान उसका आस्पद आधारभूत, जो पुरोवर्ती द्रव्य तद्विषयक है यह विवादरहित है। तो वह पुरुष जिसको केवल रजत का स्मरण ही है वह उसमें प्रवृत्त कैसे होगा। यदि उसकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति यह हमारे इष्ट का साधन है ऐसा ज्ञान कारण है। जैसे सत्यरजतस्थलमें यह रजत हमारे इष्ट का साधन है इस ज्ञान से ही प्रवृत्ति देखी गई है। और उसमें इष्ट जो रजत तदवच्छेदक रजतत्व समवायेनयातादात्म्येन रहता है, तो भ्रम स्थलमें भी प्रवृत्ति उक्तज्ञान से ही माननी पड़ेगी, और यदि वहाँ पर इदं पदार्थमें समवाय सम्बन्ध से रजतत्व या तादात्म्य सम्बन्धसे रजत यदि आरोपित न माना जाय तो प्रवृत्ति कैसे होगी, यदि उसकी इच्छा न हो जिसकी इच्छा होगी उसीमें प्रवृत्ति होगी इच्छा रजतकी है और प्रवृत्ति पुरोवर्ती द्रव्यमें हो यह ठीक नहीं। इच्छा अन्य की हो प्रवृत्ति अन्यमें हो यह व्याघात दोषयुक्त है। यदि इदंकार का अधिष्ठान पुरोवर्ती द्रव्यको रजत नहीं वह जानता तो वह उसकी इच्छा कैसे करेगा, 'क्योंकि जानाति इच्छतिप्रयतते' यह क्रम है; पहिले ज्ञान होता है तब इच्छा होती है तब प्रवृत्ति होती है। तो अज्ञातवस्तु की इच्छा असंभव होनेसे आरोपज्ञान आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि उक्त ज्ञान यथार्थ रूपसे गृहीत नहीं है इससे प्रवृत्ति हो जायगी तो यथार्थरूप से गृहीत न होनेसे उपेक्षा क्यों न हो। तो उक्त प्रकार से ग्रहण (प्रवृत्ति) और उपेक्षा इन दोनों से अपनी-अपनी तरफ खींचा जाता हुआ पुरुष कुछ निश्चय नहीं कर पायगा, अतः इदं के अधिष्ठान्त में रजत आरोप करके प्रवृत्तिमें ही स्थित होता है इसलिए भेदका अग्रहण आरोप के उत्पत्ति क्रमसे ही चेतनपुरुषके प्रवृत्तिका हेतु है। यह स्वीकार करना पड़ेगा। इसीको विशद किया जाता है

भामतीमें। (तथादि इत्यादिसे,) उक्त ग्रहण और स्मरणरूप ज्ञानमें भेदज्ञान गृहीत न होने से इदंकारका अधिष्ठानभूत जो पुरोवर्तीद्रव्य उसमें रजतत्व का आरोप कर सत्य रजत स्थलमें उसके समान जातिवाले रजत की आभूषणादि निर्माणरूप उपकारकता दृष्ट होनेसे उसका अनुचिन्तन करके उसके समान जातिवाले इदंकारास्पद रजतमें भी रजतत्व हेतु से उपकारकत्वका अनुमान करके रजतार्थी पुरुष प्रवृत्त होता है तो क्रम सिद्ध होता है। अनुमानका आकार यह होगा, इदं पुरोवर्ति द्रव्यं, आभरणाद्युपकारकम् रजतत्वात्-सम्प्रतिपन्नरजतवत् यह पुरोवर्ती द्रव्य गहने बनाने के योग्य होने से उपकारक है क्योंकि रजतत्व इसमें है—उभयवादि सम्मत सत्य रजतके समान, पुरोवर्ती इदं पदार्थ पक्ष है, उपकारकत्व साध्य है, रजतत्व हेतु है। अख्यातिवादी के मतमें, उदासीनरजतका स्मरण उक्त पक्ष में उक्तसाध्य को सिद्ध करने में कैसे समर्थ होगा; क्योंकि पक्षमें हेतु नहीं है, आशय यह है कि उनके मतमें केवल रजत का स्मरण है उसमें रजतत्व रूप हेतु के रहने पर भी पुरोवर्ती द्रव्यमें उसका आरोप न होने से, जो कि पक्ष है, उसमें हेतु का अभाव है अतः अनुमिति नहीं होगी तो रजतार्थी को प्रवृत्ति नहीं बनती। क्योंकि हेतु युक्तपक्षका, अथवा व्यापक, साध्य, व्याप्य, हेतु, इनका जो समूह, उसका एकदेश हेतुका पक्षमें दर्शन, ज्ञान, ही साध्यका अनुमापक होता है, न कि उसका अभाव। जैसा कि शबर स्वामी ने कहा है, कि ज्ञात सम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादिति, जान लिया है साध्य और हेतु के व्याप्ति रूप सम्बन्धको जिस पुरुष ने उसको हेतुयुक्तपक्षका एकदेश जो हेतु है उसका पक्ष में ज्ञान होनेसे अनुमिति होती है यह उसका अभिप्राय है। आरोप पक्ष में वह हुई है। यदि यह कहा जाय कि आरोप होनेपर भी वस्तुतः पुरोवर्तीद्रव्य में रजतत्व हेतुके न होने से अनुमान नहीं होगा तो अन्यथा ख्यातिवादी के मतमें भी प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि स्वरूपतः विद्यमान ही हेतु अनुमिति का जनक नहीं है किन्तु पक्ष में उसका ज्ञान वह भ्रमात्मक हो या प्रमात्मक तो हेतु का भ्रमात्मक ज्ञान अन्यथा ख्यातिवादी के मत में पक्षमें होने से अनुमिति में बाधा नहीं होती जिससे कि उक्तदोष नहीं है क्योंकि देशान्तरस्थ रजत ही दोषवशात् पुरोवर्ती द्रव्यमें उनके मतमें भासता है। सिद्धान्त में भी आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध से पुरोवर्ती द्रव्य में रजत भासता है जिससे कि उक्तदोष नहीं है। एवं रजतत्व का भी तादात्म्य धर्मी में स्वीकृत है जिससे प्रवृत्ति उपपन्न होती है।

तो इससे यह सिद्ध हुआ कि, विवादाध्यासित रजतादिज्ञान, पुरोवर्ती वस्तु विषयक है, रजत आदि वस्तु चाहनेवाले पुरुष को नियम से प्रवृत्त करानेसे, जो

ज्ञान जिस वस्तुके चाहनेवाले को जिसमे नियम से प्रवृत्त कराता है, 'वह ज्ञान तद्विषयक होता है, जैसे उभयवादि, सिद्ध यथार्थ रजतज्ञान, (वैसा होनेसे यह भी वैसा ही है)।

(सत्य रजतज्ञान स्थलमें रजतार्थी पुरुष को नियम से प्रवृत्त देखी गई है, इसलिए वहाँ पर पक्ष, सत्यरजतज्ञानमें उक्तहेतु और साध्य दोनों रहते हैं, तो जो ज्ञान जिस वस्तु के इच्छुक पुरुषको जहाँ पर नियमेन प्रवृत्त कराता है वह तद्वस्तु विषयक होता है ऐसी व्याप्ति सिद्ध होनेसे भ्रमस्थलमें भी उक्त हेतु के बलसे पुरोवर्ति वस्तु विषयकत्व अङ्गीकार करना पड़ेगा जिससे कि इदंकारके अधिष्ठान पुरोवर्ती पदार्थ में रजतत्व आरोपित है यह सिद्ध होता है, जो कि केवल रजत स्मरण से और भेदके गृहीत न होनेसे उपपन्न नहीं होता इससे विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता, एवम् अख्यातिवाद की निःसारता सिद्ध होती है।)

और जो यह पहिले कहा था कि रजतज्ञानमे शुक्तिका नहीं भासती तो वह उसका आलम्बन कैसे होगा, तो हम आपसे पूछते हैं कि क्या शुक्तिगत शुक्तिकात्व में रजतज्ञानके प्रति आलम्बनता नहीं है, या सामने दिखाई पड़नेवाला सफेद चमकता हुआ जो द्रव्य है उसमें आलम्बनता नहीं है, यदि प्रथम पक्ष हो तो ठीक है इसको हम भी स्वीकार करते हैं, परन्तु द्वितीय पक्ष, अर्थात् पुरः स्थित द्रव्यको यदि आलम्बन न माना जाय, तो आपको ही अनुभवविरोध होगा, (उसीको तथाहि इत्यादि, से प्रदर्शित करते हैं भामतीकार) यह रजत है ऐसा अनुभव करता हुआ पुरुष पुरोवर्ती वस्तुका अँगुलि आदि से निर्देश करता है। (यदि वह आलम्बन नहीं है तो अंगुल्यादि से निर्देश क्यों करता है) एवं उक्तस्थलमें मैं रजतको देखता हूँ यह सर्वजन सिद्ध अनुभव भी उक्त अर्थ मे प्रमाण है। और जो यह कहा था कि दोषयुक्त कारणों से स्वाभाविक कार्य के उत्पत्ति में ही रुकावट होती है न कि अन्य कार्य की उत्पत्ति तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दोषयुक्त कारणों में स्वाभाविक कार्यके उत्पत्तिका प्रतिबन्ध होने से अन्य कार्य के उत्पन्न करनेका भी सामर्थ्य देखा गया है, जैसे दावाग्निसे जले हुए वेतके बीजोंमें केलेके उत्पत्ति करनेका सामर्थ्य, भस्मक रोगसे दूषित जठर, (पेटमें) स्थित अग्निमें बहुत अन्न पचानेका सामर्थ्य।

और जो प्रत्ययत्व हेतु से सभी ज्ञान यथार्थ हैं, ऐसा अनुमान का प्रयोग अख्यातिवादी ने किया था, वह बाधित होने से युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रमके विषयों का अनन्तर उत्पन्न यह रजत नहीं है इस ज्ञानसे बाध होने से उक्तज्ञान में यथार्थता नहीं सिद्ध होती, जैसे कि वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्, आग उष्ण नहीं है, द्रव्य होनेसे यह अनुमान अग्निमें उष्णत्वका स्पार्शन प्रत्यक्ष होनेसे जैसे बाधित है,

उस तरह, (एवं उक्तानुमान में सोपाधिक हेतु के होनेसे व्याप्यत्वासिद्ध दोष भी है) प्रत्ययत्व हेतुसे यथार्थत्वानुमान यदि सिद्ध किया जाय, तो यथार्थत्व रूप साध्य सर्ववादिसम्मत सत्य रजतादि ज्ञानमें है और वहांपर दुष्ट सामग्र्यप्रसूतत्व रूप उपाधि भी है, अर्थात् वह ज्ञान दोषयुक्त सामग्रीसे उत्पन्न नहीं है । अतः साध्यका व्यापक वह धर्म है, और पक्ष भ्रमस्थलमें, प्रत्ययत्व हेतु है परन्तु उसके दोषयुक्त इन्द्रियों से उत्पन्न होनेके कारण उक्त उपाधि नहीं है जिससे कि साधनका अव्यापक हुआ अतः साध्यव्यापकत्वे सति, साधनाव्यापकत्वम् जो साध्यका व्यापक होकर साधन (हेतु) का अव्यापक हो वह उपाधि है, इस उपाधिका लक्षण घटनेसे प्रत्ययत्व हेतु सोपाधिक है जिससे कि यथार्थत्वरूपसाध्यको सिद्ध करनेमें असमर्थ है, अतः पूर्वोक्त अनुमान आभास है ।

और जो यह कहा था कि यदि भ्रमात्मक ज्ञान स्वीकृत हों तो ज्ञान अपने विषय के व्यभिचारी हो जायगें जिससे कि सम्पूर्ण प्रमाणों पर से विश्वास उठ जायगा, वह बोधकत्वेन स्वतः प्रामाण्य प्रमाणों में है न कि अव्यभिचारेण इसका विवेचन न्यायकणिका में किया गया है यहाँ पर इसका विस्तार नहीं किया जाता ।

विशेष—आशय यह है कि प्रामाण्य के निश्चय से ही प्रवृत्यादि कार्य की सिद्धि होती है प्रामाण्य के निश्चय का पर्यवसान अव्यभिचार के निश्चय में होता है, तो क्या अव्यभिचारित्व (व्यभिचारिता का न होना, प्रामाण्य है या अव्यभिचारित्व प्रामाण्य में हेतु है या व्यापक है) ए दोनों पक्ष संभव नहीं क्योंकि भ्रमस्थलमें चक्षुरादीन्द्रियां अर्थ के व्यभिचारी होने पर भी इन्द्रनील, घटपट आदि स्थल में प्रमा को उत्पन्न करती हैं । तो ज्ञान के कारण चक्षुरादि व्यभिचारी होने पर भी बोधक हों, परन्तु ज्ञान का अव्यभिचार अर्थात्—अव्यभिचरितज्ञान ही अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, यह यदि कहा जाय, तो क्या ज्ञान अपने कार्य ज्ञेय जानने के योग्य, वस्तु के प्रतीति में अव्यभिचार की अपेक्षा करता है या प्रवृत्यादिकार्यमें, प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते ही स्वभाव वशात् ज्ञेयका भासक है, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, प्रवृत्यादि कार्य में ज्ञान यदि अव्यभिचार की अपेक्षा करेगा तो परतः प्रामाण्य होने से अव्यभिचारका ग्राहक अर्थ क्रिया संवादिज्ञान भी अपेक्षित होंगे एवं ज्ञान होनेसे उसमें प्रामाण्यको भी ज्ञानान्तर की अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोषकी आपत्ति होगी । (अर्थक्रिया संवाद, दूरसे अग्नि के ज्ञान होने पर समीप में जाने पर उसके उष्णताका अनुभव) इसलिए यदि स्वतः प्रामाण्य ज्ञान में माना जाय तो प्रथम ज्ञान में भी उसकी सिद्धि हो जाती है । इसलिए ज्ञान के स्वप्रकाश होने से तद्गत (उसमें

रहने वाला) प्रामाण्य भी स्वतः निश्चित होता है यह ज्ञान का स्वभाव है, जहाँ पर बाधक की प्रतीति होती है वहाँ पर विश्वास नहीं होता ऐसा सिद्ध होने पर जहाँ पर बाधक नहीं है वहाँ पर स्वाभाविक विश्वास ज्ञानमें होता है इसलिए उक्त दोष नहीं है और भी बात है कि जिस तरह से आपने हमारे मतमें ज्ञान में अनाश्वास दोष दिया है उसी तरह से आपके मतमें भी अयथार्थ प्रवृत्तिरूप व्यवहार में भी उक्त दोष की आपत्ति है। अतः ज्ञान में औत्सर्गिक प्रामाण्य का निश्चय, बाधक ज्ञान होने पर ही उनमें अनाश्वास होता है यह युक्त है।

एवं रजत स्मृति का जो प्रमोष, अर्थात् उसमें गृहीतत्वांश का परित्याग उसके भङ्ग का भी दिग्दर्शन किया गया है विस्तार ब्रह्मतत्त्व समीक्षा में है। इसलिए भाष्यकार ने कहा अन्य लोग इससे सन्तुष्ट न होकर जिस शुक्तिकादिमें जिस रजत आदि का अध्यास है उसी शुक्तिकादिमें उसके विपरीत रजतत्व धर्मकी कल्पना ही अध्यास है। अच्छा तो विचारकों को इस अध्यास के लक्षण में विवाद हो, प्रकृतमें क्या आया इसलिए भाष्यकार ने कहा सर्वथा अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति का व्यभिचार नहीं है। तब तो अन्यथा ख्यातिपक्ष भाष्यकार को स्वीकृत है, इस शंका पर, भामती में कहा अन्यमें अन्य धर्म को कल्पना अनृतता, मिथ्यारूपता है, जिसका कि अनिर्वचनीयता मे पर्यवसान होता है। यह पहिले कहा गया है। इससे सभी विचारकों के मतमें अन्यमें अन्यके धर्मकी कल्पना अवश्य होती है जिससे कि अनिर्वचनीयता सर्वसम्मत सिद्ध होती है।

सम्पूर्ण ज्ञान को यथार्थ मानने वाले अख्यातिवादी, को बिना चाहने पर भी इदं रजतम् ऐसा सामानाधिकरण्य व्यपदेश, अर्थात् समान लिङ्ग और वचन युक्त पदका प्रयोग, और प्रवृत्तिरूप व्यवहार के स्नेहवश 'उक्त' अनिर्वचनीयता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, यद्यपि अख्यातिवादीके मतमें अन्यका अन्यरूप से मान सिद्ध नहीं होता, और अन्यथा ख्यातिवादी के मतमें उसकी सिद्धि होने पर भी वह अनिर्वचनीय है ऐसा वे नहीं मानते, तथापि पूर्वोक्त युक्तियोसे अर्थात् सभी, पक्षके सदोष होने से अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसित होते हैं।

शाङ्कर-भाष्यम्

तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिकाहि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति। कथं पुनः प्रत्यगात्मन्य विषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्। सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तर मध्यस्यति युस्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते न तावदयमेकान्ते ना विषय. अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्। अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। नचायमस्तिनियमः

पुरोवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति, अप्र यद्वेऽपिह्य।काशे वालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति । एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः ।

भामती

न केवल मियमनृतता परीक्षकाणां सिद्धा अपितु लौकिकानामपीत्याह—तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिकाहि रजतवदवभासत इति। न पुना रजत मिदामिति शेषः। स्यादेतत्—अन्यस्यान्य.त्मता विभ्रमो लोकसिद्धः एकस्यत्व भिन्नस्य भेदभ्रमो न दृष्ट इति कुतश्चिदात्मनोऽभिन्नानां जीवानां भेदविभ्रम इत्यतआह। एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति। पुनरपि चिदात्मन्यध्यासमाक्षिपति—कथं पुनः प्रत्यगात्मन्य विषयेऽध्यासो विषय तद्धर्माणाम्। अयमर्थः चिदात्मा प्रकाशते न वा। न चेत्प्रकाशते कथमस्मिन्नध्यासो विषय तद्धर्माणाम्? न खल्वप्रतिभासमाने पुरोवर्तिनिद्रव्ये रजतस्य वा तद्धर्माणां वा समारोपः संभवतीति। प्रतिभासे वा न तावदयमात्माऽजडो घटादिवत्पराधीन प्रकाश इति युक्तम्। न खलु स एव कर्ता च कर्म च भवति विरोधात्। परसम्भवेतक्रिय.फलशालिहि कर्म न च ज्ञानक्रिया परसमवायिनीति कथमस्यां कर्म। न च तदेव स्वं च परं च विरोधात्। आत्मान्तरसमवायाभ्युपगमे तु ज्ञेयस्यात्मनोऽनात्मत्व प्रसङ्ग; एवं तस्य तस्येत्यनवस्थाप्रसङ्गः।

सुभद्रा—और यह उक्त अनिर्वचनीयस्वरूप अनृतता (मिथ्यात्व) केवल परीक्षकों के, 'विचारकों के' दृष्टिसे ही सिद्ध है ऐसा नहीं किन्तु लौकिक, शास्त्रानभिज्ञव्यवहार मात्रको जाननेवाला, भी स्वीकार करता है लोकमें यह अनुभव होता है कि सीप चांदी की तरह प्रतीत हो रही है। न कि यह चांदी ही है। (जिससे कि 'मिथ्यात्व लोक सिद्ध है)। दूसरे में दूसरे के रूपको प्रतीति भ्रमहो, परन्तु भेदरहित एकही वस्तुमें भेदका भ्रम तो लोकमे नहीं देखा गया है, तो चिदात्मा जो कि वास्तविक भेदरहित है, उससे परमार्थतः अभिन्न जीवात्माओं में भेद प्रतीति रूपभ्रम कैसे इसलिए भाष्यमें कहा—एकही चन्द्रमा जैसे अंगुली से नेत्रको दबानेपर, दो प्रतीत होता है, उसी तरह एकही आत्मामें अनेक रूप भ्रम भी होता है।—भाष्यमे पुनः चिदात्मामें अध्यास संभव नहीं है ऐसा आक्षेप करते हैं, जो ज्ञानका विषय नहीं है ऐसे प्रत्यगात्मामें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे हो सकता है। (आशय यह है कि शुक्ति जो रजतके अध्यासका अधिष्ठान है वह प्रत्यक्ष है, चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानका विषय है वहांपर अध्यास होता है, तो जहांपर विषयत्व रहता है वहांपर अध्यास होता है, आत्मातो यच्चक्षुषानपश्यति इत्यादि श्रुतियों से इन्द्रियोंका विषय नहीं है, तो उसमें अहंकारादि विषय और

उसके धर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अध्यास कैसे, यह शंका करने वाला का अभिप्राय है) इसीका स्पष्टीकरण भामतीमें । (यह अर्थ है) चिदात्मा प्रकाशित होता है कि नहीं। यदि नहीं प्रकाशित होता है तो उसमें उक्त अध्यास कैसे क्यों-कि यदि सामने स्थित शुक्तिरूप पुरोवर्ती द्रव्य की प्रतीति न हो तो क्या उसमें रजत और उसमें रहने वाला रजतत्वरूप धर्मका आरोप संभव है ।

सामान्यतः ज्ञात विशेष रूपेण अज्ञात वस्तुमें ही अध्यास होता है, शुक्तिका विशेष रूप शुक्तित्व ज्ञात नहीं है किन्तु पुरोवर्ति द्रव्यत्वरूप सामान्य धर्म ज्ञात है तभी उसमें रजत का अध्यास होता है, आत्मा तो सामान्य और विशेष धर्मसे शून्य है उसमें अध्यास कैसे यह भाव है ।

यदि चिदात्मा प्रकाशित होता है तो चैतन्य स्वरूप होने से जड़ घटादि वस्तुओंके समान उसका प्रकाश अन्यके अधीन होना युक्त नहीं है, अर्थात् वह स्वयं प्रकाशित होता है, घटपटादि जड़ वस्तुएँ स्वयं नहीं प्रकाशित होतीं किन्तु वे अपने प्रकाश के लिए अन्य वस्तुएँ आलोक आदिकी अपेक्षा करतीं हैं आत्मा उनसे भिन्न है वह अपने प्रकाशके लिए अन्य की अपेक्षा न करके ही स्वयं अपने से ही प्रकाशित होगा। तो वह स्वयं प्रकाशक होनेसे प्रकाश क्रिया का कर्ता भी होगा और प्रकाशित होने से कर्म भी होगा, तो एक ही में कर्मकर्तृभाव विरोध होनेसे कैसे संभाव्य है । क्योंकि कर्म का लक्षण परसमवेत क्रियाफलशालित्व है अन्यमें समवाय सम्बन्ध से रहने की जो क्रिया उससे उत्पन्न, जो फल उसका जो आश्रय हो वह कर्म है, जैसे चैत्र स्तंडुलंपचति, यहाँ पर तंडुल से भिन्न जो चैत्र उसमें रहनेवाली जो पाकक्रिया उससे उत्पन्न जो विक्लित्तिरूप फल उसका आश्रय तंडुल है, अतः वह कर्म है, प्रकृत, चिदात्मा के एक होने से, उससे भिन्न अन्य के न होनेसे ज्ञान क्रिया दूसरेमें समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती किन्तु आत्मा में ही है, तो उसका कर्म आत्मा कैसे होगा स्वपरभाव का विरोध होनेसे वही आत्मा स्व भी हो और वही पर अन्य भी हो ऐसा संभव नहीं ।

यदि अन्य आत्मामें समवेत जो ज्ञान उसका विषय आत्मा है यह स्वीकृत हो तो वह अन्य आत्मा ज्ञेय है, अथवा अज्ञेय मानने से उसके विषय आत्मा में जड़त्वापत्ति होगी। यदि वह ज्ञेय है तो वह भी अन्य आत्माके ज्ञान से ग्राह्य होगा तो वहाँ भी यही प्रश्न होगा कि वह ज्ञेय या है अज्ञेय, इस तरह से अनवस्था दोषकी आपत्ति है ।

भामती

स्यादेतत् आत्मा जडोऽपि सर्वार्थज्ञानेषु भासमानोऽपिकर्तैव न कर्म परसमवेत क्रियाफलशालित्वाभावात् चैत्रवत् । यथाहि चैत्रसमवेतक्रियया

चैत्रनगर प्राप्त्युभय समवेतायामपि क्रियमाणायां नगरस्यैव कर्मता, परसमवेतक्रियाफलशालित्वात् न तु चैत्रस्य क्रियाफलशालिनोऽपि चैत्रसमवायाद्गमन क्रियाया इति, तन्न श्रुतिविरोधात्। श्रूयते हि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति। उपपद्यते च। तथाहि योऽयमर्थं प्रकाशः फलम् यस्मिन्नर्थश्च आत्मा च प्रथेते सकिंजडः स्वयं प्रकाशो वा। जडश्चेद्विषयात्मानावपि जडाविति कास्मिन्किं प्रकाशेता विशेषात्, इति प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः। तथा चाभाणकः अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे। न च निलीनमेव विज्ञानमर्थात्मानौज्ञापयति—चक्षुरादिवदिति—वाच्यम्। ज्ञापनं हि ज्ञानजननमुक्त-नितं च ज्ञानं जडं सन्नोक्तदूषणमतिवर्तेतेति। एव मुत्तरोत्तराण्यपि ज्ञानान्यपि जड़ानीत्यनवस्था। तस्मादपराधीनप्रकाशा संविदुपेतेऽया।

सुभद्रा—आत्मा ज्ञानका विषय नहीं हो सकता क्योंकि एक ही में ज्ञान क्रिया का कर्मत्व और कर्तृत्व विरुद्ध है। परन्तु ज्ञान का आश्रय होने से उसका प्रकाश हो जायगा। प्राभाकर के मत में आत्मा जड़ है उसमें ज्ञान रूप गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है जो कि स्वप्रकाश है वह अपने विषय घटादि को विषयतया प्रकाशित करता है, और आत्मा को आश्रयतया प्रकाशित करता है। जिससे कि सम्पूर्ण ज्ञान के विषयों में वह प्रकाशित होता हुआ कर्त्ता ही है न कि कर्म, इसलिए विरोध नहीं है। क्योंकि अन्य में समवाय संबन्ध से रहने वाली क्रिया से उत्पन्न फल का आश्रय नहीं है चैत्र के समान। जैसे चैत्र में उक्त सम्बन्ध से रहने वाली संयोगानुकूल व्यापार रूप क्रिया से जन्य चैत्र को नगर की प्राप्ति होने पर भी चैत्र में कर्तृत्व ही रहता है न कि कर्मत्व, क्योंकि उसमें रहने वाली क्रिया उससे भिन्न में समवेत नहीं है। तो जैसे चैत्र कर्म नहीं है उसी तरह आत्मा में भी ज्ञान क्रिया के समवेत होने से वह कर्ता ही है न कि कर्म। परन्तु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस श्रुति से ब्रह्म की ज्ञानरूपता सिद्ध होती है। और अयमात्मा ब्रह्म इस श्रुति से आत्मा ही ब्रह्म है ऐसा बोधित होता है। तो आत्मा भी ज्ञान रूप है यह सिद्ध हुआ, यदि आत्मा को ज्ञान का आश्रय माना जाय तो उक्त श्रुति विरोधस्पष्ट है। प्राभाकर मतानुयायी यह कह सकते हैं कि श्रुति में जो ज्ञान शब्द है उसका हम ज्ञानाश्रय में लक्षणा करेंगे। अथवा ज्ञानमस्यास्तीति विग्रह कर, अर्श आदित्वात्-मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करके ज्ञान शब्द सिद्ध करेंगे, जिससे ज्ञान का आश्रय यह अर्थ लक्षणा के बिना भी हो जायगा तो उक्त श्रुति विरोध नहीं है। परन्तु यह युक्त नहीं। क्योंकि श्रुति से स्वरसतः प्रतीयमान अर्थ यदि युक्ति से बाधित हो तो मुख्य अर्थ का परित्याग कर उक्त प्रकार का आश्रयण समुचित हो परन्तु युक्ति से बाधित न होने से वैसा मानना ठीक नहीं। किन्तु उपपत्ति यानी

युक्ति भी आत्मा को ज्ञान रूपता ही सिद्ध करती है जिसको कि उपपद्यते च इत्यादि संदर्भ से भामतीकार प्रदर्शित करते हैं।

आशय यह है कि आत्मा को जड़ और उसमें समवेत ज्ञान गुण का आश्रय होने से आत्मा का प्रकाश मानने वाले प्राभाकर के मत में सिद्धान्ती ने उक्त श्रुति का विरोध प्रदर्शित किया। जिसका 'क उन के अनुयायी पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञाना-श्रय अर्थ मानकर निवारण कर सकते हैं। इस पर सिद्धान्ती आत्मा के ज्ञानरूपता में उपपत्ति अर्थात् युक्ति प्रदर्शित करता है। सिद्धान्ती जड़, आत्मा को अङ्गीकार करने वाले प्राभाकरानुयायियों से पूंछता है, कि यह जो विषय का प्रकाश रूप फल है जिससे कि विषय और आत्मा दोनों प्रकाशित होते हैं, वह जड़ है अथवा स्वप्रकाश यदि जड़ है तो विषय और आत्मा के भी जड़ होनेसे जड़त्वेन कोई विशेषता न होने से किसमें कौन प्रकाशित होगा तो सम्पूर्ण जगत् अप्रकाशित हो जायगा। आशय यह है कि जड़ वस्तुएं स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती उनको अपने प्रकाश के लिए अन्य की अपेक्षा होती है। ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है यदि ज्ञान भी जड़ हो तो किसी का प्रकाश न होगा जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में अन्धत्वापत्ति होगी जैसा कि कहा भी है कि अन्धे से लगे हुए अन्धे पद पद में विनिपात-पतन को प्राप्त होते हैं।

यदि यह कहा जाय कि अप्रकाशित ही ज्ञान विषय और आत्माको प्रकाशित कर देगा चक्षुरादिके समान, जैसे अप्रकाशित होने पर भी अर्थात् अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्षन होनेपर भी चक्षुरादि इन्द्रियां विषयको प्रकाशित करती हैं, उसी तरह परन्तु यह युक्त नहीं क्योंकि वैसा मानने पर इन्द्रियोंके समान ज्ञान भी प्रकाशित नहीं होगा (जोकि अनुभव विरुद्ध है) और भी बात है, चक्षुरादीन्द्रियां स्वयम् प्रकाशित न होकर भी विषयके ज्ञानको उत्पन्न करती हैं, तो जड़ स्वभाव ज्ञान भी यदि उनके समान ज्ञापन अर्थात् अन्य ज्ञान उत्पन्न करें, और वह ज्ञान भी यदि जड़ हो तो पूर्वोक्त दोषोंकी निवृत्ति ही नहीं होगा यदि उसके प्रकाश के लिए अन्य ज्ञान स्वीकृत हो तो उसके भी जड़ होनेसे पुनः ज्ञानान्तरको अपेक्षा होगो नहीं जिससे कि अनवस्था दोष आ पड़ेगा। इसलिए ज्ञानका प्रकाश दूसरे के अधीन न मानकर स्वप्रकाश संवित् (ज्ञान) मानना चाहिए।

भामती

तथापि किमायातं विषयात्मनोः स्वभावजडयोः ? एतदापातंयतयोः संविदजडेति। ततिंक पुत्रः पंडित इति पिताऽपिपंडितोऽस्तु। स्वभाव एष सम्विदः स्वदंप्रकाशाया यदर्थात्मसंबन्धितेति चेत् हन्त पुत्रस्यापि

ज्ञितस्य स्वभाव एव यत्पितृसम्बन्धतेति समानम् । सहार्थात्मप्रकाशेन संवित्प्रकाशो नत्वर्थात्मप्रकाशं विनेति तस्याः स्वभाव इति चेत्, तत्किं संविदो भिन्नौ संविदर्थात्मप्रकाशौ ? तथा च न स्वयं प्रकाशा संवित् न च संविदर्थात्म प्रकाश इति । अथ संविदर्थात्म प्रकाशौ न संविदो भिद्येते संविदेवतौ । एवं चेत् यावदुक्तं भवति संविदात्मार्थौ सहेति तावदुक्तं भवति संविदर्थात्म प्रकाशौ सहेति तथा च नविवक्षितार्थ सिद्धिः । न चातीताना-गतार्थगोचरायाः संविदोऽर्थ सहभावोऽपि । तद्विषय हानोपादानोपेक्षाबुद्धि-जननादर्थं सहभाव इति चेन्न, अर्थं संविद इव हानादिबुद्धीनामपि तद्विषयत्वा नुपपत्तेः । हानादिजननाद्धानादिबुद्धीनामर्थविषयत्वम् अर्थविषयहानादिबुद्धि-जननाच्च अर्थ संविदस्तद्विषयत्वमिति चेत् तत्किं देहस्य प्रयत्नवदात्मसंयोगो देहप्रवृत्ति निवृत्ति हेतुरर्थ इत्यर्थप्रकाशोऽस्तु । जाड्याद्देहात्म संयोगो नार्थ-प्रकाश इति चेत्, नन्वयं स्वयंप्रकाशोऽपि स्वात्मन्येव खद्योतवत्प्र प्रकाशः अर्थेतु जड़ इत्युपपादितम् । न च प्रकाशस्यात्मानो विषयाः तेहि विच्छिन्न दीर्घ स्थूलतयाऽनुभूयन्ते, प्रकाशश्चायमान्तरोऽस्थूलोऽह्रस्वोऽदीर्घश्चेति प्रकाशते । तस्माच्चन्द्रेऽनुभूयमान इव द्वितीयश्चन्द्रमाः स्वप्रकाशादन्योऽर्थोऽ-निर्वचनीय एवेति—युक्त मुत्पश्यामः ।

सुभद्रा—अच्छा तो संवित्—ज्ञान, स्वप्रकाश हो परन्तु उसका आश्रय आत्मा जड़ क्यों न हो, ऐसा यदि प्राभाकर के अनुयायी कहें, तो उनसे सिद्धान्ती प्रश्न करता है कि ज्ञानके स्वप्रकाश होने पर भी स्वभावतः जड़ विषय और आत्मामें क्या आया, क्या विशेषता हुई, इस पर पूर्ववादी फिर कहता है, कि यही आया कि उन दोनों का ज्ञान जड़ नहीं है वह स्वप्रकाश है, जिससे कि विषयतया विषय, और आश्रय तथा आत्मा प्रकाशित होगे । सिद्धान्ती, तो क्या पुत्र पडित है तो पिता भी पंडित हो, अर्थात् जैसे पुत्रके पडित होने पर भी पिता भी पंडित हो यह नियम नहीं देखा जाता उसी तरह विषय और आत्मा से उत्पन्न ज्ञान के स्वप्रकाश होने पर भी विषय और आत्मा स्वप्रकाश नहीं हैं जड़ ही है तो वे कैसे प्रकाशित होंगे । पूर्ववादी, संवित् ज्ञान आश्रय और विषय के अधीन है, केवल ज्ञान नहीं होता किन्तु जिसको जिस वस्तु का ज्ञान हुआ जैसे चैत्र को घटका ज्ञान हुआ आश्रय चैत्रका आत्मा और विषय घट दोनों स्वभाव से ही ज्ञान से सम्बद्ध हैं, पुत्र तो पिता से स्वभाव से संबद्ध नहीं है पिता के न रहने पर भी पुत्र की स्थिति देखी जाती है—ज्ञान की स्थिति आश्रय और विषय के बिना देखी नहीं जाती, यह वैषम्य है । सिद्धान्ती, पुत्र में रहने वाला अपत्यत्व भी पितृगत जनकत्वकी नित्य अपेक्षा करता है । तो पंडित-

पुत्र का भी स्वभाव है कि वह अवश्य पितृ सम्बन्धिता की अपेक्षा करता है तो दोनों में तुल्यता ही है। (आशय यह है कि यदि सापेक्ष होने से ज्ञान आत्मा और विषयको प्रकाशित करती है, तो पुत्र के भी पितृ सम्बन्धिता की अपेक्षा होने से पिता में भी पाण्डित्य क्यों न हो)। पूर्ववादी, विषय और आत्मा के प्रकाश के सहित ही ज्ञान का प्रकाश होता है, न कि उनके प्रकाश के बिना यह ज्ञान का स्वभाव है, अर्थात् केवल अपेक्षा करने से ही ज्ञान उनको प्रकाशित करता है यह बात नहीं किन्तु उन दोनों के साथ ज्ञान का सहभाव भी है, पुत्र में पितृ सम्बन्धिता की अपेक्षा होने पर भी सहभाव की नियम नहीं है यह वैषम्य है। सिद्धान्ती, विषय और आत्माके प्रकाश के साथ संवित्-ज्ञान का प्रकाश होता है ऐसा यदि मानते हैं तो क्या जो ज्ञानका प्रकाश है, और जो विषय और आत्माकाप्रकाश है वह संवित् से भिन्न है या अभिन्न यदि भिन्न है तो वह भी प्रकाश से अतिरिक्त होने से जड़ ही सिद्ध होती है तो घटादि के समान वह भी अस्व प्रकाश हो होगी। एवम् अर्थ और आत्मा का प्रकाश भी संविद्‌से भिन्न है तो संविद् विषय और आत्मा को प्रकाशरूपा न होकर उसको ज्ञापिका जनानेवाली होगी। तो चक्षुरादीन्द्रिय के समान संवित् का प्रकाश न होने उसके प्रकाश के लिए अन्य संवित् को अपेक्षा होने से पूर्वोक्त अनवस्था दोष की आपत्ति होगी।

यदि संवित् का प्रकाश और विषय आत्माका प्रकाश संवित् से अभिन्न है। अर्थात् संवित् ज्ञानरूप ही हैं। इस तरहसे ज्ञान प्रकाशसे अतिरिक्त नहीं है यह कहा जाय तो संवित् और विषय और आत्मा ए साथ ही प्रकाशित होते हैं, इनका सहभाव है, तो सहभावका प्रकाश में उपयोग न होनेसे विवक्षित अर्थकी सिद्धि नहीं होगी। अभिप्राय यह है, कि जैसे पंडित पुत्रके साथ पिता आया यहाँ केवल सहभावसे पिता में पांडित्य अंगीकार नहीं किया जाता वैसेही विषय आत्मा और संवित् इनका सहभाव होनेपर भी आत्मा और विषय ए प्रकाशित नहीं होंगे इस तरहसे सहभाव का काशमें उपयोग नहीं है यह कहा। यदि सहभाव का प्रकाश में उपयोग अङ्गीकृत भी हो तो सहभाव ही नहीं सिद्ध होता यह प्रदर्शित करते हैं, (न च इत्यादि से) अतीत अनागत अर्थ विषयके संवित्‌का विषय के साथ सह-भाव नहीं है, भाव यह है कि ज्ञान तो अतीत बीता हुआ अनागत (जो आगे होने वाला है) उसका भी होता है युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट् थे, हमाराभावी पुत्र विद्वान् होगा इत्यादि, अतीतानागत विषयक भी ज्ञान होता है परन्तु जिसका ज्ञान होता है उस विषय की विद्यमानता नहीं रहती, जैसे उक्त स्थल में तो संवित् का विषय के साथ सहभाव न होने से वे कैसे प्रकाशित होंगे। यदि अतीतादि बुद्धिः तत्सहिता तद्विषयक हानोपादानादिबुद्धिजनकत्वात् वर्तमान् बुद्धिवत्। अतीत अनागत विषयक ज्ञान अपने विषय के सहित हैं, तद्विषयक

ग्रहण या त्याग विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने से, ऐसा अनुमान करके अतीतादि-स्थलमें भी संवित् का सहभाव माना जाय तो यह उचित नहीं। क्योंकि हेतुमें विशेषण असिद्ध होने से स्वरूपासिद्धि है। हेतु है तद्विषय हानादिबुद्धिजनकत्व—उसमें विशेषण तद्विषयत्व है—अर्थात् अतीतादि विषयत्व जो जैसे अतीतादि विषय के साथ संवित् का सहभाव नहीं है, उसी तरह ग्रहणादि बुद्धि के साथ सहभाव न होने से तद्विषयक ग्रहण या त्याग विषयक बुद्धि भी कैसे होगी—जिससे कि उक्त हेतु से अतीतादि बुद्धि रूप पक्ष में तत्साहित्य आप सिद्ध करेंगे। यदि कहा जाय कि हानादि पक्ष बुद्धिः, अतीतादि साध्य विषया, तद्विषयक हेतु. हानादिजनकत्वात्—अर्थात्, हानादि जनकता हानादि बुद्धिमें होने से उक्त बुद्धि हानादि विषयक है यह उक्त अनुमान से सिद्ध करेंगे। और अतीतादि विषयक हानोपादानमिदि से उस बुद्धिमें उसका सहभाव सिद्ध करेंगे। (इसी आशय से हानादिबुद्धि जननादित्यादि भामतीकार कहते हैं) ग्रहण या त्याग उत्पन्न करने से हानादिबुद्ध अतीतादि पदार्थ विषयक है, और अतीताद्यर्थ विषयक बुद्धि उत्पन्न करने से अर्थ का ज्ञान अतीतादि विषय सहित है। अभिप्राय यह है कि—यह पूर्व में जो कहा कि जो पदार्थ नष्ट हो गए हैं अथवा उत्पन्न होने वाले हैं उसका भी ज्ञान होता है परन्तु वे पदार्थ विद्यमान नहीं है। इससे विषय और संवित् का सहभाव नहीं सिद्ध होता है जिससे कि वे प्रकाशित हों यह सिद्धान्ती ने पूर्ववादी प्राभाकर के मत में दोष दिया। इस पर पूर्ववादी ने उक्तानुमान से अतीतादि विषयक सम्वित् में विषय का सहभाव सिद्ध किया। इस पर सिद्धान्ती ने तद्विषयक त्यागादि की बुद्धि ही कैसे होगी यदि पदार्थ अविद्यमान है। इस पर पूर्ववादीने कहा कि, पहिले ऐसे स्थल में घट था ऐसा ज्ञान होता है, पश्चात् वह ग्राह्य अथवा त्याज्य है यह ज्ञान होता है फिर उसका ग्रहण या त्याग किया जाता है ऐसी वस्तु स्थिति है। इसलिए जिस ज्ञान में अतीत घटादि के ज्ञान के बाद उसमें त्यागादि का ज्ञान होता है उस ज्ञान को पक्ष करके इदं ज्ञानमतीतघटसंबद्धम्, अतीत घटादौ हानादिजनकत्वात्, यह ज्ञान अतीत घटादि से संबद्ध है वैसे घटादि के ग्रहण या त्याग उत्पन्न करने से इस अनुमान से जो संबन्ध सिद्ध होता है वही उसका विषय है, इस तरह से पूर्व के अनुमानमें तद्विषयत्वरूप विशेषण के असिद्धिका परिहार हो जाता है। एवम् हानादि बुद्धि जनकता के होने से अतीताद्यर्थ विषयक ज्ञान में भी अर्थ का सहभाव सिद्ध हो जाता है। इस पर सिद्धान्ती अर्थ विषयक हानादि प्रवृत्ति का जनक यदि विषय के प्रकाश का नियामक हो तो अतिप्रसङ्ग, होगा यह दोष देता है—तर्क देहस्य आदि से।

अर्थ विषयक प्रवृत्त्यादि का जनक ही यदि अर्थ के प्रकाश में नियामक हो तो देह में रहने वाला प्रयत्न संयुक्त आत्मा का संयोग भी शरीर के घटादि विषय में प्रवृत्ति निवृत्ति का कारण है तो वह भी विषय को प्रकाशित करने से विषय प्रकाश हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि केवल अर्थ विषयक प्रवृत्यादि जनकताही विषयके प्रकाशका नियामक नहीं है, किन्तु उसको प्रकाश स्वरूप होना चाहिए ज्ञान स्वप्रकाश है अतः वह प्रवृत्यादि का जनक होकर विषयका प्रकाश करता है, देहका प्रयत्न विशिष्ट आत्मसंयोग जड़ होनेसे प्रकाशका नियामक नहीं है। तो सिद्धान्ती कहेगा, कि आप ज्ञानको स्वप्रकाश मानकर भी विषयको उससे भिन्न जड़रूप मानते हैं। अतः ज्ञान भी केवल अपने ही में साक्षी है अपने ही को प्रकाशित कर सकता है। देहात्मसंयोग के समान ज्ञान भी जड़ प्रपंच को कैसे प्रकाशित करेगा। (इसीकी पुष्टि नन्वयं इत्यादि से भामतीमें किया है) आपका ज्ञान स्वप्रकाश होनेपर भी अपने स्वरूप को जुगुनू की तरह प्रकाशित करता है विषय में तो जड़ ही है यह पहिले कहा जा चुका है। (आशय यह है कि ज्ञान के स्वरूप के भान होनेमें तादात्म्य सम्बन्ध ही नियामकत्वेन सिद्ध है, घटादि विषय तो ज्ञान से अत्यन्त भिन्न पूर्ववादी के मत में स्वीकृत है तो उसके साथ ज्ञान का तादात्म्य न होने से विषय का प्रकाश नहीं हो सकता) स्वप्रकाश शब्द का अर्थ जो स्वतः प्रकाशित हो, अपने प्रकाश में दूसरे की अपेक्षा न करे, विषय या निखिल प्रपञ्च तो उससे अत्यन्त भिन्न हैं उसको ज्ञान कैसे प्रकाशित कर सकता है क्योंकि अत्यन्त भेद में जैसे घट और पट का तादात्म्य नहीं हैं उसी तरह ज्ञान का भी विषय के साथ तादात्म्य नहीं है। यदि अर्थविषयक प्रवृत्ति जनकत्व विशिष्ट प्रकाशत्व ही तत्तद्विषय के भान का नियामक है, यह स्वीकृत हो तो उक्त प्रकाशत्व हो और तत्तद्विषय का भान न हो ऐसी यदि व्यभिचार शङ्का उत्पन्न हो जाय तो उसका निवारण करने वाला अनुकूल तर्क न होने से उक्त नियम व्यभिचार शंका से दूषित है। अतः अभीष्ट विषय को साधने में असमर्थ है।

अतः अगत्या विषय के प्रकाशके लिए संवित् से अभिन्न विषय मानना पड़ेगा। जोकि संवित् का ही सम्पूर्ण प्रपञ्च विवर्त है, और अनिर्वचनीय है इसमें पर्यवसित होता है। (आगे बौद्धैक देशी प्रपञ्चको वास्तविक ज्ञानका स्वरूप मानते हैं उनके निराकरण के लिए) न च प्रकाशस्य इत्यादिसे भामतीकार लिखते हैं। विषय जड़ होनेसे प्रकाशरूप ज्ञानके वास्तविक स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि वे विच्छिन्न होकर दीर्घ, लम्बा, और स्थूल, मोटा, रूपसे अनुभूत होते हैं, अर्थात्,

घटपटादि विषय परस्पर भिन्न होकर और ज्ञान से भी पृथक् रूप से होकर बाहर दीर्घ स्थूल रूप से ही प्रतीत होते हैं। और प्रकाशरूप ज्ञान आन्तर भीतर ही स्थित होकर न स्थूल न सूक्ष्म न ह्रस्व (छोटा) न दीर्घ होकर एक रूप से प्रकाशित होता है। इस हेतु से चन्द्रमा में अनुभूयमान द्वितीय चन्द्र के समान स्वप्रकाश ज्ञान से भिन्न ही अर्थ है जो कि अनिर्वचनीय तामेपर्यवसित है यही युक्त प्रतीत होता है।

भामती

न चास्य प्रकाशस्य/ बानतः स्वलक्षणभेदोऽनुभूयते। न चानिर्वाच्यार्थ-भेदः प्रकाश निर्वाच्यं भेतुमर्हति अतिप्रसङ्गात्। न चार्थानमपिपरस्परं भेदः समीचीन ज्ञानपद्धतिमध्यास्तइत्युपरिष्टादुपपादयिष्यते। तदयं प्रकाश एव स्वयं प्रकाश एकः कूटस्थनित्योनिरथः प्रत्यगात्मा अशक्य निर्वचनीयभ्यो देहेन्द्रियादि आत्मानं प्रतीभ्यो निर्वचनीय मञ्चति बानातीति प्रत्यसचात्मेति प्रत्यागात्मासचापराधीन प्रकाशत्वात् अनंशत्वाच्च अविषयः तस्मिन्नध्यासो विषयधर्माणाम् देहेन्द्रियादिधर्माणाम् कथम् किमाक्षेपे। अयुक्तोऽयमध्यास इत्याक्षेपः। कस्मादयमयुक्त इत्यत आह—सर्वोहिपुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति। एतदुक्तं भवति—यत्पराधीन प्रकाश मंशवच्च तत्सामान्यांशग्रहे कारण दोषवशाच्च विशेषाग्रहेऽन्यथा प्रकाशते। प्रत्य-गात्मास्वपराधीनप्रकाशतया न स्वज्ञाने कारणान्यपेक्षते येन तदाश्रयैर्दोषैः दूष्येत। न चांशवान्, येन कश्चिदस्यांशो गृह्येत कश्चिन्नगृह्येत। नहि तदेव तदानीमेव तेनैवगृहीतम् गृहीतं च संभवतीति न स्वयं प्रकाशपक्षेऽध्यासः। सदातनेऽप्यप्रकाशे पुरोऽवस्थितत्वस्यापरोक्षत्वस्याभावान्नाध्यासः। नहि शुक्तावपुरः स्थितायां रजत मध्यस्यतीदं रजतमिति। तस्मादत्यन्तग्रहेऽत्यन्ता-ग्रहे च नाध्यास इति सिद्धम्।

सुभद्रा—पूर्वोक्त प्रबन्धसे ज्ञान स्वप्रकाश है और सम्पूर्ण प्रपञ्च उसमें तादा-त्म्यसम्बन्धसे अध्यस्त है यह सिद्ध हुआ। अब ज्ञान अद्वितीय ब्रह्मात्मा स्वरूप है यह सिद्ध करने के लिए प्रकाशरूप ज्ञानमें भेदकी गन्ध नहीं है यह प्रदर्शित करते हैं। (नचास्य इत्यादि से) प्रकाशरूप ज्ञानमें स्वतः भेद है या औपाधिक यह ज्ञान में भेद मानने वालों से प्रश्न होनेपर वे स्वतः भेद है यह नहीं कह सकते। क्यों कि सम्पूर्ण पुरुषोंको अनुभवामि इस अंश में एकाकार ही प्रतीति होती है। भेद की प्रतीति नहीं होती। कहा जा सकता है कि ज्ञानमें परस्पर भेद रहने पर भी तद्गत ज्ञानत्व जातिके एक होनेसे तत्प्रयुक्त एकता की प्रतीति है। तो लाघवात् व्यक्तिगत एकत्व की ही प्रतीति मान उचित है। क्योंकि सत्य ज्ञानम् इत्यादि

श्रुतीसे ज्ञानकी ब्रह्म रूपता सिद्ध होती है, और एकमें वा द्वितीयं ब्रह्म इस श्रुतीसे ब्रह्म ही एक है। यह सिद्ध होता है तो ज्ञान भी एक है यह सिद्ध होता है। (शंका) यदि ज्ञान एक है तो घटमहं जानामि में घटको जानता हूँ घट ज्ञान हमारे में है, यह भेद मूलक प्रतीति कैसे होती है। क्योंकि बिना भेद ज्ञान के मै प्रमाता हूँ घट प्रमेय है उसका ज्ञान प्रमिति है यह व्यवहार उपपन्न नहीं होता।

(समाधान) परमार्थतः ज्ञानके एक होनेसे पर भी व्यवहारमें ज्ञानको अभि-व्यक्त करनेवाली विषयाकार वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर चैतन्य-रूप ज्ञान प्रमाता शब्दसे व्यवहृत होता है। विषय प्रत्यक्ष स्थलमें अन्तःकरण चक्षु-रादि रूप इन्द्रियों के द्वारा निकलकर विषय प्रदेशमें जाकर तदाकार होता है। उस विषयाकार वृत्तिसे घट स्थित चैतन्यका आवरण भंग होकर विषय अन्तः करण और वृत्ति इन तीनोंमें स्थित चैतन्य एक हो जाते हैं। अतः वह अनावृत चैतन्य अपने अवच्छेदक घटादि विषय को भी जोकि उसीमें तादात्म्येन अध्यस्त हैं उनको भी प्रकाशित करता है। अतः करण और उनका परिणाम अत्यन्त स्वच्छ होनेसे केवल साक्षि चेतनसे प्रकाशित होते हैं। प्रकाशक चैतन्यके एक होनेपर भी घटके प्रति वृत्तिरूपप्रमाण की अपेक्षा होनेसे प्रमातृता सिद्ध होती है। वृत्तिरूप प्रमाण ज्ञानका विषय घट है अतः उसमें प्रमेय व्यवहार होता है। फलस्वरूप घट ज्ञानके वृत्तिरूप प्रमाण से उत्पन्न होनेसे उसमें प्रमिति का व्यवहार होता है। इस तरह से सब व्यवस्था उपपन्न होती है।

उस प्रकाशरूप ज्ञानमें स्वभावतः भेद अनुभूत न होनेसे माना नहीं जा सकता। उपाधिकृत भेद होनेपर भी जिस विषयरूप उपाधि के द्वारा ज्ञानमें भेद प्रतीत होता है, उसका सत् या असत्रूपसे निर्वचन न होनेसे अनिर्वचनीय विषयोंका भेद सद्रूपसे निर्वाच्य प्रकाशरूप ज्ञानको भिन्न करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि अति-प्रसङ्ग है। अर्थात् उपाधिकृत भेदसे भी वस्तुमें यदि वास्तविक भेद सिद्ध हो तो घटादि उपाधियोंसे भिन्न होकर आकाशमें भी वास्तविक भेद सिद्ध होगा, (जोकि किसी वादीको अभीष्ट नहीं है)। उपाधिभूत विषयोंका भी परस्पर भेद यथार्थ ज्ञान की कसोटी पर खरा नहीं उतरता यह आगे कहेंगे।

तो यह प्रकाशरूप आत्मा। स्वयं अपनेसे प्रकाशित एक अद्वितीय कूटस्थ, विकार रहित उदासीन नित्य अंशसे रहित प्रत्यगात्मा, जिसका निर्वचन नहीं हो सकता ऐसे शरीर इन्द्रिय आदिसे प्रतिकूल असत् जड़ दुःखात्मक प्रपञ्चसे विलक्षण सच्चित्सुखात्मक रूपसे प्रकाशित होनेवाला प्रत्यगात्मा जिसका प्रकाश अन्य के अधीन नहीं है और जो अंशरहित है ऐसा आत्मा ज्ञानके विषय न होनेसे उसमें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे संभव है कथम् शब्दमें प्रकारार्थक-

थमु प्रत्यय विवक्षित न होने से किं शब्द आक्षेपार्थक है अध्यास नहीं हो सकता यह भाव है । किस कारणसे, तो भाष्यमें कहा सब सामने स्थित विषयमें ही अध्यास मानते हैं । युस्मच्छब्दजन्य प्रतीति रहित प्रत्यगात्मा अविषय है तो उसमें अध्यास कैसे ।

इसका स्पष्टी करण भमतोमें करते हैं जो दूसरेके अधीन प्रकाशवाला है और अंश सहित है उसमें सामान्य अंशके ज्ञात होनेपर और कारण के दोषसे विशेष अंशके अज्ञात होनेपर अध्यास होता है । जैसे शुक्ति का इदन्त्वेन ज्ञान होनेपर भी कारण चक्षुरादीन्द्रियगत तिमिर आदि दोषसे उसका विशेष अंश नीलपृष्ठ त्रिकोण त्वादि गृहीत न होनेसे वह रजतरूपसे भामती है । आत्मा स्वप्रकाश होनेसे अपने ज्ञान में कारणकी अपेक्षा नहीं रखता जिससे कि उसमें रहनेवाले दोषसे दूषित हो और न तो अन्श सहित है जिससे कि कोई अन्श इसका गृहीत हो कोई न हो । वही वस्तु उसी समय उसीसे गृहीत भी हो और न भी गृहीत हो यह संभव नहीं है इसलिए स्वयंप्रकाश पक्षमें अध्यास नहीं हो सकता । यदि सर्वदा आत्मा का प्रकाश नहीं होता यह अङ्गीकृत हो तो भी सामने स्थित न होनेसे और प्रत्यक्ष का विषय न होनेसे अध्यास नहीं हो सकता, सीप के सामने न रहनेपर उसमें कोई रजत का अध्यास नहीं मानता कि यह रजत है । इस हेतुसे आत्मा के अत्यन्त ग्रहण और अत्यन्त अग्रहण दोनों पक्षमें अध्यास सम्भव नहीं हैं यह सिद्ध होता है ।

भामती

स्यादेतत् अविषयत्वेहि चिदात्मनो नाध्यासः विषय एवतु चिदात्माऽस्मत्प्रत्ययस्य तत्कथं नाध्यास इत्यत् आह—युस्मत्प्रत्यया पेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि । विषयत्वे हि चिदात्मनोऽन्यो विषयीभवेत् । तथा च यो विषयी स एव चिदात्मा । विषयस्तुततोऽन्यो युस्मत्प्रत्ययगोचरोऽभ्युपेयः । तस्मादनात्मत्व प्रसङ्गादनवस्थापरिहाराय युस्मत्प्रत्ययापेतत्वम्, अत एवा विषयत्वमात्मनो वक्तव्यम्, तथा च नाध्यास इत्यर्थः । परिहरति—उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः । कुतः अस्मत्प्रत्यय विषयत्वात् । अयमर्थःसत्यं प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश त्वादविषयोऽनंशश्च, तथाप्यनिर्वचनीयनाद्यविद्यापरिकल्पित बुद्धिमनः सूक्ष्मस्थूल शरीरेन्द्रियावच्छेदेनानवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्नइव अभिन्नोऽपि भिन्न इव अकर्तापि कर्तेव अभोक्तापिभोक्तेव अविषयोऽप्यस्मत्प्रत्यय विषयइव जीवभावमापन्नोऽवभासते, नभइव घटमणिकमल्लिकाद्यवच्छेद भेदेन भिन्नमिवानेकविधधर्मक मिवेति ।

नहि चिदेकरसस्यात्मनश्चिदंशेगृहीतेऽगृहीतं किञ्चिदस्ति । न खल्वानन्द नित्यत्व विभुत्वादयोऽस्य चिद्रूपाद्वस्तुतो भिद्यन्ते येन तद्ग्रहे नगृह्येरन् । गृहीता एवतु कल्पितेन भेदेनाविवेचिता इत्यगृहीताइवभान्ति । न चात्मनोबुद्धया-दिभ्यो भेदस्तात्त्विकः येनचिदात्मनि गृह्यमाणोभेदोऽपिगृहीतो भवेत्, बुद्धया-दीनामनिर्वाच्यत्वेन तद्भेदस्याप्यनिर्वचनीयत्वात् । तस्माच्चिदात्मनः स्वयंप्रकाश स्यैव अनवच्छिन्नस्य अवच्छिन्नेभ्यो बुद्धयादिभ्यो भेदाग्रहात् तदध्यासेन जीवभाव इति ।

सुभद्रा—चिदात्मा के विषय न होने से उसमें अध्यास संभव नहीं । यह पहिले कहा है, परन्तु चिदात्मा अहं शब्द के प्रतीति का विषय ही है तो उसमें अध्यास क्यों न हो इसलिए भाष्य में कहा, युस्मत्प्रत्ययापेतस्य च इत्यादि । चिदात्मा यदि विषयत्वेन अङ्गीकृत हो तो विषयी उससे भिन्न होगा विषय और विषयी एक नहीं होते घट ज्ञान का विषय घट है, और विषयी ज्ञान उससे भिन्न है यह प्रतीति होती है । प्रकृत में जो विषयी है वही चिदात्मा है क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा ज्ञान रूप है । यदि आत्मा विषय होगा तो युस्मात् शब्द के प्रतीति का विषय अङ्गीकार करना पड़ेगा । अभिप्राय यह है कि आत्मा यदि ज्ञान का विषय होगा तो ज्ञान विषयत्वं दृश्यत्वम्, जो ज्ञान का विषय है वह दृश्य होता है इसलिए दृश्य कोटि के अन्तर्गत होने से मिथ्या त्वापत्ति होगी । क्योंकि विमतं मिथ्या दृश्य त्वात्, विवादास्पद प्रपञ्च मिथ्या है दृश्य होने से, इस अनुमान से दृश्यत्व हेतु से मिथ्यात्व सिद्ध होता है । इसलिए आत्मा में मिथ्यात्व के आपत्ति का परिहार संभव नहीं है । और भी बात है यदि ज्ञान रूप आत्मा विषय है तो उसका प्रकाश अन्य ज्ञान से होगा, और उस ज्ञान का भी प्रकाश अन्य ज्ञान से इस तरह से अनवस्था का प्रसङ्ग होगा उसके परिहार के लिए युस्मत् शब्द के प्रतीति का विषय आत्मा नहीं है, जिससे कि आत्मा विषय नहीं है यह कहना पड़ेगा तो अध्यास नहीं होगा । इसका परिहार भाष्य में न तावदित्यादि से किया है । आत्मा नियम से विषय नहीं है । यह बात नहीं किन्तु अस्मत् शब्द के प्रतीति का विषय है । यदि आत्मा विषय है तो दृश्य होने से मिथ्या हो जायगा, और आत्मा स्वयं प्रकाश है नहीं तो अनवस्था होगी, और स्वप्रकाशत्व है, चिद विषयत्व, जो चित् का विषय न हो वही स्वप्रकाश है, सम्पूर्ण दृश्य वर्ग उस चिदात्मा में अध्यस्त हैं, जिससे कि चित् के विषय हैं, चिदात्मा तो स्वयं अपना विषय हो नहीं सकता कर्तृ कर्म विरोध होने से, ऐसी शंका के उपस्थित होने पर भामतीकार उसका परिहार करते हैं, अयमर्थः इत्यादि से । सत्य है प्रत्यगात्मा, (यानी चिदात्मा) स्वयं प्रकाश होने से विषय

नहीं हो सकता और अंश से भी रहित है फिर भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्या से परिकल्पित जो बुद्धि, मन, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, इन्द्रिय इत्यादि उपाधियाँ हैं, तदवच्छेदेन, वस्तुतः उनसे अनवच्छिन्न होता, हुआ भी, अर्थात् वे उपाधियाँ उसमें वास्तविक नहीं है फिर भी उक्त अविद्यावशात् उन उपाधियों से युक्त होकर गृहीत होता है, तो अवच्छिन्न के समान अभिन्न होने पर भी भिन्न के समान, कर्ता न होने पर भी कर्ता के समाज भोक्ता न होने पर भी भोक्ता के समान विषय न होने पर भी अस्मत् शब्द के प्रतीति के विषय के समान जीव भावको प्राप्त होकर भासता है । जैसे आकाश एक होने पर भी घट माणिक मल्लिक, आदि उपाधि के रूप अवच्छेदक के भेद से भिन्न के समान और अनेक प्रकार के धर्मो से युक्त की तरह प्रतीत होता है उसी तरह इससे आत्मा में स्वतः अविषयता और अविद्या प्रयुक्त अन्तः करणाद्युपाधिकृत विषयता है जो कि वास्तविक नहीं है जिससे कि मिथ्यात्वापत्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः विषय नहीं है, जिससे कि वह मिथ्या हो, उपाधिकृत विषयत्व अवास्तविक है, और उपाधि विशिष्ट आत्मा में मिथ्यात्व अभीष्ट ही है ।

शंका—किसी अंशमें विषयता है, किसी अंशमें नहीं; जैसे शुक्तिमें चाक, चिक्याद्यंशगृहीत होने से विषयता है, नील पृष्ठ त्रिकोणत्वाद्यंश गृहीत न होने से अविषयता है, उसी तरह से आत्मा में भी कोई अंश न गृहीत होनेसे अविषयता है, कोई अंश गृहीत होने से विषयता है. तो दोनों वास्तविक ही मान लिए जाय।

समाधान—आत्मा अंश रहित है जिससे कि उक्त शका निर्मूल है, अंश सहित मानने पर सावयव होने से, अनित्य हो जायगा । अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा इत्यादि श्रुतियाँ आत्माको अविनाशी, 'नित्य' बोधित करती हैं । इसका स्पष्टीकरण भामती में किया जाता है । (नहिचिदेकरसस्य इत्यादि से) चैतन्य ही एकरस 'स्वभाव' जिस आत्मा का उसके चैतन्यरूप अंश ज्ञात होने पर कोई अंश उसका ज्ञात न हो ऐसा नहीं हो सकता ।

शंका—चैतन्य अंश के भान होनेपर भी आनन्दादि अंश नहीं भासते इसलिए अंश भेद माना जाय ।

समाधान—नही आनन्द नित्यत्व विभुत्व आदि धर्म इस चैतन्यरूप आत्मा से वास्तविक भिन्न नहीं है जिससे कि चैतन्य के गृहीत होने पर उसका ग्रहण न हो ।

शंका—तब तो आनन्द आदि धर्मका सर्वदाभान होना चाहिए ।

समाधान—नहीं, यद्यपि वे गृहीत हैं । फिर भी कल्पित भेद से अहंकार के

साथ तादात्म्यापन्न होकर ही गृहीत होते हैं जिससे कि पृथक्प्रतीति का विषय न होने से वे न जाने हुए के समान प्रतीत होते हैं।

शंका—आत्मा के प्रतीत होने पर उसमें रहनेवाला बुद्धि अहंकार इत्यादि का भेद क्यों नहीं गृहीत होता।

समाधान—बुद्धि आदि का भेद आत्मा में वास्तविक नहीं है जिससे कि चिदात्मा के गृहीत होने पर वह भी गृहीत हो। बुद्धि आदि अनिवर्चनीय हैं इस-लिए उनका भेद भी अनिर्वचनीय यानी मिथ्या हैं।

शंका—बुद्धयहंकारादि प्रपञ्च सत्य ही क्यों न मान लिए जाय उनको अनि-र्वचनीय क्यों माना जाता है।

समाधान—सत्य वस्तुकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती। यदि उनको सत्य-माना जाय तो ब्रह्मज्ञान से उनकी निवृत्ति नहीं होगी। तरतिशोकमात्मवित्, तथाविद्वान्नाम रूपाद्वि मुक्तः। आत्मवेत्ता पुरुष शोक शब्द बोध्यभव बन्ध को पार कर जाता है। विद्वान् ज्ञानयुक्त पुरुष नामरूप, अर्थात् शब्द और अर्थ, रूप प्रपञ्च से मुक्त होता है। 'इत्यादि' पूर्वोक्ति श्रुतियों से प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है यह सिद्ध होता है। प्रपञ्च सत्य स्वीकृत होनेसे ज्ञानसे उसकी निवृत्ति असम्भव है।

शंका—सत्यदुरित, (पाप) की निवृत्ति सेतुदर्शनादि से होती है। सत्य विषकी निवृत्ति शास्त्रविहित होने से गरुड़ के ध्यान आदि से होती है। उसी तरह शास्त्र प्रामाण्य से सत्य प्रपञ्च की भी निवृत्ति हो जायगी प्रपञ्च के अनि-र्वचनीयता मे कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान—सेतुदर्शन क्रिया है ज्ञान नहीं, इसी तरह ध्यान भी एक प्रकार की मानसी क्रिया है ज्ञान नहीं है, तो क्रिया से सत्यवस्तु की निवृत्ति होने पर भी ज्ञान से सत्यवस्तु की निवृत्ति में कोई दृष्टान्त नहीं है और जो यह कहा कि प्रपञ्च के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण नहीं, तो मायामात्र मिदं, द्वैतमद्वैतं पर-मार्थतः, उपाधिना क्रियते भेदरूपः, नेह नानाऽस्ति किञ्चन, वाचारम्भणंविकारो नामधेयं, इत्यादि श्रुतियां प्रपञ्च को साक्षात् मिथ्यात्व बोधित करती हैं। यह सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च मायामात्र है, वास्तविक सत्य नहीं है। अद्वैत ही परमार्थ है। उपाधि से भेद किया गया है, ब्रह्म में परमार्थतः भेद नहीं है। मही के विकार घटआदि केवल वाणी से ही व्यवहृत होते हैं वास्तविक नहीं है इत्यादि प्रमाण प्रपञ्च मिथ्यात्व में हैं जिससे कि उक्त कथन संगत नहीं। अतः अहंकारादि निखिल प्रपञ्च और उनका परस्पर भेद अनिर्वचनीय, (मिथ्या) है यह सिद्ध हुआ। जिससे कि ज्ञानमें भेद सिद्ध हो, और ज्ञानआत्मस्वरूप है। इसलिए स्व

प्रकाशरूप चिदात्मा जो वस्तुतः अनवच्छिन्न है, अर्थात् किसी धर्मके द्वारा अन्य से पृथक् करने के योग्य नहीं है ऐसे आत्माका अवच्छिन्न जो बुद्धि अहंकार आदि उनसे भेदगृहीत न होने से और उनका अध्यास होने से जीवभाव को प्राप्त हुआ है।

भामती

तस्य चा निदमिदमात्मनोऽस्मत्प्रत्यय विषयत्वनुपपद्यते तथाहि कर्ता भोक्ता चिदात्माऽहं प्रत्यये प्रत्यवभासते। न चो दासीनस्यतस्य क्रियाशक्तिर्भोगशक्तिर्वा संभवति। यस्य च बुद्धयादेः कार्यकरण संघातस्य क्रियाभोग शक्ती न तस्य चैतन्यम्। तस्माच्चिदात्मैव कार्यकरण संघातेन ग्रथितो लब्ध क्रिया भोगशक्तिः, स्वयं प्रकाशोऽपि बुद्धयादि विषय विच्छुरणात् कथञ्चिदस्मत्प्रत्यय विषयोऽहंकारास्पदं जीव इति जन्तुरिति च क्षेत्रज्ञ इति चाख्यायते। न खलु जीवश्चिदात्मनोभिद्यते। तथा च श्रुतिः अनेन जीवेनात्मना इति। तस्माच्चिदात्मनोऽव्यतिरेकाज्जीवः स्वयं प्रकाशोऽप्यहं प्रत्ययेन कर्तृभोक्तृतया व्यवहार योग्यः क्रियत इत्यहं प्रत्ययालम्बन मुच्यते। न च अध्यासेसति विषयत्वं विषयत्वे चाध्यास इत्यन्योन्याश्रयत्वमिति—साम्प्रतं, बीजाङ्कुरवदनादित्वात्, पूर्वपूर्वाध्यास तद्वासना विषयी कृतस्योत्तरोत्तराध्यास-विषयत्वा विरोधादित्युक्तम्—नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहार इति भाष्यग्रन्थेन। तस्मात् सुष्ठूक्तम् –न तावदयमेकान्तेनाविषय इति। जीवो हि चिदात्मतया स्वयं प्रकाशतयाऽविषयोऽप्यौपाधि केन रूपेण विषय इति भावः।

सुभद्रा—और वह आत्मा यानी अध्यस्त भावापन्न जीव इदमात्मक होनेसे विषय होता है, अनिदमात्मक होनेसे अस्मत्प्रत्ययका उल्लेख उसमें होता है। (आशय यह है) कि अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार आदि उपाधि से युक्त चैतन्य ही अहंशब्द का वाच्यार्थ है। अन्तःकरणादि में इदम् शब्द जन्यप्रतीतिविषयता होने से इदमात्मकता है, जोकि अहमर्थ में प्रविष्ट है, और जो सुखादि के साक्षीरूप से चैतन्यांश अहमर्थ में अनुप्रविष्ट है वह इदम् शब्द के प्रतीतिका विषय न होनेसे अनिदमात्मक है, इसी का विवरण भामती में तथाहि इत्यादि से किया गया है। अहं प्रतीतिमें कर्ता भोक्ता चिदात्मा भासता है। उदासीन असंग कूटस्थ, आत्मामें क्रिया शक्तिया भोगशक्ति वास्तविक सम्भव नहीं है। जिस बुद्धि आदिमें, आदि-पदसे कार्य शरीर, करण इन्द्रियां बुद्धि, प्राण इत्यादि से गृहीत है, उनमें क्रिया शक्ति और भोगशक्ति है उसमें चेतनता नहीं है, जिससे कि वे प्रकाशित हों, इससे चिदात्मा ही कार्यकरण के समूह से गुंथा हुआ क्रियाशक्ति, और भोगशक्ति

को प्राप्त कर स्वय प्रकाश होने पर भी बुद्धि आदि विषयों से मिश्रित होकर, उसमें तादात्म्येन अध्यस्त होकर किसी प्रकारसे अहं प्रतीतिका विषय होता है। और अहंकार का अधिष्ठान होने से जीव-जन्तु क्षेत्रज्ञआदि शब्दसे, व्यवहार के योग्य होता हैं। जीवचिदात्मा से वास्तविक भेद विशिष्ट नहीं है। श्रुति भी कहती है, (अनेन जीवेतात्मना इति) (इस जीवरूपी आत्मासे प्रवेश करके नामरूपात्मक जगतको प्रकट करू") जीवेनात्मना इस समानाधिकरण पदका प्रयोग होनेसे जीव और चिदात्मामें अभेद बोधित होता है, इसलिए चिदात्मासे जीवके भिन्न न होने से स्वप्रकाश भी जीव अहं प्रतीतिसे कर्ता और भोक्ताके रूप से व्यवहारके योग्य किया जाता है, इसलिए अहं प्रतीतिका आश्रय कहा जाता है।

शंका—चिदात्मामें अहंकार आदिका अध्यास होने पर विषयता होगी। और जब वह विषय होगा तभी उसमें अध्यास होगा, तो परस्पर अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रय दोष होगा।

समाधान—बीजांकुर के समान अनादि होनेसे उक्तदोष अकिञ्चित्कर है। अर्थात् जैसे अंकुर नहीं उत्पन्न होता, और अंकुर होने पर ही वृक्षरूप में परिणत होकर, उसमें फल होगा तब बीज होगा, तो अन्योन्याश्रय दोष है, परन्तु वे अनादि है ऐसा समाधान जैसे उस विषयमें किया जाता है, प्रकृतमें भी उसी तरह समझना चाहिए। अनादि होने से ही पूर्व-पूर्व अध्यास और उसके वासनासे विषय भाव को प्राप्त आत्माका उत्तरोत्तर अध्यास में विषयता का विरोध नहीं है। इसलिए भाष्यमें नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः यह कहा गया है। इसलिए भाष्यकार ने ठीक ही कहा, कि यह आत्मानियमसे विषय नही होता यह बात नहीं किन्तु अस्मत्प्रत्यय का विषय होता ही है। चिदात्मासे जीवके भिन्न न होने से स्वप्रकाश भी जीव अविषय होने पर भी उपाधिकृत रूप से विषय हो सकता है, यह भाव है।

भामती

स्यादेतत् नवयमपराधीन प्रकाशतयाऽविषयत्वेनाध्यासमपाकुर्मः किन्तु प्रत्यगात्मा न स्वतः नापिपरतः प्रथतइत्यविषय इति ब्रूमः। तथा च सर्वथाऽप्रथमाने प्रत्यगात्मनि कुतोऽध्यास इत्यत आह—अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः प्रती च आत्मनः प्रसिद्धिः प्रथा तस्या अपरोक्षत्वात्।

यद्यपि प्रत्यगात्मनिनान्या प्रथाऽस्ति तथापि भेदोपचारः यथा पुरुषस्य चैतन्यमिति। एतदुक्तं भवति—अवश्यं चिदात्माऽपरोक्षोऽभ्युपेतव्यः तदप्रथायां सर्वस्याप्रथनेन जगदान्ध्यप्रसङ्गादित्युक्तम्। श्रुति श्चात्र भवति—

तमेवभान्तमनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति इति । तदेवं परमार्थ-परिहारमुक्त्वाऽभ्युपेतस्यापि चिदात्मनः परोक्षतां प्रौढवादितया परिहारान्तर माह न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव अपरोक्ष एव विषये विषयान्तर मध्यसितव्यम् । कस्मादयं न नियम इत्यत आह—अप्रत्यक्षेऽपिध्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति । इयंस्मादर्थे । नभोहि द्रव्यं सत् रूप स्पर्श विरहान्न बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षम् । नापि मानसम्, मनसोऽसहायस्य बाह्येऽप्रवृत्तेः । तस्मादप्रत्यक्षम् । अथ च तत्र बालाः अविवेकिनः परदर्शितदर्शिनः कदाचित्पार्थिवच्छायां श्यामतामारोप्य कदाचित्तैजसं शुक्लत्वमारोप्य नीलोत्पलपलाशश्याम मिति वा, राजहंस माला धवल मिति वा निवर्णयन्ति । तत्रापि पूर्वदृष्टस्यतैजसस्य वा तामसस्य रूपस्य परत्रनभसि स्मृति रूपोऽवभास इति । एवं तदेवतल मध्यस्यन्ति अवाङ् मुखीभूतमहेन्द्र नील मणि मय महा कटाह कल्पमित्यर्थः । उपसहरति—एवम् उक्तेन प्रकारेण सर्वाक्षेपपरिहारात् अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्मनाम्, बुद्ध्यादीना मध्यासः ।

सुभद्रा—स्वयं प्रकाश मान आत्मा के हमेशा प्रकाशित होने के कारण अविषय होने से आरोप नहीं हो सकता इसका समाधान स्व प्रकाश आत्मा अविषय होने पर भी पूर्व-पूर्व अध्यास वश विषय होता है अतः अप्रकाश ही है जिससे कि आरोप की अनुपपत्ति नहीं है यह पूर्व में प्रतिपादन किया गया । अब सर्वथा अप्रकाश होने से आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता इस शंका का निराकरण करने के लिए भूमिका बांध रहे हैं भामतीकार स्यादेतदित्यादि से । अन्य के अधीन प्रकाशन होने से आत्मा अविषय है इसलिए अध्यास नहीं हो सकता यह हम नहीं कहते, किन्तु आत्मा न तो स्वयं प्रकाशित होता है न तो अन्य के द्वारा ही इससे वह विषय नहीं है यह कहता हूँ । तो सर्वथा अप्रकाशित होने से प्रत्यगात्मा में अध्यास कैसे हो सकता है । (आशय यह है कि, अपरोक्षभ्रम का अधिष्ठान अपरोक्ष होना युक्त है । प्रत्यगात्मा में प्रपञ्च का भ्रम प्रत्यक्ष है इसलिए उसका अधिष्ठान भूत आत्मा का भी प्रत्यक्ष होना आवश्यक है । यदि वह प्रत्यक्ष नहीं है, तो अध्यास संभव नहीं) । इसलिए भाष्य में कहा अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः, प्रत्यगात्मा के अपरोक्ष होने से उसकी प्रसिद्धि, प्रथा, यानी प्रकट होना है । यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त में प्रत्यगात्मा से भिन्न प्रथा नहीं है किन्तु तत्स्वरूप ही है । तथापि पुरुष के चैतन्य की तरह औपचारिक भेद मानकर प्रत्यगात्मा को प्रसिद्धि यह कहा जाता है, कि चिदात्मा की अपरोक्षता अवश्य स्वीकार करना चाहिए, यदि उसका प्रकाशन न माना जाय तो जड़ जगत् कैसे प्रकाशित होगा, तो सम्पूर्ण जगत् में अन्धत्वापत्ति होगी यह पूर्व में कहा जा

चुका है। श्रुति भी आत्मा के प्रकाश रूपता में प्रमाण है। तमेव भान्तम्·······
उसके भासने पर ही सब भासते हैं, उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं।
इस तरह से वास्तविक परिहार कहकर चिदात्मा की परोक्षता स्वीकृत हो तो भी
अध्यास होने में बाधा नहीं पड़ सकती यह प्रदर्शित करते हैं भाष्य में नचायमस्ति
नियमः इत्यादि से। यह नियम नहीं है कि जो विषय, सामने स्थित हो उसी में
अध्यास हो, क्योंकि, आकाश के प्रत्यक्ष न होने पर भी अज्ञ लोग उसमें तल
मलिनतादि का अध्यास करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय यात्वगिन्द्रिय से
होता है, इस लिए जिस द्रव्य में रूप या स्पर्श रहता है उसी द्रव्य का उक्त दो
इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सकता है। आकाश में न तो रूप है और न तो स्पर्श, इस
लिए उसका प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रिय से नहीं हो सकता, और न तो उसका मानस
प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि बाह्य विषय के प्रत्यक्ष में मनको चक्षुरादि इन्द्रियों
को सहायता अपेक्षित है। अन्तःस्थित सुखादि प्रत्यक्ष में मन भले ही स्वतन्त्र
हो परन्तु बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष बहिरिन्द्रिय के सहायता के बिना नहीं हो
सकता, इसलिए आकाश प्रत्यक्ष नहीं है। परन्तु उसमें भी बाल अर्थात्
अविवेकी पुरुष, दूसरे से दिखाए हुए को ही देखने वाले, स्वयं विचार शून्य,
कभी अन्तरिक्ष में रहने वाले प्रकाश के शुक्ल रूप का आरोप करके, राजहंस के
श्रेणी के समान आकाश धवल है यह कहते हैं। कभी पृथ्वी के छाया श्यामला
का आरोप करके नील कमल के समान श्यामवर्ण आकाश है यह कहते हैं।
वहाँ पर पहिले देखे हुए तेज के रूप का अथवा अन्धकार के रूप का अन्य
प्रकाश में स्मृति रूप अवभास होने से अध्यास होता है। इस तरह से मलिनत्व
आदि का अध्यास बतलाकर तल का भी अध्यास कहते हैं। इन्द्रनीलमणि के बने
हुए बहुत बड़े कराहा के समान आकाश में तल का अध्यास होता है। इस तरह
पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण आक्षेपों का परिहार होने से प्रत्यगात्मा में आत्मा से
भिन्न बुद्धि अहङ्कार आदि का अध्यास होने में, कोई विरोध नहीं है।

भाष्य

तमेत मेवं लक्षणमध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते तद्विवेकेन च
वस्तु स्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवंसति, यत्रयदध्यासः तत्कृतेन दोषेण
गुणेन वाऽणुमात्रेणापि, सन संबध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेत
राध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण प्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्चप्रवृत्ताः
सर्वाणिचशास्त्राणि विधि प्रतिषेधमोक्षपराणि। कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि

प्रत्यक्षादीनिप्रमाणानि शास्त्राणि चेति । उच्यते देहेन्द्रियादि स्वहंममाभिमान रहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहीन्द्रियाराणनुपादाय प्रत्यक्षव्यवहारः संभवति । न चाधिष्ठ नमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति । न चानध्यस्तात्मभावेनदेहेनकश्चिद्व्याप्रियते । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असङ्ग, स्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाण प्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाणयेव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।

भामती

ननु सन्ति च सहस्रमध्यासाः तत्किमर्थमयमेवाध्यासः आक्षेपसमाधानाभ्यां व्युत्पादितः नाध्यासमात्रमित्यत आह—तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते । अविद्या हि सर्वानर्थबीजमिति श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणादिषु प्रसिद्धम् । तदुच्छेदाय वेदान्ता प्रवृत्ता इति वक्ष्यति । प्रत्यगात्मन्यनात्माध्यास एव सर्वानर्थ हेतुः न पुना रजतादि विभ्रमा इति स एवाविद्या तत्स्वरूपं चा विज्ञ नं न शक्य मुच्छेत्तु मिति तदेव व्युत्पाद्यं नाध्यास मात्रम् । अत्र च एवं लक्षणम् इत्येवं रूपतयाऽनर्थहेतुतोक्ता । यस्मात्प्रत्यगात्मन्यशनायादिरहितेऽशनायाद्युपेतान्तः करणाद्यहितारोपेण प्रत्यगात्मानमदु खंदुःखा करोति, तस्मादनर्थहेतुः । न चैवं पृथग्जनोऽपि मन्यन्तेऽध्यासं येन न व्युत्पाद्येतेत्यत उक्तम्—पंडिताःमन्यन्ते । नन्वियमनादिरतिनिरूढ़ निविड़वासनानुविद्धाऽविद्या न शक्यानिरोद्धुम् उपायाभावादित्यो मन्यते तं प्रति तन्निरोधोपायमाह—तद्विवेके न च वस्तुस्वरूपावधारणां—निर्विचिकित्सं ज्ञानं विद्यामाहुः पंडिताः । प्रत्यगात्मनिखल्वत्यन्तविविक्ते बुद्धयादिभ्यः बुद्धयादिभेदाग्रह निमित्तो बुद्धयाद्यात्मत्वतद्धर्माध्यासः । तत्रश्रवण मननादिभिर्यद्विवेकविज्ञानं तेन विवेकाग्रहेनिवर्तिते अध्यासापवाधात्मकं वस्तु स्वरूपावधारणां विद्या चिदात्मरूप स्वरूपे व्यवतिष्ठत् इत्यर्थः ।

सुभद्रा—हजारों अध्यास के होने पर यही अध्यास क्यों शंका समाधान से सिद्ध किया जाता है, अध्यास सामान्य क्यों नहीं । इसलिए कहा इस उक्त स्वरूप अध्यास को पंडित जन अविद्या कहते हैं । अविद्या ही सम्पूर्ण अनर्थों का कारण है यह श्रुति, वेद, स्मृति, गीतादि ग्रन्थ, इतिहास, महाभारत आदि पुराण आदि में प्रसिद्ध हैं । उसके निवृत्ति के लिए ही वेदान्त शास्त्र प्रवृत्त हैं यह कहेंगे । प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मा से भिन्न शरीर इन्द्रिय आदि का अध्यास ही सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण है न कि सीप आदि मे चाँदी इत्यादि का भ्रम, इसलिए वही अविद्या है ।

विशेष—अविद्या के दो भेद है, एक मूलाविद्या अपर तूलाविद्या, सर्व प्रपञ्चका मूलकारणीभूत जो अविद्या वह मूलाविद्या है जिसको अज्ञान भी कहा जाता है। इसमें दो शक्तियां हैं। आवरण और विक्षेप, आवरण का कार्य वस्तुके स्वरूपको ढकना—विक्षेप का कार्य, वस्तुको अन्यरूप में प्रतिभासित करना, यहांपर आवरण शक्तिसे ब्रह्मका प्रकृत, सत्यज्ञान आनन्दादि स्वरूप आवृत होकर विक्षेप शक्तिसे ब्रह्म निखिल प्रपञ्चरूपसे प्रतीत होता है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मका ही विवर्त है। एवं तूलाविद्या भी उक्त अविद्याका ही अवस्थाविशेष है, व्यवहार में तूलाविद्याशब्द से व्यपदिष्ट होता है। तूलाविद्या के आवरणशक्तिसे सीपरस्सी आदिका प्रकृत स्वरूप आवृत्त होकर विक्षेपशक्तिसे उसमें चांदी सर्प आदिकी प्रतीति होती है। प्रकृतमें मूलाविद्या ही सब अनर्थों की जड़ है यह कहा गया, तो उसके स्वरूपके ज्ञानके बिना उसकी निवृत्ति नहीं संभव है, इसलिए वही वर्णनीय है न कि अध्यासमात्र। इस तरहसे एवं लक्षणम् इत्यादि भाष्यसे अनर्थ का कारण अविद्या है यह कहा गया। क्योंकि प्रत्यगात्मा जो कि वास्तविक क्षुधापिपासादि धर्मसे रहित है, क्षुधापिपासाएँ प्राणके धर्म हैं न कि आत्माके, तो वस्तुतः सम्पूर्ण धर्म रहित, आत्मामें अशनायादि धर्म विशिष्ट अन्तःकरण आदि अहित का आरोप करके दुःखरहित भी प्रत्यगात्मा दुःखी की तरह प्रतीत होता है। आशय यह है कि, अन्तःकरण में दो शक्ति है ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, क्रियाशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण प्राणशब्द से व्यवहृत होता है, जिसमें क्षुधापिपासाआदि धर्म रहते हैं। ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरणमें ज्ञातृत्व भोक्तृत्व कर्तृत्व आदि धर्म रहते हैं, उन धर्मों का आत्मा में आरोप करके ही मैं क्षुधित हूं मैं पिपासा से युक्त हूँ मैं करता हूँ मैं दुःखी हूं, इत्यादि व्यवहार उपपन्न होता है जिससे कि दुःखरहित भी आत्मा दुःखी प्रतीत होता है। यह सब अविद्या की ही महिमा है। यह अनर्थ का हेतु है ऐसा साधारण जन ही मानते हैं, ऐसा नहीं, जिससे कि उसका वर्णन न किया जाय किन्तु पंडित जन भी मानते हैं।

यह अविद्या अनादि है, और अत्यन्त दृढ़ धर्मीभूत वासना से युक्त है जिससे कि वह निवृत्ति होने के योग्य नहीं है क्योंकि कोई उपाय नहीं है। ऐसा जो मानते हैं उनके प्रति उसके निवृत्ति का उपाय भाष्यमें कहा। तद्विवेकेन इत्यादि ...उससे पृथक् करके वस्तुके स्वरूपका निश्चय करना, अर्थात् संशय रहित ज्ञानको विद्यापण्डित कहा करते हैं। बुद्धि आदिसे अत्यन्त पृथग्भूत प्रत्यगात्मामें बुद्धिआदि के भेदका जो अग्रहण, ज्ञानका न होना, तन्निमित्तक बुद्धि आदि में आत्मत्व और उसके धर्मका जो अध्यास होता है। तो श्रवण मनन आदिके जो बुद्धि आदि से

आत्माका विवेक है उसका ज्ञान होनेपर उससे कारण विवेक का अज्ञान निवृत्त होनेपर अध्यासका अपवाद, निवृत्ति स्वरूप वस्तुके स्वरूपका जो निश्चय ऐसी जो चिदात्मकरूप विद्या है वह स्वरूपमें स्थित होती है। भाव यह है कि शमदमादि साधन चतुष्टय संपन्न पुरुष को आचार्य के मुखसे तत्व मस्यादि महावाक्यका श्रवण होनेपर और युक्तिसे या तर्कसे सब प्रपञ्च मिथ्या है, ऐसानिश्चय होनेपर जो कि मननरूप है। फिर उस वाक्यसे उत्पन्न जो अखंडब्रह्म विषयक ज्ञान, तद्विषयक अन्तःकरण के वृत्ति का जो निरन्तर प्रवाह, जो कि निदिध्यासनरूप है, इन सबों से अखंडब्रह्माकार वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही वस्तु के स्वरूप का अवधारण है जोकि चिदात्म स्वरूप है वह अविद्या का निवर्तक है, केवल चैतन्य का ज्ञान नहीं, वह तो अविद्याका साधक है उसीके प्रकाशसे अविद्या प्रकाशित है। जैसे सूर्य-चन्द्र आदि से उपरक्त राहु भी उन्हींके प्रकाश से प्रकाशित होता है न कि स्वतः और जैसे केवल सूर्य का प्रकाश तृण आदि को जलाने में समर्थ न होनेपर भी सूर्यकान्तमणि पर समारूढ़ होकर तृणादि को जलाने में समर्थ होता है। उसी तरह केवल चैतन्य स्वरूप ज्ञान अविद्या को नष्ट करने में समर्थ न होकर भी उक्त वृत्यारूढ़ होकर अविद्या को नष्ट कर देता है।

भामती

स्यादेतत्—अतिनिरूढ़निविड़वासनानुबद्धाऽविद्या विद्ययाऽपबाधिताऽपि स्ववासनावशात्पुनरुद्भविष्यति प्रवर्तयिष्यति च वासनादिकार्यं स्वोचित-मित्यत आह—तत्रैवंसति एवं भूतवस्तुतत्त्वावधारणेसति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापिसन संबध्यते—अन्तः करणादि दोषेणाशनायादिना चिदात्मा-चिदात्मनोगुणेन न चैतन्यानन्दादिनान्तः करणादि न संबध्यते। एतदुक्त भवति—तत्त्वावधारणाभ्यासस्य हि स्वभाव एव स तादृशः यदनादिमपि निरूढ़निविड़वासनामपि मिथ्या प्रत्ययमपनयति। तत्त्वपक्षपातोहि स्वभावोधियाम्। यथाहुर्बाह्या अपि निरूपद्रवभूतार्थ स्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधोऽयत्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः इति। विशेषतस्तु चिदात्मस्वभावस्य तत्त्व ज्ञानस्यात्यन्तान्तरङ्गस्य कुतोऽनिर्वाच्ययाऽविद्ययाबाध इति। यदुक्तं-सत्यानृते मिथुनी कृत्य विवेकाग्रहादध्यस्य हम-मेदमिति लोक व्यवहार इति। तत्र व्यपदेश लक्षणो व्यवहारः कंठोक्तः इति शब्द सूचितम् लोकव्यवहारमादर्शयति—तमेतमविद्याख्यमिति। निगद व्याख्यातम्।

सुभद्रा— शंका—अत्यन्तदृढ वासना से व्याप्त अविद्या विद्या के द्वारा बाधित

होने पर भी वासना के कारण फिर आविर्भूत होगी और अपने योग्य सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप कार्य का भान करा देगी, जिससे कि पुनः संसार में प्रवृत्ति होगी।

समाधान—भाष्य में 'ऐसा होने पर, जिसमें जिसका अध्यास होता है उस अध्यस्त वस्तु के गुण या दोष से वह अधिष्ठान अणुमात्र भी संबद्ध नहीं होता। अन्तः करण में रहने वाले अशनायादि धर्मया कर्तृत्व आदि धर्म से अधिष्ठान चिदात्मा संबद्ध नहीं हैं' और न तो चिदात्मा के गुण चैतन्य आनन्द आदि से अध्यस्त अन्तः करण आदि ही संबद्ध हैं। इससे यह निश्चित होता है, कि तत्व-ज्ञान के अभ्यास का स्वभाव ही ऐसा है कि अनादि और दृढ़ वासना वाली अविद्या, अर्थात् मिथ्याज्ञान का समूलोच्छेद कर देना, जिससे कि पुनः उद्भूत होकर अपने कार्य में वह समर्थ नहीं है। क्योंकि तत्त्व का निर्णय यह ज्ञान का स्वभाव है। जिसमें कि विज्ञान वादी बौद्ध की भी सम्मति है। 'इसी को, यथाहु-र्बाह्यामपि, इत्यादि से भामती कार प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि बाह्य लोगों ने भी कहा है। सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित परमार्थ स्वभाव वाले विज्ञान का संस्कारवश अनुवृत होने वाले विपरीत ज्ञान से बाध नहीं होता। क्योंकि बुद्धि, अर्थात् ज्ञान का बिना प्रयत्न के ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवगाहन करना स्वभाव है।

विशेष—बौद्धों के मत में सब पदार्थ क्षणिक हैं इस भावना से विषयों में स्थिर भावना की निवृत्ति होती है। सब स्वलक्षण हैं इस भावना से विशेष्य विशेषण भावना की निवृत्ति होती है। सब दुःख रूप हैं इस भावना से सुख रूपता की और उनमें रागादि वशात् प्रवृत्ति की भावना की निवृत्ति होती है। सब शून्य है इस भावना से सम्पूर्ण विषय रूप उपद्रव निवृत्त होते हैं। इस चार प्रकार की भावनाओं से उक्त चार प्रकार की विरोधी भावनाओं के निवृत्त होने से भावना के आधिक्य से सब उपद्रवों से रहित शुद्ध विज्ञान उत्पन्न होता है, जो परमार्थस्वभावयुक्त है। जिसके उत्पन्न होने पर उक्त विरोधी भवनाएँ पुनः संस्कार वश उत्पन्न नहीं होती।

विशेष करके, चिदात्म स्वरूप जो तत्व ज्ञान जो कि अत्यन्त अन्तरङ्ग है उसका अनिर्वचनीय, मिथ्याभूत अविद्या से बाध कैसे हो सकता है। भाष्य में सत्य और अनृत, मिथ्या इनका मिथुनीकरण करके अर्थात् सत्य और मिथ्या इनको एक करके, जिससे की उनमें भेद का ज्ञान नहीं होता यह सत्य है यह मिथ्या है, जिससे कि अध्यास करके, यह मैं हूं यह मेरा है, इत्यादि व्यपदेश लक्षण, शब्द प्रयोग रूप व्यवहार कहा गया अब इति शब्द से सूचित प्रवृत्ति रूप लोक व्यवहार भाष्य मेतमेव मित्यादि से प्रदर्शित करते हैं।

आत्मा अनात्मा का अविद्या संज्ञक अन्योन्य अध्यास आगे करके ही सम्पूर्ण प्रमाण प्रमेय व्यवहार लौकिक और वैदिक प्रवृत होते हैं। और सम्पूर्ण शास्त्र विधि निषेध और मोक्ष परक हैं। भामती में निगद व्याख्यानम्, ऐसा कहा, निगदेन व्याख्यतम्—अर्थात् यह भाष्य, अपने उक्ति से ही व्याख्यात है, इसको विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

भामती

आक्षिपति—कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणामितरत परिच्छेदो हि प्रमा विद्या तत्साधनानि प्रमाणानि कथम विद्यावद्विषयाणि। नाविद्यावन्तं प्रमाणान्याश्रयन्ति तत्कार्यस्य विद्याया अविद्या विरोधित्वादिति भावः। सन्तु वा प्रत्यक्षादीनि संवृत्त्यापि यथा तथा, शास्त्राणितु पुरुषहितानुशासनपराणय विद्याप्रतिपक्षतया ना विद्या व द्विषयाणि भवितुमर्हन्तीत्याह—शास्त्राणि चेति समाधत्ते—उच्यते देहेन्द्रियादि स्वहंममाभिमानहीनस्य—तादात्म्यतद्धर्माध्यासहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ सत्यां प्रमाण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अयमर्थः प्रमातृत्वं हि प्रमांप्रतिकर्तृत्वम् तच्चस्वातन्त्र्यम्। स्वातन्त्र्यं च प्रमातुरितरकारका प्रयोज्यस्य समस्तकारक प्रयोक्तृत्वम्। तदमेन प्रमाकरणं प्रमाणंप्रयोजनीयम्। न च स्वव्यापारमन्तरेण करणं प्रयोक्तुमर्हति। न च कूटस्थनित्पश्चिदात्माऽपरिणामी स्वतो स्वतो व्यापारवान्। तस्माद् व्यापार वद्बुद्ध्यादि तादात्म्याध्यासात् व्यापारवत्तया प्रमाणमधिष्ठातुमर्हतीति भवत्यविद्यावत्पुरुष विषयत्वम विद्यावत्पुरुषाश्रयत्वं प्रमाणानामिति। अथ मा प्रवर्तिषत प्रमाणानि किं नश्छिन्नमित्यत आह—न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यापारः—प्रमाणानां व्यवहारः संभवति। न जातु करणान्यनधिष्ठितानि कर्त्रा स्वकार्ये व्याप्रियन्ते माभूत्कुविन्दरहितेभ्यो वेमादिभ्यः पटोत्पत्तिरिति। अथ देह एवाधिष्ठाताकस्मान्न भवति कृतमत्रात्माध्यासेने त्यत आह न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। सुषुप्तेऽपि व्यापार प्रसङ्गादिति भावः। स्यादेतत्—यथा नध्यस्तात्मभावं वेमादिकं कुविन्दो व्यापारयन्पटस्य कर्ता एवमनध्यस्तात्मभावं देहेन्द्रियादि व्यापार यन्भविष्यति तदाभिज्ञः प्रमाते त्यत आह—न चैतस्मिन्सर्वस्मिन् इतरेतराध्यासे इतरेतरधर्माध्यासे च असति आत्मनोऽसङ्गस्य सर्वथा सर्वदा सर्वधर्मधर्मिवियुक्तस्य प्रमातृत्वमुपपद्यते। व्यापारवन्तो हि कुविन्दादयो वेमादीनधिष्ठाय व्यापारयन्ति; अनध्यस्तात्मभावस्य तु देहादिष्वात्मनो न व्यापार योगः असङ्गत्वादित्यर्थः। अतश्चाध्यासाश्रयाणि प्रमाणानीत्याह—न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाण प्रवृत्तिरस्ति। प्रमायां खलु फले स्वतन्त्रः प्रमाता भवति। अन्तःकरण

परिणामभेदश्च प्रमेयप्रवणः कर्तृस्थश्चित्स्वभावः प्रमा। कथं च जड़स्यान्तः-करणस्य परिणामश्चिद्रूपोभवेत्, यदि चिदात्मा तत्र नाध्यस्येत्। कथ चैष चिदात्मकर्तृको भवेत्, यद्यन्तःकरणं व्यापार वाचिदात्मनि नाध्यस्येत्। तस्मादितरेतराध्यासा च्चिदात्मकर्तृस्थं प्रमाफलं सिध्यति। तत्सिद्धौ च प्रमातृत्वम्. तामेव च प्रमामुररी कृत्य प्रमाणस्य प्रवृत्तिः। प्रमातृत्वेन च प्रमोपलक्ष्यते। प्रमायाः फलस्याभावे प्रमाणं न प्रवर्तेत। तथा च प्रमाणम-प्रमाणं स्यादित्यर्थः। उपसंहरति—तस्माद विद्यावद्विषयाणयेव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि।

सुभद्रा—फिर शंका करते हैं भाष्य में कथंपुनः अविद्या व द्विषयाणि इत्यादि से प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावान् हैं विषय अर्थात् आश्रय जिसका ऐसे हैं, वह कैसे क्योंकि वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निश्चय करना ही प्रमा अर्थात् विद्या है। उसके कारण को ही प्रमाण कहा जाता है, तो वे अविद्या वत्पुरुष को विषय कैसे करेंगे। और न तो अविद्यावान् पुरुषको प्रमाण प्रेरक हो हो सकते हैं क्योंकि उनका उपयोग नहीं है। और न तो अविद्या वाले पुरुषके आश्रित ही प्रमाण है। प्रमाण का कार्य विद्या, अर्थात् यर्थाथ ज्ञान है वह अविद्या का विरोधी है। किसी तरह से प्रत्यक्षादि प्रमाणकी प्रवृत्ति मिथ्या विषयक मान भी ली जाय, तो शास्त्रतो पुरुषो के हितको बतलाने वाले हैं. ये अविद्याके विरोधीहैं इसलिए अविद्यावान् को वे कैसे विषय करेंगे। (इस शंकाका समाधान भाष्यमें उच्येत इत्यादि से किया गया है) देह और इन्द्रिय आदिमे जिस पुरुषका अहं यह मैं मम, यह मेरा, यह सब अभिमान निवृत्त हो गया है, अर्थात् देहेन्द्रियादि के तादात्म्य का अध्यास और उनमें रहनेवाले अन्धत्वकृशत्व आदिधर्म का अध्यास छूट गया है जिसका ऐसे पुरुष में प्रमासता नहीं बन सकती। जैसे सुषुप्ति अव-स्थामें अहंममाभिमान न होने से प्रमा तृप्ति नहीं होती, भाव यह है कि प्रमातृत्व है प्रमा के प्रति कर्तृत्व कर्ता स्वतन्त्र होता है, (स्वतन्त्रः कर्ता पाणिनिके सूत्रसे स्वतन्त्रकी कर्तृ संज्ञा होती है) स्वतन्त्रता है अन्यकारको से प्रेरित न होकर सम्पूर्ण कारकों को अपने २ व्यापार में प्रवृत्त कराना। इसप्रकारसे प्रमाता के व्यापार के बिना प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, (चैत्र कुठारेणकाष्ठं छिनत्ति स्वतन्त्र कर्ता चैत्र अपने उद्यमनादि व्यापारसे करणकुठार को प्रवृत्त करता है) प्रमाकर्ता प्रमाता भी अपने व्यापारसे ही प्रमाकरण प्रमाणको प्रवृत्त करेगा। चिदात्माके असङ्ग और अपरिणा भी होने से उसमें स्वतः कोई व्यापार सम्भव नहीं, इसलिए व्यापार युक्त अन्तःकरणादिके तादात्म्यका अध्यास मानकर ही उसमें प्रमातृत्वका निर्वाह हो सकता है, अतः स्वतः व्यापार शून्य आत्मामें प्रमाणों का

प्रवर्तकत्वरूप व्यापार आध्यासिक है यह सिद्ध हो जाता है। इस तरहसे प्रमाण अविद्यावान् पुरुषसे ही प्रेरित हैं यह सिद्ध होनेपर अविद्यावान् पुरुषको प्रमाण विषय करते हैं, और उनके आश्रित हैं यह भी सिद्ध होता है।

प्रमाणोंकी प्रवृत्ति न हो हमारी क्या हानि होगी। इसपर भाष्यमें कहा गया, प्रमाणरूप इन्द्रियोंके प्रवृत्तिके बिना प्रत्यक्षादि व्यवहार सम्भव नहीं है। जिससे व्यवहार हो, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उत्पन्न प्रमितिरूप फल यह अर्थ है। भाष्यमें इन्द्रिय शब्द तद्भिन्न लिंगशब्द आदिका भी उपलक्षक है, दंडिनोगच्छन्ति, इस वाक्य के समान जैसे वहांपर दण्डीशब्द, दण्डीसन्यासी, और उनके सहचारी अदंडी, जो दंड धारण नहीं किए हैं, उनका उपलक्षक है। अर्थात् बहुतसे दण्ड धारण करनेवाले सन्यासी और उनके साथ जो दण्ड नहीं लिए हैं उनके शिष्य ब्रह्मचारी इत्यादि वे सब जाते हों, तो जैसे वहांपर उक्त-वाक्य का प्रयोग होने से तद् वाक्यघटक दण्डी शब्दसे सबका ग्रहण होता है। उसी तरह यहाँपर भी इन्द्रिय शब्द से इन्द्रिय अनिन्द्रिय शब्द लिंगादि का साधारण प्रमाण समुदाय ग्रहण अभीष्ट है। ऐसा अंगीकृत होनेसे आगे भाष्यमें प्रत्यक्षादि शब्दमें आदिशब्दसे अनुमिति शब्द आदि संगृहीत होते हैं। व्यवहार क्रिया से व्यवहार करने के योग्य व्यवहारी पुरुष का आक्षेप होता है जिससे कि समान कर्तृकत्व होनेसे क्त्वा प्रत्यय की उपपत्ति हो जाती है। (इस तरहसे अनुपादायर्योव्यवहारः प्रमातृकर्तृकः सन् सम्भवति, इन्द्रियोंके ग्रहणके बिना प्रमाता जो जीवनत्कर्तृक व्यवहार सम्भव नहीं है, यह भाष्य संगत होता है। अन्यथा अनुपादान कतृत्व प्रमाता में संभव न कर्तृत्व व्यवहारमें होने से, समान कर्तृकत्वमावात् क्त्वाप्रत्ययकी सिद्धि नहीं होगी।

शंका—प्रमाता प्रमाणका ग्रहण क्यों करता है. स्वयं प्रमाण ही प्रमाता के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त हों, जैसे वत्सके वृद्धि के लिए अचेतनक्षीर माता के स्तनमें स्वयं प्रवृत्त होता है। इस तरह से सांख्यवादी के मतसे शंका का उत्थान है। परन्तु उनके मतमें भी चेतन पुरुष का सान्निध्य प्रकृति के प्रवृत्तिसे अपेक्षित है, इससे स्वयंमेव एवकार की संगति नहीं होती, अतः यह शंका स्वभाववादी के मतसे जो कि कार्य-करण संघातके अतिरिक्त आत्मा नहीं मानता, स्वभावसे ही प्रवृत्ति प्रमाणों की क्यों नहीं की गई, यह युक्त प्रतीत होता है।

समाधान—भाष्य में इस लिए कहा, अधिष्ठान, आधार, के बिना इन्द्रियादि रूप प्रमाणों का व्यवहार अर्थात् व्यापार संभव नहीं है। इन्द्रिय आदि प्रमाण प्रमिति रूप फलके करण होते हैं। और जो कारण होता है वह कर्ता से प्रेरित

होकर ही कार्य उत्पन्न करने में समर्थ होता है। कुठार रूप करण चैत्र के व्यापार के बिना स्वयम् काष्ठ छेदन में समर्थ नहीं है। नहीं तो, जुलाहा. वस्त्र को बुनने, वाला इसके व्यापार के बिना भी. तुरी वे मादि से वस्त्र की उत्पत्ति होने लगेगी। (फिर चाव कि शंका करता है) देह ही क्यों न प्रमाणों का अधिष्ठाता मान लिया जाय, उससे अतिरिक्त आत्माको अधिष्ठाता क्यों माना जाय. इसलिए इन्द्रिय आदि के अधिष्ठान के सिद्धि के लिए देहेन्द्रियादि में आत्मा के तादात्म्य का अध्यास व्यर्थ है। इस पर भाष्य में कहा गया. नचा-नध्यस्तात्म भावेन इत्यादि। आत्मा के अध्यास के बिना केवल शरीर से व्यापार संभव नहीं हैं नहीं तो सुषुप्ति और मूर्छा आदि अव. स्था में भी शरीर के विद्यमान होने से व्यापार होने लगेगा।

शंका—आत्मा में शरीर आदि के तादात्म्य का अध्यास न मानने पर भी स्वेच्छा से ही अधिष्ठातृता हो, देखा जाता है। कि चैत्र अपने इच्छा से उठता है बैठता है। इसी को स्यादेतेदित्यादि से भामती में कहते हैं) जैसे जुलाहा. तुरीवेमादि में आत्मा का अध्यास न कर उसके द्वारा व्यापार करता हुआ वस्त्र का कर्ता है. इसी तरह देहेन्द्रियादि में आत्मा के अध्यास के बिना ही उनको अपने व्यापार में प्रवृत्त कराता हुआ उनको जाननेवाला पुरुष प्रमाता है इसलिए भाष्य में न चैतस्मिन इत्यादि से समाधान कहा गया) देहेन्द्रियादि में आत्मा का और उसके धर्मों का अध्यास और आत्मामें देहेन्द्रियादि और उसके धर्मोंका अध्यास अङ्गीकार किए बिना असङ्ग आत्मा में प्रमातृत्व नहीं हो सकता। क्योंकि असङ्गोध्ययं पुरुषः आदि श्रुति से आत्मा निर्लिप्त है यह सिद्ध होता है, और अस्थूल मनरावह्रस्वमदोर्घ मित्यादि श्रुति प्रमाण से आत्मा निधर्मक है यह सिद्ध होता है। इसलिए आत्मा में अन्तःकरण आदि के अध्यास के बिना कर्तृत्वादि धर्म की उपपत्ति कैसे संगत होगी। क्रियाविशिष्ट तन्तुवायकुम्भकार आदि तुरी दंड आदि करणों को उनमें आत्मा के अध्यास के बिना ही प्रवृत्त कर देते हैं। आत्मा तो अकर्ता है स्वतः उसमें कोई व्यापार संभव नहीं है अतः उसमें देहादि के अध्यास के बिना प्रमातृता नहीं बन सकती। इसलिए प्रमाणों को प्रवृत्त करने के लिए अध्यास स्वीकार करना चाहिए। इसलिए प्रमाण अध्यास के आश्रित हैं। इसलिए भाष्य में कहा, प्रमातृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। यद्यपि पूर्व में भी प्रमातृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति अनुपपन्न है यह भाष्य में कहा है पुनः यहाँ पर भी उसी को कहने से पुनरुक्ति है ऐसी शंका न करनी चाहिए। प्रमाणों की प्रवर्तकता आत्मा में अध्यास के बिना अनुपपन्न है, इसलिए प्रमाणों का प्रेरक होने से आत्मा में अध्यास मानना युक्त

है यह कहा। अब प्रमिति रूप जो फल है उसका आश्रय होने से भी अध्यास मानना युक्त है यह प्रदर्शित करते हैं प्रमिति रूप फल में प्रमाता स्वतन्त्र होता है। अन्तःकरण का परिणाम विशेष ही अर्थात् उसका ही भेद प्रमेय विषयक कर्ता, प्रमाता में ही स्थित प्रकाश स्वभाव फलरूप प्रमा है। आशय यह है कि जड़ अन्तःकरण का वृत्ति रूप परिणाम भी जड़ है जिससे वस्तु का प्रकाश नहीं हो सकता जिसमें वस्तु के प्रकाश का सामर्थ्य है वह चैतन्य अविद्या से आच्छादित है, अतः उस अन्तःकरण के वृत्ति से चैतन्य का आवरण भङ्ग होने पर असङ्ग चैतन्य का आध्यासिक, अर्थात् कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध मान कर ही वस्तु का प्रकाश होता है, इसलिए, अभिव्यक्त विषयावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमारूप फल कहा जाता है, तो चैतन्य के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हुई वृत्ति का आश्रय चैतन्य भी वृत्ति तादात्म्यापन्न मानना युक्त है। जब तक चैतन्य में वृत्ति के तादात्म्य का अध्यास नहीं होता तब तक केवल अन्तःकरण के परिणाम में चित्तादात्म्य की योग्यता नही हो सकती। नहीं तो मट्टी का परिणाम घट और दूध के परिणाम दही में भी चित्तादात्म्य की ग्राहकता हो जायगी तो उनमें भी प्रकाशकता की आपत्ति होगी। इसलिए आत्मा में अन्तःकरण के स्वरूप का और उसके तादात्म्य का अध्यास है और अन्तःकरणोपहित आत्मा का अन्तःकरण में अध्यास है यह परस्पर अध्यास अङ्गीकार करना पड़ेगा इस हेतु से प्रमा और उसके कारण प्रमाण अध्यास के अधीन है यह सिद्ध हो जाता है। इसीलिए भामती में अध्यासाश्रयाणि प्रमाणानि कहा गया। उसी का स्पष्टीकरण प्रमायांखलु इत्यादि से किया गया है। यदि चिदात्मा का अध्यास अन्तःकरण में न हो तो जड़ अन्तःकरण का परिणाम चैतन्य रूप कैसे हो सकता है। और यदि व्यापार विशिष्ट अन्तःकरण का चिदात्मा में अध्यास न हो तो वह परिणाम चिदात्मकर्तृक कैसे हो। इस तरह से परस्पर अध्यास से ही चिदात्मा जो कि वास्तविक कर्ता न होकर भी कर्ता रूप से प्रतीत हो रहा है उसमें घटादि विषयकी प्रमिति रूप फल की सिद्धि होती है और फल के सिद्ध होने पर ही प्रमातृता बनती है। उसी पूर्वोक्त प्रमाकी अङ्गीकार करके ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। भाष्य में प्रमातृत्व शब्द प्रमा का उपलक्षक है। क्योंकि प्रमातुः भावः प्रमातृत्वम्, प्रमाता में रहने वाला जो धर्म वही प्रमातृता है, प्रमाता है प्रमा का आश्रय, तो प्रमाता में विशेषण जो प्रमा वही प्रमातृत्व शब्द से अभिप्रेत है। प्रमारूप फल के अभाव में प्रमाणों की प्रमाणता नहीं रहेगी। तो प्रमाण अप्रमाण हो जायगें। भाष्य में उपसंहार कर रहे हैं। तस्मादविद्यावद्विषयारायेव इत्यादि से।

शाङ्कर भाष्यम्

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथाहि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धेसति शब्दादि विज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते यथा दंडोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्यमां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारम्भन्ते हरिततृणपूर्ण पाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखी भवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टी नाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण प्रमेय व्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादि व्यवहारः तत्सामान्य दर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारस्तत्कालः समान इतिनिश्चीयते। शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वाऽऽत्मनः परलोक संबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम् अशन य द्यतीतम् अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम् असंसार्यात्मतत्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक्चतथाभूतात्मविज्ञान स्वर्तमानं शास्त्रम विद्यावद्विषयं नातिवर्तते। तथाहि ब्राह्मणोयजेत इत्यादीनिशास्त्राणयात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि विशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलोवेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामि लङ्घयामिचेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीबः बधिरः अन्धोऽहमिति; तथाऽन्तःकरण धर्मान्—काम संकल्प विचिकित्साऽध्यवसायादीन्। एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिपि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिण तद्विपर्ययेणान्तः करणादिष्वध्यस्यति। एव मयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्यय रूपः कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः। अस्यानर्थ हेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता, आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

भामती

स्यादेतत् भवतु पृथग्जनानामेवम्। आगमोपपत्तिप्र तिपन्नप्रत्यगात्मतत्त्वानां व्युत्पन्नानामपि पुंसां प्रमाणप्रमेय व्यवहारा दृश्यन्त इति कथमविद्यावद्विषया रायेव प्रमाणानीत्यत् आह—पश्वादिभिश्चविशेषादिति। विदन्तु नामागमोपपत्तिभ्यां देहेन्द्रियादिभ्योभिन्नं प्रत्यगात्मानम्। प्रमाण प्रमेय व्यवहारे तु प्राणभृन्मात्र धर्मान्नातिवर्तन्ते। यादृशो हि पशुशकुन्तादी नाम-

विप्रतिपन्नमुग्धभावानां व्यवहारस्तादृशो व्युत्पन्नानामपि पुंसां दृश्यते। तेन तत्सामान्यात्तेषामपि व्यवहार समयेऽविद्यावत्त्वमनुमेयम्। च शब्दः समुच्चये। उक्त शंका निवर्तन सहित पूर्वोक्तोपपत्तिः अविद्यावत्पुरुष विषयत्वं प्रमाणानां साधयतीत्यर्थः। एतदेव विभजते—यथाहि पश्वादय इति। अत्र च शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धेसति इति प्रत्यक्षं प्रमाणं दर्शितम् शब्दादि विज्ञाने इति तत्फलमुक्तम्। प्रतिकूले इति चानुमानफलम्। तथाहि—शब्दादिस्वरूपमुपलभ्य तज्जातीयस्य प्रतिकूलतामनुस्मृत्य तज्जातीयतयोपलभ्यमानस्य प्रतिकूलतामनुमिमीत इति। उदाहरति—यथादंडेति। शेषमतिरोहितार्थम्। स्यादेतत्—भवन्तु प्रत्यक्षादीन्यविद्यावद्विषयाणि, शास्त्रं तु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत इत्यादि न देहात्माध्यासेन प्रवर्त्तितुमर्हति। अत्र खल्वामुष्मिकफलोप भोग योग्योऽधिकारी प्रतीयते। तथा च पारमर्षं सूत्रम्—शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् (अ० ३ पा० ७ सू० १८) इति। न च देहादि भस्मीभूतं पारलौकिकायफलाय कल्पत इति देहाद्यतिरिक्तं कंचिदधिकारिणमाक्षिपति, शास्त्रं तदवगमश्च विद्येति कथमविद्यावद्विषयं शास्त्रमित्याशङ्क्याह शास्त्रीये-त्विति। तुशब्दः प्रत्यक्षादि व्यवहाराद्भिनत्ति शास्त्रीयम्। अधिकार शास्त्रं हि स्वर्ग कामस्य पुंसः परलोक सम्बन्धं विना न निर्वहतीति तावन्मात्रमाक्षिपेत्, न त्वस्यासंसारित्वमपि, तस्याधिकारेऽनुपयोगात्। प्रत्युत औपनिषदस्य पुरुषस्या कर्तुरभोक्तुराधिकारविरोधात्। प्रयोक्ता हि कर्मणः कर्मजनितफल-भोगभागी कर्मण्यधिकारी स्वामी भवति। तत्र कथमकर्ता प्रयोक्ता कथं वाऽभोक्ता कर्म जनितफल भोगभागी। तस्मादनाद्यविद्यालब्ध कर्तृत्व भोक्तृत्व ब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनं नरमधिकृत्य विधि निषेधशास्त्रं प्रवर्तते। एवं वेदान्ता अप्यविद्यावत्पुरुष विषयाएव। नहिं प्रमात्रादिविभागादृते तदर्थाधिगमः। तेत्वविद्यावन्त मनुशासन्तो निमृष्ट निखिलाविद्यमनुशिष्टं स्वरूपे व्यवस्थापयन्तीत्येतावानेषां विशेषः। तस्मादविद्यावत्पुरुष विषयाण्येव शास्त्राणीति सिद्धम्।

सुभद्रा—इस तरह से अध्यास के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और अध्यास अविद्या के बिना नहीं हो सकता इसलिए अविद्यावान् पुरुष को प्रमाण विषय करते हैं इस कथन से पूर्व प्रदर्शित प्रमाण अविद्यावान् पुरुष को कैसे विषयक करेंगे इस शंका का परिहार हो गया।

(पुनः शंका कर रहे हैं) सामान्य पुरुषों को ऐसा भले हो हो परन्तु शास्त्र और युक्ति से जिन पुरुषों ने प्रत्यगात्मतत्वको जान लिया है ऐसे पुरुष को भी

प्रमाण प्रमेय व्यवहार होता है तो कैसे अविद्यावान् पुरुष को प्रमाण विषय करते हैं क्योंकि शास्त्रज्ञ, और युक्ति-युक्त पुरुष अविद्यावान् है ऐसा कथन संगत नहीं।

इस पर भाष्य में कहा गया, (पश्वादिभिश्चा विशेषात्) प्रमाण प्रमेयके व्यवहार में, पशुआदियों से शास्त्रज्ञ पुरुष में कोई विशेषता नहीं है। आशय यह है कि, पशुआदि जैसे शब्द आदि विषयों के साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर उनके ज्ञान होने पर प्रतिकूल ज्ञान होने पर निवृत्त होते हैं, और अनुकूल ज्ञान होने पर प्रवृत्त होते हैं। दंड धारण किए हुए मारने के लिए उद्यत पुरुष को देखकर मुझको मारने की यह इच्छा करता है इस लिए भाग जाते हैं। हरे घास हाथ में लिए हुए पुरुष को देखकर उसके पास चले जाते हैं। इसी तरह से व्युत्पन्न चित्त वाले पुरुष भी भयानक दृष्टि वाले और गर्जना करते हुए पुरुष को देखकर निवृत्त होते हैं और इसके विपरीत देख कर प्रवृत्त होते हैं। पशु आदि के व्यवहार अविवेक पूर्वक होते हैं यह प्रसिद्ध है उसी तरह बुद्धिमान् शास्त्रज्ञ पुरुष का भी व्यवहार होने से वह भी उस समय अविवेक पूर्वक है यह निश्चय होता है। उक्त भाष्य के कथन का विशदीकरण भामती में विदन्तु नाम इत्यादि से किया गया है।

शास्त्र और युक्ति से विचारक पुरुष भले ही प्रत्यगात्मतत्व को शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न समझ लें, परन्तु प्रमाण से प्रमेय के व्यवहार में वे भी सामान्य जीव के धर्मों का उल्लंघन नहीं कर सकते। जैसे पशुपक्षियों का व्यवहार अज्ञान-मूलक है, (क्योंकि उनके मूढता में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती) उसी के समान ही व्यवहार व्युत्पन्न, पुरुषों का भी देखा जाता है। इस हेतु से उनका भी व्यवहार अविद्या पूर्वक है यह अनुमान किया जाता है। 'अनुमान, विद्वद्व्यवहारः अविद्या-पूर्वकः व्यवहारत्वात, पश्वादि व्यवहारवत्, विद्वानों का भी व्यवहार अविद्यापूर्वक है, व्यवहार होने से, पशु आदि के व्यवहार के समान प्रमाण का उपयोग अविद्या-वत्पुरुषविषयक है यह उक्त युक्ति से पूर्वोक्त शंका के निवृत्ति के सहित सिद्ध हुआ, शब्दादि विषयों का श्रोत्रादि के साथ सम्बन्ध होने पर यह प्रत्यक्ष प्रमाण प्रदर्शित किया गया, शब्दादि का ज्ञान उसका फल कहा। 'प्रतिकूलता का ज्ञान अनुमान का फल है। शब्द आदि विषयों के उपलब्धि होने पर उसके समान जा-तिवाले शब्दादिकों की प्रतिकूलता का स्मरण करके उसी के समान जातीय ये शब्द आदि हैं अतः ए सभी प्रतिकूल हैं यह अनुमान करता है। उदाहरण, 'भाष्य में दंडधारी पुरुष को देख कर उसको प्रतिकूल जानकर पशु भाग जाते हैं, इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यावत् पुरुष विषयक हो, परन्तु शास्त्र स्वर्गकामो

ज्योतिष्टोमेनयजेत आदि, स्वर्ग को चाहने वाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि शरीरादि में आत्मा के अध्यास के बिना ही प्रवृत्त है। क्योंकि इस शरीर से स्वर्ग प्राप्ति हो नहीं सकती इस लिए शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा ही पार लौकिक फल भोग के योग्य अधिकारी प्रतीत होता है। कहा भी है, (शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्०) (जै० सू० ३० पा० ७। सू० १८) अङ्ग, सहित दर्शपूर्णमास आदि याग का कर्ता स्वयं यजमान है क्योंकि शास्त्रोक्त फल स्वर्गादि उसी में प्रतीत होता है, हेतु है, तल्लक्षणत्वात्. 'तत् शास्त्रमेव लक्षणं प्रमाणं तस्यभावः तस्मात्, शास्त्र ही प्रमाण है जिस अलौकिक अर्थ में वैसा होने से। स्वर्ग कामो यजेत आदि वाक्य से स्वर्ग के उद्देश्यसे याग करे यह अर्थ प्रतीत होता है, यजेत में आख्यात से भावनारूप अर्थ कहा गया भावना के क्रिया रूप होने से उससे आक्षिप्तकर्ता से सम्बद्ध ही स्वर्ग प्राप्तिरूप फल प्रतीत होता है। इस तरह से फलके कर्तृगामी होने पर ही यजेत में आत्मने पदकी सिद्धि होगी अन्यथा नहीं, तो मृत्यु होने पर भस्मीभूत देहादि पारलौकिक फलके अयोग्य होने से उनमें फल स्थिति असंभव हैं, अतः देहाद्यतिरिक्त आत्मा ही अधिकारी है, तो उसीका आक्षेप भावनासे होगा। देहादिसे अतिरिक्त आत्माका ज्ञान विद्या है, तो शास्त्र अवि, द्यावान् पुरुष को विषय कैसे करेंगे ऐसी शंका होने पर, भाष्यकार समाधान करते हैं शास्त्री येतु व्यवहारे इत्यादि से, भाष्यमें तु शब्दसे प्रत्यक्षादि व्यवहार शास्त्रीय व्यवहारसे भिन्न है यह सूचित होता है। स्वर्ग चाहने वाला पुरुष का परलोक के सम्बन्ध के बिना अधिकारशास्त्र का निर्वाह नहीं होता, तो वह शास्त्र केवल देहाद्यतिरिक्त आत्माके अस्तित्वमात्र का ही आक्षेप करेगा, नकि वह असंसारी है इसका भी आक्षेप करेगा। क्योंकि उसका अधिकार में उपयोग नहीं है। किन्तु उपनिषत्प्रतिपादित पुरुष के, अकर्त्ता अभोक्ता होनेसे यागादि कर्मका अधिकार विरोध होने से उसमें नहीं है।

कर्मका कर्ता ही कर्मसे उत्पन्न फल के भोगका भागी कर्ममें अधिकारी और उसका स्वामी होता है। उपनिषदों में वर्णित आत्मा असंग होनेसे, अकर्ता अभोक्ता है तो वह अधिकारी और फलभागी कैसे होगा यह भाव है। भाष्यमें इसी बातको तथापिन वेदान्त वेद्यम् इत्यादि से कहा गया है। इसलिए अनादि जो अविद्या उसके कारण प्राप्त है कर्तृत्व भोक्तृत्व आदिधर्म, और ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व जातिका अभिमान जिस पुरुषको ऐसे पुरुषको अधिकार कर विधि निषेधशास्त्र प्रवृत्त होते हैं। एवम्, वेदान्त मोक्षशास्त्र, भी अविद्यावान् पुरुषको विषय करते हैं। क्योंकि प्रमाण प्रमेय आदिके विभाग के बिना उनके अर्थों की प्रतीति संभाव्य नहीं है। ये सब अविद्यावस्था में ही हो सकते हैं। एकत्व-

ज्ञान से भेदके बाधित होनेपर उक्त विभाग की उपपत्ति नहीं हो सकती। वे शास्त्र अविद्यावान् पुरुषको अनुशासित करते हुए, अर्थात् उनका हित बोधक करते हुए, निवृत्त हो गया है सम्पूर्ण अज्ञान जिसका ऐसे पुरुषको स्वरूप में व्यवस्थित करते हैं यही विधि निषेधपर शास्त्रों से, मोक्ष परक वेदान्त वाक्यों की विशेषता है। इससे अविद्यावत्पुरुष विषय कहो शास्त्र हैं यह सिद्ध हो जाता है।

भामती

स्यादेतत्—यद्यपि विरोधानुपयोगाभ्यामौपनिषदः पुरुषोऽधिकारे नापेक्ष्यते, तथाप्युपनिषद्भ्योऽवगम्यमानः शक्नोत्य, धिकारंनिरोद्धुम्। तथा च परस्परापहतार्थत्वेन कृत्स्नएववेदः प्रामाण्यमपजह्यादित्यत आह—प्राक्चतथाभूतात्मेति। सत्यमौपनिषद पुरुषाधिगमोऽधिकार विरोधी तस्मात्तु पुरस्तात्कर्मविषयः, स्वोचितं व्यवहारं निर्वर्तयन्तो नानुपजातेन ब्रह्मज्ञानेन शक्यानिरोद्धुम्. नच परस्परापहतिः विद्याविद्यावत्पुरुषभेदेन व्यवस्थोत्पत्तेः। यथा न हिंस्यात्सर्वाभूतानि इति साध्यांशनिषेधेऽपि श्येनेनाभिचरन्यजेत इति शास्त्रं प्रवर्तमानं न हिंस्यादित्यनेन न विरुध्यते, तत्कस्यहेतोः पुरुषभेदादिति। अवजितक्रोधारातयः पुरुषाः निषेधेऽधिक्रियन्ते क्रोधारातिवशीकृतास्तु श्येनादिशास्त्र इति। अविद्यावत्पुरुषविषयत्वं नातिवर्ततइति यदुक्तं तदेवस्फोरयतितथाहीति। वर्णाध्यासः राजा राजसूयेन यजेत इत्यादिः। आश्रमाध्यासः गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत् इत्यादिः। वयोऽध्यासः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इत्यादिः। अवस्थाध्यासः—अप्रति समाधेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः इति। आदिग्रहणं महापातकोपपातक संकरीकरणापात्रीकरण मलिनो करणाद्यध्यासोपसंग्रहार्थम्। तदेवमात्मानात्मनोः परस्पराध्यासमाक्षेपसमाधानाभ्यामुपपाद्य प्रमाणप्रमेयव्यवहार प्रवर्तनेनच दृढ़ीकृत्य तस्यानर्थहेतुतामुदाहरण प्रपंचेन प्रतिपादयितुं तत्स्वरूपमुक्तं स्मारयति—अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास इत्यस्य संक्षेपाभिधानमेतत्।

तत्राहमिति धर्मितादात्म्यध्यासमात्रम् ममेत्यनुत्पादित धर्माध्यास नानर्थहेतुरिति धर्माध्यासमेवममकारं साक्षादशेषानर्थसंसार कारण मुदाहरण प्रपञ्चेनाह—तद्यथा पुत्रभार्यादिष्विति। देहतादात्म्य मात्मन्यध्यस्य देहधर्मं पुत्रकलत्रादिस्वाम्यंच कृशत्वादिदारोप्य आह—अहमेव विकलः सकल इति। स्वस्यखलुसाकल्येन स्वाम्यसाकल्यात् स्वामीश्वरः सकलः सम्पूर्णोभवति। तथास्वस्य वैकल्पेन स्वाम्यवैकल्यात् स्वामीश्वरो विकलोऽसम्पूर्णो भवति इति बाह्यधर्मायेवैकल्यादयः स्वामिप्रणालिकया संचारिताः शरीरे तानात्मन्यध्यस्यती त्यर्थः। यदा च परोपाध्यपेक्षे देहधर्मे स्वाम्ये इयंगतिः तदाकैवकथाऽनौपाधिकेषु

देहधर्मेषु कृशत्वादिष्वित्याशयवानाह तथादेह धर्मानिति । देहादेरप्यन्तरङ्गाणामिन्द्रियाणामध्यस्तात्मभावानां धर्मान्मूकत्वादीन् ततोऽप्यन्तरङ्गस्यान्तःकरणस्य अध्यस्तात्मभावस्य धर्मान् काम संकल्पादीन् आत्मन्यध्यस्यतीति योजना । तदनेनप्रपञ्चेन धर्माध्यासमुक्त्वा तस्यमूलं धर्म्य, ध्यासमाह—एवमहं प्रत्ययिनम्, अहं प्रत्ययोवृत्तिर्यस्मिन्नन्तःकरणादौ सोऽहंप्रत्ययीतम् । स्व प्रचारसाक्षिणि—अन्तःकरण प्रचार साक्षिणा चैतन्योदासीनताभ्यां, प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तदनेन कर्तृत्वभोक्तृत्वे उपपादिते । चैतन्यमुपपादयति—तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण, अन्तःकरणादि विपर्ययेण अन्तःकरणाद्य चैतन्यं तस्य विपर्ययः चैतन्यं नेन । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । अन्तःकरणादि ष्वध्यस्यति । तदनेनान्तः करणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदंरूपश्चेतनः कर्ताभोक्ता कार्यकारणविद्याद्वयाधारोऽहंकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंसारभाजनं जीवात्मा इ तरेतराध्यासोपादानः तदुपादानश्चाध्यास इत्यनादि त्वाद्बीजाङ्कुरवन्नेतरेतराश्रयत्वमित्युक्तं भवति । प्रमाण प्रमेय व्यवहार हठीकृतमपिशिष्यहिताय स्वरूपाभिधान पूर्वकं सर्वलोक प्रत्यक्षतयाऽध्यासं सुदृढ़ीकरोति—एवमयमनादिरनन्तः—तत्त्व ज्ञानमन्तरेणाशक्यसमुच्छेदः । अनाद्यनन्तत्वेहेतुरुक्तः नैसर्गिक इति । मिथ्याप्रत्ययरूपः—मिथ्याप्रत्ययानां रूप मनिर्वचनीयत्वं तद्यस्यसतथोक्तः । अनिर्वचनीय इत्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति—अस्यानर्थ हेतोः प्रहाणाय । विरोधिप्रत्ययं बिना कुतोऽस्य प्रहाणमित्यतउक्तम्—आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये—प्रतिपत्तिः प्राप्तिः तस्यैनतु जपमात्राय, नापिकर्मसु प्रवृत्तये आत्मैकत्वं विगलितनिखिल प्रपञ्चत्वं । आनन्दरूपस्यसतः तत्प्रतिपत्ति निर्विचिकित्सां भावयन्तो वेदान्ताः समूलघातमध्यास मुपघ्नन्ति । एतदुक्तंभवति—अस्मत्प्रत्यय स्यात्म विषयस्य समीचीनत्वेसति ब्रह्मणो ज्ञातत्वाभिप्रयोजन त्वाच्च नजिज्ञासा स्यात् । तदभावेच न ब्रह्मज्ञानाय वेदान्ताः पठ्येरन् । अपित्वविवक्षितार्था जपमात्रे उपयुज्येरन् । नहि तदौपनिषदात्मप्रत्ययः प्रमाणतामश्नुते । नचासत्प्रमाणमभ्यस्तोऽपि वास्तवं कर्तृत्व भोक्तृत्वाद्यात्मनोऽपनेतु महति । आरोपितं हि रूपं तत्व ज्ञानेनापोद्यते, न तु वास्तव मतत्वज्ञानेन । नहि रज्ज्वारज्जुत्वम् सहस्रमपि सर्पधाराप्रत्यया अपवदितुं समुत्सहन्ते । मिथ्याज्ञानप्रसञ्जितश्च तु रूपं शक्यं तत्वज्ञानेनापवदितुम् । मिथ्या ज्ञान संस्कारश्च सुदृढ़ोऽपि तत्वज्ञानसंस्कारेण दरनैरन्तर्यदर्घि कालतत्व ज्ञानाभ्यास जन्मनेति । स्यादेतत्—प्राणाद्युपासनाअपि वेदान्तेषु बहुल मुपलभ्यन्ते, तत्कथं सर्वेषां वेदान्तानां मात्मैकत्वप्रतिपादनमर्थ, इत्यत आह—यथाचायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा

वयमस्यां शारीरक मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः। शरीरमेव शारीरकं तत्र निवासी शारीरको जीवात्मा तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेय परमात्म रूपता मीमांसायासा तयोक्ता।

एतात्रानर्थं संक्षेपः—यद्यपि च स्वाध्यायाध्ययन विधिना स्वाध्यायपद वाच्यस्य वेदराशेः फलवदर्थावबोधपरतामापाद यता कर्म, विधिनिषेधाना-मिव वेदान्तानामपि स्वाध्यायशब्द वाच्यानां फलवदर्थावबोधपरत्वमा-पादितम् यद्यपि च अविशिष्ट स्तु वाक्यार्थः इति न्यायात् मन्त्राणामिव वेदान्तानामर्थंपरत्व मौत्सर्गिकम्, यद्यपि च वेदान्तेभ्यश्चैतन्यानन्दघनः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितो निष्प्रपंच एकः प्रत्यगात्माऽवगम्यते, तथापि कर्तृत्व-भोक्तृत्वदुःख शोकमोहमय मात्मानमवगाहमाने नाहम्प्रत्ययेन संदेहबाध-विरहिणा विरुध्यमाना वेदान्ताः स्वार्थात्प्रच्युता उपचरितार्था वा जपमा-त्रोपयोगिनो वेत्यविवक्षित स्वार्थाः। तथा च तदर्थविचारात्मि का चतुर्लक्षणी-शारीरक मीमांसा नारब्धव्या। नच सर्वजनीनाहमनुभव सिद्ध आत्मा संदिग्धोवास प्रयोजनोवा येनजिज्ञास्यः सन् विचारं प्रयुञ्जीतेति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु भवेदेतदेवं, यद्यहं प्रत्ययः प्रमाणम्। तस्य तूक्तेनक्रमेण श्रुत्यादि बाधकत्वानुपपत्तेः, श्रुत्यादिभिश्चसमस्त तीर्थंकरैश्च प्रामाराया नभ्युपगमा दध्यासत्वम्। एवं वेदान्ता नाविवक्षितार्थाः किन्तूक्त लक्षणाः प्रत्यगात्मैव तेषांमुख्योऽर्थः। तस्य च वक्ष्यमाणेन क्रमेण संदिग्धत्वात् प्रयोजनवत्वा च्च युक्ता जिज्ञासा इत्याशयवान् सूत्रकार स्तजिज्ञासामसूत्रयत्।

सुभद्रा—शंका–वेद में कर्मकांड प्रकरण पठित विधि वाक्यों से यागादि कर्म विहित है। उपनिषत्प्रतिपादित आत्मा असङ्ग कूटस्थनिर्विकार और निर्धर्मक होने से कर्म में अधिकारी नहीं है, विरोध होने से और उपयोग के न होने से। क्योंकि पूर्व में यह कहा गया है कि, कर्म का कर्ता और उसके फल भोग का भागी ही अधिकारी है उपनिषदों में वर्णित पुरुष, आत्मा, उक्त स्वरूप होने से न तो कर्म का अधिकारी ही है, और न तो तज्जनित फल, सुखदुःखादि का ही भागी है। इस तरह से परस्पर विरुद्ध अर्थ कहने से सम्पूर्ण वेद ही अप्रामाणिक हो जायगें। (क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से कर्म विधियों का बाध हो जायगा)।

समाधान—सत्य है कि उपनिषत्प्रतिपादित आत्म-तत्व का ज्ञान कर्म के अधिकार का विरोधी है। परन्तु उस ज्ञान के पहिले कर्म विधियाँ, अपने योग्य व्यवहार का सम्पादन करती हुई अनुत्पन्न ब्रह्म ज्ञान से बाधित होने के योग्य नहीं है जिससे कि वे अप्रामाणिक हो। आशय यह है कि, ब्रह्म ज्ञान होने पर ही कर्म कांड प्रकरण पठित विधियों का बाध संभव है, उसके पूर्व नहीं, ब्रह्मज्ञान,

परमार्थ दशा में होता है, कर्म, व्यवहारावस्था में, दोनों का एक काल में स्थिति ही नहीं है जिससे कि बाध्य बाधक भाव हो। और न तो श्रुतियों का परस्पर विरोध ही है। क्योंकि अविद्या युक्त पुरुष कर्मकांड में अधिकृत है, और विद्या युक्त पुरुष ज्ञान में अधिकारी है ऐसी व्यवस्था होने से विरोध नहीं होता। जैसे नहिं स्यात्सर्वाभूतानि, यह श्रुति सम्पूर्ण प्राणियों के हिंसा का निषेध करती है, तो शत्रुवधादि रूपहिं सामी साध्य होने से उक्त श्रुति से उस अंश का भी निषेध यद्यपि होता है, परन्तु श्येनेनाभिचरन्यजेत, (शत्रु वध की कामना वाला श्येन याग करे) यह शास्त्र उक्त श्रुति का विरोधी नहीं है, किस कारण से, पुरुष के अर्थात् अधिकारी के भेद होने से। क्रोध को वश में करने वाले पुरुष निषेध शास्त्र के अधिकारी हैं, । क्रोधको जिन्होंने वश में नहीं किया है ऐसे पुरुष श्येनयाग के अधिकारी हैं, तो जैसे वहां पर अधिकारी के भेद से विरोध नहीं है उसी तरह प्रकृत में भी अविद्यावान् पुरुष कर्म का अधिकारी है, तद्विपरीत विद्यावान् पुरुष ज्ञानका, इस तरह से अधिकारी के भेदसे विरोध नहीं है। अविद्यावान् पुरुषको ही शास्त्र विषय करते हैं उसका अतिक्रमण नहीं करते यह जो पूर्वमें कहा गया है उसका स्पष्टीकरण भाष्यकार तथाहि इत्यादि से किया है। ब्राह्मणो यजेत, इत्यादि शास्त्र आत्मामें वर्णआश्रम अवस्था विशेष इत्यादि का अध्यास मानकर ही प्रवृत्त होते हैं। वर्णका अध्यास जैसे राजा राजसूयेन यजेत। क्षत्रियकुलो-त्पन्न राजा राजसूय याग करे। आश्रम का अध्यास गृहस्थः सदृशीभार्या विन्देत गृहस्थ अपने अनुरूपभार्याको प्राप्त करें। अवस्थाका अध्यास कृष्णकेशोऽग्नीना दधीत इत्यादि। कालेकेशवाला अग्निकाआधान, 'स्थापन' करे। अवस्था विशेष का अध्यास, यदि ऐसे रोग हो जायं जिनकी निवृत्ति संभव नहीं है तो जलमें प्रवेश कर अथवा ऊंचे पर्वत पर से कूद कर प्राण त्याग करें।

भाष्य में वर्णाश्रम वयोऽवस्थादि, शब्दसे, महापातक उपपातक संकरी-करण अपात्रीकरण मलिनीकरण आदि अध्यास भी गृहीत है। महापातक ब्रह्महत्या सुरापान सुवर्ण की चोरी गुरुदारगमन, ऐसे कार्य करने वालों का संसर्ग, एपांच हैं। उपपातक, गोवधादि, संकरीकरण मछलीसर्प गदहा घोड़ा भेड़ बकरी आदि की हिंसा है। अपात्रीकरण, निन्दितपुरुष से धनका ग्रहण ब्राह्मण होकर वाणिज्य करना, शूद्र की सेवा करना, असत्य बोलना आदि है। मलिनीकरण, कृमिपक्षी आदि की हत्या मद्यमिली हुई वस्तुका भोजन फल पुष्पकाष्ठ आदिको चोरी इत्यादि है।

इस तरह से आत्मा और अनात्माका परस्पर अध्यास शंका, समाधानके द्वारा प्रतिपादित कर और प्रमाण प्रमेयके व्यवहार से उसको दृढ़ करके अध्यास

अनर्थ का हेतु है इसको उदाहरण के द्वारा कहने के लिए अध्यासोनामातस्मिं-स्तद् बुद्धिः यह अध्यास का स्वरूप स्मरण कराते हैं भाष्यकार ! जो कि स्मृति, रूपः इत्यादि पूर्वोक्त अध्यास का संक्षिप्त लक्षण है। अध्यास दो प्रकार का है, धर्मका अध्यास, और धर्मी का अध्यास। उसमें अहम् यह धर्मी का अध्यास जिसमें मम यह धर्मका अध्यास उत्पन्न नहीं हुआ है वह अनर्थ का कारण नहीं है ! मम यह मेरा है, ऐसा धर्म का अध्यास ही सर्वानर्थ रूपसे संसार का साक्षात् कारण है उसी को उदाहरण के द्वारा भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं तद्यथा इत्यादि से। पुत्र और स्त्री इत्यादि के विकल, अर्थात् पीड़ित होने पर मैं ही विकल हूँ और उनका पूजा और सत्कार होने से मैं ही पूजित या सत्कृत हुआ यह व्यवहार होता है जोकि उनमें ममत्वबुद्धिके बिना संभव नहीं है तो ममकार रूप अध्यास अनर्थ का हेतु है यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—धर्म के अध्यास में धर्मीका तादात्म्याध्यास कारण है, पुत्रादि में स्वसे भेद ज्ञान विद्यमान है तो उनमें रहनेवाले वैकल्यादि धर्मों का अध्यास कैसे होगा। (समाधान), (भामती में) शरीर के तादात्म्य का अध्यास आत्मा में कर के धर्म स्थूलत्वादि की तरह पुत्र, स्त्री इत्यादि का जो स्वामित्व है उसका आरोप मान कर उक्त व्यवहार की सिद्धि हो जायगी। यद्यपि पुत्रादि का स्वामित्व पुत्रादि के अधीन जो भोग उसकी सत्ता है, भोग शरीर निष्ठ नहीं है, किन्तु आत्मा या अन्तःकरण निष्ठ है। तथापि उनके अधीन पोषणादि क्रिया का भागी होना हो स्वामित्व है यह मानकर शरीर के स्वामित्व की सिद्धि होती है।

प्रश्न—शरीरगत स्वामित्व का आरोप होने पर भी साकल्यवैकल्यादि धर्म का आरोप निर्युक्तिक है।

उत्तर—जो जिसका स्वामी होता है उस पर उसका स्वत्व, (अधिकार), यह वस्तु अपनी है आदि व्यवहार होता है, तो स्वामित्व स्वत्व से निरूपित है। अतः स्वत्व में यदि सम्पूर्णता या विकलता होती है तो तन्निरूपित स्वामित्व में सम्पूर्णता विकलता मानी जाती है। इसलिए वाह्य पुत्रादि गत साकल्य वैकल्यादि धर्म स्वामित्व के द्वारा शरीर में अङ्गीकार होने से उन धर्मों का आत्मा में अध्यास होता है। इस तरह से देह का धर्म स्वामित्व जो कि अन्य उपाधि की अपेक्षा रखने वाला है उसका यदि आरोप, आत्मा में होता है तो अन्य उपाधि की अपेक्षा न रखने वाले कृशत्व स्थूलत्व आदि देह के धर्मों का अध्यास आत्मामें मानना युक्त ही है। इसी अभिप्राय से भाष्य में मैं स्थूल हूँ

कृश हूँ गौर वर्ण हूँ स्थित हूँ जाता हूं। लघन करता हूं इत्यादि देह के धर्मों का अध्यास आत्मा में कहा गया। देहादि से भी अन्तरङ्ग, (अर्थात्, उनके अपेक्षा आत्मा के सान्निध्यको प्राप्त) जिनमें आत्मा का अध्यास है ऐसी इन्द्रियों के धर्म, मूकत्व काणत्वबधिरत्व आदि का अध्यास आत्मा में मानकर मैं गूंगा हूं काना हूँ बहिरा हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं। और उन इन्द्रियों से भी अन्तरङ्ग, आत्मा के अध्यास भाव को प्राप्त अन्तः करण के धर्म काम संकल्प आदि का अध्यास आत्मा में मानकर मैं इच्छा करता हूं संकल्प करता हूँ आदि व्यवहार उपपन्न होते हैं। इस तरह से धर्माध्यास का विस्तार पूर्वक वर्णन कर के उन सब का मूल कारण धर्मी का अध्यास भाष्यकार एव महंप्रत्ययिनम् इत्यादि से कहते हैं। अहम्प्रत्यय, अहमाकार वृत्ति है, जिस अन्तःकरण में उसका, अन्तःकरण के सम्पूर्ण परिणाम इच्छा संकल्प कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि का साक्षी असङ्ग विकार रहित कूटस्थ प्रत्यगात्मा जो कि चैतन्य और उदासीन है ऐसे प्रत्यगात्मा में अध्यास कर के मैं कर्ता हूं मैं भोक्ता हूं इत्यादि व्यवहार सिद्ध होते हैं। और सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अचेतन अन्तःकरण में अध्यास करते हैं जिसमें कि मैं चेतन हूं यह व्यवहार उपपन्न होता है।

अथवा काम सकल्पादि गुण विशिष्ट अन्तःकरणतादात्म्यापन्न जो अहं पदार्थ उसका, अशेष, सम्पूर्ण जो स्वप्रचार, स्वशब्द से अहङ्कार ग्रन्थि, अर्थात् जड़ अन्तःकरण का ही विशेष भेद जो अहङ्कार और चैतन्य स्वभाव आत्मा की ग्रन्थिः परस्पर बन्धन, जो कि संसार रूपी नृत्यशाला का मूल स्तंभ है वह गृहीत है उसका जो प्रचार इच्छा संकल्प कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनेक विधपरिणाम जिसके कारण जीव ब्रह्मादिस्थावरान्त योनियों मे पराधीन होकर परिभ्रमण करता है, उन सब का साक्षी जो प्रत्यगात्मा है, जो कि व्यवहार और फल से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल द्रष्टा मात्र है ऐसे प्रत्यगात्मा में पूर्वोक्त अहं पदार्थ का अध्यास करके और प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण में अध्यास कर के पूर्वोक्त व्यवहार उपपन्न होते हैं। यदि केवल अहङ्कारादि का ही आत्मा में अध्यास होता, चेतन आत्मा का अध्यास न हो तो प्रत्यगात्मा प्रकाशित न हो, शुक्ति में केवल रजत का अध्यास होने पर शुक्ति प्रकाशित नहीं होती) अहङ्कारादि में चैतन्य प्रकाशित होता है, (चेतनोऽहङ्कारोमि ऐसी प्रतीति होती है) उसके आधार पर चैतन्य का प्रकाश मानना पड़ता है। एवम् चैतन्य ही का अहङ्कारादि में अध्यास हो अहङ्कारादि का अध्यास न हो तो वे प्रकाशित न हों, इसलिए अनुभव के अनुरोध से परस्पर अध्यास मानना युक्त है।

शंका—अध्यस्त होने से जैसे रजतमिथ्या है, एवं अहङ्कारादि निखिल प्रपञ्च

अध्यस्त होने से मिथ्या है तो चेतन आत्मा का भी अध्यास मानने में, वह भी मिथ्या क्यों न हो।

समाधान—अहंकार आदिका स्वरूपतः अध्यास है, चेतन का केवल सम्बन्ध-मात्र, अतः चेतन भी अहंकाराद्युपहित होकर ही अध्यस्त होता है, तो तदुपहित-त्वेन वह भी मिथ्या है, स्वरूपतः अध्यास न होने से चैतन्य स्वरूप आत्मा मिथ्या नहीं है। अहंकारादि का स्वरूपतः अध्यास होनेसे वे स्वरूप से भी मिथ्या हैं।

तो इस तरहसे अन्तःकरण से अवच्छिन्न, युक्त प्रत्यगात्मा जोकि इदम् अनिदंरूप है, 'अर्थात् इदंशब्दजन्यज्ञान विषय जड़ अन्तःकरण, और अनिदम्, अर्थात्, चैतन्यरूप आत्मा इन दोनों का परस्पर संमिश्रण ही इदमनिदंरूप है, वही कर्तभोक्ता और कार्य कारणरूप अविद्याद्वय का आधार है, अनादिकाल से चला आ रहा जो पूर्व-पूर्व भ्रम और तज्जन्यसंस्कार वह कार्यरूप अविद्या हैं, और मूलाज्ञान कारणरूप अविद्या है, इन दोनों अविद्याओं का आधार, अहंकार का अधिष्ठान संसारी सम्पूर्ण अनर्थ का पात्र जीवात्मा, पूर्वोक्त परस्पर अध्यास ही उपादानकारण जिसका और वह है उपादान जिसका ऐसा अध्यास अनादि होनेसे बीजांकुर के समान परस्पराश्रित होता है। प्रमाण-प्रमेय का व्यवहार, अध्यासके बिना उपपन्न नहीं हो सकता, अतः उक्त व्यवहार से दृढ़ किया हुआ भी अध्यास शिष्यजनों के कल्याणार्थ उसके स्वरूपको पहिले कहकर सम्पूर्ण लोगों के प्रत्यक्ष होनेसे अध्यास को और भी दृढ़ कर रहे हैं, एवमयमनादि रनन्तः, इत्यादि से। इस तरहसे यह अनादि और अनन्त स्वाभाविक मिथ्या प्रत्यक्षरूप, अर्थात् अनिर्वचनीय अध्यास, कर्तृत्व क्रिया। भोक्तृत्व (भोग) इनके प्रवृत्तिका जनक सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष है। असङ्ग आत्मा में अध्यास के बिना क्रिया और भोग की प्रवृत्ति नहीं बन सकती, इसलिए अध्यास ही उनका प्रवर्तक है, यह भाव है।

शंका—अध्यास भाष्यके प्रारम्भ में लोकव्यवहार को नैसर्गिक, कहा,, यहां पर' उपसंहार में अध्यासको नैसर्गिक कहा गया, और अनादि अनन्त यह अधिक यहाँ पर कहा गया यह युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रारम्भ और समाप्ति में ऐक्य होना चाहिए।

समाधान—वहाँ भी प्रत्यगात्मा में अहंकार का अध्यास ही लोकव्यवहार शब्द से अभिप्रेत है, और नैसर्गिक शब्द का अर्थ स्वाभाविक होता है, स्वभाव अनपनोद्य, अर्थात् निवृत्त न होनेके योग्य होता है, तो ऐसा अर्थ गृहीत न हो किन्तु अनादि ही नैसर्गिक शब्दार्थ है यह स्पष्ट करने के लिए अनादि, यहाँ पर (कहा गया) जिससे कि उपक्रम और उपसंहार में भिन्नार्थता नहीं है।

शंका—अध्यास अनादि भले हो परन्तु अनन्त कैसे, क्योंकि जोध्वंस का प्रतियोगी न हो, अर्थात् जिसका नाश न हो वह अनन्त है, ऐसा मानने पर अध्यास की निवृत्ति नहीं होगी ।

समाधान—अनन्त शब्द का उक्त अर्थ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु तत्त्व ज्ञान के बिना जिसका नाश न हो सके जिससे कि उक्त दोष नहीं है, इसीलिए आगे चलकर, भाष्यकार ने अस्यानर्थ हेतोः प्रहाणाय सर्वेवेदान्ता आरभ्यन्ते, इस अनर्थ के हेतुभूत अध्यास के निवृत्ति के लिए सम्पूर्ण वेदान्त का आरम्भ हैं । उक्त अर्थ विवक्षित होने पर, उसके नाश के लिए यह कथ न अनुपपन्न हो जाता है, इसलिए अनन्त शब्दार्थ, तत्त्व-ज्ञान के बिना किसी अन्य, उपाय से इसका नाश संभव नहीं है यही स्वीकृत है । तत्त्व ज्ञान के न होने पर यह अनन्त है, अध्यास के अनादि और अनन्त होने में हेतु नैसर्गिक कहा गया, मिथ्या जो प्रत्यय उनका रूप अनिर्वचनीयता वह है जिसमें, अर्थात् अनिर्वचनीय । इस प्रकार अध्यास अनर्थ हेतु है यह बतलाकर उसके निवृत्ति के लिए वेदान्त शास्त्र का प्रारम्भ है, यह उपसंहार भाष्यकार कर रहे हैं । मिथ्या ज्ञान रूप अध्यास की निवृत्ति, विरोधी प्रतीति के बिना, नहीं हो सकती, इसलिए भाष्य में आत्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये, कहा जिससे कि जीव ब्रह्म की एकता वेदान्त शास्त्र का विषय है, अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय से, अनर्थ की निवृत्ति प्रयोजन है, यह सूचित होता है । उस आत्मैकत्व विद्या के प्राप्ति के लिए वेदान्त है, न कि केवल जप के लिए या कर्म में प्रवृत्ति के लिए यह सिद्ध हुआ ।

निवृत्त हो गया है सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसका ऐसे आनन्द स्वरूप त्रिकालाबाधित आत्मस्वरूप की संशय रहित भावना उत्पन्न करते हुए वेदान्त, मूलसहित, अध्यास का हनन करते हैं । अध्यास का मूलभूत अज्ञान के नष्ट होने पर अध्यास भी निवृत्त होता है । इस तरह अध्यास का समर्थन होने पर पूर्व में पूर्वपक्षी का जो यह आक्षेप था, कि आत्मा तो सभी को प्रसिद्ध है, अतः वह जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता इसका स्मरण करके एतदुक्तं भवति इत्यादि से समाधान भामतीकार कर रहे हैं । अस्मत्प्रत्यय का विषय आत्मा यदि यथार्थ ज्ञान का विषय हो तो आत्मा और ब्रह्म के एक होने से ब्रह्म भी ज्ञात हो गया तो तद्विषयक जिज्ञासा निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ होगी, फिर ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त का अध्ययन भी निरर्थक होगा । किन्तु उनका अर्थ विवक्षित न होने से जप मात्र में ही केवल उनका उपयोग होगा । तब तो उपनिषत्प्रतिपादित आत्मस्वरूप का ज्ञान प्रामाणिक नहीं माना जायगा । अप्रमाण होने से, बारम्बार परिशीलन करने पर भी वास्तविक कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि आत्मा में जो प्रतीत हो रहे हैं उनको

निवृत्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि आरोपित रूप ही यथार्थ ज्ञान से, निवृत्त हो सकता है, न कि वास्तविक रूप अयथार्थ ज्ञान से। क्या रस्सी का अपना स्वरूप हजारों सर्प विषयक ज्ञान से निवृत्त हो सकता है। मिथ्या ज्ञान से प्रसक्त रूप ही तत्व ज्ञान से निवृत्त किया जा सकता है। मिथ्या ज्ञान, से उत्पन्न संस्कार अत्यन्त दृढ़ होने पर भी, श्रद्धा पूर्वक निरन्तर, अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञान का व्यवधान न हो, और चिरकाल तक अभ्यास किया हुआ जो तत्त्व ज्ञान उससे उत्पन्न संस्कार से दूर किया जा सकता है।

वेदान्त, अर्थात्, उपनिषदों में प्राण उद्गीथ इत्यादि की उपासना भी बहुत पाई जाती है तो सम्पूर्ण वेदान्त आत्मैकत्व परक हैं, यह कथन संगत नहीं—इस पर भाष्यकार ने कहा जिस तरह से सम्पूर्ण वेदान्त, (उपनिषदों का) जीव ब्रह्म की एकता में ही तात्पर्य है उसका हम इस शारीरक मीमांसा में प्रदर्शन करेंगे शारीरिक मीमांसा शब्द का अर्थ भामती में, शरीर ही शरीरक है, उसमें निवास करने वाला जीवात्मा ही शारीरक है, वह जीवात्मा, जो कि त्वंपदका वाच्यार्थ है, वह तत्पदार्थ परमात्मा का ही स्वरूप है न कि उससे भिन्न, अर्थात् जीव की परमात्म रूपता का विचार जिसमें हो, वह शारीरिक मीमांसा है।

विशेष—अभ्युदय के लिए सगुण उपासना वेदान्त में वर्णित होने पर भी अध्यारोपापवाद न्याय से निर्गुण स्वरूप ज्ञान में ही उनका पर्यवसान समझना चाहिए। अथवा उपासना के द्वारा चित्त एकाग्र होने पर अन्तःकरण में आत्म-साक्षात्कार की योग्यता प्राप्ति में सगुणोपासना का तात्पर्य है, अतः भाष्यकार का यह कथन कि जीव ब्रह्मैक्य में ही वेदान्तों का पर्यवसान है विरुद्ध नहीं है।

वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं। वस्तु, सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म में, अवस्तु दृश्यमान निखिल प्रपञ्च आरोपित है इसलिए यह अध्यारोप है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का निषेध कर के केवल आत्म रूप से स्थिति अपवाद है। यही अध्यारोपापवाद न्याय है। इस तरह से अध्यास की उपयोगिता का विस्तृत वर्णन कर उसका निष्कर्ष भामतीकार एतावानत्रार्थ संक्षेपः इत्यादि से कह रहे हैं।

यद्यपि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययन विधि स्वाध्यायपदवाच्य समस्तवेद-राशिको फलयुक्त अर्थ ज्ञानपरक बतला रही है। आशय यह है कि अध्ययनका फल अर्थ ज्ञान है, केवल अक्षर की प्राप्ति नहीं जिस वाक्यके अर्थका ज्ञान न हो उसका अध्ययन निष्फल है यह पूर्व मीमांसकों को अभीष्ट है, जोकि भामतीकार

को भी सम्मत है । तो कर्म के विधिनिषेधवाक्य जैसे अर्थ ज्ञान, रूपफलसे युक्त है, उसी तरह वेदान्तवाक्य भी स्वाध्याय शब्दवाच्य वेदराशि के अन्तर्गत होने से अर्थज्ञान रूप फल से युक्त हैं । इस तरह से मन्त्र भागके समान वेदान्तवाक्योंमें भी अर्थपरता स्वाभाविक है । और वेदान्तवाक्योंसे भी चैतन्यानन्दघन कर्तृत्वादि-धर्म रहित निष्प्रपञ्च अद्वितीय ब्रह्मप्रतीत होता है । तथापि कर्तृत्व भोक्तृत्व विशिष्ट शोकमोहयुक्त आत्मा को विषय करनेवाला अहंप्रत्यय जोकि सन्देह और बाधसे रहित है उससे विरुद्ध होने से उपचरितार्थ है, अर्थात् गौण अर्थपरक है उनका वह मुख्य अर्थ नहीं है । अथवा हुँफट् आदिशब्दके तरह अर्थ विवक्षित न होने से केवल जपमात्र में उपयोगी हैं । इसलिए उन वेदान्त वाक्योंके अर्थ विचार के लिए इस चार अध्यायवाली शारीरक मीमांसा यानी ब्रह्मसूत्रका आरम्भ व्यर्थ है । क्योंकि सर्वजनानुभवसिद्ध अहंप्रत्यय का विषय आत्मा संदेह और प्रयोजनसे रहित है, जिज्ञासा सन्देह और प्रयोजन होने पर ही होती है । आत्मा के उक्त प्रतीति से निश्चय होने पर सन्देहादि के होने से उसमें जिज्ञास्यता नहीं है, जिज्ञास्य न होने से उसके विषय में विचार भी निष्फल है, यह पूर्व पक्षी का आशय है ।

सिद्धान्त यह है कि यह बात तब होती जबकि उक्त अहं प्रतीति प्रमाणकी कसौटी पर ठीक उतर जाती, परन्तु वह प्रतीति जोकि कर्तृत्वभोक्तृत्व आदिधर्मों को अवगाह न करती है, विचार करने पर निस्सार सिद्ध होती है । क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें भी ज्ञानरूप आत्मा की सत्ता रहती है । उस समय भी सुख महमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्, (मैं सुख पूर्वक सोया मुझे कुछ भी भान नहीं था) इस परामर्श के आधार पर अज्ञान विषयक अनुभव रहता ही है; परन्तु कर्तृत्वादिधर्म नहीं प्रतीत होते । और भी बात है कि अहंप्रतीतिविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वैतपरकश्रुति के विरोधसे, दुर्बल है, यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ होने से बलवान् है, तो प्रत्यक्ष प्रमाण से श्रुतिका ही बाध क्यों न हो, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण सिद्ध चन्द्रके प्रादेशिकत्वज्ञान का आगम से बाध होता है जोकि सर्ववादि सम्मत है । इसलिए अप्रामाण्यशंका कलङ्कपङ्कग्रस्त प्रत्यक्ष प्रमाण से षड्विधतात्पर्य लिङ्गोपेत अद्वैत श्रुति का बाध नहीं हो सकता । अतः श्रुति स्मृतिइतिहास पुराणों के द्वारा, और समस्त दार्शनिक, विचार को के द्वारा उक्त प्रतीतिका प्रामाण्य स्वीकृत न होने से उक्त प्रतीति अध्यास रूप सिद्ध होती है । इस तरह, वेदान्त न तो अविवक्षितार्थ । अर्थात् उनके अर्थ, की विवक्षा नहीं हैं यह बात नहीं किन्तु विवक्षित हैं । और न तो उपचरितार्थ ही है । किन्तु उक्त है लक्षण जिसका ऐसे हैं । अर्थात्, कर्तृत्वादि धर्म रहित निष्प्रपञ्च प्रत्यगात्मा ही उसका मुख्य अर्थ है । उसमें आगे कहे हुए,

अर्थात्, वह ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अ, प्रसिद्ध इस तरह से संदेह होने से और उसके ज्ञान से, सकल दुःख, निवृत्ति रूप प्रयोजन के होने से तद्विषयक जिज्ञासा युक्त है,—इस आशय से सूत्र कारने उसके जिज्ञासा को सूचित किया, (अर्थातो ब्रह्म जिज्ञासा, यह ।)

भामती

जिज्ञासया सन्देह प्रयोजनने सूचयति ॥

सुभद्रा—जिज्ञासा से सन्देह और प्रयोजन सूचित होता है। (आशय यह है कि) वेदान्त शास्त्रका विषय जीव ब्रह्मैक्यज्ञान और अनर्थ निवृत्ति रूप प्रयोजन के संभव और असम्भव होने से शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए या नहीं यह सन्देह होता है। इस सन्देह की निवृत्ति संभव पूर्वक पूर्वपक्षभामतीमें यद्यपि से लेकर अव गम्यते तक है।—तथापि से विचारं प्रयुञ्जीत तक उत्तर पक्ष पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया इस तरह से पूर्वोक्त युक्ति से शास्त्र का आरम्भन करना चाहिए यह प्राप्त होने पर सिद्धान्ती ने सिद्धान्तस्तु भवेदेतदेवं सेकर असूत्र यत् पर्यन्त सिद्धान्त कराया। इसलिए, जिज्ञासा धिकरण का प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस अधिकरणमे श्रुति के अर्थ का विचार नहीं किया, गया है। तथापि श्रुति से आक्षिप्त अर्थकां विचार होने से श्रुति की संगति होती है। यह जिज्ञासा धिकरण, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि वाक्य से गृहीत आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादि वेदान्त वाक्य जोकि सामान्यतः प्रयोजन विशिष्ट हैं, परन्तु विशेष रूप से उनका प्रयोजन संदिग्ध है। इसलिए विचार से आकांक्षित होने से, उनका आक्षेप किया जाता है, जिससे कि इस अधिकरण की श्रुति से संगति बैठ जाती है।

और भी यह अधिकरण यद्यपि शारीरक सूत्र प्रति,-पाद्य समन्वय अविरोध साधन फल इनमें से किसी का अभिधायक न होने से उनके साथ इसकी संगति नहीं है, तथापि समन्वयादिक जो सम्पूर्ण विचार हैं उनजा कारण होने से शास्त्र के अध्यायों के साथ हेतु हेतु मद्भाव संगति हो जाति, है। अभिप्राय यह है कि चतुर्लक्षणी शारीरक सूत्र, के मुख्य विषय समन्वय अविरोध साधन फल एचार हैं। जिनमें प्रथम अध्याय में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों, का ब्रह्ममे ही समन्वय, यानी तात्पर्य है यह वर्णित है द्वितीयाध्यायमे उन वेदान्त वाक्यों के परस्पर विरोध, का परिहार किया है। तृतीयध्यायमे ब्रह्म प्राप्ति के साधन का निरूपण है। चतुर्थ अध्यायमे, फल, का निरूपण है। जिज्ञासाधिकरणमे इन सबका निरूपणान होने में उनके साथ संगति नहीं है यह यदि कहा जाय तो उचित नहीं है।

क्योंकि ब्रह्म के जिज्ञासा के बिना उसमें तात्पर्य, असम्भव है इसलिए यह अधिकरण समन्वय में हेतु है। अतः प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के साथ हेतु-हेतु मद्भाव संगति है। (इस तरह से अध्यास की उपयोगिता का प्रदर्शन किया गया अब जिज्ञासाधिकरण का प्रारम्भ होता है।)

अध्यासभाष्य भामती की व्याख्या समाप्तः

श्री साम्ब शिवार्पणमस्तु

१ – जिज्ञासाऽधिकरणम् ।

सू० अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ १ ॥

साधन चतुष्टय सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है । अथवा उक्त सम्पत्ति, सम्पन्न अधिकारी को अमृतत्व मोक्ष प्राप्ति रूप फल का ब्रह्म के अपरोक्ष साक्षात्कार के लिए वेदान्त वाक्यों का विचार करना चाहिए–यह सूत्र का अर्थ है।

शंका—उक्त सूत्र में ब्रह्म शब्द से सगुण ब्रह्म अभिप्रेत है या निर्गुण ब्रह्म जिसकी जिज्ञासा होती है । अथवा सगुण ब्रह्म विचार का विषय है या निर्गुण । सगुण ब्रह्म जिज्ञासा अथवा विचार का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि उसके ज्ञान से अज्ञान को निवृत्ति संभव नहीं है । यद्विषयक ज्ञान होगा तद्विषयक अज्ञान की ही निवृत्ति होगी न कि अन्य विषयक अज्ञान की । घट विषयक ज्ञान पट विषयक अज्ञान को निवृत नहीं करता । अज्ञान तो अद्वैत सिद्धान्त में निर्गुण ब्रह्म को विषय करता है तो सगुण ब्रह्म विषयक ज्ञान से उसकी निवृत्ति कैसे होगी । यदि निर्गुण ब्रह्म को जिज्ञासा या विचार का विषय माना जाय तो जन्माद्यस्ययतः इस सूत्र से विरोध होगा । क्योंकि उक्त सूत्र में सगुण ब्रह्मका ही लक्षण कहा गया है, जगदुत्पत्ति कर्तृत्व जगत् स्थिति कर्तृत्व आदि धर्म निर्गुण और निर्धर्मक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं ।

समाधान—निर्गुण ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय है, वेदान्त वाक्यों से तद्विषयक विचार ही अभिप्रेत है। जिससे कि मूलाज्ञान निर्गुण ब्रह्म विषयक निवृत होकर समस्त दुःख निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है । निर्गुण ब्रह्म ४ जिज्ञास्य होने से उत्तर, सूत्र जन्माद्यस्ययतः से विरोध होगा । नहीं, निर्विकल्प ज्ञान मे सविकल्पक ज्ञान कारण है । इसलिए सगुण ब्रह्म का लक्षण उत्तर सूत्र में किया गया, यद्यपि तार्किकों के मत में निर्विकल्पक ज्ञान, जो कि विशेष्य, विशेषण सम्बन्ध से शून्य है वह पूर्व में होता है, अनन्तर सविकल्पक, सप्रकारक ज्ञान होता है । परन्तु वेदान्त सिद्धान्त में सविकल्पक ज्ञानानन्तर ही निर्विकल्पक ज्ञान स्वीकृत है । (सोऽयंदेवदत्तः) तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से पहिले, वाक्यार्थ उपस्थित होता है । जो कि सविकल्पक अर्थात्, सप्रकारक होता है, पश्चात् लक्षणा के द्वारा, विशेषणादि से रहित, अखंड, देवदत्तादि का

बोध होता है । इसलिए सगुण ब्रह्म के ज्ञान के बिना निर्गुण का बोध संभव न होने से सूत्रकार ने सगुण ब्रह्म का लक्षण कहा ।

वेदान्त मीमांसा शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्:-

सू०—अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ॥ १ ॥

भामती

तत्र साक्षादिच्छाव्याप्यत्वाद् ब्रह्म-ज्ञानं कण्ठोक्तं प्रयोजनम् । न च कर्मज्ञानात्पराचीनमनुष्ठानमिव ब्रह्मज्ञानात्पराचीनं किंचिदस्ति, येनैतदवान्तरप्रयोजनं भवेत्, किन्तु ब्रह्ममीमांसाख्यतर्केतिकर्तव्यतानुज्ञातविषयैर्वेदान्तैराहितं निर्विचिकित्सं ब्रह्मज्ञानमेव समस्तदुःखोपशमरूपमानन्दैकरसं परमं प्रयोजनम् । तमर्थमधिकृत्य हि प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्तेतराम् । तच्च प्राप्तमप्यनाद्यविद्यावशादप्राप्तमिवेति प्रेप्सितं भवति । यथा स्वग्रीवागतमपि ग्रैवेयकं कुतश्चिद्भ्रमान्नास्तीतिमन्यमानः परेण प्रतिपादितमप्राप्तमिव प्राप्नोति । जिज्ञासा तु संशयस्य कार्यमिति स्वकारणं संशयं सूचयति । संशयश्च मीमांसारम्भं प्रयोजयति । तथा च शास्त्रे प्रेक्षावत्प्रवृत्तिहेतुसंशयप्रयोजनसूचनात् युक्तमस्य सूत्रस्य शास्त्रादित्वमित्याह भगवान् भाष्यकारः—वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य 'अस्माभिः' इदमादिमं सूत्रम् ॥ पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः । परमपुरुषार्थ—हेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलता विचारस्य पूजितता । तस्य मीमांसायाः शास्त्रम्; सा ह्यनेन शिष्यते शिष्येभ्यो यथावत्प्रतिपाद्यत इति । सूत्रं च बह्वर्थसूचनात् भवति । यथाहु :—

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।

सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥ इति ॥

तदेवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय तस्य प्रथमपदमर्थेति व्याचष्टे —

सुभद्रा—जिज्ञासा से सन्देह और प्रयोजन सूचित होता है । इच्छा का साक्षात् विषय होने से ब्रह्म-ज्ञान ही मुख्य-प्रयोजन कहा गया है । जिस तरह कर्म-ज्ञान से बाह्य अनुष्ठान मुख्य प्रयोजन है और कर्म-ज्ञान अवान्तर प्रयोजन है उस तरह ब्रह्म-ज्ञान से बाह्य अन्य कोई न होने के कारण यह अवान्तर प्रयोजन नहीं है किन्तु ब्रह्ममीमांसा (विचार) संज्ञक जो तर्करूप इति-

कर्तव्यता[1] उससे अनुज्ञात विषय वाले वेदान्तों से सम्पादित किया हुआ संशय रहित ब्रह्म-ज्ञान ही आनन्दैकमात्ररस परम प्रयोजन है। उसी अर्थ को अधिकृत करके प्रेक्षावान् (विचारक) प्रवृत्त होते हैं। वह प्राप्त होने पर भी अनादि अविद्या के वश से अप्राप्त के समान होने से अत्यन्त ईप्सित होता है जैसे अपने ग्रीवा में स्थित भी अलंकार भ्रमवश 'नहीं हैं' ऐसा मानता हुआ किसी के कहने से अप्राप्त की भांति प्राप्त करता है, तथैव प्रकृत में भी समझना चाहिये। जिज्ञासा संशय का कार्य है अतः वह अपने कारण संशय को सूचित करती है। संशय मीमांसारम्भ का प्रयोजक है इसलिये शास्त्र में विचारकों की प्रवृत्ति का हेतुभूत संशय और प्रयोजन को सूचित करने से इस सूत्र का शास्त्रादित्व का होना युक्त है। अतएव भगवान् भाष्यकार ने कहाः--वेदान्तेति।

'अस्माभिः' इसके शेष होने से हमारे व्याख्यान का विषय जो वेदान्त का पूजित-विचार उसका यह पहला सूत्र है, परम पुरुषार्थ जो मोक्ष उसका कारण जो अत्यन्त सूक्ष्म आत्म-तत्त्वरूप अर्थ उसका निर्णय-रूप फल का होना ही विचार में पूजितता है। उस मीमांसा का यह शास्त्र शिष्यों को यथावत् प्रतिपादन किया जाता है। सूत्र बहुत अर्थ को सूचित करने से होता है--कहा भी है जैसेः—

लघूनि सूचितार्थानि, स्वल्पाक्षर-पदानि च।
सर्वतः सारभूतानि, सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

जो सन्देह रहित अर्थवाले हैं और बहुत अर्थों को सूचित करते हैं और थोड़े अक्षर वाले पदों से युक्त हैं और सब प्रकार से सारभूत हैं उनको विद्वानों ने सूत्र कहा है। विषय प्रयोजन और ब्रह्म का स्वरूप प्रमाण युक्ति और साधन फल विचार इन सबों की प्रतिज्ञा करने से बहुत अर्थ सूचित होता है। तो इस तरह से सूत्र के तात्पर्य का व्याख्यान करके उसमें प्रथम पद अथ की व्याख्या कर रहे हैं।

शास्त्रहित में प्रवृत्त कराने वाला और अहित का निवृत्त कराने वाला होता है। वह विधि निषेध का समुदाय रूप है। वेदान्त ऐसा नहीं तो शास्त्र कैसे ऐसी शंका होने पर भामतीकार ने कहा शाहिअनेनशिष्यते। वह पूजित विचार रूप मीमांसा इसके द्वारा आचर्यों से शिष्यों को यथावत् प्रति पादन किया जाता है जिससे कि इसमें भी शास्त्रत्व है।

---

१ कथंभावाकांक्षा पूरकत्वम् इति कर्तव्यताकत्वम्।

कथंभाव यह किस प्रकार से हो ऐसी आकांक्षा को पूर्ण 'शान्त' करने वाला इति कर्तव्यता कहा जाता है। जैसे कुठारेण काष्ठंछिनत्ति कुठार से लकड़ी काटता है यहाँ पर कैसे उद्यम्य निपात्य अर्थात् कुठार को उठाकर और काष्टपर उसको गिराकर ऐसी जिज्ञासा होने पर।

भाष्य

तत्राथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यतेनाधिकारार्थः ब्रह्म जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तर प्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्यामङ्गलप्रयोजनो भवति । पूर्व प्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात् ॥

भामती

तत्राथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते । तेषु सूत्रपदेषु मध्ये योऽयमथशब्दः स आनन्तर्यार्थ इति योजना । नन्वधिकारार्थोऽप्यथ शब्दो दृश्यते यथा अथैषज्योतिः इति वेदे यथा वा लोके अथ शब्दानुशासनम् अथ योगानुशासनम् इति तत्किमत्राधिकारार्थो न गृह्यत-इत्यत आह नाधिकारार्थः कुतः ? ब्रह्म जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । जिज्ञासा तावदिह सूत्रे ब्रह्म पदतत्प्रज्ञानाच्च शब्दतः प्रधानं प्रतीयते ।

सुभद्रा—सूत्र के उन पदों के मध्य में जो अथ शब्द है वह आनन्तर्यार्थक है नकि प्रारम्भार्थक ।

शंका—प्रारम्भार्थं कभी अथ शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे वेद में अथैष ज्योति रथैष विश्व ज्योति रथैष सर्वज्योतिः इत्यादि वाक्य से विधान किया जाने वाला अपूर्व संज्ञा से युक्त जो कर्म उसके प्रारम्भ का वाची अथ शब्द है । इसी प्रकार लोक में भी अथ शब्दानुशासनम् अथ योगानुशासनम् शब्दसाधुत्वविधायक शास्त्र का प्रारम्भ योग शास्त्र का प्रारम्भ यह अर्थ उक्त वाक्यों का है । तो यहाँ पर भी अथ शब्द का प्रारम्भ अर्थ क्यों न हो ।

समाधान—ब्रह्म जिज्ञासा में प्रारम्भ की योग्यता न होने से अथ शब्द प्रारम्भार्थक नहीं है, किन्तु आनन्तर्यार्थक ही है । (क्योंकि ब्रह्म ज्ञान विषयिणी इच्छा ही ब्रह्म जिज्ञासा शब्दार्थ है । आरम्भ अर्थ स्वीकृत होने पर क्या इच्छा का आरम्भ किया जाता है । या ज्ञान का अथवा ब्रह्म का । प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें प्रारम्भ की योग्यता नहीं है और आगे चल कर सूत्रों में विचार किया गया है न कि इच्छा का प्रतिपादन है । इससे विचार में ही प्रारम्भ सिद्ध होता है न कि इच्छा में । यद्यपि विचार भी सूत्र से सूचित है, तथापि सूत्र के मुख्य अभिधावृत्ति से उसके उपस्थित न होने से उसमें अथ शब्दार्थ का अन्वय नहीं है और ज्ञान का प्रारम्भ यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान प्रमाण से जन्य है न कि कृति (प्रयत्न) से साध्य (ज्ञान जन्या भवेदि इच्छा) इच्छा जन्या भवेत्कृतिः इच्छा ज्ञान से जन्य है और कृति इच्छा से जन्य है तो वह ज्ञान की जनिका कैसे होगी, और प्रारम्भ है आद्यकृतिका विषय

ब्रह्म की नित्यता सर्ववादि सम्मत होने से उसमें प्रारम्भ का इन्वय सर्वथा असम्भव हैं, जिससे तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं अतः आनन्तर्यार्थक ही अथशब्द है) इसलिए भाष्यकार ने कहा जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् और भी बात है जिज्ञासा की प्रतीति इस सूत्र में ब्रह्म और ज्ञान के अपेक्षा शब्द से प्राधान्येन हो रही है जिससे कि अथशब्दार्थ का उसी में अन्वय होना युक्त है और वह सम्भव नहीं है यह पूर्व में प्रतिपादित है।

भामती

न च यथा दंडी प्रैषानन्वाह इत्यत्राप्रधानमपि दंडशब्दार्थो विवक्ष्यते एवमिहापि ब्रह्मतज्ज्ञाने इतियुक्तम् ब्रह्ममीमांसाशास्त्रप्रवृत्यङ्गसंशयप्रयोजन-सूचनार्थत्वेन जिज्ञासाया एव विवक्षितत्वात्। तदविवक्षायान्तु तदसूचनेन काकदन्तपरीक्षायामिव ब्रह्ममीमांसायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तेरन्। नहिइदानीं ब्रह्म वा तज्ज्ञानं वाऽभिधेय प्रयोजने भवितुमर्हतः, अनध्यस्ताहं प्रत्ययविरोधेन वेदान्तानामेवं विधेऽर्थेप्रामाण्यानुपपत्तेः, कर्म वृत्युपयोगितयोपचरितार्था-नम् वाजपेययोगिनां वाहुम् इत्येवमादीना मविवक्षितार्थानामपि स्वाध्य-याध्ययनविध्यधीनग्रहणत्वस्य संभवात्। तस्मात्संदेहप्रयोजनसूचनो जिज्ञासा इह पदतो वाक्यतश्च प्रधानं विवक्षितव्या। नच तस्या अधिकार्यत्वम् अप्रस्तूयमान-त्वात् येन तत्समाभिव्याहृतोऽथशब्दोऽधिकारार्थः स्यात् जिज्ञासा विशेषणं तु ब्रह्मज्ञानमधिकार्यं भवेत्। नचतदप्यथशब्देन संबध्यते प्राधान्याभावात्। नच जिज्ञासा मीमांसायेन योगानुशासनवदधिक्रियेत नान्तत्वं निपात्य माङ्माने इत्यस्मा द्वामानपूजायाम् इत्यस्माद्वाधातोः मान्बध इत्यादि नाऽनिच्छार्थे सनिच्युत्पादितस्य मीमांसाशब्दस्य पूजितविचारवचनत्वात्। ज्ञानेच्छा वाचक त्वाजिज्ञासापदस्य प्रवर्तिकाहि मीमांसायां जिज्ञासास्यात् नच प्रवर्त्यप्रवर्तक-योरैक्यम्; एकत्वे तद्भावानुपपत्तेः नच स्वार्थपरत्वस्योपपत्तौ सत्यामन्यार्थ-परत्वकल्पना युक्ता अतिप्रसङ्गात्। तस्मात् सुष्ठूक्तम् जिज्ञासाया अनधिकार्य-त्वात् इति॥

सुभद्रा—दंडी प्रैषानन्वाह यहां पर जैसे अप्रधान भी दंड तात्पर्य का विषय है, 'अर्थात् विवक्षित है' उसी तरह यहां पर भी इच्छा में विशेषणीभूत अप्रधान भी ब्रह्म ज्ञान विवक्षित हो। आशय यह है कि इष्टि में प्रैष का कर्ता अध्वर्यु होता है, और अनुवचन का होता कर्ता होता है, उसके विकृति भूत पशुयाग मे मैत्रावरुणः प्रैष्यति चान्वाह इस वाक्य से प्रैष और अनुवचन दोनों का कर्ता मैत्रावरुण ही होता है भिन्न-भिन्न नहीं दंडी इत्यादि वाक्य का दंडी सन् प्रैषान् प्रैषमन्त्रान् अन्वाह, अर्थात् दंड धारण कर ओश्रावय आदि

प्रैषमन्त्रों का अनुवचन करें । मैत्रावरुणः इत्यादि वाक्य से प्रैष और अनुवचन के प्राप्त होने से विधान नहीं है, क्योंकि अप्राप्त का ही विधान होता है इसलिए अप्राप्त दंड धारण ही विध्यन्वयित्वेन विवक्षित है अर्थात् दंडी मे विशेषण जो दंड वही जो कि प्रैषानुवचन का अङ्ग है उसके धारण में ही उक्त वाक्य का तात्पर्य है, तद्वत् प्रकृत में भी इच्छा विशेषणीभूत ब्रह्मज्ञान ही तात्पर्य का विषय क्यों न हो, अथवा ज्ञान में विशेषण ब्रह्म तात्पर्य का विषय हो ऐसी शंका होने पर भामतीकार ने न च इत्यादि से युक्तम् इत्यन्त कहा, अर्थात् यह युक्त नहीं । उसमें हेतु देते हैं ब्रह्म इत्यादि से विवक्षितत्वात् एतदन्त । ब्रह्म मीमांसाशास्त्र के प्रवृत्ति का अङ्ग जो संशय और प्रयोजन उसको सूचित करने से जिज्ञासा में ही तात्पर्य मानना युक्त है । भाव यह है कि जिज्ञासा का व्यापक संशय और प्रयोजन है, जिसमें संशय होता है और जो प्रयोजन से युक्त होता है उसमें प्रवृत्ति होती है यदि जिज्ञासा में तात्पर्य न हो तो संशय और प्रयोजन के सूचित न होने से विचारकों की ब्रह्म मीमांसा शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, काकदन्त के परीक्षा के समान । जैसे प्रयोजन रहित होने से उसमें प्रवृत्ति नहीं होती । वैसे ही यहां पर भी प्रयोजन शून्य होने से प्रवृत्ति नहीं होगी । क्योंकि वेदान्त वाक्यों के विचार के पूर्व उन वाक्यों का ब्रह्म और ज्ञान प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि अहं प्रतीति का विषय कर्तृत्व भोक्तृत्व विशिष्ट ही आत्मा है न कि कर्तृत्वादि उपाधिरहित और वह प्रत्यक्ष होने से प्रबल है यदि कहा जाय कि वह अध्यस्त है तो विचार के पहिले यह सिद्ध नहीं है अतः उसके विरोध होने से वेदान्त वाक्यों का कर्तृत्वाद्युपाधि रहित आत्म तत्त्वरूप अर्थ में प्रामाण्य संभव नहीं है । इसलिए प्रवृत्ति का अंग जो संशय और प्रयोजन उसको सूचित करने वाली जिज्ञासा ही विवक्षित है तभी शास्त्र की सार्थकता हो सकती है ।

शंका——यदि वेदान्त वाक्य निरर्थक है तो उनके अध्ययनमें कोई प्रवृत्त नहीं होगा, तो स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस वाक्य से स्वाध्याय पद वाच्य समस्त वेद राशि का अध्ययन प्राप्त है तो उसके अन्तर्गत वेदान्त वाक्य के भी आ जाने से उनका ग्रहण नहीं होगा तो उक्त विधि वाक्य की सार्थकता कैसे होगी ।।

समाधान——इस पर भामतीकार कहते हैं कर्म प्रवृत्त्युपयोगितया इत्यादि से, कर्म के प्रवृत्ति में उपयोग होने से वेदान्त वाक्य गौणार्थक हैं । (आशय यह है कि पूर्व मीमांसक विधि वाक्य को ही प्रयोजनवान् मानते हैं, और वाक्य उसके साथ एक वाक्यता को प्राप्त होकर ही प्रयोजन युक्त होते हैं, तो वेदान्त वाक्य जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप के बोधक हैं, वे लक्षणा से जीव परक होकर कर्म के प्रवृत्ति में उपयोग होने से गौणार्थक ही है) या अर्थ के विवक्षित न होने से

हुंफट् इत्यादि शब्दों के समान केवल जपमात्र के उपयोगी हैं, अतः स्वाध्याय विधि से उनका भी ग्रहण संभव है। इस तरह से जिज्ञासा में तात्पर्य न होने से वेदान्त वाक्यों में अप्रामाण्य दोष का उद्भावन होने से, सन्देह और प्रयोजन को सूचित करने वाली जिज्ञासा जो कि यहाँ पर पद और वाक्य से प्राधान्येन प्रतीत हो रही है वही विवक्षित होनी चाहिए और उसमें प्रारम्भ की योग्यता नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक अधिकरण में प्रतिपादित नहीं है जिससे कि उसके समभिव्याहार में पठित, प्रारम्भार्थक अथ शब्द का उसके साथ अन्वय हो, अतः प्रारम्भार्थक अथ शब्द नहीं है। जिज्ञासा में विशेषण ब्रह्मज्ञान, प्रारम्भ होने के योग्य हो, परन्तु उसमें प्राधान्यवान होने से उसका भी अथ शब्द के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शंका--विध्यन्वयित्वेन अविवक्षित भी प्रैषानुवचन अप्रधान होने पर भी अनुवाद के योग्य होने से जैसे विधेय दंड में अन्वित होते हैं। उसी तरह अप्रधान इच्छा भी प्रारम्भ के योग्य प्रधान ब्रह्म ज्ञान में अन्वित होकर ब्रह्मज्ञान की प्रयोजनता और ब्रह्म की संदिग्धता प्रतीत करा देगी, इच्छा और उसके विषय के समभिव्याहार में इच्छा विषयी भूत का प्राधान्य स्वर्ग कामो यजेत आदि स्थल में क्लृप्त है उक्त स्थल में इच्छा का विषय स्वर्ग ही प्राधान्येन विवक्षित है, तो यहां पर भी इच्छा का विषय ब्रह्मज्ञान ही प्राधान्येन विवक्षित हो जिसमें प्रारम्भार्थक अथ शब्द का सम्बन्ध हो जायगा तो अथ शब्द प्रारम्भार्थक क्यों न हो।

समाधान--ऐसा स्वीकृत होने पर वृत्ति रूप ज्ञान ही इच्छा का विषय होगा न कि उसमें अभिव्यक्त निरतिशयानन्द रूप ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान, क्योंकि नित्य होने से उसमें प्रारम्भार्थक अथ शब्द अन्वित नहीं होगा, तो मोक्षरूप परम पुरुषार्थ सूत्र से साक्षात् प्रतीत न होगा और जिज्ञासा के विवक्षित न होने से तत्कारणीभूत संशय का आक्षेप न होने से विषय भी सूचित न होगा। इस लिए स्वरूप ज्ञान की इच्छा ही प्राधान्येन विवक्षित है जिससे कि तन्निर्णय विषयक इच्छा का प्रतिपादन होने से और ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान पूर्व में न होने से संशय का आक्षेप होता है जिससे कि विषय और प्रयोजन सिद्ध होता हैं, इसलिए जिज्ञासा ही प्राधान्येन विवक्षित है, (विशेष जानने के लिए कल्पतरु परिमल द्रष्टव्य है) और जिज्ञासा भी (मीमांसा) यानी विचार नहीं है जिससे कि योगानुशासन के समान उसमें प्रारम्भार्थक अथ शब्द का अन्वय हो सके। क्यों कि मीमांसा शब्द की सिद्धि माङ् माने धातु से नाम्तत्वका निपातक न करके, या मान् पूजायाम् धातु से, मान्वध इत्यादि सूत्र से अनिच्छार्थक सन् प्रत्यय करके

और द्वित्व ईत्र आदि होकर सिद्ध होता है, जिससे कि इसका पूजित विचार अर्थ होता है और जिज्ञासा शब्द का अर्थ है, ज्ञानविषयिणी इच्छा । तो जिज्ञासा विचार में पुरुष को प्रवृत्त कराती है । इसीलिए वह प्रवर्तिका, और विचार प्रवर्त्य हैं, प्रवर्त्य और प्रवर्तक एक नहीं होते एक होने पर प्रवर्त्य प्रवर्तक भाव नहीं बन सकता । अच्छा तो दोनों में एकत्व न हो परन्तु जिज्ञासा शब्द की विचार मेलक्षणा कर देंगे जिससे कि लक्षित विचार रूप अर्थ में प्रारम्भार्थक अथ शब्द का अन्वय हो जायेगा । नहीं विषय और प्रयोजन के ज्ञात होने पर उत्कंठित पुरुष विचार में स्वतः प्रवृत्त होंगे जिससे कि जिज्ञासा शब्द के मुख्य अर्थ ज्ञानेच्छा के परित्याग में हेतुभूत अन्वयाद्यनुपपत्ति न होने से लक्षणा का सम्भव नहीं है । उक्त अनुपपत्ति के विना भी लक्षणा मानने पर स्वार्थ परक वाक्यों की भी लक्षणा होने लगेगी जिससे कि अतिप्रसंग होगा इसलिए भाष्यकार ने ठीक ही कहा जिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्, अर्थात् जिज्ञासा अधिकार प्रारम्भ के योग्य नहीं है ।

भामती

अथ मङ्गलार्थोऽथशब्दः कस्मान्न भवति । तथा च मङ्गलहेतुत्वात् प्रत्यहं ब्रह्म जिज्ञासा कर्तव्येतिसूत्रार्थः सम्पद्यत इत्यत आह—मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् ॥ पदार्थ एवहि वाक्यार्थे समन्वीयते, स च वाच्यो वा लक्ष्यो वा । न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्ख-ध्वनिवदथशब्द श्रवणमात्र कार्यम् ॥ न च कार्यज्ञाप्ययोर्वाक्यार्थे समन्वयः शब्दव्यवहारे दृष्ट इत्यर्थः । तत्किमिदानीं मङ्गलार्थोऽथशब्दस्तेषु तेषु न प्रयोक्तव्यः—तथाच-ओङ्कारश्चाथशब्दश्चद्वावेतौ ब्रह्मणः पुराकंठंभित्वाविनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ इति स्मृतिव्याकोप इत्यत आह अर्थान्तर प्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गल प्रयोजनोभवति ॥ अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्याश्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवन्मङ्गलं कुर्वन् मङ्गल प्रयोजनोभवति अन्यार्थं मानीयमानोद कुम्भदर्शनवत् तेन न स्मृति व्याकोपः । न चेहानन्तर्यार्थस्य सतो न श्रवण मात्रेण मङ्गलार्थतेत्यर्थः ॥

सुभद्रा--अच्छा तो प्रारम्भार्थक अथ शब्द न हो तो मङ्गलार्थ ही मान लिया जाय । क्योंकि अथ शब्द के चार अर्थ आनन्तर्य अधिकार मङ्गलाचरण प्रकृत अर्थ के अर्थान्तर, व्यवहार में वृद्धों के प्रयोग की सामर्थ्य से प्रसिद्ध हैं और मंगलानन्तरारम्भ प्रश्न कार्त्स्न्येष्वथो । अथ, इस कोश से भी अथ शब्द का मंगल अर्थ होता है । जिससे कि मङ्गल का हेतु होने से प्रतिदिन ब्रह्म की जिज्ञासा

करनी चाहिए यह सूत्र का अर्थ सम्पन्न होता है इसलिए मङ्गलार्थक अथ शब्द अंगीकार करना चाहिए। तो इस पर भाष्य में कहा, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वया भावात् ।। पदार्थ का ही वाक्यार्थ में अन्वय होता है। मङ्गल अथ शब्द का न तो वाच्य अर्थ है न तो लक्ष्य अर्थ, इस तरह से मङ्गल जब पदार्थ ही नहीं है तो उसका वाक्यार्थ में अन्वय कैसे सम्भव है। (मङ्गलानन्तरारम्भ-इत्यादि कोशवचन वाचस्पति मिश्र के मत में आदर के योग्य नहीं है) किन्तु श्रुति मृदङ्ग और शंख की ध्वनि जैसे माङ्गलिक है उसी तरह अथ शब्द के श्रवण से मङ्गल होता है। तो मङ्गल अथ शब्द का कार्य हुआ न कि अर्थ और जो कार्य या ज्ञाप्य होता है उसका वाक्यार्थ में अन्वय शब्द प्रयोग रूप व्यवहार में कहीं देखा नहीं गया है। यदि अथ शब्द का मङ्गल अर्थ नहीं है तो क्या इस समय मङ्गल के लिए अथ शब्द का प्रयोग उन-उन पदों में या वाक्यों में न करना चाहिए तब तो ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च इत्यादिस्मृति का विरोध होगा। क्योंकि ओंकार और अथ शब्द ए दोनों ब्रह्मा के कंठ को भेदन करके निकले हैं इससे माङ्गलिक हैं। यह उक्त स्मृति बतला रही है। नहीं विरोध नहीं है। अन्य अर्थ में प्रयुक्त ही अथ शब्द श्रवण मात्र से माङ्गलिक होता है। अन्य अर्थ आनन्तर्यादि मे प्रयुक्त अथ शब्द श्रवणमात्र से वीणा वेणु आदि के ध्वनि के समान मङ्गल दायक है, अन्य कार्य स्नान पान आदि के लिए ले आते हुए जल पूर्ण घट के दर्शन के समान, जिससे कि स्मृति विरोध नहीं होता। तो इस तरह से यहाँ पर आनन्तर्यार्थक अथ शब्द के श्रवण से मङ्गल नहीं होता यह बात नहीं किन्तु होता ही है।

भामती

स्यादेतत् पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथ शब्दोभविष्यति, विनैवानन्तर्यार्थत्वम्। तद्यथेममेवाथ शब्दं प्रकृत्य विमृश्यते किमयमथशब्दः आनन्तर्ये अथ अधिकार इति। अत्र विमर्शवाक्येऽथशब्दः पूर्वं प्रकृतमथ शब्दमपेक्ष्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकम् पक्षान्तरोपन्यासे। नचास्यानन्तर्यमर्थः, पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवायात्, नच पूर्वप्रकृतानपेक्षा तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेनासमानविषयतया विकल्पानुपपत्तेः, नहि जातु भवति किं नित्य आत्मा अथ अनित्या बुद्धि रिति; तस्मादानन्तर्यं बिना पूर्वप्रकृतापेक्ष इहाथशब्दः कस्मान्नभवतीत्यत आह—पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्चफलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। अस्यायमर्थः नवयमानन्तर्यार्थतां व्यसनितया रोचयामहे, किन्तु ब्रह्म जिज्ञासा, हेतुभूत पूर्वप्रकृतसिद्धये। साच पूर्वप्रकृतार्था, पेक्षत्वेऽपि अथशब्दस्य सिध्यतीति व्यर्थं आनन्तर्यार्थत्वावधारणा ग्रहोऽस्माकमिति। तदिदमुक्तं फलतः

इति । परमार्थतस्तु कल्पान्तरोपन्यासे पूर्वप्रकृतापेक्षा, नचेह कल्पान्तरोपन्यासः इति पारिशेष्यादानन्तर्यार्थं एवेति युक्तम् ।

सुभद्रा—पूर्व प्रकृत, (प्रकरण-प्राप्त) अर्थकी अपेक्षा करनेवाला अथ-शब्द आनन्तर्य अर्थको न मान कर भी हो जाय । जैसे यहीं अथशब्द को प्रकृत करके विचार किया जाता है कि क्या यह अथशब्द आनन्तर्यार्थक है या अधिकारार्थक । (आशय यह है कि आनन्तर्यार्थक अथशब्द मानने पर भी[१] किसी के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा होती है) तो ऐसा न मानकर पूर्वप्रकृत अर्थ की अपेक्षा करनेवाला अन्यअर्थ यही अर्थ अथशब्द का हो, अथातो धर्म जिज्ञासा, इस सूत्रमें अथशब्द प्रकृत है । तो क्या धर्म जिज्ञासा करनी चाहिए, या ब्रह्मजिज्ञासा पूर्वोत्तर मीमांसाशास्त्र की एक समझकर पूर्वमीमांसा के उक्तसूत्रमें अथशब्द प्रकृत है, तो उसकी अपेक्षा करता हुआ अथ अर्थान्तर परक है, यानी विकल्पार्थक है ।

इसी में दृष्टान्त दिया भामतीकार ने जैसे इसी अथशब्द को प्रकृत करके क्या यह अथशब्द आनन्तर्यार्थक है अथवा अधिकारार्थक । यहाँ पर उक्त विचार वाक्य में द्वितीय अथशब्द पहिले कहे हुए अथशब्द की अपेक्षा करके प्रथम पक्ष क्या अथशब्द आनन्तर्यार्थक है इस बातको कहते हुए अन्यपक्ष अधिकारार्थक है, इसका उपन्यास करता है । उक्तवाक्य में द्वितीय अथशब्दका आनन्तर्य अर्थ नहीं हो सकता । क्योंकि क्या पहिले कहे हुए अथशब्द से आनन्तर्य विवक्षित है, अथवा अव्यवहित आनन्तर्य पक्षसे, पहिला पक्ष संभव नहीं क्योंकि पूर्वप्रकृत अथशब्द के बाद आनन्तर्य पक्ष का उपन्यास है जिससे कि उसका व्यवधान हो जाता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि तब तो आनन्तर्य पक्षके अनन्तर यह अर्थ होगा । तब प्रश्न होगा क्या यह अथशब्द पहिले कहे हुए अथ शब्द की अपेक्षा करके उक्तअर्थ को कहता है, या बिना अपेक्षा किए ही । यदि पूर्व-प्रकृत अथशब्द की अपेक्षा करके आनन्तर्यार्थक माना जाय तो आनन्तर्य अर्थके अनन्तर अधिकार अर्थ है यह वाक्यार्थ होगा वह ठीक नहीं क्योंकि एक अर्थ के निश्चित होनेपर फिर अन्य अर्थ मानना अयुक्त है । यदि नहीं अपेक्षा करता है तो पूर्वप्रकृत अथशब्दानपेक्ष द्वितीय अथशब्द में पूर्व अथशब्द विषयक न होनेसे, समान विषयकता नहीं होगी, जिससे कि क्या यह अथशब्द आनन्तर्यार्थक है या अधिकारार्थक यह विकल्प ही नहीं होगा । क्योंकि असमान विषयक में विकल्प नहीं होता, क्या आत्मा नित्य है बुद्धि अनित्य है । ऐसा विकल्प होता है । इसलिए आनन्तर्यार्थके बिना ही जैसे उक्तवाक्य में पूर्व प्रकृतापेक्ष अथशब्द

१—अर्थात् साधन चतुष्टय संपत्तिके

अर्थान्तर परक है। वैसेही यहांपर भी अथशब्द पूर्व प्रकृतापेक्ष अर्थान्तरपरक क्यों न हो। इसलिए भाष्यमें कहा पूर्व प्रकृतापेक्षायाश्चफलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। पूर्वप्रकृतापेक्ष अथशब्द माना जाय या आनन्तर्यार्थिक अथशब्द स्वीकृत हो फलसे व्यतिरेक भेद नहीं है, अर्थात् फल एक है, दोनों पक्ष में जिज्ञासा का कारण साधन चतुष्टय सम्पत्ति की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि अन्य कल्प के उपन्यास में भी जिज्ञासा उक्त सम्पत्ति के बिना अनुपपन्न है, तो फिर आनन्तर्यार्थिक मानने का आग्रह क्यों, इस पर भामतीकार कहते हैं, कि हम आनन्तर्यार्थिकता व्यसनवश अथशब्द का नहीं मानते, किन्तु ब्रह्म जिज्ञासा हेतुभूत पूर्व प्रकृत उक्त सम्पत्ति के सिद्धि के लिए और वह तो अथशब्द के पूर्व प्रकृतार्थ की अपेक्षा करने पर भी सिद्ध हो जाता है तो आनन्तर्यार्थ के निश्चय का आग्रह हमारा व्यर्थ है, इसलिए भाष्यमें फलतः ऐसा कहा।

वस्तुतः अन्य कल्प के उपन्यासमें ही पूर्व प्रकृतकी अपेक्षा अथशब्द को होती है, जैसे कि पहिले कहा गया क्या यह अथशब्द आनन्तर्यार्थक है या अधिकारार्थक है, यहां पर अन्य कल्प का उपन्यास नहीं है, इसलिए यहां पर आनन्तर्यार्थिक ही मानना ठीक हैं।

निष्कर्ष यह है, कि किसी धर्मी, अर्थात् विशेष्य में किसी अर्थके प्रतीति के अनन्तर उसी विशेष्य में अन्य किसी धर्म का विशेषण तथा भानहो ऐसा वाक्य यदि अथशब्द घटित प्रयुक्त होता है तो वहां पर अथशब्द पूर्व प्रकृत की अपेक्षा करता है, जैसे अथशब्द आनन्तर्यार्थः, अथ अधिकारार्थोवा, यहां पर अथशब्द विशेष्यक आनन्तर्यार्थ प्रकारक प्रतीतिके बाद पुनः अथशब्द विशेष्यक अधिकारार्थ प्रकारक प्रतीति होती है, और वह वाक्य द्वितीय अथशब्द घटित है अतः यहां पर द्वितीय अथशब्द पूर्व प्रकृतापेक्ष है। क्योंकि वहां पर विकल्प भासता है। प्रकृत में ऐसा नहीं है अर्थात् विकल्प नहीं भासता यह दोनों में भेद है, इसलिए यहां पर आनन्तर्यार्थिक ही अथशब्द है।

भाष्य

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्॥

भामती

भवत्वानन्तर्यार्थः किमेवं सतीत्यत आह—सतिचानन्तर्यार्थत्व इति। न तावदस्य कस्य चिदत्रानन्तर्यमितिवक्तव्यम्, तस्याभिधान, मन्तरेणापि प्राप्त-

त्वात् अवश्यं हि पुरुषः किञ्चित्कृत्वा किञ्चित्करोति । नचानन्तर्यमात्रस्य दृष्ट म दृष्टं वा प्रयोजनं पश्यामः । तस्मात्तस्यानन्तर्यं वक्तव्यम् यद्विना ब्रह्म जिज्ञासा न भवति यस्मिन्सति तु भवन्ती भवत्येव, तदिदमुक्तम्—यत्पूर्ववृत्तं नियमे नापेक्षत इति । स्यादेतत्— धर्म जिज्ञासाया इव ब्रह्म जिज्ञासाया अपि योग्यत्वात् स्वाध्यायानन्तर्यं धर्मवद्ब्रह्मणोऽप्याम्नायैकप्रमाणगम्यत्वात् तस्य चागृहीतस्य स्वविषये विज्ञानाजननात्, ग्रहणस्य च स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययने नैवा नियत त्वात् । तस्माद्वेदाध्ययनानन्तर्यं मेव ब्रह्म जिज्ञासाया अप्यथ शब्दार्थं इत्यत आह— स्वाध्यायानन्तर्यं तुसमानम् धर्म ब्रह्म जिज्ञासयोः । अत्र च स्वाध्यायेन विषयेणतद्विषयमध्ययनं लक्षयति । तथाच अथातो, धर्म जिज्ञासाइत्यने नैवगतमिदमिति नेदंसूत्रमारब्धव्यम् । धर्मशब्दस्यवेदार्थे मात्रोप लक्षणतया धर्मवद्ब्रह्मणोऽपि वेदार्थत्वाविशेषेण वेदाध्ययनानन्तर्योपदेशसाम्यादित्यर्थः ॥

सुभद्रा— अच्छा तो आनन्तर्यार्थक अथशब्द हो तो इससे क्या इसपर भाष्यकार ने कहा कि आनन्तर्यार्थक होने पर जैसे अथातो धर्मजिज्ञासा यहाँ पर धर्मकी जिज्ञासा पूर्वनिष्पन्न वेदाध्ययन का नियमेन अपेक्षा करती हैं, वैसे ही ब्रह्म जिज्ञासा भी पूर्व निष्पन्न वेदाध्ययन की अपेक्षा करेगी स्वाध्याय अर्थात् वेद के अध्ययन का आनन्तर्य समान है । अथशब्द के आनन्तर्यार्थक होने पर अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, तो किसके अनन्तर जिस किसी का आनन्तर्य तो अपेक्षित नहीं हैं । क्यों कि वह तो बिना कहे हुए भी प्राप्त हैं, अवश्य ही पुरुष कुछ करने के अनन्तर कोई अन्य कार्य करता है । केवल आनन्तर्यमात्र का दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन हम नहीं देखते हैं । इसलिये उसका आनन्तर्य कहना चाहिए, जिसके बिना ब्रह्मजिज्ञासा न हो और जिसके होनेपर अवश्य हो,—इसलिए भाष्य में कहा—जो पूर्ववृत्त हो उसकी नियमेन अपेक्षा होती है । अच्छा तो पूर्ववृत्त की नियमेन अपेक्षा हो, परन्तु धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासामें भी योग्यता होने के कारण स्वाध्याय का ही आनन्तर्य हो, क्योंकि धर्म जैसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है, केवल वेद के ही द्वारा जाना जाता है, यागादि धर्म है चैत्यवन्दनादि नहीं,उसी तरह ब्रह्म भी केवल श्रुति प्रमाण से ही जाना जाता है न कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से और ब्रह्म यदि अज्ञात है तो वह अपने विषय में ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता, और उसका ज्ञान स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि से ही नियमेन होगा, इसलिए वेदाध्ययन के अनन्तर ही ब्रह्म जिज्ञासा होती है यही अथ शब्द का अर्थ हो इसलिए स्वाध्यायान्तर्यन्तु नसमानम् यह भाष्यकार ने कहा ।

स्वाध्याय पद वाच्य समस्त वेद राशि है विषय जिस अध्ययन का ऐसा अध्ययन लक्षित होता है जिससे कि वेदाध्ययनानन्तर्य यह अर्थ अथ शब्द का होता है।

तब तो अथातो धर्म जिज्ञासा इससे ही यह सूत्र (अथातो ब्रह्म जिज्ञासा) गतार्थ है तो यह सूत्र न आरम्भ करना चाहिए। क्योंकि उक्त सूत्र में धर्म शब्द वेदार्थ मात्र का उपलक्षण है। तो धर्म जैसे वेदार्थ है वैसे ही ब्रह्म भी वेदार्थ है, वेदार्थत्वेन कोई विशेषता धर्म और ब्रह्म में नहीं है, इसलिए वेदाध्ययनानन्तर धर्म और ब्रह्म के उपदेश में समानता है।

भाष्य

नन्विह कर्मबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्म जिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथाच हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यं नियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः शेष, शेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्। धर्म ब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम् तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलंतु ब्रह्मज्ञानम्, नचानुष्ठानान्तरापेक्षम्।

भामती

चोदयति—नन्विह कर्मबोधानन्तर्यं विशेषः धर्मजिज्ञासा,तोब्रह्मजिज्ञासायाः॥ अस्यार्थः विविदिषन्ति यज्ञेन इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादीनामङ्गत्वेन ब्रह्मज्ञाने विनियोगात्, ज्ञानस्यैव कर्मतयेच्छां प्रति प्राधान्यात् प्रधानसंबन्धाच्चाप्रधानानां पदार्थान्तराणाम्। तत्रापि च न वाक्यार्थज्ञानोत्पत्ता वङ्गभावो यज्ञादीनाम्, वाक्यार्थज्ञानस्य वाक्यादेवोत्पत्तेः नच वाक्यं सहकारितया कर्माण्यपेक्षतइतियुक्तम्, अकृतकर्मणामपि विदितपदतदर्थसंगतीनाम् समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वानाम् गुणप्रधानभूतपूर्वापरपदार्थाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतानुसंधानवताम प्रत्यूहं वाक्यार्थं प्रत्ययोत्पत्तेः। अनुत्पत्तौवा विधिनिषेध वाक्यार्थप्रत्ययाभावेन तदर्थानुष्ठान परिवर्जनाभावप्रसङ्गः। तद्बोधतस्तु तदर्थानुष्ठानपरिवर्जने परम्पराश्रयः तस्मिन्सति तदर्थानुष्ठानपरिवर्जनम् ततश्च तद्बोध इति। नच वेदान्तवाक्या नामेव स्वार्थप्रत्यायने कर्मापेक्षा, न, वाक्यान्तराणामिति साम्प्रातम् विशेषहेतोरभावात्।

सुभद्रा—पूर्व में जो यह कहा गया कि धर्म जिज्ञासा सूत्र से यह सूत्र गतार्थ है, उसपर भाष्य में पुनः यह शंका की जा रही है कि धर्म जिज्ञासा से ब्रह्म जिज्ञासा में कर्म ज्ञान के आनन्तर्य की विशेषता है, अर्थात् कर्म के स्वरूप के ज्ञान के बाद ही ब्रह्म जिज्ञासा होती है, धर्म जिज्ञासा उसके पूर्व में ही होती है यह दोनों में विशेषता है। 'इसी को भामती में विस्तृत करते हैं, अस्यार्थः इत्यादि

से, इसका यह अर्थ है—विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन, यह श्रुति है, जिसका अर्थ होता है, यज्ञदान अनाशक, शरीर को नाशन करने वाली तपश्श आदि से ब्रह्म को जानने की इच्छा ब्राह्मण करते हैं। तो यज्ञेन आदि पद से तृतीया विभक्ति के श्रुति होने से यज्ञादि का ब्रह्मज्ञान में अङ्गत्वेन उपयोग है, अर्थात् अङ्गभूत यज्ञादि से अङ्गीभूत ब्रह्मज्ञान की इच्छा करते हैं। इच्छा के प्रतिज्ञान के कर्म होने से उसके प्रति ज्ञान को प्रधानता है, अतः प्रधान भूत ज्ञान के साथ ही अप्रधान अन्य पदार्थ यागादिका सम्बन्ध होगा। यद्यपि उक्तवाक्य में शब्द से इच्छा का ही प्राधान्य प्रतीत होता है परन्तु अर्थतः प्राधान्य ज्ञानमें होने से यज्ञादि का ज्ञान में ही उपयोग होगा न कि इच्छा में स्वर्गकामो यजेत इस वाक्यमें इच्छा बोधक काम शब्द के रहने पर भी यज्ञ से स्वर्ग की भावना करे न कि स्वर्ग के इच्छाकी यह बोध होता है तद्वत् प्रकृतमें भी है।

तो यज्ञादिका वाक्यार्थ ज्ञानमें अङ्गभाव में उपयोग नहीं हो सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति तो वाक्य ही हो जायगी। वाक्यार्थ ज्ञान मे वाक्य कारण है, और वह वाक्य सहकारी भाव से कर्म की अपेक्षा नहीं करता जिससे कि यज्ञादि कर्म उसमें उपयुक्त हो सकें। क्योंकि जिन्होंने कर्म नहीं किया है और पद उसके अर्थ और सम्बन्ध को जान लिया है और शब्द न्याय के तत्वों को जान लिया है, उनको ही दिखला रहे हैं भामती में कौन प्रधान है कौन गुणभूत, अप्रधान, ऐसे जो पूर्वापर पदार्थ 'पहिले कहे हुए और बाद में कहे हुए' उनकी जो परस्पर आकांक्षा एक का अन्यके बिना अन्वय बोधकी समाप्ति का न होना और सन्निधि. एकपदके बाद अन्यपदका अविलम्बेनोच्चारण, और योग्यता. पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध होने में बाध (रुकावट) का न होना इन सबों का जिन पुरुषों को अनुसन्धान हैं उनको बिना विघ्नके ही वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। आशय यह है कि कर्म के बिना भी वाक्यार्थ ज्ञान मे कारण जो पदका शक्ति ज्ञान और आकांक्षादिज्ञान उनके होने से वाक्यार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती। यदि वाक्यार्थ ज्ञान उत्पन्न न हो तो विधिवाक्य और निषेध-वाक्यों के अर्थ का ज्ञान न होने में उन वाक्यों से बोधित विहित और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकेगी।

और भी बात है, यदि कर्म वाक्यार्थ ज्ञान के अङ्ग माने जाय तो वाक्यार्थ ज्ञान से कर्म के अनुष्ठान और त्याग का ज्ञान होगा और उनके ज्ञान से वाक्यार्थ बोध होगा तो परस्पर अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रयदोष होगा। यदि कहा जाय कि वेदान्त वाक्य ही अपने अर्थ ज्ञान में कर्म की अपेक्षा करते हैं न कि अन्य विधिनिषेधपरकवाक्य तो युक्त नहीं, क्योंकि वाक्यत्वेन वेदान्तवाक्य और विधि-

निषेध परकवाक्य समान हैं तो एक जगह कर्म की अपेक्षा हो अन्यत्र न हो यह अर्ध जरतीयमानना विशेषहेतु के न होने से ठीक नहीं है।

भामती

न नु तत्वमसि इतिवाक्यात् त्वं पदार्थस्य कर्तृभोक्तृरूपस्य जीवात्मनो नित्यशुद्धबुद्धोदासीनस्वभावेन तत्पदार्थेन परमात्मनैक्यमशक्यं द्रागित्येव प्रतिपत्तु मापाततोऽशुद्धसत्त्वैः योग्यताविरहात्। यज्ञतपोदानतनूकृतान्तर्मलास्तु विशुद्ध, सत्त्वाः श्रद्दधाना योग्यताऽवगमपुरस्सरं तादात्म्यमवगमिष्यन्तीति चेत्, तत्किमिदानीम् प्रमाणकारणम् योग्यतावधारणमप्रमाणात्कर्मणो वक्तु मध्यव सितोऽसि प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं वा कर्मापि प्रमाणम्। वेदान्ताविरुद्ध तन्मूल न्यायबलेनतु योग्यतावधारणे कृतं कर्मभिः। तस्मात् तत्त्वमसि इत्यादेः श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा, तन्मूलया चोपपत्त्या व्यवस्थाप्य तदुपासनायां भावनाऽपराभिधानायां दीर्घकालनैरन्तर्यवत्यां ब्रह्मसाक्षात्कार, फलायां यज्ञादीनामुपयोगः।

सुभद्रा—तत्त्वमसि इसवाक्य से त्वं पद का वाच्यार्थ कर्तृभोक्तृरूप जीवात्मा-का नित्यशुद्धबुद्धमुक्त उदासीन असङ्ग, स्वभाव युक्त तत्पदार्थ परमात्मा के साथ ऐक्य (एकता) का ज्ञान शीघ्र अशुद्ध अन्तःकरण वालोंको नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान में योग्यता ज्ञान कारण है, वैसे पुरुषको, अर्थात् रागादि दोष दूषित अन्तःकरणवाले पुरुष को शीघ्र ही तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ में योग्यताका ज्ञान नहीं हो सकता। यज्ञ तपस्यादान आदि सत्कर्मों के द्वारा जिन पुरुषों के अन्तःकरणके रागादिदोष क्षीण हो गए हैं, ऐसे पुरुष विशुद्धान्तःकरणयुक्त होने से योग्यताज्ञान पूर्वक तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ के तादात्म्य एकता का ज्ञान सम्पादन कर लेगें। तो इस तरह से वाक्यार्थज्ञान के कारण योग्यता ज्ञान में यज्ञादि का उपयोग सिद्ध होता है। (तो यह युक्त नहीं) क्योंकि क्या इस समय प्रमाण है कारण जिस योग्यताज्ञानका उसको आप अप्रमाणभूतकर्म से कहने के लिए तत्पर हैं, अथवा वस्तुत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिरिक्त कर्म भी प्रमाण है यह मानते हैं। प्रथम पक्ष युक्त नहीं क्योंकि योग्यताका निश्चय रूप प्रमात्मक कार्य प्रमाण से ही उत्पन्न होता है नकि अप्रमाण से। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि कर्म को प्रमाणरूप से दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया है। वेदान्त वाक्य के अविरोधी वेदान्तवाक्यमूलक न्यायकेवल से यदि योग्यताका निश्चय होता है, तो फिर कर्मका क्या प्रयोजन। (इसलिए साक्षात्कार में ही यज्ञादिका उपयोग है) तत्त्वमसि इत्यादि श्रुति जन्य जो श्रवणरूपज्ञान जीव और परमात्माका अभेद, विषयक,

उसको ग्रहणकर उक्त श्रुतिमूलक युक्ति से जोकि मननरूप है उसको व्यवस्थितकर भावना है दूसरा नाम जिसका ऐसी जो चिर काल तक निरन्तर समान आकार वाली वृत्तिका प्रवाह उससे युक्त उसकी उपासना में जिसका फल ब्रह्मसाक्षात्कार है उसमें यज्ञादि कर्मों का उपयोग है ।

भामती

यथाहुः सतुदीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः इति । ब्रह्मचर्यं तपः श्रद्धा यज्ञादयश्च सत्कारः । अतएव श्रुतिः तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञांकुर्वीत ब्राह्मणः इति । विज्ञाय तर्कोपकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावनां कुर्वीतेत्यर्थः । अत्र च यज्ञादीनां श्रेयः परिपन्थि कल्मषनिर्बर्हणद्वारेणोपयोग इति केचित् । पुरुष संस्कारद्वारेणेत्यन्ये । यज्ञादिसंस्कृतोहि पुरुष आदर नैरन्तर्य दीर्घ कालैरा सेवमानो ब्रह्मभावनामनाद्यविद्यावासनां समूलकाषं कषति ततोऽस्य प्रत्यगात्मा सुप्रसन्नः केवलो विशदीभवति । अतएवस्मृतिः—महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः । यस्यैतेऽष्टा चत्वारिंशत्संस्काराः इति च । अपरेतु ऋणत्रयापाकरणे ब्रह्म ज्ञानोपयोगंकर्मणामाहुः । आस्तिहिस्मृतिः ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत् इति । अन्येतु तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति-यज्ञेन इत्यादि श्रुतिभ्यस्तत्फलाय चोदितानामपि कर्मणाम् संयोगपृथक्त्वेन ब्रह्मभावनां प्रत्यङ्गभावमाचक्षते, क्रत्वर्थस्यैवखादिरत्वस्य वीर्यार्थताम्, एकस्य-तूभयत्वेसंयोगपृथक्त्वम् इतिन्यायात् । अतएवपारमर्षंसूत्रम् सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्—(ब्र. अ. ३ पा, ४ सू. २६) इति । यज्ञतपोदानादि सर्वम् तदपेक्षा ब्रह्मभावनेत्यर्थः । तस्माद्यदिश्रुत्यादयः प्रमाणम् यदि वा पारमर्षसूत्रम् सर्वथायज्ञादिकर्मसमुच्चिता ब्रह्मोपासना विशेषणत्रयवती अनाद्यविद्या तद्वासनासमुच्छेदक्रमेण ब्रह्मसाक्षात्काराय मोक्षापरनाम्नेकल्पत इति तदर्थं कर्माण्यनुष्ठेयानि । नचैतानि दृष्टादृष्टसामवायिकारादुपकार हेतुभूतोपदेशिकातिदेशिक क्रमपर्यन्ताङ्गग्रामसहित परस्परविभिन्नकर्मस्वरूप-तदधिकारिभेदपरिज्ञानं विनाशक्यान्यनुष्ठातुम् । नचधर्ममीमांसापरिशीलनं विना तत्परिज्ञानम् । तस्मात्साधूक्तं कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः इति । कर्मावबोधेनहि कर्मानुष्ठानसाहित्यं भवति ब्रह्मोपासनाया इत्यर्थः । तदेतन्निराकरोति-न कुतः कर्मावबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ।

सुभद्रा—जैसा कि योग सूत्रकार ने कहा है कि वह चित्तवृत्ति निरोधरूप योग दीर्घकाल तक निरन्तर समान आकार वाली वृत्ति के प्रवाह से युक्त होकर और ब्रह्मचर्य तप श्रद्धा यज्ञ आदि रूप सत्कार से सेवित होकर

तत्व साक्षात्कार में दृढ़ उपाय है। श्रुति भी कहती है धीर पुरुष, फलाभि-सन्धि से रहित कर्म से अत्यन्त निर्मल है अन्तःकरण जिसका ऐसा पुरुष तर्क (मनन) सहकृत शब्द से उस परमात्मा को जानकर, ब्राह्मण, प्रज्ञा, अर्थात् भावना को करै। (इस तरह से कर्म का उपयोग बतलाकर उसमें आचार्यों का मतभेद प्रदर्शित करते हैं भामती में) यहाँ पर यज्ञादि का उपयोग श्रेयो ब्रह्मज्ञान उसका विरोधी जो दुरित, (पाप) उसका नाश करके द्वारा है। यह कोई मानते हैं। अन्य आचार्य पुरुष में ब्रह्म साक्षात्कार की योग्यता रूप संस्कार के द्वारा यज्ञादि का उपयोग स्वीकार करते हैं। यज्ञादि से संस्कृत पुरुष ब्रह्म-चर्यादि रत होकर ब्रह्म भावना को करता हुआ, आदर श्रद्धा नैरन्तर्य (दीर्घ-काल तक समानाकार जो ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाह उससे युक्त होकर ब्रह्मभावना करता हुआ अनादि जो अविद्या उसकी वासना (दृढ़ संस्कार, को) मूल सहित नष्ट करता है। तब उस पुरुष को आनन्दरूप केवल प्रत्यगात्मा विशदस्पष्ट होता है। इसलिए स्मृति भी कहती है, पञ्चमहा यज्ञों से, ब्रह्मयज्ञ, वेदाध्ययन, देवयज्ञ, सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि, ऋषियज्ञ, स्वाध्याय अध्यापन, चिन्तन आदि, पितृयज्ञ, श्राद्धतर्पण आदि, भूतयज्ञ बलि वैश्यदेव अतिथि सत्कार आदि, इन पांच महायज्ञों से, और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से यह शरीर ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य किया जाता है। जिसका अड़तालिस संस्कार हुआ है वह पुरुष ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य होता है इत्यादि। अन्य आचार्य यज्ञादि कर्म, का देवऋण और ऋषिऋण और पितृऋण ये तीन जो ऋण हैं जो कि ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक हैं उनके उन्मूलन में उपयोग मानते हैं। स्मृति भी इसमें प्रमाण है, तीन ऋणों को दूर कर मन को मोक्ष में लगावे।

इस प्रकार से कर्म ब्रह्मभावना के अङ्ग हैं ऐसे पूर्वपक्षियों के मध्य में जो कि नित्य कर्म ही को ब्रह्मभावना का अङ्ग मानते हैं उनमें परस्पर मतभेद प्रदर्शित कर अब स्वर्गादि प्राप्ति रूपफल के कामना से विहित कर्मों का भी ब्रह्म-भावना में अङ्ग तथा उपयोग है ऐसा मानने वालों का मत प्रदर्शित करते है, तमेतं इत्यादि से। तमेतं, इत्यादि श्रुति से शास्त्रोक्त फल के प्राप्ति के लिए शास्त्र विहित जो कर्म हैं उनका भी संयोग[1] पृथक्त्व न्याय से ब्रह्मभावना के

---

१ एक वस्तु का अनेक फल के साथ सम्बन्ध होने पर संयोग दोनों के साथ सम्बन्ध को बोध कराने वाले वाक्य में पृथक्त्वं (भेद) अपेक्षित होता है उस उस फलों के लिए विहित कर्मों का अन्य फल के साथ सम्बन्ध का बोधक वाक्य यदि अन्य हों तो दोनों फल मानना चाहिए।

प्रतिप्रङ्ग, अन्य आचार्य कहते हैं। क्रत्वर्थं, यज्ञ के लिए विहित खादिर खैर के लकड़ी का बना हुआ स्तम्भ, जैसे वीर्य पराक्रम, रूपफल के लिये भी होता है तद्वत्। भाव यह है कि पूर्वमीमांसा में यह विचार किया गया है कि, खादिरे पशुं बध्नाति खादिरं वीर्यं कामस्य यूपं कुर्वीत ऐसी श्रुति है, तो यज्ञ के लिए विहित खैर के लकड़ी का बना हुआ खम्भा पराक्रम के कामना से भी करे। वहां पर सन्देह होता है कि काम्यकर्म के समान खादिर स्तम्भ नित्यकर्म में भी उपयुक्त है अथवा नहीं, तो अनित्य फल के लिए जिसका विधान है उसको नित्य प्रयोग का अङ्ग मानना युक्त नहीं, (नित्यकर्म में भी खादिरत्व का श्रवण काम्य-कर्म विहित खादिर स्तम्भ का पशु बन्धनयुक्त यूपरूप आश्रम के दान लिए है) अतः नित्य में खादिरत्व प्राप्त नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त किया गया कि एक ही खादिरत्व का यदि उक्त दो वचनों से क्रत्वर्थत्व (यज्ञ के लिए) और पुरुषार्थत्व, पुरुष के पराक्रम के लिए, ग्रहण है, तो क्रतुशेषत्व और फल शेषत्वरूप संबंध के भेद से उभयार्थक है, संयोग के भेद में नित्य और अनित्य के संयोग विधि का विरोध नहीं है। निष्कर्ष यह है कि यज्ञ के लिए विहित खादिर स्तम्भ वीर्य पराक्रम के लिए भी है। उसी तरह से प्रकृत में भी स्वर्गादि फल के उद्देश्य से विहित यज्ञादि कर्म भी ब्रह्मोपासना के अङ्ग हो जायंगे। इसीलिए परम ऋषि, बादरायण, प्रणीत सूत्र भी है, (सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुते, रश्ववत्) अश्वेन-जिगमिषति इस वाक्य में अश्व से जाने की इच्छा करै, अश्व का कारणतया जिग-मिषा में अन्वय होने पर उसके द्वारा जैसे ग्राम प्राप्ति में उपयोग है, वैसे ही विविदिषन्ति इत्यादि श्रुति में यज्ञादि का करणतया विविदिषा में अन्वय होने पर भी उसके द्वारा परम्परया, यज्ञादि कर्मों का भी ब्रह्म साक्षात्कार का हेतु जो ब्रह्मोपासना उसमें उपयोग है, अर्थात् यज्ञ तपस्यादि सब ब्रह्मभावना में अपेक्षित हैं। यह उक्त सूत्र का अर्थ है। इसलिए यदि श्रुति और पारमर्ष सूत्र प्रमाण हैं तो सर्वथा यज्ञादि कर्म सहकृत ब्रह्मोपासना आदर नैरन्तर्य दीर्घकाल आदि विशेषण त्रय से युक्त होकर अनादि जो अविद्या और उसकी वासना उसको नाश करती हुई उस क्रम से ब्रह्म साक्षात्कार रूप मोक्ष में उपयुक्त होती है अतः ब्रह्मभावना के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए और ए कर्म तो दृष्ट उपकार व्रीही नवहन्ति (इत्यादि में धान के छिलके को अलग करना आदि) और अदृष्ट उपकार व्रीहीनृप्रोक्षति आदि में धन्य के प्रोक्षण से उत्पन्न जो कि अपूर्व आदि जो कि यज्ञ के स्वरूप के अन्तर्गत हैं और परम्परया उपकारक उनके हेतु भूत प्रत्यक्ष विहित कर्म, और प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या इत्यादि अतिदेश से प्राप्त क्रमयुक्त जो अङ्ग हैं, उनका समूह उनके सहित परस्पर भिन्न जो कर्म का

स्वरूप और उनमें अपेक्षित अधिकारी विशेष इन सबके ज्ञान के बिना कर्मों का अनुष्ठान हो नहीं सकता। और धर्ममीमांसा के परिशीलन (चिन्तन के) बिना उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए भाष्य में ठीक ही कहा गया है कि कर्मज्ञान के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा होती है यह धर्मजिज्ञासा से ब्रह्म जिज्ञासा में विशेषता है, इस प्रकार से कर्मज्ञान में ही ब्रह्मोपासना में कर्मानुष्ठान का सहभाव सिद्ध होता है।

भामती

इदमत्राकूतम्—ब्रह्मोपासनया भावनापराभिधानया कर्माण्यपेक्ष्यन्त इत्युक्तम्, तत्रब्रूमः—क्वपुनरस्याः कर्मापेक्षा किं कार्ये यथाऽऽग्नेयादीनांपरमापूर्वे चरमभाविफलानुकूले जनयितव्ये समिदाद्यपेक्षा। स्वरूपेवा यथा तेषामेवव्रीहिरवत्तपुरोडाशादि द्रव्याग्निदेवताद्यपेक्षा। न तावत् कार्ये तस्य विकल्पासहत्वात्। तथाहि ब्रह्मोपासनया ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारः कार्यमभ्युपेयः सचोत्पाद्योवा स्याद्, यथा संयवनस्यपिंडः। विकार्योवायथाऽवघातस्य व्रीहयः। संस्कार्यो वा यथा प्रोक्षणस्योलूखलादयः। प्राप्यो वा यथा दोहनस्यपयः न तावदुत्पाद्यः न खलु घटादिसाक्षात्कार इव जडस्वभावेभ्यो घटादिभ्यो भिन्न-भिन्न इन्द्रियाद्याधेयो ब्रह्मसाक्षात्कारो भावनाधेयः संभवति, ब्रह्मणोऽपराधीन प्रकाशतया तत्साक्षात्कारस्य तत्स्वाभाव्येन नित्यतयोत्पाद्यत्वानुपपत्तेः। ततोभिन्नस्य वा भावनाधेयस्य साक्षात्कारस्य प्रतिभाप्रत्ययवत्संशयाक्रान्ततया प्रामाण्यायोगात् तद्विषय तत्सामग्रीकस्यैवबहुलंव्यभिचारोपलब्धेः। न खल्वनुमानविबुद्धं वह्निंभावयतः शीतातुरस्यन्थरत शिशिरभरमतरकायकांडस्य स्फुरज्ज्वालाजटिलानलसाक्षात्कारः प्रमाणान्तरेणसंवाद्यते, विसंवादस्यबहुलमुपलम्भात्, तस्मात्प्रामाणिकसाक्षात्कारलक्षणकार्याभावा ब्रह्मोपासनाया उत्पाद्येकर्मापेक्षा। नचकूटस्थनित्यस्य सर्वव्यापिनोब्रह्मण उपासनातो विकार संस्कारप्राप्तयः संभवन्ति।

सुभद्रा—इस तरह से पूर्वपक्षी का आशय प्रदर्शित कर उसका निराकरण अत्रेद माकूतम् इत्यादि से प्रदर्शित करते हैं भामती में। यहां पर यह अभिप्राय है। भावना है दूसरा पर्याय अभिधान जिसका ऐसी ब्रह्मोपासना में कर्म की अपेक्षा होती है यह पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्व में कहा गया है, तो वहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस ब्रह्मोपासना में कर्म की अपेक्षा कहां पर है। क्या कार्य में, अर्थात् ब्रह्मोपासना का कार्य का जो ब्रह्म साक्षात्कार उसमें है जैसे आग्नेयादि याग का परमापूर्व में जो कि अन्तिम, और भविष्य में होने वाले

स्वर्गादि रूप फल का जनक है जिसके द्वारा याग में स्वर्ग की कारणता उपपन्न होती है। ऐसा परमा पूर्व जो आग्नेयादि याग से उत्पन्न होने के योग्य है उसमे जैसे समिधो यजति इडोयजति तनूनपात् यजति, इत्यादि वाक्य विहित प्रयाजादि अङ्ग की अपेक्षा होती है उस तरह अथवा उपासना के स्वरूप में कर्म की अपेक्षा होती है जैसे आग्नेयादि यागों का ही अपने स्वरूप ज्ञान में द्विरवत्त पुरोडाशादि द्रव्य और अग्निदेवतादि अपेक्षित हैं। आशय यह है कि याग के दो रूप होते हैं द्रव्य और देवता, तो आग्नेय याग अपने स्वरूप ज्ञान में (पुरोड़ाश रूप द्रव्य की) जो एक प्रकार का हवि (चरु विशेष) है द्वयवदानं जुहोति द्विर्हविषोऽवद्यति आदि वाक्य विहित, दो खंड को प्राप्त उक्त पुरोडाश अपेक्षित है, अर्थात् उक्त पुरोडाश को दो टुकड़े करके हवन करें, आदि पद से घृत, मांस इनका भी ग्रहण है, पुरोडाश का हस्तेन अवद्यति, इस वाक्य से अवदान विहित है, हाथ से पुरोडाश को दो टुकड़े करें, और घी का स्रुवा से, और मांस का, परशुनाऽवद्याति (फरसे से टुकड़े करें) यह द्विरवत्त पुरोडाशादि द्रव्य शब्द का अर्थ है और अग्नि आदि देवता जिनके उद्देश्य से हवन किया जाता है, याग जैसे अपने स्वरूप के ज्ञान में उक्त द्विरवत्त पुरोडाशादि द्रव्य और अग्निदेवतादि के ज्ञान की अपेक्षा करता है, उस तरह उपासना के स्वरूप ज्ञान में कर्म अपेक्षित हैं।

विकल्प के न सहने से इसमें प्रथम पक्ष संभव नहीं है। क्योंकि ब्रह्मोपासना का ब्रह्म साक्षात्कार ही कार्य स्वीकार करना पड़ेगा अन्य कोई कार्य संभव नहीं, तो क्या वह उत्पाद्य है, जैसे पिंडं संयौति इस वाक्य से विहित जो मिश्रण क्रिया (आटे आदि में घी, दूध, जल आदि को मिलाना) उससे जैसे पिंड बनता है और वह उत्पाद्य, उत्पन्न करने के योग्य है। उस तरह अथवा विकार्य है, जैसे व्रीहीनवहन्ति, धान को कूटें, अब हनन रूप क्रिया से व्रीहि, धान का छिलका निवृत्त होकर चावल होता है तो वह विकार्य है, (विकार को प्राप्त हुआ) उस तरह। अथवा संस्कार्य है, जैसे प्रोक्षण क्रिया से, (मन्त्र पढ़कर, जल छिड़कना) उलूखलादि संस्कृत होने के कारण संस्कार्य हैं उस तरह। अथवा प्राप्य है जैसे गो आदि के दूहने से पय, (दूध) प्राप्त होता है तो वह प्राप्य है, (ए चार विकल्प उपस्थित होते हैं) उनमें प्रथम पक्ष, उत्पाद्य, संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप है अथवा उससे भिन्न, प्रथम पक्ष में जड़ स्वभाव वाले घटादि से भिन्न इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि से उत्पन्न घटादि साक्षात्कार की तरह ब्रह्म साक्षात्कार भावना से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म

साक्षात्कार ब्रह्म स्वरूप है और ब्रह्म का प्रकाश अन्य के अधीन नहीं है अर्थात् स्वप्रकाश है। ब्रह्म साक्षात्कार के भी ब्रह्म का स्वभाव होने से और ब्रह्म के नित्य होने से तदभिन्न साक्षात्कार भी नित्य है। इसलिए वह उत्पन्न होने के योग्य नहीं हो सकता। यदि साक्षात्कार को ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न माना जाय तो घटादि के समान ब्रह्म भी जड़ हो जायगा और वह ब्रह्म[1] रूप रहित होने से इन्द्रियादि का विषय नहीं है, शब्द परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है, अतः केवल ब्रह्म भावना से उत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार (प्रातिभज्ञान के समान, यह कुछ है इस प्रकार का सामान्य ज्ञान) जिसमें विशेष का अव गाहन नहीं होता, विशेष निश्चय शून्य, उसके समान सन्देहग्रस्त होने से अप्रामाणिक हो जायगा। इस प्रकार के उक्त सामग्री युक्त ज्ञान में प्रामाण्य का व्यभिचार अधिक देखा गया है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जाता है भामती में। अनुमान से ज्ञात अग्नि की भावना करने वाले शीत से पीड़ित पुरुष को जिसका शरीर शीत के अधिकता से निश्चल हो गया है, उसको क्या प्रकट हो रही है जटाकार ज्वाला जिससे ऐसे अग्नि का भावनाजन्य साक्षात्कार क्या अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष) से, सम्वाद (मेल) खाने के योग्य है। अर्थात् केवल अग्नि की भावना से उत्पन्न अग्नि साक्षात्कार जैसे शीतादि निवृत्त करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि विसम्वाद की प्रमाणान्तर (विरोध की) अत्यन्त उपलब्धि होने से। उसी तरह से ब्रह्म भावना से उत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार भी अप्रमाणिक होने से उपासना में भी उत्पाद्य पक्ष में कर्म की अपेक्षा नहीं है। इस तरह से उत्पाद्य पक्ष की असम्भाव्यता दिखला कर विकार्यादि पक्ष भी सम्भव नहीं है यह प्रदर्शित करते हैं। कूटस्थ नित्य और सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान ब्रह्म में उपासना के द्वारा विकार संस्कार या प्राप्ति सम्भव है। (कूटस्थ नित्य (एजरूपतयालुप्तः कालव्यापी, सकूटस्थः, कूटोऽस्त्री निश्चलेपुमान् इत्यादि कोश से, एक रूप से जो तीनों काल में व्याप्त हो और निश्चल गति आदि से शून्य होकर स्थित हो वह कूटस्थ नित्य है भाष्यकार ने भी समन्वय सूत्र के भाष्य में कूटस्थ नित्य को आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त और सम्पूर्ण विकारों से रहित कहा है। अतः कूटस्थ नित्य ब्रह्म में पहिले स्वरूप का नाश रूपविकार और नूतन गुण की प्राप्ति रूप संस्कार संभव नहीं है और सर्वत्र व्याप्त होने से प्राप्ति भी उसमें नहीं बन सकती यह भाव है)

---

१ न तत्र चक्षुर्गच्छतिनवाक्गच्छति नमनः। न चक्षुषागृह्यते, यन्मनस्तनमनुते इत्यादि श्रुति ही ब्रह्म के इन्द्रिय विषयत्वा भाव में प्रमाण हैं।

भामती

स्यादेतत्—माभूद्ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पाद्यादिरूप उपासनायाः संस्कार्यस्तु अनिर्वचनीयानाद्यविद्याद्वयपिधानापनयनेनर्भविष्यति, प्रतिसीरापिहितानर्तकीव प्रतिसीरापनयद्वारा रङ्ग व्यापृतेन । तत्रचकर्मणामुपयोगः । एतावांस्तु-विशेषः—प्रतिसीरापनये पारिषदानां नर्तकी विषयसाक्षात्कारो भवति, इहतुअविद्यापिधानापनयमात्रमेवनापर मुत्पाद्यमस्ति ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मस्वभावस्य नित्यत्वेनानुत्पाद्यत्वात् ।

सुभद्रा—यच्छा तो उपासना का उत्पाद्यादि रूप कार्य ब्रह्म साक्षात्कार भले न हो, संस्कार्य तो अनिर्वचनीय अनादि भाव रूप जो मूला अविद्या और पूर्व-पूर्व भ्रम जन्य संस्कार रूपा अविद्या, (संस्कार में अनादिता प्रवाह रूपेण है) ये दोनों अविद्याएं ही विधान ब्रह्म के स्वरूप को ढंकने वाली हैं । उनका जो अप-नयन निवृत्ति उसके द्वारा सम्भव है, प्रतिसीरा (पर्दे से) पिहिता ढंकी हुई (उसके अन्दर छिपी हुई), परदे के नट के द्वारा हटाने पर नर्तकी के समान । तो उक्त दोनों अविद्याओं की निवृत्ति में कर्मों का उपयोग हो । इतनी विशेषता है, उससे कि परदे के हटाने पर सभासदों को नर्तकी का साक्षात्कार उत्पन्न होता है, अतः उत्पाद्य है, यहां पर ब्रह्म साक्षात्कार में केवल अविद्या रूप आवरण की निवृति मात्र होती है, अन्य कोई उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्म का स्वभाव है इसलिए नित्य है अतः उत्पन्न न होने से उत्पाद्य नहीं है, किन्तु संस्कार्य हो सकता है, जैसे दर्पण गत मालिन्य की निवृत्ति इष्ट[1]कादि संघर्षण से होने पर दर्पण संस्कार्य है उस तरह शुद्ध नित्य मुक्त सच्चिदानन्द ब्रह्म में भी मायावशात् कल्पित मालिन्यादि दोष निवृत्ति होने पर संस्कार्यता उपपन्न है ।

भामती

अत्रोच्यते—कापुनरियं ब्रह्मोपासना । किंशाब्दज्ञानमात्रसन्ततिः, आहो निर्विचिकित्स शाब्दज्ञानसंततिः । यदि शाब्दज्ञानमात्रसंततिः, किमियम-भ्यस्यमानाप्यविद्यां समुच्छेत्तुमर्हति । तत्त्वविनिश्चयस्तदभ्यासोवा सवासनं विपर्यास मुन्मूलयेत्, न संशयाभ्यासः सामान्यमात्रदर्शनाभ्यासोवा । नहि

१ इष्टकादि संघर्षण, ईंटे के चूरे आदि से घेंसकर ऐसे मलिनता को दूर किया जाता है ।

स्थाणुर्वा पुरुषोवेति वा आरोहपरिणाहवद् द्रव्यमितिवोशतशोऽपि ज्ञानमभ्य- स्यमानं पुरुषएवेतिनिश्चयाय पर्याप्तमृतेविशेषदर्शनात् । ननूक्तं – श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वायुक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यत इति । तस्मान्निर्विचिकित्स शाब्दज्ञानसन्ततिरूपोपासना कर्मसहकारिरायविद्योच्छेद द्वयहेतुः । नचाक्षानुत्पादित ब्रह्मानुभवातदुच्छेदाय पर्याप्ता । साक्षात्कार- रूपोहिविपर्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते नतुपरोक्षावभासेन दिङ्मोहालातचक्रचलद्वृक्षमरुमरीचिसलिलादिविभ्रमे, स्वपरोक्षावभासिषु अपरोक्षावभासिभिरेव दिगादि प्रत्यैर्निवृत्तिदर्शिनात् । नो खल्वाप्तवचन लिंगादि निश्चितदिगादि, तत्त्वानां दिङ्मोहादयोनिवर्तन्ते । तस्मात् त्वम्प- दार्थस्यतत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः । एतावताहि त्वम्पदार्थस्य दुःखि शोकित्वादि साक्षात्कार निवृत्तिर्नान्यथा । नचैषसाक्षात्कारो मीमांसा सहि- तस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य तस्यैव तत्फलत्व नियमात् अन्यथा कुटजबीजादपिटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मान्निर्वि- चिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमनन्तः करणं त्वंपदार्थस्य परोक्ष तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीतियुक्तम् । नचाय मनुभवोब्रह्म- स्वभावोयेन न जन्यते अपित्वन्तः करणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः । न चैतावता ब्रह्मणोऽपराधीन प्रकाशता । नहि शाब्दज्ञानप्रकाश्यंब्रह्म स्वयं प्रकाशं न भवति, सर्वोपाधिरहितं स्वयं ज्योतिरितिगीयते न तूपहितमपि । यथा हस्मभगवान् भाष्यकारः— नायमेकान्तेनाविषयः इति । नचान्तःकरणवृत्तावप्यस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः, तस्यैवतदुपाधेर्विनश्यदवस्थस्य स्वपरोपाधि- विरोधिनो विद्यमानत्वात् ।

सुभद्रा—उक्त रीति से उपासना का संस्कार्य (कर्म), ब्रह्म साक्षात्कार अविद्या विधान, के अपनय द्वारा स्थापित कर उसमें कर्म की उपयोगिता पूर्व पक्षी ने सिद्ध की उसका निराकरण अत्रोच्य ने इत्यादि से भामती में किया जाता है । वह ब्रह्मोपासना क्या है, क्या आपालतः प्रतीत शब्द, जन्य ज्ञान मात्र का प्रवाह जो अप्रामाण्य के शंका रूपी कलङ्क दोष के पङ्क (कीचड़) के प्रक्षालन से रहित नहीं है, उसका अभ्यास अथवा उक्त दोष रहित, अर्थात् जिसमें अप्रामाण्य के शंका की निवृत्ति हो गई है ऐसा संशय रहित शब्द जन्य ज्ञान के प्रवाह का अभ्यास । प्रथम पक्ष यदि अभिप्रेत हो तो क्या, उसका अभ्यास अविद्या को नाश करने मे समर्थ है । यथार्थ ज्ञान का निश्चय और उसका अभ्यास ही वासना (संस्कार) के सहित अविद्या को उन्मूलन करने में समर्थ है, न कि संशयात्मक ज्ञान का अभ्यास

या सामान्य[1] मात्र ज्ञान का अभ्यास । उदाहरण के लिए जैसे यह, स्थाणु (ठूँठ) है, या पुरुष यह संशयात्मक ज्ञान अथवा उन्नत और विस्तृत द्रव्य है यह सामान्य ज्ञान सैकड़ों बार अभ्यास किए जाने पर भी यह पुरुष ही है ऐसा निश्चय करने में समर्थ नहीं है जब तक कि विशेष रूप से ज्ञान न हो। अतः संशययुक्त प्रयोजन रहित उपासना मे कर्म की अपेक्षा नहीं है। तो द्वितीय पक्ष माना जाय, अर्थात् श्रुति जन्य ज्ञान से जीवात्मा का परमात्म भाव ग्रहण कर पुनः युक्ति से अर्थात् मनन, से निश्चित किया जाता है। इस कारण से संशय रहित शब्द जन्य ज्ञान का प्रवाह रूप उपासना जिसमें कर्म सहकारितया अपेक्षित है वही उक्त दोनों अविद्याओं के नाश का हेतु हो। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह उपासना ब्रह्म के अनुभव (साक्षात्कार) को उत्पन्न किए बिना पूर्वोक्त दोनों अविद्याओं के नाश में समर्थ नहीं है। क्योंकि साक्षात्कार रूप भ्रमात्मक ज्ञान की (अर्थात् प्रत्यक्ष भ्रम की, निवृत्ति प्रमात्मक साक्षात्कार से ही होती है न कि परोक्ष ज्ञान से। इसलिए जीव में कर्तृत्वादि धर्मों का अध्याय कर्तृत्वादि विरुद्ध अकर्तृत्व अभोक्तृत्वाद्युपलक्षित ब्रह्म साक्षात्कार से ही निवृत्त होने के योग्य है, यदि यह कहा जाय कि रज्जु सर्प का भ्रमात्मक साक्षात्कार प्राप्त पुरुष के मुख से यह सर्प नहीं है। ऐसा सुनकर भी निवृत्त होता है। जो कि शब्द से जन्य होने से साक्षात्कार रूप नहीं है तो उक्त नियम व्यभिचरित है, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि रज्जु सर्पादि स्थल में निरुपाधिक किसी उपाधि के बिनाही, भ्रम होता है उसकी निवृत्ति शब्द (शब्दजन्य) परोक्ष ज्ञान से भी हो सकती है, परन्तु जीव में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का भ्रम तो अन्तःकरण या, अविद्या, रूप उपाधि प्रयुक्त है, अतः सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति अपरोक्ष ज्ञान से ही होती है न कि परोक्ष ज्ञान से क्योंकि दिङ्मोहादिसोपाधिक भ्रम की निवृत्ति दिशा आदि के यथार्थ, साक्षात्कार से ही देखी गई है न कि परोक्ष ज्ञान से, दिङ् मोह, दिशाओं में भ्रम का होना पूर्व दिशा को विपरीत पश्चिम दिशा जानना आदि, वहां पर न जाने हुए देश विशेष की प्राप्ति ही उपाधि है तत्प्रयुक्त ही दिशा भ्रम होता है, एवं अलात चक्र भ्रम, अलात, उल्का (आग की बनेठी), स्पन्द, स्वयंगति रहित उसमें जैसे ऋजु वक्रादि भासते हैं उसकी निवृत्ति उसके तत्वसाक्षात्कार से ही होती है इसी तरह नौका पर स्थित, या रेलगाड़ी आदि में बैठे हुए पुरुष को वृक्ष चलते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव में वे चलते नहीं, वहाँ पर नौकादि की गति ही उपाधि है,

---

१. जो ज्ञान विशेष ज्ञान शून्य है, जैसे यह द्रव्य है, परन्तु यह घट है या पट यह निश्चय नहीं है ऐसा ज्ञान सामान्य ज्ञान है।

उसकी भी निवृत्ति केवल शब्द जन्य परोक्ष ज्ञान से नहीं होती, किन्तु स्थिर वृक्ष के साक्षात्कार से ही होती है, एवं मरुस्थल में सूर्य की किरणों पड़ने से उसमें जल भ्रम होता है, ये सब सोपाधिक भ्रम हैं इनको निवृत्ति जैसे उनके स्वरूप प्रमात्मक साक्षात्कार ही होता है। न कि किसी आप्त पुरुष के वचन से अथवा किसी हेतु से उनके तत्त्व का निश्चय होने से जो कि परोक्ष है। इसलिए त्वम्पदार्थ जीव का तत्पदार्थ जो परमात्मा है, उस रूप से साक्षात्कार इष्ट है, तभी त्वपदार्थ जीवात्मा का दुःखित्व शोकित्व (दुःखी होना शोक युक्त होना) आदि भ्रमात्मक साक्षात्कार की निवृत्ति होगी अन्यथा नहीं। आशय यह है कि शुद्ध नित्य मुक्त सच्चिदानन्द स्वभाव भी जीव अविद्या के कारण अपने को दुःखी चिन्ता युक्त कर्त्ताभोक्तामान बैठा है जो कि वास्तविक न होने से भ्रम है, उसकी निवृत्ति उक्त प्रमात्मक साक्षात्कार से ही होगी न कि केवल शब्द जन्य आपाततः ज्ञान मात्र से) और वह साक्षात्कार विचार सहित शब्द प्रमाण का फल नहीं है, अर्थात् केवल तत्त्वमस्यादि वाक्य रूप जो शब्द प्रमाण उससे उत्पन्न जो ज्ञान विचारपूर्वक है, केवल उसी से ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता किन्तु भावना सहकृत अन्तःकरण के द्वारा ही होता है, क्योंकि शब्द का यह स्वभाव देखा गया है, कि वह परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करता है न कि प्रत्यक्ष ज्ञान, उसमें तो इन्द्रियादि ही करणत्वे न क्लृप्त है, अतः मन रूप इन्द्रिय से सहकृत शब्द ही ब्रह्म साक्षात्कार से समर्थ है, यदि उक्त मर्यादा का उल्लङ्घन किया जाय तो कुरज वृक्ष के बीज से बरगद का अङ्कुर क्यों न उत्पन्न हो, इससे यह निष्कर्ष निकला, कि यदि शब्द उक्त साक्षात्कार में करण होता तो उसमें स्वतः सामर्थ्य न होने से कर्म की अपेक्षा होती परन्तु वही नहीं सिद्ध होता, कि अपेक्षा होती किन्तु क्लृप्त अन्तःकरण ही करण हैं उसको भावना पर पर्याय उपासना, निदिध्यासन के समय में कर्मादि की अपेक्षा नहीं है जिससे कि कर्म और उपासना का समुच्चय सिद्ध हो किन्तु उपासना के पूर्व ब्रह्म विषयक जिज्ञासा की सिद्धि के लिए अन्तःकरण के शुद्धि में हो है। यह भामतोकार का अभिप्राय है।

विशेष—(विवरणकार के मत में श्रवण जन्य प्राथमिक ब्रह्मज्ञान में शब्द ही करण है इसलिए अविद्या निवर्तक ब्रह्म साक्षात्कार जो कि अन्तिम है उसमें भी शब्द को ही करण मानना उचित है। दशमस्त्वमसि इत्यादि वाक्य ही अपरोक्ष साक्षात्कार के जनक देखे गए हैं। (दश पुरुष साथ हो कहीं पर जाते थे, मार्ग में नदी के होने से उसको तैर कर पार किए, अनन्तर सब हैं कि नहीं इस विचार से गणना के समय जो पुरुष गणना करता था वह अपने को न गिनकर नव पुरुष को ही गिनता था। तो उन सबमें भ्रम हो गया कि एक आदमी नदी में

डूब गया, किसी आप्त पुरुष ने उनको शोकाकुल देखकर दशवाँ तूं ही है तो जैसे वहाँ पर शब्द से ही अपना साक्षात्कार होने से भ्रम निवृत्त होता है) वैसे ही प्रकृत में भी शब्द से ही ब्रह्म साक्षात्कार होकर, सांसारिक दुखः की, भ्रम, की निवृत्ति हो जायगी और मन यदि कर्ता है तो करण कैसे होगा यन्मनसा न मनुते यह श्रुति भी मन को ब्रह्मज्ञान में करणता की निषेध करती है, विषय की अपरोक्षता और ज्ञान की अपरोक्षता दो प्रकार की अपरोक्षता होती है। अभिव्यक्त विषयावच्छिन्न चैतन्य भिन्नता ही विषय की अपरोक्षता है। घटाकार वृत्ति से घटावच्छिन्न चैतन्य के अभिव्यक्त होने पर चैतन्य में आध्यासिकता तादात्म्य सम्बन्धेन अध्यस्त घट उससे अभिन्न होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय होता है। ज्ञान की अपरोक्षता अपरोक्ष घटादि विषयक व्यवहार की जनकता ही है घटज्ञान जो चाक्षुषादि व्यापार से अभिव्यक्त है उसमें व्यवहार जनकता के होने से स्वाभाविक अपरोक्षता है। इस तरह तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य अपरोक्ष जीवाभिन्न ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष ही है। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (उस उपनिषत्प्रमाण से जानने के योग्य पुरुष को पूछता हूँ) इस श्रुति से ब्रह्म केवल उपनिषत्प्रमाण गम्य है, इससे भी शब्द में करणता सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि शब्द के परोक्ष ज्ञान जनकत्व स्वभाव की हानि होगी, तो यह युक्त नहीं, दशमस्त्वमसि आदि स्थल में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान भी होता है यह पूर्व में कहा गया है और भी बात है शब्द स्वतः अपरोक्ष ज्ञान में समर्थ न भी हो परन्तु शास्त्र श्रवण मनन पूर्वक प्रत्यय के अभ्यास से उत्पन्न अनेक संस्कारों से प्राप्त ब्रह्म के एकाग्रता से युक्त चित्त रूप दर्पण से अनुगृहीत जैसे चक्षु अपने प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं करता है परन्तु दर्पण के सान्निध्य में प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं करता है, वैसे ही यहाँ पर भी चित्त रूप दर्पण से युक्त होकर शब्द भी अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है। परन्तु यह भामतीकार को अभिप्रेत नहीं है क्योंकि ब्रह्म के स्वतः अपरोक्ष न होने से तद्विषयक शब्द जन्य ज्ञान भी अपरोक्ष नहीं है, यदि ब्रह्म की अपरोक्षता स्वतः हो तो श्रवणानन्तर मनन निदिध्यासन व्यर्थ होंगे किन्तु मन द्वारा ही प्रत्यक्ष संभव है, एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः, (इस अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा को मन से जानना चाहिए) दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या, (अति सूक्ष्म बुद्धि से आत्मा देखा जाता है) इत्यादि श्रुति भी मनको ब्रह्म साक्षात्कार में करण बतला रही है। यन्मनसानमनुते यह श्रुति असंस्कृत मन विषयक है जिससे कि उसका भी विरोध नहीं है। अहङ्कारोपहित आत्म साक्षात्कार मेमन को करणता क्लृप्त है अतः निर्विकल्पक आत्मा साक्षात्कार में भी मन ही करण है, यदि शब्द करण हो, तो शाब्द बोध में योग्यता आकांक्षा ज्ञान आदि जितने करण हैं वे सब अपेक्षित होंगे परन्तु

समाधि अवस्था में ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह में मग्नान्तः करणयुक्त पुरुष को ब्रह्म साक्षात्कार के पूर्वक्षण में वे ज्ञान संभव नहीं हैं, यदि उस समय योग्यतादि ज्ञान भी हों तो समाधि भङ्ग की आपत्ति है अतः मन ही ब्रह्म साक्षात्कार में करण है) इसलिए संशय रहित वाक्यार्थ की भावना के परिपाक सहित अन्तःकरण ही त्वंपदार्थ जो कि अन्तःकरणोपाधि विशिष्ट जीवसंज्ञक है और संसार दशा में भी, प्रत्यक्ष है उस उपाधि के स्वरूप का निषेध कर देने से तत्पदार्थ परमात्मा के ऐक्य का अनुभव कराता है यही युक्त है और यह अनुभव ब्रह्म का स्वभाव नहीं है जिससे कि नित्य होने से जन्य न हो किन्तु अन्तःकरण के वृत्ति का ही भेद है जो कि ब्रह्म को विषय करता है। इससे ब्रह्म में अन्य के अधीन प्रकाशता सिद्ध हुई ऐसी शंका ठीक नहीं। क्योंकि शब्दा परोक्ष वादी के मत में भी शब्द जन्य ज्ञान का विषय होने से क्या ब्रह्म स्वप्रकाश नहीं है, सम्पूर्ण उपाधि से रहित ब्रह्म स्वयं प्रकाश है न कि उपाहित ब्रह्म। भगवान् भाष्यकार ने कहा भी है कि यह अत्यन्त (नियमतः) अविषय नहीं है और अन्तःकरण वृत्ति द्वारा इसका साक्षात्कार होने पर भी सम्पूर्ण उपाधि से वह रहित है ऐसा नहीं। किन्तु वृत्ति रूप उपाधि उस समय भी विद्यमान रहती है, तो उपहित में वृत्ति विषयता, शुद्ध में स्वप्रकाशता है और उस ब्रह्म की वृत्ति रूप उपाधि जिसके अवस्था का विनाश हो रहा है और जो स्ववृत्ति रूप उपाधि और अन्य उपाधि, अविद्या, अन्तःकरण आदि उसका विरोधी है वह उस समय में भी विद्यमान है। (अभिप्राय यह है कि शब्द जन्य ज्ञान सह कृत अन्तःकरण की वृत्ति जो ब्रह्म को विषत करती है वहां पर अन्य कोई उपाधि न होने पर वृत्ति स्वयम् उपाधि है और वह जैसे अन्य सब अविद्या आदि उपाधियों का विरोधी है वैसे ही अपने का भी विरोधी है, इसलिए वह वृत्ति अपनी विद्यमानता में विनाश का कारण स्वयं होने से विनाश को प्राप्त हो रही है अवस्था जिसकी ऐसी है वह साक्षात्कार क्षण में भी विद्यमान है अतः वृत्युपहित ब्रह्म ही विषय है जो कि स्वप्रकाश नहीं है, परन्तु उस दशा में भी उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म स्वरूप से भी स्वप्रकाश नहीं है यह बात नहीं किन्तु उपहित रूप से स्वप्रकाशन नहीं है इसलिए ब्रह्म में स्वप्रकाशत्व की क्षति नहीं है).

शंका—वृत्ति विशिष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार मानने पर उससे अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्ति नहीं होगी क्योंकि समान विषयक ज्ञान समान विषय कही। अज्ञान को निवृत्त करता है। तो अज्ञान तो अनुपहित शुद्ध, ब्रह्म विषयक है, ज्ञान वृत्ति विशिष्ट ब्रह्म का है तो इस ज्ञान से उक्त अज्ञान की निवृत्ति कैसे होगी। (भिन्न विषयक दो से)

समाधान—अज्ञान भी स्वोपहित ब्रह्म को ही विषय करता है न कि अनुपहित को अतः ज्ञान अज्ञान दोनों के समान विषयक होने से कोई अनुपपत्ति नहीं है, यदि अज्ञान भी उपहित को विषय करता है तो आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभाग चितिरेव केवला, इत्यादि संक्षेप शारीरक कार के वचन का विरोध होगा, क्योंकि विभाग रहित शुद्ध चित् ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है, तो वह प्रस्थानान्तर परक है अर्थात् विवरण प्रस्थान के मत से प्रतिपादित है न कि भामती प्रस्थान के अनुरोध से ।

भामती

अन्यथा चैतन्यच्छायापत्तिं विनाऽन्तः करणवृत्तेः स्वयमचेतनायाः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तौसाक्षात्कारत्वायोगात् । नचानुमितभावितवह्निसाक्षात्कारवत् प्रतिभात्वेना स्याप्रामाणयम् तत्रवह्निस्वलक्षणस्य परोक्षत्वात् । इहतु ब्रह्मरूपस्योपाधि कलुषितस्य जीवस्य प्रागप्यपरोक्षत्वात् । नहि शुद्धबुद्धत्वादयो वस्तुतस्ततोऽतिरिच्यन्ते जीवएवतु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धबुद्धादिस्वभावो ब्रह्मेति गीयते । न च तत्त दुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते । तस्माद्यथागान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्या साहितसंस्कार सचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वर ग्रामभेद मूर्च्छनाभेदमध्यक्ष मनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहित संस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्तः करणेनेति । अन्तःकरणवृत्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारे जनयितव्येऽस्ति तदुपासनायाः कर्मापेक्षेतिचेत् ? न तस्याः कर्मानुष्ठाने सहभावाभावेन तत्सहकारित्वानुपपत्तेः । नखलु तत्त्वमसिइत्यादेर्वाक्यान्निर्विचिकित्सं शुद्धबुद्धोदासीन स्वभावमकर्तृत्वाद्युपेतमपेत ब्राह्मणत्वादिजातिं देहाद्यतिरिक्त मेकमात्मानं प्रतिपद्यमानः कर्मस्वधिकारं भवबोध्दुमर्हति । अनर्हश्च कथंकर्ता वाऽधिकृतोवा । यद्युच्येतनिश्चितेऽपितत्त्वे विपर्यासनिबन्धनो व्यवहारोऽनुवर्तमानो दृश्यते यथागुडस्य माधुर्यं विनिश्चयेऽपि पित्तो पहतेन्द्रियाणां तिक्तावभासानुवृत्ति रास्वाद्यथूत्कृत्यत्यागात् । तस्मादविद्यासंस्कारानुवृत्त्या कर्मानुष्ठानंदेन च विद्यासहकारिणा तत्समुच्छेद उपपत्स्यते । नचकर्माविद्यात्मकं कथमविद्यामुच्छिनत्ति । कर्मणोवातदुच्छेदकस्य कुतउच्छेद वाच्यम्, सजातीयस्वपरविरोधिनां भावनां बहुलमुपलब्धेः, यथापयः पयोऽन्त जरयति स्वयं च जीर्यति । यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति । यथा वाकलकरजो रजोऽन्तराविलेपाथासि प्रक्षिप्तंरजोऽन्तराणि भिन्दत स्वयंमपिभिद्यमान मनाविलंपाथः करोति । एवंकर्माविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत्स्वयमपगच्छतीति ॥

सुभद्रा—वृत्ति से उपदित ब्रह्म को वृत्ति का विषय मानने पर वृत्ति रूप उपाधि से सम्बन्ध से ब्रह्म में विषयता सिद्ध होगी और ब्रह्म के विषय होने पर वृत्ति रूप उपाधि सिद्ध होगी, तो परम्परापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा, इस शंका पर भामती में (अन्यथा चैतन्यच्छायापत्ति बिना) (इत्यादि कहा गया) आशय यह है कि यदि वृत्युपहित को विषय न मानकर शुद्ध ब्रह्म ही को विषय माना जाय तो निरूपाधिक ब्रह्म का वृत्ति में प्रतिबिम्ब सम्भव न होने से स्वयम् जड़स्वभाव वृत्ति के स्वप्रकाशन होने से किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं होगा। घटादि साक्षात्कार मे घटाकार जो अन्तःकरण का वृत्ति रूप परिणाम उसमें चैतन्य के प्रतिबिम्ब के बिना घटादि का प्रकाश उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि वृत्ति का स्वभाव जड़ है वह स्वयं किसी को प्रकाशित नहीं कर सकती और ब्रह्म साक्षात्कार का ब्रह्म विषय होता है तत्प्रयुक्त प्रतिबिम्ब चैतन्यकत्वन अभिप्रेत नहीं है किन्तु स्वतः क्योंकि घटादि वृत्ति में भो जहां पर ब्रह्म विषय नहीं होता वहां पर भी चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, अन्यथा उसका प्रकाश ही नहीं होगा, चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है उसका स्वभाविक वृत्ति के साथ सम्बन्ध है जिससे कि अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

शंका—संसारावस्था में अप्रकाशित ब्रह्म को वृत्तिजन्य, अपरोक्षता ब्रह्मस्वरूप से भिन्न होने से, अनुमान से ज्ञात वह्नि की भावना से भाविता वह्नि साक्षात्कार के समान प्रातिभ होने से, (केवल भावना जन्य होने से) अप्रामाणिक हो जायगा।

समाधान—वहां पर वह्नि का स्वरूप परोक्ष है साक्षात्कार विषयीभूत वह्नि का प्रत्यक्ष से सम्वाद (मेंल) नहीं है अतः वहां पर वह्नि साक्षात्कार भ्रमात्मक भले हो यहां पर तो ब्रह्मस्वरूप जीव जो कि अन्तःकरण आदि उपाधि से कलुषित है उसका संसारावस्था में भी प्रत्यक्ष होता है इसलिए विषय के साथ विसम्वाद न होने से अर्थात् मेल होने से भ्रम नहीं है।

शंका—जीव चैतन्य के प्रत्यक्ष होने पर भी शुद्ध आनन्द आदि स्वरूप का संसारावस्था में प्रत्यक्ष न होने से उस रूप से साक्षात्कार भ्रम होगा।

समाधान—शुद्ध बुद्धत्व आदि जीव के वास्तविक स्वरूप से भिन्न नहीं हैं संसारावस्था में उपाधि से आवृत्त (कलुषित) होने से वे प्रकाशित नहीं होते, जैसे बादल से ढंका हुआ सूर्य प्रकाशित नहीं होता किन्तु वायु के द्वारा बादल के दूर होने पर जैसे सूर्य अभिव्यक्त होता है उसी तरह ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति से

उपाधियों के निवृत्त होने पर जीव भी शुद्ध बुद्ध आनन्द आदि रूप से अभिव्यक्त होता हैं। अर्थात् जीव ही उक्तस्वभाव विशिष्ट ब्रह्म है यह शास्त्रों से कहा गया है।

प्रश्न--उपाधियों का अभाव यदि स्वरूप से अतिरिक्त है और परोक्ष हैं तो उसका साक्षात्कार (मान) नहीं होगा और स्वरूप से अतिरिक्त होने से द्वैतापत्ति होगी।

उत्तर--उपाध्य भाव भी स्वरूप से अतिरिक्त नहीं हैं, अभाव के अधिकरण स्वरूप होने से जैसे तार्किक घटा भाव में जो पटा भाव है, अर्थात् अभावाधिकरणक अभाव उसको अधिकरण स्वरूप ही मानते हैं न कि अतिरिक्त उसी तरह उपाध्य भाव भी अधिकरण ब्रह्म स्वरूप ही है जिससे वह भी स्वरूप से अतिरिक्त न होने से साक्षात्कार का विषय होता है, अतएव द्वैतापत्ति भी नहीं है।

शंका—चैतन्य से अभिन्न यदि आनन्द आदि धर्म हैं तो चैतन्य के समान से सार दशा में भी उनका भान होना चाहिए यदि उपाधि से आकृत होने के कारण नहीं भासते तो तदभिन्न चैतन्य का भी प्रकाशन होना चाहिए।

समाधान—जैसे गान्धर्व शास्त्र के अभ्यास के पूर्व षटजादि स्वरों का समूह और मूर्च्छना इन सबका स्थूल मति वाले पुरुषों को श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु उक्त शास्त्र के अर्थ के ज्ञान का अभ्यास करने से दृढ़ संस्कार होने पर उनके सहायता से उक्त स्वरादि का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उसी तरह वेदान्त शास्त्र के अभ्यास के पूर्व शुद्धत्वादि धर्म प्रतीत नहीं होते किन्तु वेदान्त वाक्य जनित जीव ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ ज्ञान के अभ्यास से दृढ़ संस्कार युक्त पुरुष को अन्तःकरण के सहायता से जीव का ब्रह्म भाव भी साक्षात्कार का विषय होता है।

शंका—अन्तःकरण के वृत्ति से ब्रह्म साक्षात्कार जनयितव्य हो (उत्पन्न करने के योग्य हो) उसमें कर्म सहकृत उपासना की अपेक्षा क्यों न हो।

समाधान—नहीं ब्रह्मोपासना का कर्मानुष्ठान के साथ सहभाव न होने से कर्म की सहकारिता अपेक्षित नहीं है। ब्रह्मोपासना और यज्ञादि कर्म यदि एक काल में स्थित हों तो दोनों का समुच्चय सिद्ध हो परन्तु यह संभव नहीं इस जन्म के अथवा जन्मान्तरीय कर्म से शुद्ध अन्तःकरण युक्त पुरुष व्यापारान्तर शून्य होकर उपासना से उत्पन्न ब्रह्मानन्द समुद्र में निमग्न उस समय बाह्य साधनापेक्ष यज्ञादि कर्मों में कैसे प्रवृत्त होगा। तत्त्वमस्यादि वाक्य से संशय रहित शुद्ध-बुद्ध उदासीन स्वभावयुक्त और कर्तृत्वादि धर्मशून्य ब्राह्मणत्वादि जात्यभिमान शून्य

देहेन्द्रियादि से अतिरिक्त आत्मा को जानता हुआ पुरुष कर्म के अधिकार को जानने में कैसे समर्थ हो सकता है। जब कि जानने में ही समर्थ नहीं है तो कर्म में अधिकृत और उसका कर्ता कैसे होगा। यदि यह कहा जाय कि यथार्थ ज्ञान के होने पर भी विपरीत ज्ञान निमित्त के व्यवहार अनुवर्तमान दिखलाई पड़ता है। जैसे गुड़ में मधुरता का निश्चय होने पर भी पित्तदोष से दूषित रसनेन्द्रिय युक्त पुरुष को उसमें तिक्तता के प्रतीति की अनुवृत्ति होती है क्योंकि उसके खा लेने पर थूक करके उसका त्याग करता है। इसलिए अविद्या के संस्कारों की अनुवृत्ति के होने से कर्मों का अनुष्ठान होगा और ज्ञान के सहायता से कर्म के द्वारा अविद्या का नाश उत्पन्न होगा।

शंका—कर्म भी अविद्या जन्य है अतः तत्स्वरूप कर्म अविद्या का नाश कैसे करेगा यदि यह स्वीकृत भी हो तो अविद्या के नाशक कर्म का कौन नाश करेगा।

समाधान—समान जाति वाले अपने और दूसरे विरोधी वस्तुओं की अधिकतर उपलब्धि देखी गई है। जैसे दूध अपने सजातीय अन्य पय अर्थात् जल को जलाकर स्वयं जल जाता है। जैसे विषस्या विषभौषधम् इस न्याय से विष अन्य विष का शमन कर स्वयम् भी शान्त हो जाता है। जैसे निर्मली मलिन जल में पड़ी हुई उसके मालिन्य को दूर कर स्वयं भी नीचे बैठकर जल को निर्मल कर देती हैं, उसी तरह अविद्यात्मक भी कर्म अन्य अविद्याओं को निवृत्त करता हुआ स्वयं भी निवृत्त हो जायगा।

भामती

अत्रोच्यते सत्यम् सदेव सोम्येदम् इत्युपक्रमात् तत्त्वमसि इत्यन्तात् शब्दात् ब्रह्म मीमांसोपकरणा दसकृदभ्यस्तात्। निर्विचिकित्सेऽनाद्यविद्योपादानदेहाद्यतिरिक्त प्रत्यगात्म तत्त्वावबोधेजातेऽपि अविद्या संस्कारानुवृत्ता वनुवर्तन्ते सांसारिका प्रत्ययास्तद्व्यवहाराश्च तथापि तानप्ययं व्यवहार प्रत्ययान् मिथ्येति मन्यमानो विद्वानन् श्रद्धत्ते पित्तोपहतेन्द्रिय इव गुडं थुत्कृत्य-त्यजन्नपि तस्य तिक्तताम्। तथा चायं क्रियाकर्तृकरणेतिकर्तव्यता फल-प्रपञ्च मतात्त्विकं विनिश्चिन्वन् कथमधिकृतो नाम विदुषोह्यधिकारोऽन्यथा पशुशूद्रादीनामप्यधिकारो दुर्वारः स्यात्। क्रियाकर्त्रादि स्वरूप विभागं च विद्व-त्स्यमान इह विद्वानभिमतः कर्मकांडे। अतएव भगवान विद्वद्विषयं शास्त्रस्य वर्णयाम्बभूव भाष्यकारः। तस्माद्यथा राजजातीयाभिमानकर्तृके राजसूयेन विप्रवैश्यजातीया भिमानिनोरधिकारः एवं हि जाति कर्तृ क्रिया

करणादि विभागाभिमानिकर्तृके कर्मणि न तदनभिमानिनोरधिकारः। न चानधिकृतेन समर्थेनापिकृतं वैदिकं कर्मफलाय कल्पते वैश्यस्तोम इव ब्राह्मणराजन्याभ्याम् तेनदृष्टार्थेषु कर्मसुशक्तः प्रवर्तमानः प्राप्नोतुफलं दृष्टत्वात् अदृष्टार्थेषुतु शास्त्रैकसमधिगम्यं फलमनधिकारिणि न युज्यत इति नापासना-याःकार्ये कर्मापेक्षा।

सुभद्रा—(पूर्वोक्त प्रकार से कर्म समुच्चय के सिद्ध होने पर उसका निरा-करण भामती में किया जाता है) ठीक है हे सोम्य यह जगत् अपने उत्पत्ति के पूर्व सद्रूप से ही स्थितथा ऐसा उपक्रम (प्रारम्भ) करके, तत्त्वमासे पर्यन्त शब्द जन्य ब्रह्म विचारसहकृत तत्त्वज्ञान से जिसका बारंबार अभ्यास किया गया है, संशयरहित अनादि अविद्या है उपादान कारण जिस देहेन्द्रियादि का उससे अति-रिक्त आत्मतत्त्व के बोध हो जाने पर भी अविद्या के संस्कारों का अनुवर्तन होने से सांसारिक वस्तुओं के प्रतीति की अनुवृत्ति होती है और तद्विषयक व्यवहार भी हुआ करते हैं। परन्तु उनको तत्त्ववेत्ता विद्वान् पुरुष मिथ्या जानता हुआ उनमें श्रद्धा नहीं रखता, जैसे पित्त से दूषित रसनेन्द्रिय युक्त, पुरुष जिसको गुड़ में मधुरता का निश्चय है, गुड़ को थूक कर त्यागता हुआ भी गुड़ के तिताई में आस्था नहीं रखता। वो ऐसा पुरुष क्रिया कर्ता करण इति कर्तव्यता फल प्रपञ्च ए सब अतात्त्विक है (यथार्थ नहीं) ऐसा निश्चय करता हुआ कैसे कर्म में अधि-कृत हो सकता है, जो क्रिया कर्ता आदि के स्वरूप को वास्तविक जानता है ऐसे पुरुष का ही कर्म में अधिकार है, नहीं तो पशु शूद्रादि भी अधिकारी होने लगेंगे। कर्मानुष्ठानोपयोगी क्रिया कर्ता आदि के स्वरूप और विभाग को यथार्थ जानता हुआ अविद्वान् ही, अर्थात् श्रुति युक्ति सिद्ध उनके मिथ्यात्व को न जानता हुआ केवल कर्मपरक शास्त्र वाक्यों का ज्ञान रखता हुआ विद्वान् के तरह प्रतीत होने वाला पुरुष कर्म काण्ड में अधिकारी है। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने शास्त्र को भी अविद्वद्विषयक स्वीकार किया है। इस हेतु से जो अपने को क्षत्रियकुलाभिमानी मानता है, (राजा समझता है) तत्कर्तृकराजसूययज्ञ में ब्राह्मण जाति और वैश्य जाति के अभिमानी का अधिकार नहीं है। इसी तरह द्विजात्यभिमानी पुरुष कर्तृक, (अर्थात् उनसे करने के योग्य) क्रिया करण आदि के विभाग का अभिमान है जिन पुरुषों को ऐसे पुरुषों से करने योग्य कर्मों में जिसको उक्त अभिमान नहीं है उसका अधिकार नहीं है। जो जिस कर्म में शास्त्र से अधिकृत नहीं है उसमें समर्थ होने पर भी उनके द्वारा किया हुआ वह कर्म वैदिक जो यागादि उससे उसके फलको उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय से किया हुआ वैश्यस्तोम यज्ञ फल देने में समर्थ नहीं है। इस कारण से दृष्ट

देखा गया है, अर्थ (प्रयोजन) जिसका ऐसे कर्मों में समर्थ पुरुष फल को प्राप्त भले ही करें, दृष्ट प्रयोजन होने से। अदृष्ट (धर्म अधर्म रूप प्रयोजन) जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं ऐसे प्रयोजनयुक्त कर्मों का फल केवल शास्त्रमात्र से वेद्य होने के कारण अनधिकारी में युक्त नहीं हैं, इसलिए उपासना में कर्म की अपेक्षा नहीं है।

भामती

स्यादेतत्—मनुष्याभिमानवदधिकारिके कर्मणि विहिते यथा तदभिमानरहितस्यानधिकारः एवं निषेधविषयोऽपिमनुष्याधिकारा इति तदभिमानरहितस्तेष्वपि नाधिक्रियेत पश्वादिवत्। तथा चायं निषिद्धमनुतिष्ठन् न प्रत्यवेयात् तिर्यगादिवदिति भिन्नकर्मतापातः। मैवम् नखल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमान रहितः किन्त्वविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्ततेऽनुवर्तमानं च मिथ्येति मन्यमानो न श्रद्धत इत्युक्तम्। किमतः यद्येवम् एतदतोभवति विधिषु श्राद्धोऽधिकारी नाश्राद्धः। ततश्च मनुष्याद्यभिमाने ना श्रद्दधानो न विधिशास्त्रेणाधिक्रियते। तथा च स्मृतिः अश्रद्धया हुतं दत्तम् इत्यादिका। निषेधकार्यं तु न श्रद्धामपेक्षते अपितु निषिध्यमानक्रियोन्मुखो नर इत्येव प्रवर्तते। तथा च सांसारिक इव श्रद्धावगतब्रह्मतत्त्वोऽपि निषेधमतिक्रम्य प्रवर्तमानः प्रत्यवैतीति नभिन्नकर्मदर्शनाभ्युपगमः। तस्मान्नोपासनायाः कार्ये कर्मापेक्षा। अतएव नोपासनोत्तरावधि निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानोदयोत्तरकालमनधिकारः कर्मणामित्युक्तम्। तथा च श्रुतिः—न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः तत्किमिदानीमनुपयोग एव सर्वथेह कर्मणाम्, तथा च विविदिषन्ति यज्ञेन इत्याद्याः श्रुतयो विरुध्येरन्। नआरादुपकारकत्वात्कर्मणां यज्ञादीनाम्। तथा हितमेतमात्मानं वेदानुवचनेन नित्यस्वाध्यायेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति नतु विदन्ति। वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्यर्थतयाशब्दतोगुणत्वात् इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्यसम्प्रत्ययात्। नहि राजपुरुष मानयेत्युक्ते वस्तुतः प्रधानोऽपिराजा पुरुष विशेषणतया शब्दत उपसर्जन आनीयतेऽपितु पुरुष एव शब्दतस्तस्य प्राधान्यात्। एवं वेदानुवचनस्येव यज्ञस्यापीच्छासाधनतया विधानम्। एवं तपसोऽनाशकस्य। कामानशनमेव तपः हितमेध्याशिनोहि ब्राह्मणे विविदिषा भवति न तु सर्वथाऽनश्नतः मरणात्। नापि, चान्द्रायणादितपःशीलस्य धातुवैषम्यापत्तेः। एतानि च नित्यान्युपात्तदुरितनिर्बर्हणेन पुरुषं संस्कुर्वन्ति तथा च श्रुतिः सहवा आत्मयाजीयो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते। अनेनेति प्रकृतं यज्ञादि परामृशति। स्मृतेश्च यस्यैतेऽष्टा

चत्वारिंशत्संस्काराः इति । नित्यनैमित्तिकानुष्ठानप्रक्षीणकल्मषस्य च विशुद्धसत्त्वस्याविदुष एव उत्पन्नविविदिषस्य ज्ञानोत्पत्तिं दर्शयत्याथर्वणी श्रुतिः विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः इति । स्मृतिश्च—ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः इत्यादिका क्लृप्तेनैव च नित्यानां कर्मणां नित्येहितेनोपात्तदुरितनिर्बर्हणेन पुरुषसंस्कारेण ज्ञानोत्पत्तावङ्गभावोपपत्तौ न संयोगपृथक्त्वेन साक्षादङ्गभावो युक्तः कल्पनागौरवापत्तेः । तथाहि नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पादः ततः पाप्मा निवर्तते, स ह्यनित्याशुचिदुःखरूपे संसारे नित्यशुचिसुखख्यातिलक्षणेन विपर्यासेन चित्तसत्त्वं मलिनयति, अतः पापनिवृत्तौ प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापावरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्य अनित्याशुचिदुःखरूपतामप्रत्यूहमवबुध्यते, ततोऽस्य अस्मिन्नाभिरतिसंज्ञं वैराग्य मुपजायते ततस्तज्जिहासोपावर्तते, ततः हानोपायं पर्येषते, पर्येषमाणश्चात्मतत्त्वज्ञानमस्योपाय इत्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासते ततः श्रवणादिक्रमेण तज्जानातीत्यारादुपकारकत्वं तत्र ज्ञानोत्पादं प्रति चित्तसत्त्वशुद्ध्या कर्मणांयुक्तम् । इममेवार्थमनुवदति भगवद्गीता—आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते ॥ एवं चाननुष्ठितकर्मापि प्राग्भवीय कर्मवशाद्यो विशुद्धसत्त्वः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्यः कृतं तस्य कर्मानुष्ठानेन वैराग्योत्पादोपयोगिना प्राग्भवीय कर्मानुष्ठानादेव तत्सिद्धेः । इममेव च पुरुषभेदं धौरेयमधिकृत्य प्रवृत्ते श्रुतिः—यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् इति । यदिदमुक्तम्—कर्मानवबोधात् प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेरिति । अत एव न ब्रह्मचारिण ऋणानि सन्ति येन तदपाकरणार्थं कर्मानुतिष्ठेत् । एतदनुरोधाच्च जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्वाञ्जायते इति गृहस्थः संपद्यमान इति व्याख्येयम्, अन्यथा यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव इति श्रुतिर्विरुध्येत । गृहस्थस्यापि च ऋणापाकरणं सत्त्वशुद्ध्यर्थमेव । जरामर्यवादो आस्मान्ततावादोऽन्त्येष्ट्यश्च कर्मजडानविदुषः प्रति नत्वात्मतत्त्वपण्डितान् तस्मात्तस्यानन्तर्यमथ शब्दार्थः, यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति यस्मिंस्तु सति भवन्ती भवत्येव । न चेत्थं कर्मावबोधः । तस्मान्न कर्मावबोधानन्तर्यं मथशब्दार्थ इति सर्वमवदातम् ॥

(सुभद्रा)

शंका—अच्छा तो जैसे मनुष्य का अभिमान है जिसको ऐसे अधिकारी हैं जिस कर्म में वैसे कर्मों में मनुष्याभिमानशून्य का अधिकार नहीं है, उसी तरह निषेध वाक्य में भी मनुष्याभिमानी ही अधिकृत है, (जैसे पशुओं के लिए निषिद्ध कर्म सुरापान आदि लागू नहीं होते क्योंकि वे मनुष्याभिमान से शून्य हैं) उसी

तरह उक्त पुरुष का भी अधिकार न होने से शास्त्र निषिद्ध कर्मों का आचरण करने पर भी वह प्रायश्चित का भागी न होगा तिर्यं्‌ योनि के जीवों के समान, तो भिन्न कर्मता पात होगा, अर्थात् ऐसा पुरुष शास्त्र निषिद्ध कर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला हो जायगा।

समाधान—नहीं, ऐसा पुरुष सर्वथा मनुष्याभिमान शून्य है ऐसा नहीं तत्वज्ञान के बाद भी अविद्या और उससे उत्पन्न संस्कारों के अनुवर्तमान होने से अंशतः अभिमान अनुवर्तन होता है, क्योंकि जीवन्मुक्त अवस्था में भी अविद्या आंशिक रूप में रह ही जाती हैं परन्तु उसके अनुवृत्त होने पर भी मिथ्या मानता हुआ उसमें श्रद्धा नहीं रखता, यह पहले कहा आए हैं। यदि ऐसा होता है तो इससे क्या? अभिप्राय यह हैं कि विधिवाक्य में श्रद्धावान पुरुष अधिकारी है श्रद्धा रहित नहीं। अर्थात् मनुष्याद्यभिमान से शून्य कर्म मे श्रद्धा न रखने वाला विधि शास्त्र में अधिकृत नहीं माना जाता है। गीता में भगवान् ने कहा भी है—अश्रद्धयाहुतं दत्तं इत्यादि। श्रद्धा रहित हवन दान निष्फल है। निषेध शास्त्र विधि शास्त्र की तरह श्रद्धा की अपेक्षा नहीं करता किन्तु निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त पुरुष की अपेक्षा करता है तात्पर्य यह कि विधि-शास्त्र में श्रद्धा अपेक्षित है, वह श्रद्धा भक्ति-रूप नहीं। किन्तु शास्त्र प्रमाण द्वारा विश्वास रूप है और जिन पुरुषों ने वेदान्त वाक्यों से तत्व निश्चय कर लिया है उनको विधि बोधक शास्त्र में मिथ्यात्व निश्चय होने से उसमें विश्वास नहीं, अतः वे कर्म विधि में अधिकारी नहीं।

निषेध-शास्त्र तो सामान्यतः पुरुषों को उद्देश्य करके प्रवृत्त होता है उसमें श्रद्धा अपेक्षित नहीं, अतः उनका उल्लंघन करने पर सांसारिक पुरुष के समान यथार्थदर्शी पुरुष भी प्रत्यवाय के भागी होते हैं। अतः उक्त दोष नहीं है इसलिए उपासना के कार्य आत्म-साक्षात्कार में कर्म अपेक्षित नहीं है। इसीलिए उपासना की उत्पत्ति में भी संशय-रहित शब्द जन्य ज्ञान होने पर कर्म में अधिकार नहीं है क्योंकि ब्रह्म-तत्व का निश्चय जिस पुरुष को हो गया है वह कर्म में अधिकारी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर कर्मानुष्ठान सम्भव न होने के कारण वह कर्म विधि का अधिकारी नहीं हो सकता।

उक्त अर्थ में श्रुति भी प्रमाण है—न कर्मणा न प्रजया इत्यादि। पितृ, मनुष्य और देवलोक की प्राप्ति का कारण कर्म, सन्तान और धन साध्य यज्ञादि हैं विद्वानों को उनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती किन्तु त्याग साध्य ज्ञान से ही हुई है।

इस प्रकार यदि ज्ञान में सर्वथा कर्म का उपयोग नहीं है तो फिर "विविदिषन्ति" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति के इस कथन से विरोध होगा कि "यज्ञ, दान और तपस्या से ब्रह्म को जानने की इच्छा करे।" किन्तु ऐसा नहीं क्योंकि यज्ञादि कर्म परम्परया ज्ञान में उपकारक है। उसी को कहते हैं भामती में तथाहि....इत्यादि से, उस आत्मा को ब्राह्मण नित्य वेदाभ्यास और यज्ञादि कर्मों से जानने की इच्छा करते हैं न कि जानते हैं। अतः यज्ञादि का सम्बन्ध ज्ञान में नहीं किन्तु विविदिषा में है इसलिए कर्म का साक्षात् फल ब्रह्मज्ञान नहीं किन्तु उसकी इच्छा ही है। ज्ञान अर्थतः प्रधान होने पर भी शब्दतः अप्रधान हैं, क्योंकि प्रकृति प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम् यह न्याय है प्रकृति प्रत्यय यदि साथ ही अर्थ को कहें तो प्रत्ययार्थ प्रधान होता है। इच्छा के प्रत्ययार्थ होने से प्राधान्य होने पर आख्यात से कही हुई भावना रूप कार्य का प्रधान इच्छा में अन्वय होना युक्त है।

शंका—इच्छा बोधक पद और इच्छाविषयीभूतपद के समभिव्याहार में इच्छाविषयीभूतपद में ही प्रत्ययार्थकरणत्वादि का अन्वय देखा जाता है। जैसे—"अश्वेन ग्रामं जिगमिषति" यहाँ पर अश्व का करणतया इच्छा विषयीभूत 'गमन' में अन्वय है न कि इच्छा में। उसी तरह प्रकृत में भी ज्ञान में ही यज्ञादि का करणत्वेन अन्वय हो, इच्छा में नहीं।

समाधान—"अश्वेन ग्रामं जिगमिषति" में इच्छा में अश्व[1] का करणतया अन्वय बाधित है, क्योंकि उसमें योग्यता नहीं है, इसलिए इच्छा में अन्वय नहीं हो सकता परन्तु यहाँ पर इच्छा में यज्ञादि का करणत्वेन अन्वय होने की योग्यता होने से बाध नहीं है। अतः यज्ञादि का अन्वय इच्छा में होना युक्त है। "राजपुरुषमानय" इसमें वस्तुतः प्रधान भी राजा शब्द से प्रधानतया प्रतीत न होने से आनयन क्रिया में अन्वित नहीं होता, किन्तु शब्दतः प्रधानतया प्रतीत पुरुष का ही आनयन क्रिया में अन्वय होता है। इसी प्रकार उक्त श्रुति में वेदानुवचन की भाँति यज्ञ का भी इच्छा-साधनत्वेन विधान किया जाता है, न साधनत्वेन नहीं। एवं अनाशक (जिससे शरीर का नाश न हो) तप का भी इच्छा में साधनतया अन्वय है। इच्छानुसार अशन न करना ही तप है। लाभप्रद, थोड़ा और पवित्र भोजन करने वाले को ही ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है, सर्वथा भोजन परित्याग से मृत्यु का भय है, चान्द्रायणादि अनुष्ठान से वात पित्तकफ की विषमता में रोग की संभावना है, अतः ऐसा करने वालों को ब्रह्म जिज्ञासा नहीं

१—अश्वकरणिका गमनेच्छा ऐसी प्रतीति नहीं होती।

हो सकती। यज्ञादि नित्य कर्म पूर्वकृत पाप को नष्ट करके पुरुष को संस्कृत बनाते हैं। श्रुति भी कहती है—"स ह वा आत्मयाजी....आत्मशुद्धि के लिए कर्म करने वाला पुरुष, मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो रहा है ऐसा समझता हुआ जो कर्म करता है वह सकाम कर्म करने वाले देवयाजी पुरुष से श्रेष्ठ होता है।

स्मृति भी कहती है—"यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः।" जिसका अँड़तालीस संस्कार हुआ है वह शुद्ध है आदि।

इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठानों से क्षीण पाप वाले एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाले, जिज्ञासु पुरुष को बाद में ज्ञान की प्राप्ति होती है, यही आर्थवण श्रुति भी कहती है—"न चक्षुषा गृह्यते·······।" अर्थात् वह आत्मा रूप रहित होने से चक्षुरिन्द्रिय से नहीं जाना जाता, न वाणी आदि अन्य इन्द्रियों से, न तपस्या से न यज्ञादि कर्मों से, किन्तु निष्कामकर्माचरण से शुद्ध अन्तःकरण होने पर सत्यादि साधन सम्पन्न व्यक्ति अंश रहित आत्मा का साक्षात्कार करता है। स्मृति का कथन है कि पापकर्म के नाश होने पर पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार नित्य कर्म संस्कार द्वारा अन्तःकरण को शुद्धकर ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी है। ज्ञान कर्म समुच्चयवादी काम्य कर्म का भी ज्ञान कार्य मोक्ष में उपयोग है यह मानते हैं जो ठीक नहीं है। सर्वथा पाप को नष्ट करते हुए क्लृप्त नित्य कर्म ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न कर ज्ञान में उपयुक्त होते हैं और काम्य कर्म स्वर्गादि में उपयुक्त होते हैं ज्ञान में नहीं। अतः पूर्व कृत दुरितनाश कर पुरुष के अन्तःकरण को संस्कृत करके ज्ञानोत्पत्ति में क्लृप्त नित्य कर्म का ही अङ्गभाव मानना युक्त है न कि संयोग पृथक्त्व न्याय से साक्षात् अङ्गभाव क्योंकि कल्पना में गौरव है। स्वर्गादि में यज्ञादि की उपयोगिता सिद्ध है यदि ज्ञान में भी उसकी उपयोगिता सिद्ध मानी जाय तो स्वर्गादिजनक दृष्ट के समान ज्ञानजनक अदृष्ट की भी कल्पना करनी पड़ेगी जिससे गौरव स्पष्ट है। अतः नित्य कर्म ही का पाप नाश द्वारा ज्ञान में उपयोग है, काम्य कर्म का नहीं। इसी को दिखला रहे हैं तथाहि इत्यादि से पाप अनित्य, अपवित्र, दुःख स्वरूप जो देहेन्द्रियादि रूप संसार उसमें नित्य, पवित्र और सुखात्मक विपरीत ज्ञान उत्पन्न करके अन्तःकरण के सत्वगुण को मलिन कर देता है और नित्य कर्म के अनुष्ठान से धर्मोत्पत्ति होने पर वह पाप क्षीण हो जाता है। पाप क्षीण हो जाने पर प्रत्यक्षभूत सांसारिक वस्तुओं की ओर "यत्कृतकं तदनित्यम्" अर्थात् जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है" इत्यादि युक्ति से, अदृष्ट स्वर्गादि सुख की भी असारता को जानकर

व्यक्ति चित्त-गत सत्त्व गुण को ढंकने वाले पापरूपी कपाट को खोलने में समर्थ होता है और संसार की अनित्यता अपवित्रता और दुखरूपता को अप्रत्यूहम् बिना विघ्न के जानता है । ऐसे जिज्ञासु को असार-संसार में आसक्ति न होने से वैराग्य होता है, तब उसको छोड़ने की इच्छा से त्याग के उपाय को ढूंढ़ता हुआ पुरुष शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट भव-बन्धन मुक्ति के एकमात्र साधन आत्मतत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करता है । तब श्रवण, मनन, निदिध्यासन क्रम से तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है । इस प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रादुर्भाव में चित्त शुद्धि द्वारा परम्परया कर्म उपकारक हैं, यह युक्ति संगत है । इसी अर्थ को भगवती गीता भी उल्लेख करती हैं—आरुरुक्षो-र्मुनेर्योगं इत्यादि । अन्तःकरण की शुद्धिरूप जो योग अथवा ध्यानरूप योग में जो आरूढ़ होने की इच्छा करता है, ऐसे मननशील कर्म के फल का त्याग करने वाले पुरुष का, शास्त्रविहित निष्काम कर्म, उसके चित्त शुद्धि का कारण है । जिससे कि उसका मन स्थिर होकर ध्यान करने में समर्थ होता है । योगारूढ़ होने पर सम्पूर्ण कर्मों का त्याग (मन से भी कर्मों का संकल्प न करना) ही निःश्रेयस् का साधन है । इस तरह इस जन्म में कर्मानुष्ठान न करने वाले तथा पूर्व जन्मकृत निष्काम कर्मों से ही शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष को भी संसार की असारता के परिज्ञान से वैराग्य होता है । उसके लिए वैराग्य उत्पत्ति के उपयोगी कर्म निष्फल हैं ।

ऐसे ही पुरुष श्रेष्ठ को अधिकार करके श्रुति प्रवृत्त है—"यदि वेतरथा-ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ले ले । इसी को भाष्यकार ने भी कहा है कि—धर्मज्ञान के पहले भी वेदान्ताध्ययन सम्पन्न पुरुष को ब्रह्म जिज्ञासा की सिद्धि होती है, इसीलिए ब्रह्मचारी ऋणी नहीं, जो ऋण मुक्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करे । इसके अनुरोध से उत्पन्न होता हुआ ब्राह्मण देव-ऋषि-पितृ-रूप तीन ऋण से संयुक्त होता है । इस वाक्य को गृहस्थ होता हुआ ऐसा समझना चाहिए नहीं तो उक्त श्रुति-विरोध होगा । गृहस्थों के लिए भी ऋण मुक्ति चित्त शुद्धि का कारण है ।

जरामर्यवाद, भस्मान्ततावाद और अन्त्येष्टि आदि कर्म जड अविद्वानों के प्रति हैं न कि आत्म ज्ञानियों के लिए । "जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रम् यावज्जीव-मग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि श्रुतियाँ वृद्धावस्था और मृत्युपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मा-नुष्ठान की पोषिका हैं (जरामर्यवाद) । जीवन पर्यन्त अर्थात् जब तक शरीर भस्म न हो जाय, तब तक अग्नि होत्र करे (भस्मान्ततावाद) । "तं यज्ञ पात्रैर्द-हन्ति" अर्थात् अग्निहोत्री पुरुष का दाह-संस्कार यज्ञाग्नि और यज्ञपात्रों से करे

(अन्त्येष्टि-विधि)। ये श्रुतियाँ जीवन पर्यन्त कर्मानुष्ठान का निर्देश करती हैं अतः कर्म का त्याग उचित नहीं। यहाँ पूर्वोदाहृत कर्म त्यागबोधक श्रुति-स्मृति-विरोध होने से उक्त श्रुतियाँ अविद्वद्विषयक हैं? उसका आनन्तर्य अथ शब्दार्थ है जिसके बिना ब्रह्म जिज्ञासा नहीं होती और जिसके होने पर होती हैं उसमें कर्म ज्ञान अपेक्षित नहीं है।

पूर्वोक्त युक्तियों से धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान में हेतुहेतुमद्भाव न विवक्षित हो अर्थात् धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान में कारण न हो जिससे धर्मज्ञान के बाद ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो, परन्तु "गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" इस श्रुति में क्त्वाप्रत्यय से पौर्वापर्य सूचित होता है, गृहस्थोचित कर्मज्ञान के पूर्व में हो और सन्यासाश्रम योग ब्रह्मज्ञान बाद में हो ऐसा क्रम क्यों न विवक्षित हो।

भामती

स्यादेतत्—मा भूदग्निहोत्रयवागूपाकवदार्थः क्रमः श्रौतस्तु भविष्यति, "गृही भूत्वा वनी भवेत्" "वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" इति जाबालश्रुतिर्गार्हस्थ्येन हि यज्ञाद्यनुष्ठानं सूचयति। स्मरन्ति च—

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

निन्दन्ति च—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ इति

अत आह—यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यं नियमः, कुतः? 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षस' इत्यथाग्रशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः। श्रुत्यातथैवानि प्रदर्शनात् 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा" इति। एतावता हि वैराग्यमुपलक्षयति। अतएव 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुतिः। निन्दावचनं चाविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायम्। अविशुद्धसत्त्वो हि मोक्षमिच्छन्नालस्यात्तदुपायेऽप्रवर्तमानो गृहस्थधर्ममपि नित्यनैमित्तिकमनाचरन् प्रतिक्षणमुपचीयमानपाप्माऽधोगतिं गच्छतीत्यर्थः।

स्यादेतत्—मा भूच्छ्रौत आर्थो वा क्रमः पाठस्थानमुख्यप्रवृत्तिप्रमाणकस्तु कस्मान्न भवतीत्यत आह—शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात् शेषाणां समिदादीनां शेषिणां चाग्नेयादीनामेकफलवदुपकारोपनिबद्धानामेक फलावच्छिन्नानामेकप्रयोगवचनोपगृहीतानामेकाधिकारिकर्तृकाणामेकपौर्णमास्यमावस्याकाल-

संबद्धानां युगपदनुष्ठानाशक्तेः सामर्थ्यात्क्रमप्राप्तौ तद्विशेषपेक्षायां पाठादयस्तद्भेदनियमाय प्रभवन्ति। यत्र तु न शेषशेषिभावो नाप्येकाधिकारावच्छेदो यथा सौर्यार्यमणप्राजापत्यादीनां, तत्रक्रमभेदापेक्षाऽभावान्न पाठादिः क्रम विशेष नियमे प्रमाणम् अवर्जनीयतया तस्य तत्रागतत्वात्। न चेह धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः शेषशेषिभावे श्रुत्यादीनामन्यतमं प्रमाणमस्तीति। ननु शेषशेषिभावाभावेऽपि क्रमनियमोदृष्टो यथा गोदोहनस्य पुरुषार्थस्य दर्शपौर्णमासिकैरङ्गैः सह, यथा वा 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत्'' इति दर्शपौर्णमाससोमयोर शेषशेषिणोरित्यत आह—अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावत् इति योजना, स्वर्गकामस्य हि दर्शपौर्णमासाधिकृतस्य पशुकामस्य सतो दर्शपौर्णमासक्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रिते गोदोहनेऽधिकारः। नो खलु गोदोहनद्रव्यमव्याप्रियमाणं साक्षात् पशून् भावार्थतुमर्हति। न च व्यापारान्तराविष्टं श्रूयते यतस्तदङ्गक्रममतिपतेत्। अप्प्रणयनाश्रितं तु प्रतीयते "चमसेनापः प्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामस्य'' इति समभिव्याहारात् योग्यत्वाच्चास्यापां प्रणयनं प्रति। तस्मात् क्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रितत्वाद्गोदोहनस्य तत्क्रमेण पुरुषार्थमपि गोदोहनं क्रमवदिति सिद्धम्। श्रुतिनिराकरणेनैवेष्टिसोमक्रमवदपि क्रमोऽप्यपास्तो वेदितव्यः।

सुभद्रा—'अग्निहोत्रं जुहोति यवागू पचति' में होम और पाक का क्रम यथाश्रुत विवक्षित है अथवा यवागू पाक के बाद अग्नि होत्र, हो ऐसा क्रम विवक्षित है ऐसी शंका होने पर, द्रव्यान्तर से हवन करने पर यवागू-पाक-विधि व्यर्थ है अतः श्रौत क्रम का परित्याग करके अर्थतः सिद्ध क्रम अर्थात् पहले यवागू पाक तदन्तर हवन करे, यह विवक्षित है। तद्वत् आर्थक्रम यहाँ विवक्षित भले न हो किन्तु गृही भूत्वा आदि उक्त श्रुति-प्रमाण से श्रौत-क्रम क्यों न माना जाय ? उक्त श्रुति गृहस्थों के लिए यज्ञादि कर्मों का निर्देश करती है। स्मृति में कहा भी गया है—

विधि पूर्वक वेदों को पढ़ कर, धर्म पूर्वक पुत्रों को उत्पन्न कर यथाशक्ति यज्ञादि कर मन को मोक्ष में लगावे।

स्मृति में निन्दा भी की गई है कि....बिना वेदों को पढ़े, बिना पुत्र उत्पन्न किए और बिना यज्ञादि किए मोक्ष को चाहने वाला ब्राह्मण नरक में जाता है। इसलिए भाष्यकार ने कहा—यथा च हृदयादि.........। "हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षस'' अर्थात् यज्ञ में जिस पशु का आलम्भन किया जाता है क्रम से पहले उसके हृदय का जिह्वा का पुनः वक्ष का टुकड़ा करे। यहाँ अथ और अग्र शब्द से क्रम विवक्षित है वैसा यहाँ पर धर्म ज्ञान पूर्वक यज्ञादि के द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा

करे, यह क्रम विवक्षित नहीं है। श्रुति में भी ऐसा नियम नहीं है श्रुति कहती है कि--यदि वेतरथा ······। अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ले ले, अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थ से। इन बातों से वैराग्य उपलक्षित होता है। इसीलिऐ श्रुति-को भी उक्त अर्थ में सम्मति है--यदहरेव········। सन्यास के लिए वही स्वर्णावसर है जिस समय वैराग्य हो जाय। स्मृति में निन्दा वाक्य तो अशुद्ध अन्तःकरण वालों के लिए है, क्योंकि अशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष मोक्ष चाहते हुए भी प्रमादवश मोक्ष साधनभूत शमदमादि से दूर रह कर, अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक गृहस्थ धर्मों को भी न करते हुए निरन्तर पाप वृद्धि से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

पूर्वोक्त युक्तियों से श्रौतक्रम या अर्थ क्रम भले ही न माना जाय परन्तु पाठस्थान मुख्य प्रवृत्ति प्रमाणक क्रम क्यों न हो? पौर्वापर्य भाव को क्रम कहते हैं, तन्नियामक ६ प्रमाणों का विवेचन पूर्व मीमांसा-शास्त्र में मिलता है। वे ये हैं--श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, प्रवृत्ति।

श्रुतिक्रम—जैसा सुना जाय, उसी क्रम से कार्य-विधि को श्रुतिक्रम कहते हैं। जैसे 'गृही भूत्वा वनी भवेत्' में गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ का निर्देश होने से यह श्रुतिक्रम है।

आर्थक्रम—इसका पूर्ण विवेचन पूर्व में हो चुका है।

पाठक्रम—पदार्थ बोधक वाक्यों के क्रम को पाठक्रम कहते हैं, अर्थात् क्रमशः पठित वाक्यों की क्रमशः अर्थ प्रतीति पदार्थों का अनुष्ठान ही पाठक्रम है। मन्त्र और ब्राह्मण के भेद वह दो प्रकार का है। मन्त्र-पाठ ब्राह्मण पाठ से बलवान है। आग्नेय और अग्निषोमीय इन दोनों यागों का क्रम याज्या और अनुवाक्या में मन्त्र पाठ से है यज! इस प्रैषोच्चारणानन्तर ब्रह्मा द्वारा उच्चारित ऋचा को 'याज्या' और अनुब्रूहि! प्रैषोच्चारणानन्तर ब्रह्मा द्वारा उच्चारित ऋचा को 'अनुवाक्या' कहते हैं। प्रथम आग्नेय याग का और तत्पश्चात् अग्नीषोम याग का अनुष्ठान पाठक्रम है। लोक में भी "स्नायादनुलिम्पेत् भुञ्जीत्" इस वाक्य में क्रमानुसार स्नान, चन्दनादि का लेप और भोजन करे।

स्थानक्रम—स्थान उपस्थिति को कहते हैं ज्योतिष्टोमादि प्रकृति याग में विभिन्न देश वाले पदार्थों का विकृति में प्रेरक वाक्य से एक देश में अनुष्ठान कर्त्तव्य होने पर जिसके देश में वे अनुष्ठित होते हैं उसका पहले और अन्य का बाद में अनुष्ठान स्थान क्रम है। साद्यस्कादि विकृति याग में प्रेरक प्राप्त सवनीय की प्रथमोपस्थिति होने से उसी का पूर्व में अनुष्ठान होता है।

मुख्यक्रम—प्रधान क्रम से अंगों के क्रम को मुख्य क्रम कहते हैं।

प्रवृत्तिक्रम—साथ में प्रयुक्त प्रधानों में सन्निपाती अङ्गों का आवृत्ति से अनुष्ठान होने पर द्वितीयादि पदार्थों का प्रथमानुष्ठित पदार्थ क्रम प्रवृत्ति क्रम है। विस्तृत विवरण पूर्व मीमांसा के अर्थ संग्रहादि ग्रन्थों में देखें जो विस्तार भय से नहीं दर्शाया गया।

प्रकृत में श्रौत क्रम प्रयोजक और अर्थ क्रम प्रयोजक प्रमाण न होने से वह क्रम न हो, किन्तु पाठादि प्रमाणक क्रम क्यों न हो? यह शंका का अभिप्राय है। इस पर भाष्यकार कहते हैं शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात्। शेष अङ्ग शेषो अङ्गते अर्थात् धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के अङ्गाङ्गीभाव में प्रमाण नहीं है इसी को भामती में स्फुट किया जाता है। शेषाणां समिदादीनाम् इत्यादि से। आग्नेयादि याग अङ्गी हैं समिदादियाग अङ्ग हैं तो अङ्गभूत समिदादि याग और अङ्गीभूत आग्नेयादियाग ए दोनों एक फल से युक्त हैं अर्थात् एक स्वर्ग प्राप्ति रूप जो प्रधान फल है उसके उपकारक हैं, अतः वे एक फल से युक्त हैं और यजेत इस एक वचन के प्रयोग से गृहीत हैं और एकाधिकारिकर्तृक हैं, अर्थात् जो अङ्गीभूत आग्नेयादि याग का स्वामित्वेन अधिकारी है वही अङ्गभूत समिदादि याग का भी इसलिए एक अधिकारी से अनुष्ठित होने से वे एकाधिकारिकर्तृक हैं और एक पौर्णमासी और अमावास्या रूप काल से सम्बद्ध हैं, ऐसे उन अङ्गियों और अङ्गों का एक साथ अनुष्ठान संभव न होने से सामामर्थ्यवश क्रम प्राप्त होने पर पाठादि प्रमाण क्रमविशेष के नियम करने में समर्थ हैं।

भाव यह है कि आग्नेय अग्नीषोमीय और उपांशु याग ए तीन पौर्णमास्य हैं, ए पूर्णिमा तिथि में अनुष्ठित होते हैं और आग्नेय ऐन्द्र और दधि ए तीन दर्श हैं ए अमावास्या तिथि में अनुष्ठित होते हैं। दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इस वाक्य से स्वर्गकामी पुरुषको उद्देश्य करके दर्शपूर्णमास योग का विधान है।

स्वर्ग कामना विशिष्ट. पुरुषः दर्शपूर्णमास यागाभ्यां स्वर्गं भावयेत्. (स्वर्ग चाहने वाला दर्श, पूर्णमास याग से स्वर्ग की भावना करे)। यह उक्त वाक्य का अर्थ है। यजेत पद घटक आख्यात का वाच्य अर्थ आर्थी भावना है और लङ् पद वाच्य शाब्दी भावना है, (दोनों भावनाओं का शाब्द बोध में भान होता है)। समिधोयजति इत्यादि वाक्यविहित प्रयाजादि याग दर्शपूर्ण मास याग के अङ्ग हैं उनसे उपकार को प्राप्त अङ्गीभूत दर्शपूर्णमास याग अपूर्व के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप फल का जनक होता है, जिससे वे दोनों एक फलावच्छिन्न हैं। भावना तीन अंशों से युक्त होती है, साध्य साधन और इति कर्तव्यता भावना वाचक पदों से इन तीनों को आकांक्षा होती है। उक्त वाक्य में आख्यात पदवाच्य भावना

से साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्गरूप फल ही साध्यत्वेन अन्वित होता है। साधन की आकांक्षा में यागादि करणत्वे न अन्वित होते हैं। इति कर्त्तव्यता के आकांक्षा में, समिधोयजति आदि वाक्य से विहित प्रयाजादि अङ्ग ही उक्तरूप से अन्वित होते हैं। फल साध्य होता है करण साधन हैं, कथं भाव की आकांक्षा को पूरक इति कर्तव्यता होता है। तो प्रयाजादि से उपकार सम्पादन कर याग से स्वर्ग की भावना करें यह वाक्यार्थ उक्त वाक्य का होता है। तो इस प्रकार यजेत इस पद में जो एक वचन का प्रयोग इससे वे दोनों प्रयाजादि अङ्ग और दर्शपूर्ण मास अङ्गी, उपगृहीत हैं। और प्रयाजादि अङ्गों का जो एक फल है, अपने प्रधान का उपकार अर्थात् प्रधानभूत दर्शपूर्ण मास याग से उत्पन्न जो परमा पूर्व, उसमें अङ्गों से उत्पन्न जो अवान्तर अपूर्व वह उपकार है, जिससे कि वे एक फल वदुप, कारोपनिबद्ध हैं। (एक फल जो स्वर्ग उसका जनक जो परमापूर्व उसका उप-कारक अवान्तर अपूर्व हैं) और उन दोनों का अधिकारी (कर्ता) एक है, न कि भिन्न, इसलिए वे एकाधिकारिकर्तृक हैं और एक ही अमावास्यादि काल से सम्बद्ध है तो उनमें जैसे सबका एक साथ अनुष्ठान सम्भव न होने से क्रम विशेष की अकांक्षा में पाठादि प्रमाण से वहाँ पर क्रम विशेष निश्चित किया जाता है। परन्तु जहाँ पर न तो अङ्गाङ्गी भाव है और न तो एक अधिकारी है, जैसे सौर्य आर्यमण प्राजापत्य, आदि वहाँ पर क्रम विशेष की अपेक्षा न होने से पाठादि क्रम विशेष के नियम करने में प्रमाण नहीं होता, वहाँ पर तो अगत्याक्रम प्राप्त है।

आशय यह है कि सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चस कामः, आर्यमणं चरुं निर्व-पेत् स्वर्ग कामः, प्राजापत्यं चरुं निर्वपेच्छत कृष्णलमायुष्कामः। ब्रह्मवर्चस् (ब्रह्म तेज की कामना वाला पुरुष सूर्य देवता क चरु, (हवि विशेष) का निर्वाप करे और स्वर्ग चाहने वाला पुरुष अर्यमन देवता क चरु का निर्वाप करे और आयु की वृद्धि चाहने वाला पुरुष प्रजापति देवता क चरु का निर्वाप करे। तो यहाँ पर भिन्न-भिन्न फल के उद्देश्य से उक्त तीन यागों का विधान है। तो जैसे दर्श पूर्ण मास याग में समिदादि अङ्गों का एक पुरुष के द्वारा एक साथ अनुष्ठान सम्भव न होने से जिस क्रम से वे पठित हैं उसी क्रम से उनका अनुष्ठान पाठ प्रमाण से होता है, समिधोयजति यह पूर्ण पठित है प्रथम समिध्याग करे, पश्चात् तनूनपात् करे इत्यादि, उस तरह यहाँ पर भी पाठ के क्रम से अनुष्ठान में क्रम प्राप्त होने पर सिद्धान्त किया है कि दर्शपूर्ण मासादि याग के अङ्ग भूत समिदादि याग में अङ्गाङ्गी भाव है और फल भी एक है और कर्ता अधिकारी भी एक है, अतः वहाँ पर क्रम की आकांक्षा होने पर पाठ प्रमाण से क्रम निश्चित किया जाता है परन्तु

यहाँ पर तो फल भिन्न-भिन्न है और न तो अधिकारी ही एक हैं, भिन्न-भिन्न फल चाहने वाले पुरुष उक्त तीन यागों में अधिकृत हैं और न तो एक वचन के प्रयोग से उपगृहीत हैं जिससे कि अङ्गाङ्गी भाव यहाँ पर नहीं है अतः यहाँ क्रम की आकांक्षा नहीं है किन्तु यहाँ पर पुरुष की इच्छा से ही क्रम निश्चित होता है, पुरुष जिसकी इच्छा करे उसका प्रथम अनुष्ठान करे। तो जैसे वहाँ पर क्रम अपेक्षित नहीं है उसी तरह यहाँ पर भी धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा में अङ्गाङ्गी भाव न होने से श्रुत्यादि अन्यतम प्रमाण से क्रम निश्चित नहीं होता। क्योंकि अधिकारी एक नहीं है, वर्णाश्रम धर्माभिमानी पुरुष धर्म जिज्ञासा में अधिकृत है, वैराग युक्त पुरुष ब्रह्म जिज्ञासा में अधिकृत है, जिससे कि उनका अङ्गाङ्गी भाव नहीं है। एक पुरुष के अनुष्ठान योग्य होने से ही क्रम के आकांक्षा में पाठादि प्रमाण नियामक होते हैं वह यहाँ पर नहीं है। अङ्गाङ्गी भाव के न होने पर भी क्रम नियम देखा गया है। जैसे कि दर्शपूर्ण मास प्रकरण में चमसेनापः प्रणयेत् गोदोहनेन पशुकामस्य ऐसा सुना गया है, उक्त याग का फल स्वर्ग चाहने वाला पुरुष चमस एक यज्ञ पात्र विशेष से जलानयन करे। यदि वह पशु की भी कामना करता हो तो जिस पात्र मे गौ दुही हो तो उस पात्र से जल का आनयन करे तो गोदोहनपात्र से जलानयन यज्ञ का अङ्ग, है अथवा पुरुषार्थ, पुरुष का, ऐसा विचार उपस्थित, होने पर वह पुरुषार्थ ही है. क्योंकि पशु काम पद का समभिव्यवहार है, जो कि पुरुष में विशेषण है, इसलिए पशु कामना रूप फल के पुरुषार्थ होने से उसका साधक गोदोहन पात्र से जलानयन भी पुरुषार्थ ही है, यज्ञ का अङ्ग, मानने पर उसके बिना अङ्ग में विकलता होने से यज्ञ का स्वरूप ही सिद्ध न होगा, तो जो पशु कामी नहीं है केवल स्वर्ग रूपफल की ही कामता करता है, उसको भी गोदोहनपात्र से अप्प्रणयन के बिना यज्ञ निष्पन्न न होने से फल की प्राप्ति नहीं होगी। तो जैसे वहाँ पर उक्त याग के अङ्गों के साथ जिसके बाद, और जिससे पूर्व चमस से अप्प्रणयन किया जाता है उसके स्थान में उसी क्रम से चमस से अप्प्रणयन को छोड़कर, गोदोहनपात्र से अप्प्रणयन करे। तो वहाँ पर जैसे अङ्गाङ्गी भाव के न होने पर भी क्रम होता है, उसी तरह धर्म ज्ञान और ब्रह्म जिज्ञासा में भी अङ्गाङ्गी भाव के बिना भी क्रम क्यों न विवक्षित हो और जैसे दर्शपूर्ण, मासाभ्यमिष्ट्वा सोमेन यजेत, इस वाक्य मेक्त्वाप्रत्यय होने से दर्श पूर्णमास के अनन्तर सोमयाग करे, एतावन्मात्र, बोध होता है न कि अङ्गाङ्गी भाव इस तरह प्रकृत से भी अङ्गाङ्गी भाव, के बिना भी धर्मज्ञान और ब्रह्म जिज्ञासा में पौर्वापर्य रूप क्रम क्यों न हो, ऐसी आशंका होने पर भाष्य में कहा अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, जो धर्मज्ञान, में अधिकृत हैं उन्हीं का ब्रह्मज्ञान में अधिकार है, इसमें

कोई प्रमाण नहीं है। जिसका स्पष्टीकरण भामती में करते हैं स्वर्ग कामस्य इत्यादि से। स्वर्ग चाहने वाला पुरुष ही जो दर्श पूर्ण मासमे अधिकृत है वही यदि पशु कामना वाला हो, तो उसका यज्ञार्थ जो अप्प्रणयन है, उसका आश्रय जो गोदोहन-पात्र उससे अप्प्रणयन में अधिकृत है अन्य नहीं। गोदोहन रूप, पात्र का व्यापार विना किए अर्थात् उससे जलानयन के बिना वह साक्षात, पशु की भावना करने में समर्थ नहीं है और अन्य व्यापार वहां श्रुत नहीं है जिससे कि, दर्श पूर्णमास याग के अङ्गों का अतिक्रमण हो (जिससे अन्य व्यापार भी कल्पना का विषय नहीं हो सकता) चमसेनापः प्रणयेत् गोदोहनेन पशुकामस्य इस वाक्य में पशु काम पद का समभिव्याहार होने से अप्प्रणयनाश्रितत्व गोदोहन पात्र में प्रतीत होता है। तो समीप में स्थित, व्यापार के सम्बन्ध का लाभ होने से अन्य व्यापार की कल्पना अनुचित है। आशय यह है कि उक्त वाक्य से, स्वर्ग कामना विशिष्टः पुरुष एवं यदि पशु कामानाविशिष्टोभवेत्, तर्हि गोदोहन पात्रा श्रिताप्प्रणयनेन, पशुभावयेत्, यथा दर्श पूर्णमासजन्य स्वर्गरूप, फलार्थी, चमसपात्र के श्रिताप्प्रणयनेन स्वर्ग भावयेत तथैव, स्वर्ग चाहने वाला ही पुरुष यदि पशु भी चाहता हो तो जैसे चमसपात्र के जलानयन से स्वर्ग की भावना करता है, वैसे ही गोदोहन-पात्र के जलानयन से पशु की भावना करे यह उक्त वाक्य का अर्थ होता है, तो जब तक गोदोहनपात्र से अप्प्रणयन नहीं करता तब तक वह पशु की भावना करने में असमर्थ है, तो वहां पर भी अधिकारी एक ही है, जो स्वर्ग रूप फल के उद्देश्य से दर्श पूर्णमास याग में चमस से अप्प्रणयन करने में अधिकारी है वही पशु कामी होने पर, गोदोहनपात्र से अप्प्रणयन में अधिकारी है। और भी बात है यदि गोदोहन पात्र में में अप्प्रणयनाश्रितत्व की योग्यता न होती तो गोदो-हन पात्र के व्यापार का सम्बन्ध न माना जाता परन्तु ऐसा नहीं है, अप्प्रणयन की योग्यता गोदोहनपात्र से अप्प्रणयन में अधिकारी है और भी बात है यदि गोदोहन पात्र में विद्यमान है। इसलिए यज्ञार्थ अप्प्रणयनाश्रितत्व गोदोहन-पात्र में होने से पुरुषार्थ भी गोदोहन, उसी क्रम से क्रम वाला होता है यह सिद्ध होता है। उक्त स्थल में जो स्वर्गकामी पुरुष दर्शपौर्णमासयाग के अङ्गभूत चमस से अप्प्रणयन में अधिकृत है वही पशु कामनायुक्त होकर गोदोहन से अप्प्रणयन में अधिकृत है अतः वहां क्रम विवक्षित भले हो परन्तु प्रकृत में धर्मज्ञान में अधिकृत पुरुष ही ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी नहीं है क्योंकि फल में भेद है, धर्म का फल अभ्युदय है, ब्रह्मज्ञान का फल मोहनिवृत्त्युपलक्षित परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति है यह आगे चल कर कहनेवाले हैं अतः यहां क्रम विवक्षा नहीं है। और दर्श पूर्णमास याग के बाद सोमयाग करे यह क्रम है उसके समान क्रम भी यहां पर श्रुति निराकरण से ही अपास्त है यह जानना चाहिए।

आशय यह है कि गृही भूत्वावनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् आदि श्रुतियाँ गृहस्था श्रम के अनन्तर ही सन्यास का विधान करती है, तो धर्मज्ञान के बाद ही ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए यह क्रम आपाततः प्रतीत होता है, परन्तु यदि वा इतर था ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्. आदि श्रुतियाँ विराग होने पर ब्रह्मचर्य के अनन्तर ही प्रव्रज्या, सन्यास का विधान करती हैं, अथवा जिस दिन वैराग्य हो उस दिन सन्यास ले ले', इन श्रुतियों के विरोध होने से गृहीभूत्वा आदि श्रुति तीव्र वैराग्य जिसको नहीं है उसको उद्देश्य करके कहीं गई हैं। गृहीभूत्वा आदि श्रुति का, इतर था इत्यादि श्रुति अपवाद है, जिससे कि उक्त क्रम भी नहीं विवक्षित है।

भामती

शेषशेषित्वाधिकृताधिकाराभावेऽपि क्रमो विवक्ष्येत, यद्येकफलावच्छेदो भवेत्, यथाग्नेयादीनां षण्णामेकस्वर्गफलावच्छिन्नानां, यदि वा जिज्ञास्य ब्रह्मांशो धर्मः स्यात्, यथा चतुर्लक्षणीं व्युत्पाद्य ब्रह्मैकेनचित्केनचिदंशेनैकेन लक्षणेन व्युत्पाद्यते, तत्र चतुर्णां लक्षणानां जिज्ञास्याभेदेन परस्परसम्बन्धे सति क्रमो विवक्षितस्तथेहाप्येकजिज्ञास्यतया धर्म ब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमो विवक्ष्येत, न चैतदुभयमप्यस्तीत्याह—फलजिज्ञास्यभेदाच्च।

सुबद्धा—यहाँ यदि एक फल के साथ सम्बन्ध होता तो अङ्गाङ्गी भाव और अधिकृताधिकार के न होने पर भी क्रम विवक्षित होता, किन्तु वही सिद्ध नहीं है। आगे भाष्यकार का कथन है—'फलजिज्ञास्य भेदाच्च', अभ्युदयं फलं धर्मज्ञानं, तच्चानुष्ठानापेक्षं; निःश्रेयसफलं च ब्रह्मज्ञानं तच्चानुष्ठानान्तरापेक्षम् अर्थात् फल और जिज्ञासा में भेद है। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय है जिसमें अनुष्ठान (कर्म) अपेक्षित हैं किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल निःश्रेयस् (मोक्ष) कर्म की अपेक्षा नहीं करता इत्यादि। दृष्टान्त आग्नेयादि ६ याग का फल स्वर्ग प्राप्ति है अतः वहाँ पर हो, परन्तु यहाँ पर तो उक्त रीति से फल भिन्न-भिन्न हैं। अपि च धर्म यदि जिज्ञासा ब्रह्म का अंश होता तो क्रम विवक्षित होता जैसे चार अध्याय वाले उत्तर मीमांसा में व्युत्पाद्य ब्रह्म किसी-किसी अंश में एक अध्याय से व्युत्पादित होता है वहाँ पर चारों अध्यायों का जिज्ञास्य ब्रह्म के साथ एकता ही अर्थात् अभेद है। अतः परस्पर सम्बन्ध होने से क्रम विवक्षित है।

चार अध्याय वाली शारीरिक मीमांसा के प्रथम अध्याय में वेदान्त वाक्यों का विवेचन ब्रह्म परक ही है। द्वितीय अध्याय में विरोध का परिहार, तृतीय अध्याय में ब्रह्म-प्राप्ति के साधन और चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष-फल का

सद्विवेचन है। वहाँ पर जिज्ञास्य ब्रह्म एक है और आग्नेयादि याग में फल एक है। उसी प्रकार धर्म, ज्ञान और ब्रह्म जिज्ञासा में भी यदि फल और जिज्ञास्य एक हों तो क्रम विवक्षित हो सकता है परन्तु वह सिद्ध नहीं है अतः क्रम विवक्षित होना कथमपि सम्भव नहीं है।

भामती

फलभेदं विभजते अभ्युदय फलं धर्मज्ञानमिति जिज्ञासाया वस्तुतो ज्ञान-तन्त्रत्वात् ज्ञानफलं जिज्ञासाफलमिति भावः। न केवलं स्वरूपतः फलभेदः, तदुत्पादनप्रकारभेदादपि तद्भेद इत्याह—"तच्चानुष्ठानापेक्षं ब्रह्मज्ञानं च नानुष्ठानान्तरापेक्षम्" शाब्दज्ञानाभ्यासान्नानुष्ठानान्तरमपेक्षते, नित्यनैमित्तिककर्मानु-ष्ठानसहभावस्यापास्तत्वादिति भावः।

सुमद्रा—इसी अभिप्राय से भाष्य से फल जिज्ञास्य भेदाच्च कहा गया फल भेद का विभाग कह रहे हैं। अभ्युदय फलं धर्मज्ञानम् यह पूर्व कथित है। जिज्ञासा वस्तुतः ज्ञान के अधीन होती है अतः ज्ञान का फ़ल ही जिज्ञासा का भी फल है। केवलः स्वरूपतः फल भेद नहीं किन्तु उसके उत्पत्ति के प्रकार में भी भेद होने से फल भेद है। वह धर्मज्ञान अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा करता है, ब्रह्मज्ञान में शब्द जन्य ज्ञानाभ्यास के अतिरिक्त अन्य किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान का सहभाव सर्वथा निराधार ही सिद्ध हो चुका है।

भाष्यम्

भव्यश्च धर्मोजिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु तं ब्रह्मजिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्, चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम् सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं अवबोधस्य चोदना—जन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते, यथाऽक्षार्थसन्निकर्षेणावबोधे तद्वत्।

भामती

जिज्ञास्यभेद मात्यन्तिकमाह—भव्यश्च धर्म इति। भविता भव्यः, कर्तरि कृत्यः भविता च भावकव्यापार निर्वर्त्यतया तत्तन्त्र इति ततः प्राग् ज्ञानकाले नास्तीत्यर्थः। भूतं सत्यं सदेकान्ततो न कदाचिदसदित्यर्थः। न केवलं स्व-रूपतो जिज्ञास्ययोर्भेदो ज्ञापक प्रमाणप्रवृत्ति भेदादपि भेद इत्याह—चोदना-प्रवृत्ति भेदाच्च चोदनेति वैदिकं शब्दमाह विशेषण सामान्यस्य लक्षणात्। प्रवृत्तिभेदं विभजते—या हि चोदना धर्मस्येति। आज्ञादीनां पुरुषाभिप्राय-भेदानामसम्भवादपौरुषेये वेदे चोदना उपदेशः। अत एवोक्तं 'तस्य ज्ञान-

मुपदेश' इति । सा च स्वसाध्ये पुरुषव्यापारे भावनायां तद्विषये च यागादौ सहि भावनाविषयः तदधीननिरूपणत्वात् प्रयत्नस्य भावनायाः । 'षिञ्' बन्धने, इत्यस्य धातोर्विषयपदव्युत्पत्तेः । भावनायास्तद्द्वारेण च यागादेरपेक्षितोपायतामवगमयन्ती तत्रेच्छोपहारमुखेन पुरुषं नियुञ्जानैव यागादिधर्ममवबोधयति नान्यथा । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलं न तु प्रवर्त्तयन्त्यवबोधयति । कुतः ? अवबोधस्य प्रवृत्तिरहितस्य चोदनाजन्यत्वात् । नन्वात्मा ज्ञातव्य इत्येतद्विधिपरैर्वेदान्तैस्तदेकवाक्यतयाऽवबोधे प्रवर्तयद्भिरेव पुरुषो ब्रह्मावबोध्यत इति समानत्वं धर्मचोदनाभिर्ब्रह्मचोदनानामित्यत आह— न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते । अयमभिसन्धिः । न तावद् ब्रह्म साक्षात्कारे पुरुषो नियोक्तव्यः, तस्य ब्रह्मस्वाभाव्येन नित्यत्वादकार्यत्वात् । नाप्युपासनायां, तस्या अपि ज्ञान प्रकर्षे हेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् । नापि शाब्दबोधे तस्याप्यधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपदतदर्थस्य समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्याप्रत्यूहमुत्पत्तेः । अत्रैव दृष्टान्तमाह—यथाक्षार्थेति दार्ष्टान्तिके योजयति तद्वत् इति ।

अपि चात्मज्ञानविधिपरेषु वेदान्तेषु नात्मतत्त्वविनिश्चयः शाब्दः स्याद्, नहि तदाऽऽत्मतत्त्वपरास्ते किन्तु तज्ज्ञानविधिपराः, यत्पराश्च ते त एव तेषामर्थाः । न च बोधस्य बोध्यनिष्ठत्वादपेक्षितत्वादन्यपरेभ्योऽपि बोध्यतत्त्वविनिश्चयः, समारोपेणापि तदुपपत्तेः । तस्माच्च बोधविधिपरा वेदान्ता इति सिद्धम् ।

सुभद्रा—भविता इति भव्यः जो भव्यगेय इत्यादि सूत्र से कर्त्ता में भव्य अर्थात् साध्य । भू धातु से निष्पन्न होता है । कर्त्ता के व्यापार से निष्पन्न होने वाले भविता (होने वाले) यागदि कर्तृव्यापार के अधीन हैं अतः व्यापार से पूर्व ज्ञान के समय में नहीं हैं और यहाँ पर भूत (सत्य) अर्थात् कथमपि असत् न भासित होने वाला एवं नियमतः सद्रूपेण प्रतीत होने वाला ब्रह्म जिज्ञास्य है, जो कि नित्य होने से पुरुष के व्यापाराधीन नहीं हैं । जिज्ञास्य में केवल स्वरूप और फल से ही भेद नहीं अपितु ज्ञापक प्रमाण-प्रवृत्ति के भेद से भी भेद है, जिसको भाष्य में कहा—चोदना प्रवृत्ति भेदाच्च अर्थात् अज्ञात ज्ञापक वाक्य ही चोदना शब्द का अर्थ है न कि विधि-वाक्य, अन्यथा ब्रह्म-प्रतिपादक सिद्धार्थक वाक्य का संग्रह न होगा । अतएव भामती मे विशेष चोदना शब्द से सामान्य अज्ञात-ज्ञापक वैदिक शब्द लक्षित होता है ।

प्रवृत्ति भेद का विभाग कर रहे हैं—भाष्य में यदि चोदना इत्यादि से लक्षयति बोधयतीति लक्षणं वाक्यम् अर्थात् धर्म को जनाने वाला स्वर्ग कामो यजेत आदि विधिवाक्य जिससे स्वर्ग कामी पुरुष को प्रेरणा मिलती है।

वह प्रेरणा अपने प्रतिपाद्य भावनात्मक पुरुष के व्यापार जो (यागादि) उसमें पुरुष को नियुक्त करती हुई अपने अर्थ का बोध कराती है। ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य तो पुरुष को ब्रह्मज्ञान मात्र उत्पन्न करता है न कि प्रवृत्त कराता है, इस तरह प्रवृत्ति रहित ज्ञान को ही वेदान्त वाक्य उत्पन्न करता है न कि पुरुष को नियुक्त करता है जैसे इन्द्रिय और विषय का संबन्ध ज्ञानोत्पत्ति का कारण है! अतः विधिवाक्य और वेदान्तवाक्य में भेद है।

शङ्का—लिङर्थ विधि आज्ञा अभ्यर्थना अनुज्ञारूप है।

श्रेष्ठ व्यक्ति का अपने से निम्न व्यक्ति के प्रति स्वाभिलषित कार्य के प्रतिपादनार्थ कहना आज्ञा है। जैसे देवदत्त! गाय लाओ? निम्न व्यक्ति का अपने से श्रेष्ठ के प्रति वही कथन अभ्यर्थना जैसे—भगवन्! आप इस बालक को पढ़ाइये। किसी संलग्न प्रयोज्य के प्रति हितार्थ साधनों का कथन अनुज्ञा है।ऐसा करो? जिससे कल्याण हो। अपौरुषेय वेद में इन सबों के न होने से वैदिक "चोदना" शब्द उपदेश परक है। प्रवृत्त न होने वाले नियोज्य के प्रति प्रयोजन के साधन को ज्ञात कराने वाला शब्द ही उपदेश है, वह लोकविदित है जैसे—गोपाल ने कहा इस मार्ग से जाओ? इस वाक्य में उत्कृष्ट वक्ता के अभाव से आज्ञा नहीं है अपना प्रयोजन न होने के कारण अभ्यर्थना नहीं है और प्रयोज्य के प्रवृत्त न होने से अनुज्ञा भी नहीं है। अतः उपदेश है। 'चोदना' शब्द से विवक्षित वह अपौरुषेय वेद में भी संभव है। जिससे कि वेद में उपदेश ही 'चोदना' शब्द का अर्थ है इस लिए पूर्व मीमांसा में कहा है 'तस्यज्ञानमुपदेशः'' अर्थात् उस धर्म का ज्ञान जिस वाक्य से हो वह उपदेश विधि है। वह प्रेरणा अपने साध्य (प्रतिपाद्य) विषय—भावनाख्य पुरुष व्यापार में एवं भावना के विषय यागादि में पुरुष को नियुक्त करती हुई अर्थ का बोध कराती है। प्रयत्न रूप भावना के अधीन निरूपित होने से यज्ञादि भावना के विषय हैं। वि पूर्वक बन्धनार्थक 'षिञ्' धातु से अच् प्रत्यय हो कर 'विषय' शब्द निष्पन्न होता है। इस तरह 'विषय' शब्द का अर्थ—[1]विषयी को बांधनेवाला अर्थात् अपने रूप से निरूपण करने योग्य

१ विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेनरूपेण निरूपणे, यं कुर्वन्तीति यावत्, सां॰ त॰ कौ॰

करता है। वह विषय है प्रकृत में भावना के विषय यागादि हैं क्योंकि 'यजेत' इस विधिवाक्य में याग के द्वारा आख्यातार्थ भावना निरूपित है।

प्रश्न—यजेत यहाँ पर विधि शब्द से धात्वर्थ याग और आख्यातार्थ भावना कही गई है एवं उक्त वाक्य प्रमाण होने से बोध का जनक है न कि वाय्वादि की तरह प्रेरक। अतः उक्त वाक्य से पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—प्रवृत्ति के प्रति इष्ट साधनता ज्ञान कारण है। यागादि के अनुकूल भावना में प्रयुक्त यजेत इत्यादि विधि शब्द भावना में लिङ् के द्वारा साक्षात् इष्ट साधनता ज्ञान एवं यागादि में भावना के द्वारा इष्ट साधनता ज्ञान का बोध करा कर पुरुषों को प्रवृत्त करा देगें अर्थात् उक्त ज्ञान उत्पन्न कर उनमें इच्छा उत्पन्न करते हैं—और इच्छुक पुरुष उनमें प्रवृत्त होता है। इसी का स्पष्टीकरण भामती में हैं—भावना और उसके द्वारा यागादि इष्टप्राप्ति स्वर्गादि के अपेक्षित उपाय हैं। इसको ज्ञात कराती हुई धर्म चोदना इच्छा द्वारा पुरुष को प्रवृत्त करती हुई यागादि को धर्मरूप में जनाती है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मचोदना पुरुष को प्रवृत्त कराती हुई जनाती नहीं बल्कि ज्ञान मात्र कराती है क्योंकि ब्रह्मज्ञान केवल प्रवृत्ति रहित 'चोदना,' अर्थात् ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त वाक्य से जन्य है।

शंका—'आत्मा ज्ञातव्यः' आत्मा को जानना चाहिए। इस वाक्य में विधिबोधक 'तव्य' प्रत्यय है अतः विधि परक उक्त वेदान्त वाक्य से एकतापन्न[1] होने से ज्ञान में प्रवृत्त कराते हुए वाक्यों द्वारा पुरुष को ब्रह्मज्ञान कराया जाता है इस प्रकार धर्मचोदना और ब्रह्मचोदना में तुल्यतापत्ति[1] है अर्थात् विधि शास्त्र से एक वाक्यता हो कर के ही सिद्ध वस्तु का बोध होने से वेदान्त वाक्यों का पर्यवसान केवल सिद्ध वस्तु के बोध में नहीं है।

समाधान—पुरुष ज्ञान में विधिवाक्य से नहीं प्रवृत्त होता है क्योंकि ज्ञान वस्तु के अधीन है न कि इच्छा के और प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं हो सकती। इच्छा न रहने पर भी वस्तु के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान होता ही है जैसे—दुर्गन्धित वस्तु की इच्छा न रहने पर भी सन्निकर्ष होने पर उसका ज्ञान अवश्य होता है। प्रकृत में क्या पुरुष को उक्त विधिवाक्य द्वारा ब्रह्म

१. आत्म—स्वरूप के बोधक तत्त्वमस्यादि 'वाक्य आत्मा ज्ञातव्यः' इस विधि वाक्य से एक वाक्यतापन्न होकर ही पुरुष को बोधकराते हैं।

साक्षात्कार में नियुक्त किया जाता है। अथवा उसकी उपासना में या शब्द जनित ज्ञान में ?

प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्म स्वभाव होने से नित्य है, कार्य नहीं अतः उसमें प्रवृत्ति नहीं कराई जा सकती। द्वितीय पक्ष भी सर्वथा असंगत है—ज्ञानाविषय में उपासना की कारणता अन्वय व्यतिरेक द्वारा सिद्ध होने से प्राप्त है, अतः विधेय नहीं। क्योंकि 'अप्राप्तेशास्त्रमर्थवत' न्याय से अप्राप्त का ही विधान होता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द जनित ज्ञान भी विधेय नहीं हो सकता, जिसने वेदाध्ययन किया है तथा पद पदार्थ और शाब्दबोध के न्याय तत्त्व को जान लिया है ऐसे पुरुष को किसी प्रतिबन्ध के बिना ही शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है अतः उसमें भी विधि की अपेक्षा नहीं है।

दृष्टान्त—जैसे इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध होने पर विषय का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को वाक्य श्रवण के बाद ज्ञान होना नियत है। यदि वेदान्त वाक्य आत्मज्ञान विधि परक ही माने जायं तो उनसे आत्मतत्त्व का यथार्थज्ञान शब्द जनित नहीं होगा, क्योंकि वे विधिपरक हैं न कि आत्मतत्त्व के स्वरूप के बोधक। इस तरह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (जो शब्द जिस परक होता है वही शब्द का अर्थ होता है) इस न्याय से विधि ही शब्दार्थ होगा स्वरूप निश्चय नहीं।

शंका—विशिष्ट विधि में विशेषण विधि सिद्ध होती है विशेषण में अन्य विधि नहीं मानी जाती अन्यथा वाक्य-भेद होगा। जैसे 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में 'सोम' याग में विशेषण है तो उक्त वाक्य से सोमविशिष्ट याग का विधान होने पर याग के वाक्यान्तर से सिद्ध होने के कारण उक्त वाक्य का जैसे सोमरूप विशेषण के विधि में तात्पर्य है, उसी भाँति विषय विशिष्ट ज्ञान विधि के सामर्थ्य से अर्थात् ज्ञान विधि में विशेषणभूत ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय हो जायगा अतः उक्त दोष के सम्भव न होने से ज्ञान विधि मानना युक्ति युक्त है।

इसी को भामतीकार कह रहे हैं, 'न च बोधस्य' इत्यादि से—बोध (ज्ञान) बोध्य (जानने योग्य) विषय निष्ठ है अर्थात् बोध्यविषयक है। अतः तदपेक्षित होने से अन्यपरक अर्थात् विधिपरक वाक्य से भी उसका निश्चय हो जायगा ऐसी शंका युक्त नहीं है।

समाधान—'सोमेन यजेत्' इत्यादि स्थलों में सोम-विशिष्ट याग क्रिया का विधान होने से 'याग' विशेष्य के समान 'सोम' विशेषण की सत्ता होने से विशेषण

अंश में भी प्रमात्मक ज्ञान होना युक्त है, ज्ञान विधि तो विशेषण के वास्तविक सत्ता की आक्षेपिका नहीं है क्योंकि "वाचं धेनुमुपासीत" यहाँ पर जैसे वाणी में धेनुत्व आरोपित है, उसी तरह आरोप करके भी उसकी सिद्धि सम्भव है, इसलिए ज्ञानविधि परक मानने से आत्मतत्त्व का यथार्थ निश्चय सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान विधि परक वेदान्त नहीं है, यह सिद्ध होता है ।

भामती

प्रकृतमुपसंहरति तस्मात्किमपि वक्तव्यमिति यस्मिन्नसति ब्रह्मजिज्ञासा न भवति सति तु भवन्ती भवत्येवेत्यर्थः। तदाह—उच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्यादि। नित्यः प्रत्यगात्मा, अनित्याः देहेन्द्रियविषयादयः। तद्विषयश्चेद्विवेको निश्चयः, कृतमस्य ब्रह्मजिज्ञासया, ज्ञातत्वाद् ब्रह्मणः। अथ विवेको ज्ञानमात्रं न निश्चयः' तथा सत्येष विपर्यासादन्यः संशयः स्यात् तथा च न वैराग्यं भावयेत्। अभावयन् कथं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः। तस्मादेवं व्याख्येयम्—नित्यानित्ययोर्वस्तुनीति नित्यानित्यवस्तु तद्धर्मः नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेकः। एतदुक्तं भवति—मा भूदिदं तदृतं नित्यमिदं तदनृतमनित्यमिति धर्मिविशेषयोर्विवेकः। धर्मिमात्रयोर्नित्यानित्ययोस्तद्धर्मयोश्च विवेकं निश्चिनोत्येव नित्यत्वं सत्यत्वं तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यं, तथा चास्थागोचरः। अनित्यत्वमसत्यत्वं तद्यस्यास्ति तदनित्यमनृतं, तथा चानास्थागोचरः। तदेतेष्वनुभूयमानेषु युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरेषु विषयविषयिषु यदृतं नित्य सुखं व्यवस्थास्यते तदास्थागोचरो भविष्यति, यत्त्वनित्यमनृतं भविष्यति तापत्रयपरीतं तत् त्यक्ष्यत इति। सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादैहिकाद्वा कर्मणो विशुद्धसत्त्वस्य भवत्यनुमतोरुपतिभ्याम्। न खलु सत्यं नाम न किञ्चिदस्तीति वाच्यम् तदभावे तदधिष्ठानस्यानृतस्याप्यनुपपत्तेः, शून्यवादिनामपि शून्यताया एव सत्यत्वात्। अथास्य पुरुषधौरेयस्यानुभवोपपत्तिभ्यामेवं सुनिपुणं निरूपयत आ च सत्यलोकाद् आ चावीचे; जायस्व म्रियस्व इति विपरिवर्तमानं क्षणमुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनवत्सरयुगचतुर्युगमन्वन्तर प्रलयमहाप्रलयमहासर्गावान्तरसर्गसंसारसागरोर्मिभिरनिशमुह्यमानं तापत्रयपरीतमात्मानं च जीवलोकं चावलोक्यास्मिन् संसारमण्डलेऽनित्याशुचिदुःखात्मकं प्रसंख्यानमुपावर्तते, ततोऽस्यैतादृशान्नित्यानित्यवस्तुविवेक लक्षणात् प्रसंख्यानाद् इहामुत्रार्थभोगविरागो भवति। अर्थ्यते प्रार्थ्यत इति अर्थः फलमिति यावत्, तस्मिन् विरागोऽनाभोगात्मिकोपेक्षाबुद्धिः। ततः शमदमादिसाधनसम्पत्। रागादिकषायमदिरामत्तं हि मनस्तेषुतेषु विषयेषूच्चावचमिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयत् विविधाश्च प्रवृत्तीः पुण्यापुण्यफला भावयत् पुरुष-

मतिघोरे विविधदुःखज्वाला जटिले संसारहुतभुजि जुहोति। प्रसंख्यानाभ्यास-लब्धवैराग्यपरिपाकभग्नरागादिकषायमदिरामदं तु मनः पुरुषेणावजीयते वशीक्रियते। सोऽयमस्य वैराग्यहेतुको मनोविजयः शम इति वशीकारसंज्ञा इति चाख्यायते। विजितं च मनस्तत्तत्र विषयविनियोगयोग्यतां नीयते, सेयमस्य योग्यता दमः। यथा दान्तोऽयं वृषभयुवा हलशकटादिवहनयोग्यः कृत इति गम्यते। आदिग्रहणेन च विषयतितिक्षातदुपरमतत्त्वश्रद्धाः संगृह्यन्ते। अतएव श्रुतिः 'तस्मात् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्, सर्वमात्मनि पश्यति इति। तदेतस्य शमदमादिरूपस्य साधनस्य सम्पत् प्रकर्षः शमदमादिसाधनसम्पत् ततोऽस्य संसार बन्धनान्मुमुक्षा भवतीत्याह—मुमुक्षुत्वं च तस्य च नित्यसत्यस्वभावब्रह्मज्ञानं मोक्षस्य कारणमित्युपश्रुत्य तज्जिज्ञासाभावति धर्मजिज्ञासायाः प्रागूर्ध्वं च, तस्मात्तेषामेवानन्तर्यं न धर्मजिज्ञासाया इत्याह तेषु हीति। न केवलं जिज्ञासामात्रमपि तु ज्ञानमपीत्याह ज्ञातु च। उपसंहरति तस्मा'दिति।

क्रमप्राप्तमतः शब्दं व्याचष्टे अतः शब्दो हेत्वर्थः। तमेवातः शब्दस्य हेतुरूपमर्थमाह यस्मावेद एवेति। अत्रैवं परिचोद्यतेसत्यं यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवतिसैवत्वनुपपन्ना, इहामुत्रफलोपभोगविरागस्यानुपपत्तेः। अनुकूलवेदनीयं हि फलं, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। न चानुरागहेतावस्य वैराग्य भवितुमर्हति दुःखानुषङ्गदर्शनात् सुखेऽपि वैराग्यमिति चेत्, हन्त भोः सुखानुषङ्गाद्दुःखेप्यनुरागो न कस्माद्भवति। तस्मात्सुख उपादीयमाने दुःखपरिहारे प्रयतितव्यम् अवर्जनीयतया दुःखमागतमपि परिहृत्य सुखमात्रं भोक्ष्यते। तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेय तावदादाय विनिवर्त्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति स यावदादेयं तावदुपादाय निवर्तते। तस्माद्दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयमैहिकं वाऽऽमुष्मिकं वा सुखं परित्यक्तुमुचितम्। नहि मृगाः सन्तीति शालयो मीनोप्यन्ते भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। अपि च दृष्टं सुखं चन्दनवनितादिसङ्गजन्म क्षयिताक्षणेन दुःखेनाघ्रातत्वादतिभीरूणा त्यज्येतापि, नत्वामुष्मिकं स्वर्गादि, तस्याविनाशित्वात्। श्रूयते हि 'अपाम सोममममृता अभूम' इति। तथा च "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति, इति। न च कृतकत्वहेतुकं विनाशित्वानुमानमत्र संभवति, नरशिरः कपालशौचानुमानवदागमबाधितविषयत्वात्। तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यभावान्न ब्रह्मजिज्ञासेति प्राप्तम्। एवं प्राप्ते आह भगवान सूत्रकारः अत इति। तस्यार्थं व्याचष्टे भाष्यकारः यस्माद्वेद एवेति। अयमभिसन्धिः सत्यं मृगभिक्षुकादयः शक्याः

परिहर्तुं पाचकरुकृषीवलादिभिः, दुःखंत्वनेकविधानेक कारणसंपातजमशक्य-परिहारम् । अन्ततः साधनपारतन्त्र्यक्षयितालक्षणयोः दुःखयोः समस्तकृतक सुखाविनाभावनियमात् । न हि मधुविषसम्पृक्तमन्नं विषं परित्यज्य समधुशक्यं शिल्पिवरेणापि भक्तुम् । क्षयिताऽनुमानोपोद्बलितं च 'तद्यथेह कर्मचित' इत्यादि वचन क्षयिताप्रतिपादकं 'अपाम सोमम्' इत्यादिकं वचनं मुख्यासंभवे जघन्यवृत्तितामापादयति । यथाहुः पौराणिकाः—'आ भूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति । अत्र च ब्रह्मपदेन तत्प्रमाणं वेद उपस्थापितः । स च योग्यत्वात् 'तद्यथेह कर्मचित' इत्यादिरत इति सर्वनाम्ना परामृश्य हेतुपञ्चम्या निर्दिश्यते । स्यादेतत् यथा स्वर्गादेः कृतकस्य सुखस्य दुःखानुषङ्गस्तथा ब्रह्मणोऽपीत्यत आह—तथा ब्रह्मविज्ञानादपीति तेनायमर्थः—अतः स्वर्गादीनाम् क्षयिताप्रतिपादकाद् ब्रह्मज्ञानस्य च परमपुरुषार्थता प्रतिपादकादागमाद् यथोक्त साधन सम्पत् ततश्च जिज्ञासेति सिद्धम् ।

सुभद्रा—प्रकरण प्राप्त वार्ता का उपसंहार भाष्यकार कर रहे हैं—तस्मात्किमपि वक्तव्यम् इत्यादि से । भाष्यकार का यह आशय है कि वह क्या है जिसके न रहने पर ब्रह्म जिज्ञासा नहीं होती और रहने पर अवश्य होती है उसको कहना चाहिए । वे ये हैं—नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक पारलौकिक विषयों के भोग से विराग, शमदमादि साधन सम्पत्ति और मुमुक्षुता । नित्य प्रत्यगात्मा है, अनित्य शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि इन दोनों का तत्त्वतः विवेक (निश्चय) नित्य अनित्य वस्तु का यदि निश्चय हो तो ब्रह्म जिज्ञासा से क्या लाभ ? क्योंकि ब्रह्म तो ज्ञात है । यदि विवेक का अर्थ सामान्य ज्ञानमात्र है निश्चय नहीं तो फिर यह भ्रम से भिन्न संशय है । इस प्रकार संशयात्मक होने के कारण वैराग्य को भावना का उत्पादक न होने से ब्रह्मजिज्ञासा में हेतु कथमपि हो ही नहीं सकता । अतः इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होनी चाहिए—नित्यानित्यधर्मवतीति नित्यानित्यवस्तु तद्धर्मः नित्यानित्ययोर्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेकः । नित्य अनित्य में रहने वाले धर्म तथा नित्य और अनित्य धर्मों का विवेक अर्थात् ज्ञान ही नित्यानित्यवस्तु विवेक है । यह कहा जाता है कि असत्य वस्तु सुखस्वरूप नहीं हो सकती, अतः यह सत्य नित्य यह असत्य अनित्य, ऐसे धर्मीविशेष का निश्चय भले ही न हो, परन्तु वस्तु शब्दधर्म-परक होने से नित्य स्वरूप धर्म से नित्य सामान्य का और अनित्यस्वरूप धर्म से अनित्य सामान्य का निश्चय जो नित्य है वह अनित्य नहीं । इस तरह आत्म और अनात्म समुदाय में कुछ नित्य और अनित्य है इस तरह सामान्यरूपेण निश्चय भी जिज्ञासा में हेतु है अतः शास्त्रारम्भ सार्थक है । इसी को भामती में 'एतदुक्तं भवति' इत्यादि से

स्फुट कर रहे हैं। सत्य वही है जिसमें नित्यत्व (सत्यत्व) हो और नित्य होने के कारण आस्था का विषय होगा। असत्य और अनित्य वही है जिसमें अनित्यत्व और असत्यत्व हो। अतः अनुभव किए जाते हुए युष्मदस्मत्प्रत्यय के विषय शरीर, इन्द्रिय और विषय तथा आत्मस्वरूप विषयी में व्यवस्थित होने वाला सत्य, नित्य और सुख आस्था का विषय एवं अनित्य मिथ्या सुख और त्रिविध ताप[1] संचलित होने से त्याग का विषय होगा। अतः सुखरूप होने से नित्य ग्राह्य और दुःखरूप होने से अनित्य त्याज्य है।

नित्य और अनित्य वस्तु का सामान्य निश्चय जन्मान्तरीय कर्म अथवा इसी जन्म के किये हुए कर्मों के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर अनुभव और युक्ति से होता है। अनुभव—सीप में चांदी का जो भ्रम है उसका कोई सत्य अधिष्ठान है, यही अनुभव है और स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का भी कोई सत्य अधिष्ठान है। विवादास्पद सदाधिष्ठान वाला है, मिथ्या होने से गन्धर्व नगर, आदि के समान ऐसी युक्ति से सत्य अधिष्ठान का निरूपण करना उपपत्ति है। वहां पर भी सौर आलोकादि सदधिष्ठान है।

शंका—जो वस्तु मिथ्या है वह सदधिष्ठानक है, शून्यवादियों के मत से यह संभव नहीं है सब शून्य है, शून्य कोई वस्तु नहीं है। इस आशय से भामती में कह रहे हैं कि सत्य कोई वस्तु नहीं है।

समाधान—उसके न मानने पर सत्याधिष्ठानक अनृत (मिथ्या) वस्तु की प्रतीति भी सिद्ध नहीं हो सकती। इसका आशय यह है कि मिथ्या वस्तु की प्रतीति का भी कोई अधिष्ठान सत्य होना चाहिए। मिथ्या भूत र त, सर्पादि का सत्य वस्तु (शुक्ति और रज्जु) ही अधिष्ठान होती है। निरधिष्ठानक भ्रम नहीं होता। शून्यवादी के मत में सब शून्य है यही वास्तविक है तो शून्यता ही सत्य है वहीं अधिष्ठान होगा, यह समाधान है।

केवल नित्यानित्यविवेक ही वैराग्य नहीं उत्पन्न करता बल्कि उसके अभ्यास से वैराग्य होता है। यही भामती में 'अथास्य' से कह रहे हैं—इसी तरह पुरुष-श्रेष्ठ को अनुभव और युक्ति से भली-भाँति निरूपण करते हुए इस संसार मण्डल में सत्यलोक से अर्थात् ब्रह्मलोक से अवीचि (नरक लोक) पर्यन्त पुनः-पुनः जन्म मरण आदि परिवर्त्तन को प्राप्त क्षण-मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष,

---

१—त्रिविधताप—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। ज्वरादि आध्यात्मिक व्याघ्रादिहिंसकों के द्वारा होने वाला ताप आधिभौतिक तथा ग्रह, यक्ष और भूतादिक के द्वारा होने वाली पीड़ा आधिदैविक है।

युग, चार युग, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय, महासृष्टि, अवान्तर सृष्टि पर्यन्त काल-रूप संसार सागर की तरङ्गों से इधर-उधर फेंका जाता हुआ, सतत मोह को प्राप्त हुआ तथा त्रिविध तापयुक्त प्राणि समूह तथा अपने को देखकर अनित्य अप-वित्र और दुःखात्मक ज्ञानसन्तान की आवृत्ति होती है। ऐसे नित्यानित्य वस्तु विवेक का प्रसंख्यान अर्थात् पुनः-पुनः ज्ञान होने पर ऐहिक और आमुष्मिक विषय-भोगों के प्रति वैराग्य होता है। जो वस्तु अर्थ्य (इच्छा का विषय) है उसे अर्थ कहते हैं, उस अर्थ (फल) में विराग (अनादरात्मक उपेक्षा बुद्धि होने पर शमदमादि साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है। रागादिरूपी कसैली मदिरा से मतवाला मन उन-उन विषयों में इन्द्रियों को प्रवृत्त कराता हुआ तथा पुण्य-पाप-फल वाली विविध प्रवृत्तियों की भावना करता हुआ अत्यन्त भयंकर नाना प्रकार के दुःख की ज्वालाओं से जटिल संसार रूपी अग्नि में पुरुष की आहुति देता है। पूर्वोक्त प्रसंख्यान के अभ्यास से पूर्णरूप से वैराग्य हो जाने पर कषाय रस विशिष्ट रागादि रूपी मदिरा के मद नष्ट होने पर मन को पुरुष जब वश में कर लेता है तो वैराग्य के कारण यह मन का विजयव्यापार शम की संज्ञा से पुकारा जाता है और उसी की वशीकार संज्ञा भी है, इस प्रकार वश में किया हुआ मन जब तत्त्व विषयक निश्चय के योग्य होता है तो वही योग्यता दम कहलाता है। जैसे दम न किया हुआ यह युवा वृषभ हल और गाड़ी चलाने के योग्य किया गया है, यह प्रतीत होता है आदि पद ग्रहण से विषय शीतोष्णादि की तितिक्षा, सहन करने की क्षमता, विषयों से उपरति, तत्त्वज्ञान में श्रद्धा आदि का ग्रहण होता है। इसलिए श्रुति भी कहती है "तस्माच्छान्तो....।" अर्थात् पूर्वोक्त शमदम से युक्त होकर तथा विषयों से अलग होकर तितिक्षु पुरुष श्रद्धालु होकर आत्मा में ही स्वयं को तथा सभी को देखे। इन शमदमादिरूप साधनों की प्रवृद्धि ही शमदमादि साधन सम्पत्ति है, इस तरह इन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति को संसार रूपी बन्धन से मुक्त होने को इच्छा होती है भाष्य में भी कहा है—'मुमुक्षत्वं च'—ऐसे पुरुष के मोक्ष का कारण नित्य, शुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव ब्रह्म का ज्ञान ही है। यह सुनकर ब्रह्म की जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा के पूर्व और पश्चात् भी होती है।

इसलिए उक्त साधन चतुष्टय का आनन्तर्य है न कि धर्मजिज्ञासा का, जिसको भाष्य में भी कहते हैं—तेषुहि सत्सु इत्यादि। केवल जिज्ञासा मात्र ही नहीं बल्कि ज्ञान भी, इसलिए जातु कहा। तस्मात् इससे भाष्यकार उपसंहार कर रहे हैं—अर्थात् सूत्र घटक अथ शब्द से पूर्वोक्त साधन सम्पत्ति का ही आनन्तर्य उपदिष्ट है। (यहाँ तक अथ शब्द की व्याख्या हुई)।

अब क्रमपूर्वक अतः शब्द की व्याख्या हो रही है। अतः शब्द हेत्वर्थ है, जिससे कि कल्याण के साधन, अनित्य फल वाले अग्निहोत्रादि कर्म वेद में ही दिखलाये गये हैं। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवा मुत्रपुण्यचितो लोक क्षीयते"। जैसे लोक में कृष्यादि कर्म से सम्पादित फल नष्ट हो जाता है वैसे ही परलोक में भी पुण्य से सम्पादित स्वर्गादि भी विनष्ट हो जाते हैं। क्योंकि कर्म से प्राप्त होने वाला फल अस्थिर और अनित्य होता है। ब्रह्मज्ञान से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति भी श्रुति दिखलाती है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्यादि से, इससे उक्त साधन सम्पत्ति के बाद ही ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। अथ शब्द उक्त साधन सम्पत्ति के आनन्तर्य का बोधक है। तो अतः शब्द व्यर्थ है, इसका आशय यह कि उक्त-साधन सम्पत्ति, नित्यानित्य वस्तु विवेकादि जिज्ञासा में कारण हैं यह अथ शब्द से ही ज्ञात हो गया तो अतः शब्द का उपादान व्यर्थ है। विषय-प्राप्त सुख क्षयी है उसके नष्ट होने पर दुख होता है। अतः दुखद होने से वह भले ही त्याज्य हो परन्तु "अक्षय्य हवै चातुर्मास्ययाजिन" "अपाम सोममममृता अभूम" इत्यादि वाक्य प्रतिपादित स्वर्गादि सुख नित्यत्वेन अवगत होने से त्याज्य नहीं है अतः नित्यानित्य वस्तु के विवेक का अभ्यास होने पर भी ऐहिक आमुष्मिक फल भोग से विराग होना सम्भव नहीं हैं इसलिए साधन चतुष्टय-सम्पत्ति का आनन्तर्य 'अथ' शब्दार्थ नहीं हो सकता, इस आशंका को दूर करने के लिए सूत्र में अतः शब्द उस कारणत्व को दृढ़ करने के लिए है यह भामतीकार का आशय है। इसको स्पष्ट कर रहे हैं—'अथैवं परिचोद्यते" से। यह सत्य है कि उक्त साधन सम्पत्ति के बाद ब्रह्म जिज्ञासा होती है परन्तु साधन चतुष्टय की सिद्धि ही नहीं हो पाती। ऐहिक और आमुष्मिक फलभोग से विराग नहीं हो सकता। [१]अनुकूल ज्ञात होने वाला सुख कहलाता है क्योंकि फल अभीष्ट होता है तो उसमें अनुराग हेतुता रहने पर वैराग्य कैसे होगा? यदि यह कहा जाय कि वे नाशवान् हैं उनके नाश होने पर दुःख होता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि यदि दुःखके सम्बन्ध से सुखमें वैराग्य हो तब तो सुख के सम्बन्ध से दुःख में भी अनुराग होना चाहिए। अर्थात् दुःख के सम्बन्ध से सुख में भी यदि वैराग्य माना जाय तो सुख के सम्बन्ध से दुःख में भी अनुराग क्यों न हो। जैसे मत्स्याभिलाषी मछली का शल्क कांटों के साथ ग्रहण करता है और ग्राह्य तत्त्व लेकर निवृत्त होता है और अनाज चाहने वाला व्यक्ति भूसी सहित अन्न लेकर भी केवल तत्त्वांश को ही ग्रहण करता है। उसी प्रकार दुःख के भय से अनुकूल ज्ञात होने वाले सुख का त्याग ठीक नहीं।

१—अनुकूलवेदनीयंहि सुखम्, यह सुखका लक्षण तर्क संग्रह में है।

मृगादि । (जंगली पशु) के भय से क्या कृषि नहीं होती अथवा आगन्तुक भिक्षुकों के भय से चूल्हे पर पात्र ही नहीं रखा जाता । बुद्धिमान ऐसा नहीं करते । और भी बात है कि प्रत्यक्ष ऐहिक चन्दनवनितादिजन्य अनुकूल सुख विनाशी होने से दुःख संवलित है । अतः भीरु पुरुष उनका भी त्याग करे । परन्तु परलोक में प्राप्त होने वाले अनश्वर होने से स्वर्गादि सुख कैसे त्याज्य होंगे । स्वर्गादि सुख के अविनाशित्व में श्रुति प्रमाण है । यथा—'अक्षय्यं हवै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति' 'अपाम सोमममृता अभूम' । यदि 'यत्कृतकं तदनित्यम' के आधार पर स्वर्गं सुखमनित्यं कृतकत्वात् ऐसा अनुमान करके उक्त सुख में भी अनित्यत्व सिद्ध हो जायगा तो यह ठीक नहीं । जैसे यह अनुमान नरशिरः कपालं शुचि प्राण्यङ्ग त्वात् शंखवत् (मनुष्य का कपाल पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से शंख के समान, वारं स्पृष्टवाऽस्थ सस्नेहं सवासा जलमाविशेत् इत्यादि से बाधित होने से अप्रमाणिक है उसी तरह उक्तानुमान भी शास्त्र बाधित होने के कारण अप्रामाणिक है । अतः उक्त साधन संपत्ति न होने से ब्रह्म जिज्ञासा नहीं होगी इसी से सूत्रकार भगवान् बादरायण अतः पद दे दिया उसकी व्याख्या भगवान भाष्यकार करते हैं जिससे कि वेद में ही यह प्रदर्शन किया गया है यह निष्कर्ष है ।

यद्यपि पाचक (रसोई बनाने वाला) कृषविल (किसान) भिक्षुक और मृगों का परिहार कर सकते हैं अतः वहाँ पर पाक और कृषि सम्भव है परन्तु विविध कारणों से उत्पन्न होनेवाले दुःख तो अनेक हैं जिनका आत्यन्तिक परिहार दृष्ट या अदृष्ट उपाय यागादि से नहीं हो सकता अन्ततोगत्वा साधन के अधीन और नश्वर होने से दुःख-सुख के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं अर्थात् जितने सुख उत्पन्न होते हैं वे सब दुःख मिश्रित ही हैं अतः उनका परिहार नहीं किया जा सकता । जैसे मधु विष मिले अन्न को विष छोड़कर मधु सहित अन्न को अत्यन्त चतुर शिल्पी भी खाने में समर्थ नहीं है । उक्त कार्यतानुमान से उसके सहित "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यलोकः क्षीयत इत्यादि वाक्यों से स्वर्गादि सुख भी नश्वर है इस अर्थ का बोध कराता हुआ अपाम सोमममृता अभूम आदि वाक्य से स्वर्गादि सुख का जो अमृत रूप (अविनाशी रूप) अर्थ प्रतीत हो रहा है किन्तु, वह जघन्य वृत्ति (गौणी वृत्ति से) अपकृष्ट सुख का ही बोधक है । ऐसा पौराणिकों ने भी कहा है कि "आभूत सम्प्लवं स्थान ममृतत्वं हि भाष्यते"—पृथिव्यादि जो पंच महाभूत हैं उनका जो प्रलय, तत्पर्यन्त स्थायी पदार्थ अमृतत्व है न कि आत्यन्तिक । अतः उक्त वाक्य से स्वर्गादि सुख में गौण नित्यत्व ही कहा गया है यहाँ पर भास्कराचार्य ने जो कहा कि नित्या-

नित्य विवेकादि साधन चतुष्टय अप्राकरणिक होने से सूत्रकार की बुद्धि में स्थित नहीं हैं अतः उनका आनन्तर्य अथ शब्दार्थ नहीं है इसलिए कर्मों की विनाशिता और ब्रह्मज्ञान की मोक्षकारणता का अतः शब्द से परामर्श नहीं होगा वह ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा के कारण नित्यानित्य वस्तु विवेकादि श्रुति में प्रतिपादित हैं 'तस्माच्छान्तो दान्तः' इत्यादि से और ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद भी होता है जो कि ब्रह्म में प्रमाण है अतः ब्रह्म शब्द से वेद का भी स्मरण होने से उसका भी अतः शब्द से परामर्श सम्भव है जिससे कि उसमें प्रतिपादित उक्त साधन सम्पत्ति प्राकरणिक होने से सूत्रकार के बुद्धि विषय होंगे। जिससे कि उनका आनन्तर्य सम्भव होने से अथ शब्द के आनन्तर्यार्थत्व में कोई दोष नहीं है, तो फिर अतः शब्द से सम्पूर्ण वेद का परामर्श क्यों नहीं होता ? इसलिए भामती में कहा—'सच योग्यत्वात् तद्यथेह कर्मचित' इत्यादि योग्य होने से तद्यथेह कर्मचित भाग का ही इस सर्वनाम से परामर्श कर के हेतु में पंचमी से निर्देश किया जाता है अन्य वेद भाग इसके उपयुक्त नहीं है, जो उपयुक्त हैं उसी का परामर्श किया जाता है। अच्छा तो जैसे स्वर्गादि कार्य सुख दुख सम्बद्ध हैं वैसे ही ब्रह्म में भी दुख सम्बद्धता हो इसलिए भाष्य में कहा ब्रह्म विज्ञानादपि इत्यादि। इससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि स्वर्गादिक्षयिता के प्रतिपादक और ब्रह्मज्ञान के परम पुरुषार्थता के प्रतिपादक श्रुति वाक्य से उक्त साधन संपत्ति और उससे ब्रह्मजिज्ञासा होती है।

शाङ्करभाष्यम्

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम्, जन्माद्यस्य यतः इति। अतएव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः ब्रह्माश्रिताशेषविचार प्रतिज्ञा-नार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते, यैर्जि-ज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक् सूत्रयित-व्यानि। यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तैत्ति ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । अवगति पर्यन्तम् ज्ञान सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः । ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म । ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसार बीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् तस्माद्ब्रह्मविजिज्ञासितव्यम् ।

भामती

ब्रह्मजिज्ञासापदव्याख्यानमाह ब्रह्मण इति षष्ठीसमासप्रदर्शनेन प्राचां वृत्तिकृतां ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति चतुर्थीसमासः परास्तो वेदितव्यः । तादर्थ्यसमासे प्रकृतिविकृतिग्रहणं कर्त्तव्यमिति कात्यायनीयवचनेन यूपदार्वादिष्वेव प्रकृतिविकारभूतेषु चतुर्थीसमासनियमात् अप्रकृति विकारभूत इत्येवमादौ तन्निषेधात्, 'अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्ती' त्यश्वघासादिषु षष्ठीसमासप्रतिविधानात्, षष्ठीसमासेऽपि च ब्रह्मणो वास्तवप्राधान्योपपत्तेरिति । स्यादेतत् ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते तत्रानेकार्थत्वात् ब्रह्मशब्दस्य संशयः—कस्य ब्रह्मणो जिज्ञासेति । अस्ति ब्रह्मशब्दो विप्रत्व जातौ यथा ब्रह्महत्येति, अस्ति च वेदे यथा ब्रह्मोज्झमिति, अस्ति च परमात्मनि यथा ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवतीति, तमिमं संशयमपाकरोति ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणमिति यतो ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय तज्ज्ञापनाय परमात्मलक्षणं प्रणयति ततोऽवगच्छामः परमात्मजिज्ञासैवेयं न विप्रत्वजात्यादिजिज्ञासेत्यर्थः । षष्ठीसमासपरिग्रहेऽपि नेयं कर्मषष्ठी, किन्तु शेषलक्षणा, सम्बन्धमात्रं च शेष इति ब्रह्मणो जिज्ञासेत्युक्ते ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासेत्युक्तं भवति, तथा च ब्रह्मस्वरूपप्रमाणयुक्तिसाधनप्रयोजनजिज्ञासा सर्वा ब्रह्मजिज्ञासायां ब्रह्मजिज्ञासाऽवरुद्धा भवन्ति, साक्षात्पारम्पर्येण च ब्रह्मसम्बन्धात्, कर्मषष्ठ्यां तु ब्रह्म शब्दार्थः कर्म, स च स्वरूपमेवेति तत्प्रमाणादयो नावरुध्येरन् तथा चाप्रतिज्ञातार्थचिन्ता प्रमाणादिषु भवेदिति ये मन्यन्ते तान्प्रत्याह ब्रह्मण इति । कर्मणीति । अत्र हेतुमाह जिज्ञास्येति । इच्छायाः प्रतिपत्त्यनुबन्धो ज्ञानं, ज्ञानस्य च ज्ञेयं ब्रह्म, न खलु ज्ञानं ज्ञेयं बिना निरूप्यते, न च जिज्ञासा ज्ञानं विनेति प्रतिपत्त्यनुबन्धत्वात् प्रथमं जिज्ञासा कर्मैवापेक्षते, न तु सम्बन्धिमात्रम्, तदन्तरेणापि सति कर्मणि तन्निरूपणात् नहि चन्द्रमसमादित्यं चोपलभ्य कस्यायमिति सम्बन्ध्यन्वेषणा भवति, भवति तु ज्ञानमित्युक्ते विषयान्वेषणा किं विषयमिति, तस्मात्प्रथममपेक्षितत्वात् कर्मतयैव ब्रह्म सम्बध्यते न सम्बन्धितामात्रेण तस्यजघन्यत्वात् तथा च कर्मणि षष्ठीत्यर्थः । ननु सत्यं न जिज्ञास्यमन्तरेण जिज्ञासा निरूप्यते, जिज्ञास्यान्तरं त्वस्या भविष्यति ब्रह्म तु शेषतया संभन्त्स्यत इत्यत आह—जिज्ञासान्तरेति । निगूढाभिप्रायश्चोदयति—ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपीति । सामान्यसम्बन्धस्य विशेषसम्बन्धाविरोधेन कर्मताया अविघातेन जिज्ञासानिरूपणोपपत्तेरित्यर्थः ।

निगूढाभिप्राय एव दूषयति—एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मण इति। वाच्यस्य कर्मत्वस्य जिज्ञासया प्रथममपेक्षितस्य प्रथमसम्बन्धार्हस्य चान्वयपरित्यागेन पश्चात्कथंचिदपेक्षितस्य सम्बन्धिमात्रस्य सम्बन्धो जघन्य; प्रथमः प्रथमश्च जघन्य इति सुव्याहृतं न्यायतत्त्वम्। प्रत्यक्षपरोक्षाभिधानं च प्राथम्याप्राथम्यस्फुटत्वास्फुटत्वाभिप्रायम्। चोदकः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति—न व्यर्थो ब्रह्माश्रिताशेषेति व्याख्यातमेतदधस्तात्। समाधाता स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति—न प्रधान परिग्रह इति। वास्तवं प्राधान्यं ब्रह्मणः। शेषं स्वनदर्शनमतिरोहितार्थम्, श्रुत्यनुगमश्चातिरोहितः। तदेवमभिमतं समासं व्यवस्थाप्यं जिज्ञासापदार्थमाह—ज्ञातुमिति। स्यादेतत्, न ज्ञानमिच्छाविषयः, सुखदुःखावाप्तिपरिहारौ वा तदुपायौ वा तद्द्वारेणेच्छा गोचरः, न चैवं ब्रह्म विज्ञानं न खल्वेतदनुकूलमिति वा प्रतिकूलनिवृत्तिरिति वाऽनुभूयते, नापि तयोरुपायः, तस्मिन् सत्यपि सुखभेदस्यादर्शनात्, अनुवर्त्तमानस्य च दुखस्यानिवृत्तेः, तस्मान्न सूत्रकारवचनमात्रादिषिकर्मता ज्ञानस्येत्यत आह—अवगतिपर्यन्तमिति। न केवलं ज्ञान मिष्यते किन्त्ववगति साक्षात्कार कुर्वदवगतिपर्यन्तं सन् वाच्छाया इच्छायाः कर्म। कस्मात्? फलविषयत्वादिच्छायाः तदुपायं फलपर्यन्त गोचरयतीच्छेति शेषः। ननु भवत्ववगतिपर्यन्तं ज्ञानं, किमेतावतापीष्टं भवति, न ह्यनपेक्षणीयविषयमवगतिपर्यन्तमपि ज्ञानमिष्यत इत्यत आह—ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। भवतु ब्रह्म विषयावगतिः, एवमपि कथमिष्टेत्यत आह—ब्रह्मावगतिर्हिपुरुषार्थः। किमभ्युदयः? न किन्तु निश्रेयसं विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गपरमानन्दघनब्रह्मावगतिर्ब्रह्मणः स्वभाव इति सैव निःश्रेयसंपुरुषार्थ इति। स्यादेतत्, न ब्रह्मावगतिः पुरुषव्यापारव्याप्यो हि पुरुषार्थः, न चास्या ब्रह्मस्वभावभूताया उत्पत्तिविकारसंस्कारप्राप्तयः सम्भवन्ति, तथा सत्यनित्यत्वेन तत्स्वाभाव्यानुपपत्तेः, न चोत्पत्त्याद्यभावे व्यापारव्याप्यता, तस्मान्न ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थ इत्यत आह—निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवारणात्। सत्यं ब्रह्मावगतौ ब्रह्मस्वभावे नोत्पत्त्यादयः सम्भवन्ति, तथाप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्यावशाद् ब्रह्मस्वभावोऽपराधीन प्रकाशोऽपि प्रतिभानपि न प्रतिभातीव पराधीनप्रकाश इव देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नोप्यभिन्न इव भासत इति संसार बीजाविद्याद्यनर्थं निर्वहणात्, प्रागप्राप्त इव तस्मिन्सति प्राप्त इव भवतीति पुरुषेणार्थ्यमानत्वात्पुरुषार्थ इति युक्तम्। अविद्यादीत्यग्रहणेन तत्संस्कारोऽवरुध्यते। अविद्यादिनिवृत्तिस्तूपासनाकार्यादन्तःकरणवृत्तिभेदात् साक्षात्कारादिति द्रष्टव्यम् उपसंहरति—तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् उक्तलक्षणेन। मुमुक्षुणा न खलु तज्ज्ञानं

विना सर्वानर्थविविधदुःखनिदानमविद्योच्छिद्यते। न तदुच्छेदमन्तरेण विगलितनिखिलदुःखानुषङ्गानन्दघनब्रह्मात्मता साक्षात्काराविर्भावो जीवस्य। तस्मादानन्दघनब्रह्मात्मतामिच्छता तदुपायो ज्ञानमेषितव्यम्। तच्च न केवलेभ्यो वेदान्तेभ्योऽपि तु ब्रह्ममीमांसोपकरणेभ्य इति इच्छानिमेन ब्रह्ममीमांसायां प्रवर्त्यते, न तु वेदान्तेषु तदर्थविवक्षायां वा। तत्र फलवदर्थावबोधपरतां स्वाध्यायाध्ययनविधेः सूत्रयताऽथातो धर्म जिज्ञासेत्यनेनैव प्रवर्तितत्वात्, धर्मग्रहणस्य च वेदार्थोपलक्षणत्वेनाधर्मवद् ब्रह्मणोप्युपलक्षणाच्च। यद्यपि धर्ममीमांसावद् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तुं शक्यते तथापि प्राच्या मीमांसया न तद्व्युत्पाद्यते, नापि ब्रह्ममीमांसाया अध्ययनमात्रानन्तर्यमिति ब्रह्ममीमांसारम्भाय नित्यानित्यविवेकाद्यानन्तर्यं प्रदर्शनाय चेदं सूत्रमारम्भणीमित्य पौनरुक्त्यम्।

सुमङ्गा—भाष्य में ब्रह्मजिज्ञासापद में ब्रह्मणोजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासाय ह षष्ठी समास है जिससे प्राचीन वृत्तिकार की चतुर्थी समास की मान्यता का निराकरण हो जाता है। क्योंकि चतुर्थी समास मानने पर' ब्रह्म के लिए जिज्ञासा' ऐसा अर्थं होगा। और 'चतुर्थी तदर्थार्थव त्रिहित सुखरक्षितैः" इस सूत्र से तादर्थ्यं में समास मानना होगा जो सर्वथा अनुपयुक्त है। उक्त सूत्र में 'तादर्थ्यं समासे प्रकृति विकृति ग्रहणं कर्त्तव्यम्' इस वार्तिक से प्रकृतिविकृतिभाव में ही तादर्थ्यं समास होता है। जैसे यूपाय दारुयूपदारु यूप के लिए लकड़ी, यहाँ लकड़ी प्रकृति और यूपविकृति है। जो प्रकृति विकृतिभूत नहीं हैं वहाँ चतुर्थी समास तादर्थ्य में नहीं होता। 'अश्वघासादि' में षष्ठो समास है। ब्रह्मजिज्ञासा में षष्ठो समास मानने पर भीब्रह्म में वास्तविक प्राधान्यता की सिद्धि होने से चतुर्थी समास ठीक नहीं है।

अब ब्रह्मणो जिज्ञासा ऐसा कहने पर ब्रह्म शब्द के अनेकार्थक होने से संशय होगा कि किस ब्रह्म की जिज्ञासा? क्या ब्राह्मणत्व जातिवाचीकी? जैसे ब्रह्म हत्या (ब्राह्मण की हत्या) अथवा वेद परक ब्रह्म की? जैसे-ब्रह्मोज्झम् (वेद-त्याग) अथवा परमात्म वाची ब्रह्म की? जैसे ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति (परमात्मा को जानने वाला तत्स्वरूप हो जाता है)। ऐसा संशय होने पर भाष्यकार समाधान प्रस्तुत करते हैं ब्रह्म च वक्ष्यमाण लक्षणम्। जिसका लक्षण (जन्माद्यस्य यतः) आगे सूत्रकार कहेंगे, वही परमात्म वाचक ब्रह्म शब्द यहाँ विवक्षित है। क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके उसे ज्ञात कराने के लिए सूत्रकार ने परमात्मा का लक्षण किया; उससे ज्ञात होता है कि यह जिज्ञासा परमात्मा की ही है, ब्राह्मणत्व जात्यादि की नहीं।

षष्ठी समास की स्वीकृति होने पर भी यहाँ कर्म में षष्ठी नहीं है बल्कि

शेषलक्षणा षष्ठी है। सम्बन्ध सामान्य ही शेष है। अब ब्रह्म की जिज्ञासा ऐसा कहने पर ब्रह्म सम्बन्धिनी जिज्ञासा यह अर्थ होगा और ब्रह्म सम्बन्धी होने से ब्रह्म का स्वरूप, उसमें प्रमाण और युक्ति-साधन, प्रयोजन इत्यादि की भी जिज्ञासा संगृहीत होती है, क्योंकि ब्रह्म के साथ साक्षात् अथवा परम्परया सभी का सम्बन्ध है और षष्ठी से सामान्य सम्बन्ध अभिहित है। यदि कर्म में षष्ठी मानें तो ब्रह्म-शब्दार्थ ही कर्म है, वह स्वरूप ही हो सकता है तो प्रमाणादि संगृहीत नहीं होंगे; फिर अप्रतिज्ञातार्थचिन्ता प्रमाणादि में होगी। ऐसा मानने वालों के प्रति भाष्यकार का कथन है कि "ब्रह्म" शब्द में कर्म में षष्ठी है शेष में नहीं। जिज्ञासा जिज्ञास्य की अपेक्षा करती है। सूत्र में ब्रह्म से अन्य किसी जिज्ञास्य का निर्देश नहीं है। इच्छा के प्रतिपत्तिका अनुबन्ध अर्थात् विषय ज्ञान है। 'ब्रह्म जिज्ञासा' इस वाक्य से उत्पन्न जो ज्ञान वही इच्छा की प्रतिपत्ति है, उस इच्छा में ज्ञान विषय है और ज्ञान का विषय ब्रह्म है। ज्ञान अपने विषय के बिना निरूपित नहीं होता और जिज्ञासा ज्ञान के बिना। अतः उक्त प्रतिपत्ति का विषय होने से जिज्ञासा पहले कर्म की ही अपेक्षा करती है न कि सम्बन्धि मात्र को। उसके बिना भी कर्म के रहने पर जिज्ञासा का निरूपण संभव है। चन्द्रमा या सूर्य को प्राप्त कर "ये किसके हैं?" ऐसे संबन्धी की अन्वेषणा नहीं होती। 'ज्ञानम्' ऐसा कहने पर किं विषयक ज्ञान ऐसी अन्वेषणा होती है इसलिए पहले अपेक्षित होने से ब्रह्म का कर्मतया सम्बन्ध होना युक्त है, न कि सम्बन्धितया, क्योंकि पहले उपस्थित न होने से जघन्य है, अतः कर्म में षष्ठी है।

शंका—ब्रह्म का सम्बन्धितया ही निर्देश हो, प्रमाण और युक्ति आदि ही जिज्ञासा के कर्म होंगे। इसी को भामती में कह रहे हैं। सत्य है जिज्ञास्य के बिना जिज्ञासा का निरूपण नहीं होता परन्तु अन्य (प्रमाणादि) जिज्ञास्य हो जायेंगे और ब्रह्म का शेषतया (संबन्धितव्य) ही संबन्ध हो जायगा फिर शेष में ही षष्ठी क्यों न हो ?

समाधान—नहीं, निर्दिष्ट ब्रह्म में कर्मत्व का लाभ यदि संभव हो तो अन्य कल्पना अयुक्त है अतएव भाष्यकार ने कहा—जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च, कोई दूसरा जिज्ञास्य का निर्देश नहीं है ब्रह्म ही निर्दिष्ट है अतः कर्मतया उसका ही अन्वय युक्त है।

शंका—शेष षष्ठी स्वीकार करने पर भी ब्रह्म जिज्ञासा का कर्म हो सकता है उसमें कर्मत्व का विरोध नहीं है। शेष अर्थात् सम्बन्ध सामान्य सामान्य विशेष निष्ठ होता है। जैसे द्रव्य-सामान्य कहने पर घट-पटादि विशेष द्रव्य का

ज्ञान होता है उसी तरह सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी होने पर विशेष कर्मत्व सम्बन्ध का भी भान हो जायगा। क्योंकि सामान्य संबंध विशेष सम्बन्ध का विरोधी नहीं है। अतः कर्मत्व का विघात न होने से जिज्ञासा का निरूपण हो जायगा।

समाधान—प्रत्यक्ष ब्रह्म में कर्मत्व का त्याग कर सामान्य संबन्ध के द्वारा परोक्ष कर्मत्व की कल्पना करने में प्रयास व्यर्थ ही होगा। भाव यह है कि यदि कर्म मे षष्ठी मानते हैं तो षष्ठी का वाच्यार्थ होने से कर्मत्व जिज्ञासा में प्रथम अपेक्षित है इसलिए प्रथम (मुख्य-संबन्ध) के योग्य है तो उसका परित्याग कर के शेष षष्ठी मानकर अनन्तर किसी अपेक्षित संबन्धि मात्र का संबन्ध स्वीकार कर के जिज्ञासा में संबन्ध होगा। इस प्रकार पश्चात् संबन्ध वाला श्रेष्ठ (प्रथम) और प्रथम संबन्ध वाला जघन्य है। ऐसा माननेवालों का यह तत्त्व प्रतिपादन उपहास योग्य है। प्रत्यक्ष परोक्ष शब्द भाष्य में प्राथम्य और अप्राथम्य को स्फुट करने के लिए है। 'न व्यर्थः' भाष्यकार ने जो पूर्व में कहा था कि प्रयास व्यर्थ है उस पर पुनः विवेचना होती है कि व्यर्थ नहीं है अर्थात् शेष षष्ठी मानने पर सम्बन्धितया उपस्थित यानी ब्रह्माश्रित सम्पूर्ण विचार प्रमाण प्रतिज्ञात हो जायेंगे। कर्म में षष्ठी मानने पर वे गृहीत नहीं होंगे। उसका समाधान भाष्य में है, नहीं। प्रधान षष्ठी (कर्म में) मानने पर भी प्रधान को अपेक्षित अर्थ का लाभ आक्षेप से हो जायगा। ज्ञान से प्राप्त करने की इच्छा का विषय ब्रह्म है, अतः प्रधान है, वह यदि जिज्ञासा कर्म होने से गृहीत है तो जिनके जिज्ञासा के बिना ब्रह्म जिज्ञासित नहीं होता वे सब अर्थतः आक्षिप्त हैं उनका पृथक् निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे 'यह राजा जाता है' कहने पर सपरिवार राजा का गमन अर्थतः सिद्ध है। श्रुतियाँ भी प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म में जिज्ञासा कर्मता दिखला रही हैं—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे ये सभी जीव उत्पन्न होते हैं) 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म (उस ब्रह्म की जिज्ञासा करो, इत्यादि)। अतः ब्रह्म में कर्म में ही षष्ठी है न कि शेष में। इस तरह अभीष्ट समास व्यवस्थित होता है अब जिज्ञासा पदार्थ को कह रहे हैं ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं।

शंका—ज्ञान इच्छा का विषय नहीं हो सकता, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति ही अभीष्ट होने से इच्छा के विषय हैं या उनके द्वारा सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के उपाय इच्छा के विषय हैं। ब्रह्म का विज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुकूलवेदनीय सुख और प्रतिकूलवेदनीय दुःख है। ब्रह्मज्ञान अनुकूल अथवा प्रतिकूल की निवृत्ति है ऐसा अनुभव नहीं होता और न तो यही अनुभव होता कि

ब्रह्मज्ञान उनका उपाय ही है क्योंकि उसके होने पर भी सुख विशेष दिखलाई नहीं पड़ता। अनुवर्तमान (लगा हुआ) दुःख निवृत्ति नहीं होता अतः युक्ति विरुद्ध होने से सूत्रकार के वचन मात्र से इच्छा कर्मता (इच्छा का विषय) ज्ञान मे सम्भव नहीं है।

समाधान—'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म-केवल ज्ञान ही इच्छा का विषय नहीं है किन्तु अवगति (साक्षात्कार) करता हुआ तत्पर्यन्त ज्ञान सन् प्रत्यय के वाच्यार्थ इच्छा का कर्म विषय है क्योंकि इच्छा फल विषयिणी है। इसलिए फल पर्यन्त ज्ञान के उपाय को इच्छा विषय बनाती है। आशय यह है कि उक्त साधन चतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु को गुरु के मुख से ब्रह्म स्वरूप सुनते हुए जब तत्त्वमस्यादि वाक्य जनित शब्द ज्ञान हुआ तो निदिध्यासन द्वारा वह ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार का जनक होता है। इस प्रकार 'साक्षात्कार जनकं ज्ञानमिच्छाविषयः इच्छाविषयफलत्वात्—यह अनुमान सूचित हुआ, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि पक्ष उपायभूत ज्ञान है न कि फलभूत, अतः उसमें फलत्व रूप हेतु न रहने से हेतु असिद्ध है। नहीं, फलेच्छा ही उपाय पर्यन्त फैलती हुई अत्यन्त सन्निहित उपाय को भी फलत्वेन विषय बनाती है अतः पक्ष में हेतु रहने से उक्त दोष नहीं है। अच्छा तो साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान हो परन्तु क्या इससे वह इष्ट हो जायगा, जो विषय अपेक्षित नहीं है उसका अवगतिपर्यन्त भी ज्ञान इष्ट नहीं होगा। अतः भाष्यकार कहते हैं—'ज्ञानेन हि प्रमाणेन...............' (जिससे जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं अर्थात् प्रमाण तत्त्वमस्यादि वाक्य तदात्मक प्रमाण से ब्रह्म फलरूप साक्षात्कार की इच्छा का विषय है। ब्रह्म विषयक साक्षात्कार हो परन्तु इतने पर भी वह इष्ट कैसे है ? अतः भाष्य में 'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः' (क्या ब्रह्म साक्षात्कार पुरुषार्थ है, अभ्युदय नहीं ?) किन्तु सम्पूर्ण दुःख के सम्बन्ध की निवृत्ति के साथ ही परमानन्दघन ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्म का स्वभाव है अतः वही निःश्रेयस् है वही पुरुषार्थ है।

पुनः भामती में शंका कर रहे हैं—स्यादेतत्—ब्रह्म-साक्षात्कार पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि पुरुषार्थ तो पुरुष के व्यापाराधीन होता है ब्रह्म स्वभावभूत ब्रह्म साक्षात्कार में उत्पत्ति, विकार, संस्कार, प्राप्ति ए सब संभव नहीं हैं। आशय यह है कि पुरुष के व्यापार से किसी वस्तु की उत्पत्ति हो, जैसे कुलाल के व्यापार से घट की उत्पत्ति या विकृति, जैसे गोपाल के व्यापार से दूध का दही के रूप में परिणति अथवा संस्कृति, जैसे मलिन होने पर निघर्षणादि व्यापार से दर्पण का संस्कृत होना अथवा प्राप्ति, जैसे चैत्र के व्यापार से ग्राम में प्राप्ति। परन्तु ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मस्वभाव होने से नित्य है। अतः उत्पत्त्यादि संभव न होने के कारण पुरुष-

व्यापाराधीनत्व का अभाव होने से पुरुषार्थ कैसे ? यदि वे उसमें मान लिए जायँ तो अनित्य होने से ब्रह्मस्वभावता नहीं होगी और उत्पत्त्यादि के अभाव में पुरुष व्याप्यत्वाभाव होने से ब्रह्मावगति पुरुषार्थ नहीं है। इसलिए भाष्यकार कह रहे हैं "निःशेष संसार..........." यद्यपि ब्रह्म स्वभावभूत ब्रह्मावगति में उत्पत्त्यादि संभव नहीं हैं यह सत्य है, तथापि अनिर्वचनीय, अनादि अविद्या के कारण जिसका प्रकाश अन्य के अधीन नहीं है ऐसा प्रकाशित भी ब्रह्मस्वभाव अन्य के द्वारा प्रकाशित होने वाले तत्त्वों की तरह शरीर, इन्द्रियादि से भिन्न होने पर भी अभिन्न की तरह प्रकाशित होता है। तो संसार का बीज मूलकारण जो अविद्या आदि पदेन उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार तद्रूप अनर्थ के निवारण करने से पूर्व न प्राप्त हुए के समान अनर्थ के निवृत्त होने से प्रकाशित होता हुआ प्राप्त के समान होता है अतः पुरुष से अर्थ्यमान (इच्छा का विषय है) इसलिए पुरुषार्थ है। यह कहना युक्त है। अविद्या निवृत्ति तो उपासना (निदि-ध्यासन के कार्य अन्तःकरण के वृत्ति भेद साक्षात्कार) से होती है। यह जानना चाहिए। इसलिए मुमक्षु को ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। अतः भाष्यकार कह रहे हैं-'तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्' भाव यह है कि ब्रह्म स्वरूप चैतन्य स्वतः अविद्या का विरोधी नहीं है किन्तु अविद्या उससे सिद्ध होती है। यदि स्वतः वह अविद्या का विरोधी होता तो अविद्या कभी भी स्थित न होती, उसका विरोधी स्वरूप चैतन्य हमेशा विद्यमान है, किन्तु वृत्ति-ज्ञान ही अविद्या का विरोधी है तो अन्तःकरण वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य अविद्या को दूर करता है जैसे सूर्य की किरणें तृणादि को प्रकाशित करती हुई भी सूर्यकान्तमणि पर पहुंच कर उसको जलाती हैं ।

उस ब्रह्मज्ञान के बिना संस्कार सहित सम्पूर्ण दुःखों का कारण अविद्या निवृत्त नहीं होती और उसकी निवृत्ति के बिना जीव को आनन्दघन ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार का आविर्भाव संभव नहीं। इसलिए आनन्दघन ब्रह्मस्वरूप प्राप्ति के इच्छुक पुरुष को उसके उपायभूत ज्ञान की इच्छा करनी चाहिए। वह केवल वेदान्त-वाक्यों से नहीं सिद्ध होता किन्तु ब्रह्म विचार के सहित वेदान्त वाक्य से सिद्ध होता है। इसलिए इच्छा द्वारा ब्रह्मविचार में प्रवृत्त कराया जाता है नकि केवल वेदान्त या उसकी अर्थ विवक्षा में।

विशेष—जिज्ञासा संदेहयुक्त विषय में निर्णय के लिए होती है, बिना विचार के निर्णय नहीं होता इसलिए अर्थतः प्रतीत होता है कि विचार कर्तव्य है। आर्थिक अर्थ "प्रतीयमान" में 'कर्त्तव्य' का अध्याहार होता है तब यह आर्थिक अर्थ निकलता है कि—साधन चतुष्टय संपत्ति की सम्प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्म का

विचार करना चाहिए। श्रौत अर्थ यही है कि उक्त संपत्ति के बाद ब्रह्मजिज्ञासा होती है। अतः भाष्य में जिज्ञासा का अर्थ 'ज्ञातुमिच्छा' अर्थात् ज्ञान की इच्छा है। इस प्रकार विरोध नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा अनधिकार्य (प्रारम्भ के योग्य नहीं है) अर्थात् आद्यकृति का विषय नहीं है, क्योंकि कृति के इच्छाजन्य होने से इच्छा में कृति विषयता असम्भव है अतः अथ शब्द अधिकारार्थक नहीं है यह भाष्य का अभिप्राय है इसकी संगति उक्त श्रौत अर्थ स्वीकृत होने से होती है। यह आर्थिक अर्थ भी ध्वनित होता है कि—जिज्ञासा जैसे पुरुष को विचार में प्रवृत्त करती है वैसे ही विचार कर्त्तव्य है इस उपदेश में भी सूत्र का तात्पर्य है अतः सूत्र का उक्त अर्थद्वय होने से "इच्छामुखेन ब्रह्ममीमांसायां प्रवर्त्यते" यह भामती में कहा गया। जिसका अर्थ पहले व्याख्यात है भामती में पहले "स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्" इस भाष्य के व्याख्यानावसर में 'स्वाध्यायेन विषयेणावद्विषयमध्ययनं लक्षयति तथा च अथातो धर्म जिज्ञासा इत्यनेनैवगत मिदमिति नेदंसूत्रम् आरब्धव्यम्। यह कहा गया है; उसका उत्थान करके समाधान कर रहे हैं भामतीकार तत्रफलवदर्थावबोधपरतां, इत्यादि से। आशय यह है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह स्वाध्यायाध्ययनविधि अर्थावगतिरूप फलपरक है इसको 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र-रचना से जैमिनी मुनि ने सूचित किया। तो स्वाध्यायपदवाच्य समस्त वेद-राशि के अर्थज्ञान विवक्षित होने से तदन्तर्गत वेदान्तवाक्यार्थ भी विवक्षित है। यदि कहा जाय कि धर्म शब्द से केवल विधि वाक्य ही विवक्षित है न कि वेदान्तवाक्य, तो निषेधवाक्यों का संग्रह न होने से "धर्म शब्द वेदार्थ का उपलक्षण है" यह स्वीकृत होने पर अधर्म के समान ब्रह्म का भी उपलक्षण है, तो पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता? क्योंकि ब्रह्म-विचार की प्रतिज्ञा भी नहीं हो सकती है।

यद्यपि धर्म शब्द को वेदार्थ का उपलक्षण माना जाता है तो धर्म-विचार की तरह वेदार्थ-विचार से ब्रह्म-विचार का आक्षेप हो सकता है। इस शंका का समाधान तथापि इत्यादि में भामतीकार ने किया है तथापि पूर्व-मीमांसा में ब्रह्म-विचार का व्युत्पादन नहीं है अतः भगवान् बादरायण ने पृथक् सूत्र किया। वस्तुतः ब्रह्मविचार की प्रतीज्ञा वहाँ संभव नहीं, क्योंकि वेदाध्ययन करने पर भी ब्रह्म-विचार में रागी की प्रवृत्ति नहीं होती अतः केवल वेदाध्ययन मात्रका आनन्तर्यं ब्रह्मविचार में सम्भव नहीं है, इसलिए अर्थात् ब्रह्मविचार के प्रारम्भ के लिए और नित्यानित्य वस्तुविवेकादि साधन चतुष्टय सम्पत्ति, के अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है, उसके बाद ही ब्रह्मका विचार श्रेयस्कर है।

यह जनाने के लिए यह सूत्र अथातो ब्रह्मजिज्ञासा प्रारम्भ किया गया जिससे कि धर्मजिज्ञासा सूत्र से पौनरुक्त्य नहीं है ।

शाङ्कर भाष्यम्

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम् । अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्ति समन्वितम् । ब्रह्म शब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य शुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म । यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नं न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः ।

भामती

स्यादेतत्, एतेन सूत्रेण ब्रह्मज्ञानं प्रत्युपायता मीमांसायाः प्रतिपाद्यत इत्युक्तं, तदयुक्तं, विकल्पासहत्वादिति चोदयति—तत्पुनर्ब्रह्मेति । वेदान्तेभ्योऽपौरुषेयतया स्वतःसिद्ध प्रामाण्येभ्यः प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् । यदि प्रसिद्धं वेदान्तवाक्यसमुत्थेन निश्चयज्ञानेन विषयीकृतं ततो न जिज्ञासितव्यम्. निष्पादित क्रिये कर्मणि अविशेषाधायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातात् । अथाप्रसिद्धं वेदान्तेभ्यः, तर्हि न तद्वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति सर्वथाऽप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितु । अनुभूते हि प्रिये भवतीच्छा न तु सर्वथाऽननुभूतपूर्वे । न चेष्यमाणमपि शक्यं ज्ञातुं, प्रमाणाभावात् । शब्दो हि तस्य प्रमाणम् वक्तव्यम् यथा वक्ष्यति "शास्त्रयोनित्वादि" ति । स चेत्तन्नावबोधयति, कुतस्तस्य तत्र प्रामाण्यम् । न च प्रमाणान्तरं ब्रह्मणि प्रक्रमते । तस्मात्प्रसिद्धस्य ज्ञातुं शक्यस्याप्यजिज्ञासनाद् अप्रसिद्धस्येच्छायाः अविषयत्वात्, अशक्यज्ञानत्वाच्च न ब्रह्म जिज्ञास्यमित्याक्षेपः । परिहरति—उच्यते अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम् । अयमर्थः प्रागपि ब्रह्ममीमांसाया अधीतवेदस्य निगमनिरुक्तव्याकरणादि परिशीलन विदितपदतदर्थ सम्बन्धस्य सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युक्रमात् तत्त्वमसीत्यन्तात्' सन्दर्भान्नित्यत्वाद्युपेत ब्रह्मस्वरूपावगमस्तावदापततो विचाराद्विनाऽप्यस्ति । अत्र च ब्रह्मेत्यादिनावगम्येन तद्विषयमवगमं लक्षयति, तदस्तित्वस्य सति विमर्शे विचारात्प्रागनिर्णयात् । नित्येति कर्ता यता लक्षण दुःखनुपद्विपति । शुद्धेति देहाद्युपाधिकमपि दुःखमपाकरोति । बुद्धेत्यपराधीन प्रकाशमानन्दात्मानं दर्शयति, आनन्दप्रकाशयोरभेदात्

स्यादेतत्, मुक्तौ सत्यामस्यैते शुद्धत्वादयः प्रथन्ते, ततस्तु प्रागुदेहाद्यभेदेन तद्धर्मजन्मजरामरणादि दुःखयोगादित्यत उक्तम् मुक्तेति। सदैव मुक्तः सदैव केवलोऽनाद्यविद्यावशात्तु भ्रान्त्या तथाऽवभासत इत्यर्थः। तदेवमनौपाधिकं ब्रह्मणोरूपम् दर्शयित्वाऽविद्योपाधिकम् रुपमाह सर्वज्ञः सर्वशक्तिसमन्वितम्। तदनेन जगत्कारणत्वमस्य दर्शितं, शक्तिज्ञानभावाभावानुविधानात् कारणत्वभावाभावयोः। कुतः पुनरेवम्भूतब्रह्मस्वरूपावगतिरित्यत आह—ब्रह्मशब्दस्य हीति। न केवलं 'सदेव सोम्येदं' इत्यादीनां वाक्यानां पौर्वापर्यालोचनया इत्यम्भूत ब्रह्मावगतिः, अपि तु ब्रह्मपदमपि निर्वचन सामर्थ्यादिममेवार्थं स्वहस्तयति। निर्वचनमाह—बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। वृद्धिकर्मा हि बृहतिरतिशायने वर्तते। तच्चेदमतिशायनमनवच्छिन्नं पदान्तरावगमितं नित्यशुद्ध बुद्धत्वाद्यस्याभ्यनुजानातीत्यर्थः। तदेवं तत्पदार्थस्य शुद्धत्वादेः प्रसिद्धिमभिधाय त्वं पदार्थस्याप्याह—सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वस्य पांशुलपादकस्य हालिकस्यापि ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। कुतः आत्मत्वात्। एतदेव स्फुटयति सर्वो हीति प्रतीतिमेवाप्रतीति निराकरणेन द्रढयति न नेति। न न प्रत्येत्यह मस्मीति, किन्तु प्रत्येत्येवेति योजना। नन्वहमस्मीति च ज्ञास्यति मा च ज्ञासीदात्मानमित्यत आह यदीति। अहमस्मीति न प्रतीयात्। अहंकारास्पदं हि जीवात्मानं चेन्न प्रतीयादहमिति न प्रतियादित्यर्थः। ननु प्रत्येतु सर्वोजनः आत्मानमहंकारास्पदं ब्रह्मणि तु किमायातमित्यत आह आत्मा च ब्रह्म। तदत्त्वमासामानाधिकरण्यात्, तस्मात्तत्पदार्थस्य शुद्धबुद्धत्वादेः शब्दतः त्वं पदार्थस्य च जीवात्मनः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः पदार्थज्ञान पूर्वकत्वाच्च वाक्यार्थज्ञानस्य त्वं पदार्थस्य ब्रह्मभावागमस्तत्त्वमसीति वाक्याद् उपपद्यत इति भावः। आक्षेप्ता प्रथम कल्पाश्रयं दोषमाह, यदि तर्हि लोक इति। अध्यापकाध्येतृपरम्परा लोकः। तत्र तत्त्वमसीतिवाक्याद् यदि ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, आत्मा ब्रह्मत्वेनेति वक्तव्ये ब्रह्मात्मत्वेनेत्य भेद विवक्षया गमयितव्यम्। परिहरति 'न; कुतः तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। तदनेन विप्रतिपत्ति साधक बाधक प्रमाणाभावे सति संशयबीजमुक्तम् ततश्च संशयाज्जिज्ञासोपपद्यत इति भावः।

सुभद्रा—इस सूत्र से "ब्रह्मज्ञान के प्रति विचार उपाय है" यह जो कहा गया है, वह विकल्प के न होने के कारण ठीक नहीं। तत्पुनर्ब्रह्म—अपौरुषेय होनेसे स्वतः प्रामाण्य है जिसमें, ऐसे वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध ? यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है अर्थात् वेदान्त वाक्यजन्य निश्चयात्मक ज्ञान का विषय है तो फिर

वह जिज्ञासा का विषय कैसे? क्योंकि ऐसे कर्म (विषय) में, जिसमें प्रमिति (निश्चयात्मक ज्ञानरूपा क्रिया) सिद्ध है, किसी विशेषता को उत्पन्न न करने वाले साधन न्याय का प्रतिपात होने लगेगा। भाव यह है कि कार्यसिद्धि के लिए साधन की क्या आवश्यकता? जो उसमें कुछ विशेषता न उत्पन्न करे। अतः वह साधन हो नहीं। यह साधन न्याय का प्रतिपात है। प्रकृत में यदि वेदान्त वाक्यो से पूर्व ही ब्रह्म सिद्ध है तो साधनभूत मीमांसा की क्या आवश्यकता यदि ब्रह्म वेदान्त वाक्यों से अप्रसिद्ध है तो वेदान्त उसके प्रतिपादन में असमर्थ है तो सर्वथा अप्रसिद्ध भी जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता।

प्रिय वस्तु का अनुभव रहने पर ही उसकी इच्छा होती है। पूर्व में जिसका अनुभव नहीं है उसकी इच्छा भी नहीं होती इच्छा का विषय होन पर भी प्रमाण न होने से उसका जानना असम्भव है। ब्रह्म में शब्द ही प्रमाण है यह कहना होगा, जैसा कि कहेंगे 'शास्त्रयोनित्वात्'—वह शास्त्र यदि उसका अवबोध कराने में समर्थ नहीं है तो उसमें प्रामाण्य कैसे? अन्य कोई प्रमाण ब्रह्म में प्रक्रान्त नहीं है। इस लिए 'प्रसिद्ध' जानने के योग्य होने पर भी प्रसिद्ध होने से जिज्ञासा का विषय नही है। इच्छा का विषय न होने से अप्रसिद्ध का ज्ञान ही नहीं हो सकता तो ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता यह अभिप्राय है। ऐसी शंका होती है। इसका समाधान भाष्य ये 'अस्तितावद् ब्रह्म' इत्यादि से किया है—ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान है। भाव यह है कि सर्वदा एक रूप से अवस्थित रहने वाले ब्रह्म में विचार से पहिले ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि अपौरुषेय वेदान्त वाक्यों से ज्ञान होता है परन्तु वह ज्ञान पुरुषगत दोषवश उत्पन्न होने पर भी उसके संशयाक्रान्त होने से अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित होकर स्थितिको लाभ करने में समर्थ नहीं है।

इसलिए ब्रह्म ज्ञात नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। अतः "अस्ति तावत्-ब्रह्म" इत्यादि से ब्रह्म की अप्रसिद्धि का सर्वथा परिहार हो जाता है, इसका वर्णन कर रहे हैं। अयमर्थः—जिसने निगम वेद उसके श्रोत्रस्थानीय निरुक्त एवं मुखस्थानीय व्याकरणादि अङ्गों का चिन्तन करने से पद, अर्थ और सम्बन्ध आदि को जान लिया है उसको 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' आदि उपक्रम 'प्रारम्भ' 'तत्त्वमसि' आदि उपसंहार 'समाप्ति' तत्पर्यन्त सन्दर्भ से नित्य-शुद्धत्वादि धर्मों से युक्त ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान आपाततः अर्थात् विचार के बिना भी होता है।

शंका—किसी अंश, किसी धर्म से ज्ञात, अन्य अंश से अन्य धर्म से अज्ञात वस्तु में जिज्ञासा होती है। अद्वैत सिद्धान्त में अंश रहित निर्धर्मक निर्विशेष ब्रह्म में

जिज्ञासा नहीं हो सकती तो तन्मूलक विचार भी असम्भव है इसलिए निर्गुण-ब्रह्म का विचार सूत्र से विवक्षित नहीं है किन्तु सगुण-ब्रह्म ही विचार का विषय है।

समाधान—जिसमें संशयात्मक ज्ञान होता है उसके निर्णय के लिए जिज्ञासा होती है यह सर्वानुभव सिद्ध है। संशयत्व कोई जाति नहीं है, किन्तु "मैं सन्देह करता हूँ" इस प्रकार का अनुभव सिद्ध ज्ञान में रहने वाला विषयिता[1] विशेषरूप है। वह जैसे विरुद्ध कोटिद्वयावगाहि 'स्थाणुर्वा' 'पुरुषो वा' में रहता है उसी तरह विचार के बिना जायमान ज्ञान में भी आपाततः विद्यमान है। इस प्रकार "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च यन्मामतं तस्यमतम् अविज्ञातं विजानताम्" विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इत्यादि निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान जिसको है उसी को संशय होगा तो उसके निर्णय के लिए निर्गुण ब्रह्म विषयक विचार भी आवश्यक है अर्थात् जिस पुरुष को दोषवशात् उक्तवाक्यजन्यज्ञान में प्रामाण्य निश्चय नहीं है उसके लिए विचार की आवश्यकता है और जिस पुरुष श्रेष्ठ को उक्तवाक्य को सुनने के बाद यथार्थ ज्ञान, हो गया उसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि वेद निर्दोष है तथापि वह बुद्धि दोषवश सामान्यतः कहीं पर देखे हुए वचनाभास के समान समझ लेने पर सन्दिग्धार्थक हो सकता है। यद्यपि विचार से पूर्व भी उपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म की प्रसिद्धि है परन्तु निश्चित ज्ञान नहीं है अतः निर्णय के लिए विचार अपेक्षित है।

विचार के पूर्व निर्णय न होने से अस्तित्व में संशय होने पर जानने के योग्य ब्रह्मशब्द से तद्विषयक ज्ञान लक्षित होता है ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति बृह् धातु से होती है, जिसका अर्थ निरतिशय महत्व है। इससे नित्य-शुद्ध त्वादि अर्थ प्रतीत होते हैं नित्य कहने से विनाश रूप दुःख का निराकरण, शुद्ध कहने से शरीराद्युपाधिक दुःख की निवृत्ति, बुद्ध से अन्य के द्वारा प्रकाशित न होने वाले अर्थ प्रकट होते हैं। ऐसे आनन्द रूप आत्मा का बोध आनन्द और प्रकाश में अभेद होने से होता है। जीव और ब्रह्म में मुक्तावस्था में अभेद और उसके पूर्व भेद मानने वालों के मत से यह शंका की गई। अच्छा तो मुक्त होने पर भले ही आत्मा में शुद्धत्वादि धर्म प्रसिद्ध हो परन्तु उसके पूर्व शरीरेन्द्रिय आदि के साथ अभेद होने से

१—जिस वस्तु का ज्ञान होता है। वह विषय होता है, ज्ञान विषयी होता है विषय में विषयता रहती है, ज्ञानरूप विषयी में विषयिता रहती है, संशय भी ज्ञान विशेष है इससे उस में विषयिता विशेष रहता है।

उनमें रहने वाले धर्म जन्म जरामृत्यु आदि दुःख का सम्बन्ध आत्मा में संभव हो सकता है, इस लिए मुक्त कहा गया। सर्वदा मुक्त सर्वदा केवल शुद्धरूप भी आत्मा अनादि अविद्यावश भ्रान्ति से बद्ध और अशुद्ध की तरह भासता है। इस प्रकार ब्रह्म का उपाधि रहित रूप दिखलाकर अविद्योपाधिकरूप बता रहे हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिसमन्वित और मायावच्छिन्न है अर्थात् सगुण ब्रह्म ईश्वर को उपाधिभून अविद्या ही 'माया' पद से व्यवहृत होती है जो कि शुद्ध सत्वगुण प्रधान हैं। जीव के उपाधिभूत तत्तदन्तः करण हैं उन उपाधियों से विशिष्ट जीव में रहने वाली मलिनता सत्वप्रधान अविद्या से भिन्न है जिससे कि जीव में हो अज्ञता का व्यवहार होता है न कि ईश्वर में उक्त जीव में रहने वाली अविद्याओं से ईश्वर विषय किया जाता है न कि शुद्ध ब्रह्म। एक ही ईश्वर सम्पूर्ण जीव में रहने वाले अज्ञान का विषय है अतः जीव-भेद से ईश्वर में भेद नहीं है। इससे जगत का कारण ईश्वर है, यह प्रदर्शित हुआ। क्योंकि ज्ञान और शक्ति जिसमें रहती है वही कर्तारूप कारण होता है, अन्य नहीं। तो शक्ति और ज्ञान के रहने पर कारणता, उसके अभाव में कारणत्वरूप कर्तृत्वाभाव होने से सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान ईश्वर जगत का करण होता है। उक्त ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है इस पर कह रहे हैं। ब्रह्मशब्दस्य हि—नित्य शुद्ध ब्रह्म की प्रतीति केवल 'सदेव सोम्येदम्' 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य सन्दर्भ के पूर्वापर को आलोचना से ही नहीं होती किन्तु ब्रह्म शब्द भी अपने निर्वचन के सामर्थ्य से इसी अर्थ को प्रकट करता है। भाष्य में निर्वचन कर रहे हैं—बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् बृह धातु का अर्थ वृद्धि है, वृद्धि रूप क्रिया जिस बृह धातु का है वह अतिशय अर्थ में वर्तमान है जो, अतिशय विशिष्ट ब्रह्म है तो घट-वृक्षादि की भांति आपेक्षिक महत्व ब्रह्म में होगा नहीं क्योंकि वह तो अतिशय से अनवच्छिन्न है, अर्थात् किसी के अपेक्षा से उसमें महत्व है यह नहीं किन्तु स्वतः है जो आपेक्षिक महत्व विशिष्ट होता है। उसमें किसी की अपेक्षा अल्पत्व भी रहता है जैसे घटपट, आदि के अपेक्षा महत्व पृथ्वी में है, परन्तु आकाश, आदि की अपेक्षा अल्पत्व भी है। अतः ब्रह्म में निरपेक्ष महत्व है जो कि अन्यपद नित्य त्वादि बोधक नित्य आदि पदों से अवगत नित्य शुद्ध-बुद्ध त्वादि को कह रहा है अभिप्राय यह कि ब्रह्म शब्द से निरतिशय बृहत्व अर्थात् अनपेक्ष महत्व विशिष्ट अर्थ न प्रतीत हो कर आपेक्षिक महत्व प्रतीत हो तो उसमें घटादि की तरह अनित्यत्वादि दोष के संभव होने पर, मुमुक्षु के जिज्ञासा

की योग्यता के अभाव होने के कारण वाक्यार्थ अन्वित नहीं होगा। इसलिए आपेक्षिक महत्व के अतिरिक्त 'ब्रह्म' शब्द से सर्वतः अनवच्छिन्न देश काल वस्तु एतस्त्रिविधपरिच्छेदशून्य रूप अतिशायित्व प्रतीत होता है। किसी देश में विद्यमान रहकर देशान्तर में न रहना देशतः परिच्छेद है। किसी काल में रहते हुए अन्यकाल में न रहना कालतः परिच्छेद है। किसी वस्तु के भेद का प्रतियोगी या अनुपयोगी होना वस्तुतः परिच्छेद है। उक्त तीनों परिच्छेद अनित्य घटादि में ही सभव है न कि बिभु (सम्पूर्ण देश में रहने वाले) ब्रह्म में।

इस प्रकार तत्पदार्थ (ब्रह्म) में शुद्धत्वादि की प्रसिद्धि बताकर त्वं पदार्थ को कह रहे हैं—सर्वस्यात्मत्वाच्च......। सबकी आत्मा होने से भी 'ब्रह्म है' यह प्रसिद्ध है। "ब्रह्म है" इसका ज्ञान सभी को है, यहाँ तक कि धूल से सने हुए पैर वाले, अक्षरशून्य हलवाहे जैसे निम्न प्राणी को भी ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान है। क्योंकि वह आत्मा है। इसी को स्फुट कर हैं। सर्वो हि—संसार के प्रत्येक प्राणी को आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती है। "मैं नहीं हूं" ऐसी प्रतीति नहीं होती। यदि आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि होती नहीं तो सभी ऐसी प्रतीति करने लगते कि "मैं नहीं हूं" किन्तु ऐसा नहीं होता, बल्कि 'मैं हूं' यही सबको प्रतीत होता है। "मैं हूं" ऐसा ज्ञात होने पर भी आत्मा का ज्ञान न हो अतः भाष्य मे सर्वलोको नाहमस्मीति प्रतीयात् कहा। द्वैत प्रपंच के सत्य होने से अद्वैत विषयक अनर्थ निवृत्ति असम्भव है, इसलिए शास्त्रारम्भ नहीं करना चाहिए यह अध्यास भाष भामती के प्रारम्भ में आया है, वहाँ प्रपंच की असत्यता को दिखाकर उसका निराकरण किया गया।

अब 'अद्वैतब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध है?' ये दोनों पक्ष शास्त्र के विषय नहीं हो सकते अतः पुनः विचार-शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ है। यह तत्पुनर्ब्रह्म से कह रहे हैं जिससे कि पुनरुक्त दोष नहीं है। अहंकार के अधिष्ठान भूत जीवात्मा की प्रतीति यदि न हो तो 'अहं' प्रतीत भी न होगा। अहं की प्रतीतिसे'चित्' (आत्मा) और 'अचित्' (अन्तःकरण) इन दोनों का बोध होता है। इस लिए अहं की प्रतीति में आत्मा भी भासता है। अच्छा अहंकारास्पद सभी उपादानों से आत्मा को प्रतीति हो पर इससे ब्रह्म का बोध तो हो नहीं जायगा। भाष्य में यही कहते हैं कि "आत्मा ही ब्रह्म है"। "तत्वमसि" इस वाक्य में तत्पद से उपस्थित 'सत्' शब्द से व्यवहृत ब्रह्म का परामर्श होता है और उसका त्वं पद के साथ सामानाधिकरण्य है। इस लिए तत्पदार्थ

शुद्ध बुद्धत्वादि की प्रसिद्धिशब्द से तथा त्वं पदार्थ जीवात्मा की प्रसिद्धि प्रत्यक्ष से है । अतः जीव को पदार्थज्ञान पूर्वक वाक्यार्थ ज्ञान होने से ब्रह्मभाव की अवगति "तत्वमसि" वाक्य से उपपन्न होती है । "तत्वमसि" इस वाक्य में ब्रह्म की आत्मत्वेन प्रसिद्धि है । 'ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्ध है, यह कथन आत्मा और ब्रह्म की अभेद-विवक्षा में है । इस प्रकार आत्मत्वेन प्रसिद्ध ब्रह्म ज्ञात ही है और यदि ज्ञात भी ब्रह्म की ब्रह्म की जिज्ञासा हो तब अजिज्ञास्यत्वापत्ति दोष होने में सन्देह नहीं । इसका निराकरण कर रहे हैं, न, तद्विशेषं········ । सामान्यरूप से ज्ञात होने पर भी विशेषरूप मे संशयास्पद होने पर जिज्ञास्य है । इस प्रकार साधक बाधक प्रमाण के अभाव में वह संशय का कारण कहा गया और संशय होने से जिज्ञासा उत्पन्न होता ही है ।

भामती

विवादाधिकरणं धर्मी सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽभ्युपेयः । अन्यथाऽनाश्रया भिन्नाश्रया वा विप्रतिपत्तयो न स्युः । विरुद्धा हि प्रतिपत्तयो विप्रतिपत्तयः । न चानाश्रयाः प्रतिपत्तयो भवन्ति, अनालम्बनत्वापत्तेः । न च भिन्नाश्रया विरुद्धाः । न ह्यनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति प्रतिपत्तिविप्रतिपत्ती । तस्मात्तत्पदार्थस्य शुद्धत्वादेर्वेदान्तेभ्यः प्रतीतिस्त्वंपदार्थस्य च जीवात्मनो लोकतः सिद्धिः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः तदाभासत्वानाभासत्वतत्तद्विशेषेषु परमत्र विप्रतिपत्तयः । तस्मात्सामान्यतः प्रसिद्धे: धर्मिणी विशेषतो विप्रतिपत्तौ युक्तस्तद्विशेषेषु संशयः ।

सुभद्रा—विरुद्ध प्रतिपत्ति (ज्ञान) जिससे हो वह विप्रतिपत्ति है एक धर्मिक विरुद्ध कोटि द्वयावगाहिज्ञानजनकवाक्य "पर्वतोवह्निमान न वा", "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" आदि विप्रतिपत्ति है । क्योंकि यहाँ पर पर्वत धर्मिक अर्थात् पर्वत है धर्मीविशेष्य जिस ज्ञान में 'विरुद्ध कोटिद्वय-'वह्निमान्' 'वह्न्यभाववान्' उसको विषय करने वाला "यह पर्वत वह्निवाला है अथवा वह्न्यभावयुक्त है" इत्याकारक संशयजनक विरुद्धज्ञान उसका जनक उक्तवाक्य विप्रतिपत्ति है । वाक्य संशय का साक्षात् जनक नहीं क्योंकि वाक्यजन्य ज्ञान शाब्दबोधात्मक होता है, संशय मानस प्रत्यक्ष रूप है, सिद्धान्त में साक्षिप्रत्यक्ष रूप है । किन्तु विरुद्धज्ञान संशय का जनक है और विरुद्ध ज्ञान का जनक विप्रतिपत्ति वाक्य है और वह विरुद्धज्ञान सिद्धि और बाध के न होने से अर्थात् उस ज्ञान की सिद्धि न तो प्रमाण से ही निश्चित होती है और न तो उसका बाध ही हो रहा है । अतः वह संशय को उत्पन्न करता है । संशय विचार का अंग है । प्रकृत में वेदान्त वाक्य श्रवणान्तर आत्मा का सामान्य ज्ञान होने पर देह ही आत्मा है या इन्द्रियादिक ऐसा विरुद्ध कोटिक

ज्ञान होने से इस विवाद का आश्रय आत्मरूप धर्मी सर्वतन्त्र सिद्धान्त सिद्ध मानना पड़ेगा। नहीं तो आश्रय के न होने या भिन्न आश्रय के होने के विप्रविप्रत्तियां ही नहीं होंगी। इसका यह आशय है कि यदि आत्मरूप धर्मी न अंगीकार किया जाय अथवा उन विवादों का शरीर या इन्द्रियादिक ही आत्मा है ऐसा भिन्न-भिन्न धर्मी मान लिया जाय तो उक्त विप्रतिपत्ति का स्वरूप हीन ही सिद्ध होगा। इसलिए एक धर्मी का भान आवश्यक है।

विरुद्धज्ञान ही विप्रतिपत्ति है तो वह विरुद्ध दो ज्ञान एक के विरोधी तभी होंगे जब दोनों ज्ञान में धर्मी (विशेष्य) एक भासे, अन्यथा नहीं। भिन्न धर्मिक ज्ञानों की बुद्धि जैसे अनित्य है, आत्मा नित्य है विरोध नहीं होता। प्रतिपत्ति (ज्ञान) विना आश्रय के नहीं होता अन्यथा ज्ञान निराधार होने लगेगा। भिन्न आश्रयक ज्ञान में विरोध नहीं है जिसका उदाहरण पूर्व प्रतिपादित है। इस हेतु से जिससे कि विप्रतिपत्ति एक आश्रय में होती है जिस लिए एक आलम्बन में पहिले ज्ञान के विषय का निषेध कर के विरुद्धज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रति-योगित या विप्रतिपत्ति एकाश्रय होने से तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ तथा उनके एकत्व की प्रतीति लोक और शास्त्र से सबको इष्ट है। तत्त्वमसि इस वाक्य घटक तत्पदार्थ के शुद्धत्वनित्यत्वादि की प्रतीति वेदान्त वाक्यों से और त्वं पदार्थ जीवात्मा की प्रतीति लोक प्रमाण से सिद्ध है। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त सिद्ध है ऐसा अंगीकार करना पड़ेगा फिर विवाद किसमें हैं, उसको बतला रहे हैं— तदाभासत्व पराभासत्व तद्विशेष में विप्रतिपत्तियां हैं। वह प्रतीति आभास है या नहीं—जैसे लोकायतिकचार्वाक आदि को "देह आत्मा है" ऐसी प्रतीति होती है, पर आस्तिको को ऐसी प्रतीति नहीं होती किन्तु प्रतीत्याभास होता है। आस्तिकों को देहाविभिन्न आत्मा है यह प्रतीति होती है पर उसमें चार्वाक को आभासत्व है। आस्तिकों को भी तत्पदार्थ ब्रह्म का त्वंपदार्थ जीव के साथ ऐक्यप्रतीति में गौणता ही है और त्वं पदार्थ की प्रतीति का आलम्बन असङ्ग कूटस्थसाक्षी है, इत्यादि में आभास है या नहीं इत्यादि विशेष में वैमत्य होने से विप्रतिपत्ति सिद्ध होती है अतः संशय होता है तो फिर जिज्ञासा का होना आवश्यक ही है।

शङ्कर-भाष्यम्

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्त्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति

केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे । एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभास-समाश्रयाः सन्तः । तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् । तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ।

भामती

तत्र त्वं पदार्थे तावद्विप्रतिपत्तिं दर्शयति देहमात्र इत्यादिना, भोक्तैव केवलं न कर्त्ता इत्यन्तेन । अत्र देहेन्द्रिय मनःक्षणिकविज्ञानचैतन्यपक्षे न तत्पदार्थ-नित्यत्वादयस्त्वंपदार्थेन सम्बध्यन्ते, योग्यताविरहात् । शून्यपक्षेऽपि सर्वोपाख्या-रहितमपदार्थः कथं तत्त्वमोर्गोचरः कर्तृ भोक्तृस्वभावस्यापि परिणामितया तत्पदार्थनित्यत्वाद्यसंगतिरेव । अकर्तृत्वेऽपि भोक्तृत्वपक्षे परिणामितया नित्य-त्वाद्यसंगतिः । अभोक्तृत्वेऽपि नानात्वे नावच्छिन्नत्वाद् अनित्यत्वादिप्रसक्तावद्वैतहानाच्चतत्पदार्थासङ्गतिस्तदवस्थैव । त्वं पदार्थविप्रतिपत्त्या च तत्पदार्थेऽपि विप्रतिपत्तिदर्शिता । वेदाप्रामाण्यवादिनो हि लौकायतिकादयस्तत्पदार्थं प्रत्ययं मिथ्येति मन्यन्ते । वेदप्रामाण्यवादिनोऽप्यौपचारिकं तत्पदार्थमविवक्षितं वा मन्यन्त इति । तदेवं त्वं पदार्थविप्रतिपत्तिद्वारा तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिं सूचयित्वा साक्षात्तत्पदार्थे विप्रतिपत्तिमाह—अस्ति तद्व्यतिरिक्तः ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-रिति केचित् । तदिति जीवात्मानः परामृशति । न केवलं शरीरादिभ्यः, जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरिक्तः । स च सर्वस्यैव जगत ईष्टे । ईश्वर्यसिद्ध्यर्थं स्वाभाविकमस्यरूपद्वयमुक्तम्—सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति । तस्यापि जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरेकात् न त्वं पदार्थेन सामानाधिकरण्यमिति स्वमतमाह—आत्मा स भोक्तुरित्यपरे । भोक्तुर्जीवात्मनोऽविद्योपाधिकस्य स ईश्वरस्तत्पदार्थ आत्मा, तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मा, परमाकाशादिव घटाकाशादय इत्यर्थः । विप्रति-पत्तीरुपसंहरन् विप्रतिपत्तिबीजमाह...एवं बहव, इति । युक्ति युक्त्याभास वाक्य वाक्याभास—समाश्रयाः सन्त इति योजना । ननु सन्तु विप्रतिपत्तयस्त-न्निमित्तश्च संशयस्तथापि किमर्थं ब्रह्ममीमांसाऽऽरभ्यत इत्यत आह—तत्रावि-चार्येति । तत्त्वज्ञानाच्च निःश्रेयसाधिगमो नातत्त्वज्ञानाद्भवितुमर्हति ।

अपि चातत्त्वज्ञानान्नास्तिक्ये सत्यनर्थप्राप्तिरित्यर्थः । सूत्रतात्पर्यमुपसंह-रति— तस्मादिति । वेदान्तमीमांसा तावत्तर्क एव, तदविरोधिनश्च येऽन्येपि तर्का अध्वरमीमांसायां न्याये च वेद प्रत्यक्षादिप्रामाण्यपरिशोधनादिषूक्तास्त उपकरणं यस्याः सा तथोक्ता । तस्मात्परमनिःश्रेयससाधनब्रह्मज्ञानप्रयोजना ब्रह्ममीमांसाऽऽरभ्येति सिद्धम् ॥१॥

इति जिज्ञासाधिकरणम् ।

सुभद्रा—सर्वप्रथम त्वं पदार्थ में विप्रतिपत्ति दिखा रहे हैं—देहमात्रमे साधारण लोग तथा लोकायतिक (चार्वाक मतानुयायी) देहमात्र चैतन्यविशिष्ट आत्मा है, ऐसा मानते हैं, किसी के मत में इन्द्रिय ही आत्मा और कुछ लोग मन को ही आत्मा मानते हैं। बौद्ध क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार करते हैं तो अपर बौद्ध शून्य ही आत्मा है, यह मानते हैं। तार्किक उक्त देहादि से अतिरिक्त संसारीकर्त्ता भोक्ता ही आत्मा है ऐसा, तथा सांख्यवादी भोक्ता आत्मा है कर्त्ता नहीं, कर्त्री प्रकृति है यह अङ्गीकार करते हैं योग इन सबों से अतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है यह मानते हैं। वेदान्तों के मत से भोक्ता जीवात्मा ही उपाधिभेद से ईश्वर है। भामती में इसी को विशद कर रहे हैं—शरीर, इन्द्रिय मन क्षणिक विज्ञान चैतन्य अर्थात् आत्मा है, इस पक्ष में तत्पदार्थ नित्यत्व शुद्धत्वादि का त्वं पदार्थ शरीरादि के साथ योग्यता न होने से सामानाधिकरण्येन सम्बन्ध नहीं हो सकता। अनित्य शरीरादि से नित्य तत्पदार्थ का सम्बन्ध असम्भव है। शून्यवादी के मत में भी सर्वोपाख्या-रहित शून्य जब कोई पदार्थ नहीं है तो वह तत् और त्वं पदार्थ का विषय कैसे हो सकता है ?

'जीवात्मा कर्तृभोक्तृत्वभाववाला है' इस तार्किक-मत में भी उक्त स्वभाव के परिणामी होने से उसका नित्यत्वादिविशिष्ट तत्पदार्थ के साथ सामानाधि-करण्य असंगत ही है क्योंकि वे समवाय सम्बन्धेन आत्मा में ही सुख-दुख मानते हैं। समवाय सिद्ध नहीं होता, जिसका खण्डन अध्यासभाष्य भामती के व्याख्यान सत्ता समवाय निरूपण में किया जा चुका है, अतः अन्यथा परिणाम वाद स्वीकृत होने से और सुख-दुःख को आत्मा का परिणाम मानने से आत्मा विनाशी हो जायगा जो तार्किक को अभीष्ट नहीं है।

जीवात्मा (पुरुष) अकर्त्ता है किन्तु भोक्ता है इस सांख्यमत में भी भोक्तृत्व क्या सुखदुःखादि का विकार मात्र है अथवा कर्तृत्वादि रहित केवल चिदात्म स्वरूप ही ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा विकारी होने से परिणामी हो जायगा तो फिर नित्यत्वादि तत्पदार्थ की असंगति बनी रहेगी। भोक्ता न मानने पर भी उनके मत में अनेक आत्मा प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न स्वीकृत होने से घटपटादि दृश्यवस्तु के समान विनाशी हो जायेंगे जिससे कि एक अद्वितीय शुद्ध नित्य तत्पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार त्वं पदार्थ में विप्रतिपत्ति होने से उसके द्वारा तत्पदार्थ ईश्वर में भी विप्रतिपत्ति सूचित होती है। अर्थात् चार्वाकादि अनीश्वर वादियों के मत से ही तत्पदार्थ में विप्रतिपत्ति है, यह प्रदर्शित हुआ। वेद को प्रमाण

न मानने वाले नास्तिक चार्वाक, बौद्धादि तत्पदार्थ की प्रतीति को मिथ्या मानते हैं और वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक तार्किकादि भी "तत्पदार्थ औपचारिक (गौणार्थक) है" अर्थात् तत्पदार्थ विवक्षित नहीं है ऐसा मानते हैं। इस प्रकार त्वं पदार्थ में विप्रतिपत्ति दिखला कर उसके द्वारा तत्पदार्थ में भी विप्रतिपत्ति सूचित होती है इसे बताकर साक्षात् तत्पदार्थ में विप्रतिपत्ति कह रहे हैं। 'अस्ति' इत्यादि से—तत् पदेन जीवात्मा का परामर्श होता है ईश्वर केवल शरीरादि से ही अतिरिक्त नहीं किन्तु जीवात्मा से भी अतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है यह कुछ लोग मानते हैं। वह सम्पूर्ण जगत का शासन करने में समर्थ है। उसमें ऐश्वर्य सिद्धि के लिए उसके दो रूप सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व कहे गये। उसके भी जीवात्मा से भिन्न होने के कारण त्वं पदार्थ के साथ उसका सामानाधिकरण्य नहीं हो पाता इस लिए अपना मत (वेदान्त मत) कह रहे हैं आत्मा स भोक्तुरपरे। भोक्ता जीवात्मा जो अविद्योपाधिक अथवा अन्तःकरणोपाधिक है, उसका तत्पदार्थ ईश्वर आत्मा यानी स्वरूप है, अतः ईश्वर से जीवात्मा अभिन्न है यह सिद्ध होता है महाकाश से अभिन्न घटाकाश की तरह। इस तरह विप्रतिपत्तियों का उपसंहार करते हुए विप्रतिपत्तियों के बीज को कह रहे हैं। एवं बहवो विप्रतिपन्नाः इत्यादि—इस प्रकार युक्ति युक्त्याभास और वाक्यवाक्याभास का आश्रय लेकर अनेक विप्रतिपन्न हैं। आत्मा स भोक्तुः" इस वेदान्त सिद्धान्त पक्ष में युक्ति और वाक्य है अन्य पक्षों में युक्त्याभास और वाक्याभास है यह जानना चाहिए। अब जिस में विप्रतिपत्तियाँ हों तथा तन्निमित्तक संशय भी हों ऐसे ब्रह्म विचार के प्रारम्भ से क्या लाभ ? इस पर भाष्य में कह रहे हैं—तत्रापि विचार के बिना कुछ भी मानने पर निःश्रेयस् परमा कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी तत्वज्ञान से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। अतत्वज्ञान से अनर्थ की प्राप्ति होती है।

अब यहाँ पर सूत्र के तात्पर्य का उपसंहार करते हैं तस्माद इत्यादि—इसलिए ब्रह्म जिज्ञासा के उपन्यास द्वारा ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्म विचार) तथा उसके अविरोधी तर्क सहकृत निःश्रेयस यानी मोक्ष प्रयोजन है जिसका, वह प्रस्तुत किया जाता है। भाष्य में तर्क को अलग कहने से वेदान्त मीमांसा तर्क नहीं है ऐसी आशंका न हो। अतः भामती में कहा गया वेदान्त मीमांसा भी तर्क ही है उसके अविरोधी अन्य तर्क यज्ञ मीमांसा अर्थात् पूर्व मीमांसा न्याय, वेद और प्रत्यक्षादि प्रामाण्य के परिशोधनादि में कहे गये हैं, वे हैं पकरण सहायक [illegible] के ऐसा यह भाष्य में स्थित तदविरोधितर्कोपकरण

शब्द का अर्थ है। इस लिए परम निःश्रेयस् मोक्ष का साधन जो ब्रह्मज्ञान, वह है प्रयोजन जिस मीमांसा का, ऐसी ब्रह्म-मीमांसा आरम्भ करनी चाहिए। यह सिद्ध हुआ।

अर्थापत्ति और अनुमान रूप तर्क यहां अभीष्ट है। वेदान्त मीमांसा वेदान्त विचार, तद्रूप है, उसके अविरोधी श्रुति लिङ्ग, वाक्यप्रकरण स्थान समाख्या, आदि जो वेद के प्रामाण्य के परिशोधक हैं जिनका विचार पूर्व मीमांसा में किया गया है। वेद और प्रत्यक्ष आदि के लक्षण का न्यायशास्त्र में विचार किया गया है। स्मृति आदि धर्मशास्त्रों से वेद के अनुमान में अनुमान के चिन्ता का उपयोग है, धर्मशास्त्र विहित, आचार वेदमूलक होने से ही प्रामाणिक हैं इसलिए उनके वेदमूलकत्व अनुमान में अनुमान के स्वरूप, निर्णय का उपयोग इस वेदान्त मीमांसा में है, न्याय शास्त्र में लक्षण द्वारा प्रमाणप्रमेय आदि का विवेचन और जातिपदार्थ है कि व्यक्ति पदार्थ इसका विवेचन, किया गया है, इसका भी उपयोग, इसमें है। ए सब प्रमाण के अनुग्राहक होने, से तर्क हैं।

शाङ्कर-भाष्यम्

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किं लक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेत्यत आह भगवान सूत्रकार :—

भामती

तदेवं तावत् प्रथमेन सूत्रेण मीमांसारम्भमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसामारभते—एतस्य सूत्रस्य पातनिका ब्रह्मजिज्ञासितव्यमित्युक्तम् किं लक्षणं पुनस्तद् ब्रह्म'। अत्र यद्यपि ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य प्रधानस्य प्रतिज्ञा तदङ्गान्यपि प्रमाणादीनि प्रतिज्ञातानि, तथापि स्वरूपस्य प्राधान्यात् तदेवाक्षिप्य प्रथमं समर्थ्यते। तत्र यद्यावदनुभूयते तत्सर्वं परिमितम् अविशुद्धमबुद्धं विध्वंसि, न तेनोपलब्धेन तद्विरुद्धस्य नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्य ब्रह्मणःस्वरूपं शक्यं लक्षयितुम्। नहि जातु कश्चित् कृतकत्वेन नित्यं लक्षयति। न च तद्धर्मेण नित्यत्वादिना तल्लक्ष्यते, तस्यानुपलब्धचरत्वात्। प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति, नात्यन्ताप्रसिद्धम्। एवं च न शब्दोप्यत्र प्रक्रमते अत्यन्ताप्रसिद्धतया ब्रह्मणोऽपदार्थस्यावाक्यार्थत्वात्। तस्माल्लक्षणाभावाद् न ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्याक्षेपाभिप्रायः। तमिममाक्षेपं भगवान् सूत्रकारः परिहरति—जन्माद्यस्ययतः इति।

सुभद्रा—सर्वप्रथम यह बतलाया गया कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए अर्थात् ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखने वाले पुरुष को यह शास्त्र सुनना चाहिए तो अब ब्रह्म का लक्षण है बताना आवश्यक समझकर भगवान वादरायण ने इस

द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" का प्रणयन किया। इस प्रकार प्रथम सूत्र से ब्रह्म विचार के आरम्भ का उपाख्यान कर अब ब्रह्म मीमांसा आरम्भ करते हैं। इस सूत्र की अवतरणिका भाष्यकार कहते हैं —यद्यपि मुमुक्षु को ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त वाक्य का विचार करना चाहिए ऐसी प्रतिज्ञा होने पर ब्रह्म के स्वरूप विचार की तरह अनेक अङ्गभूत प्रमाण युक्ति साधन फल विचार ए सभी प्रतिज्ञात हो गए तो प्रथम ब्रह्म ही का विचार क्यों किया जाय, ऐसी शंका होने पर भामती में कहा यद्यपी त्यादि से यद्यपि ब्रह्मस्वरूप ज्ञान के प्रधान होने के कारण उसकी प्रतिज्ञा होने से अङ्गभूत प्रमाणादि भी प्रतिज्ञाके विषय हैं तथापि स्वरूप के प्रधान होने से अर्थात् अभ्यर्हित श्रेष्ठ होने से पहिले उसी का आक्षेप कर निर्देश कर रहे हैं। लक्षण वहीं होता है जो सजातीय और विजातीय की व्यावृत्ति करें, जैसे गन्धवत्व पृथ्वी का लक्षण है, तो वह द्रव्यत्वेन सजातीय जलादि से पृथ्वी को व्यावृत्त (अलग) किया और विजातीय गुणादि से भी इस लिए वह लक्षण है। तो क्या दृश्यमान यह जगत ही कारणता सम्बन्ध से ब्रह्म में विद्यमान लक्षण है अथवा नित्य शुद्धत्वादिक ? ऐसा विकल्प होने होने पर प्रथम लक्षण नहीं बनता, उसको भामती में कह रहे हैं—"तत्र यद्यावदनुभूतयते" इत्यादि—जो कुछ जितना अनुभूत होता है वह सब परिमित है तथा अशुद्ध, जड़ और विनाशी है तो उपलब्धिविषयीभूत इस जगत् से तद्विपरीत नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वभाव ब्रह्म का स्वरूप लक्षित नहीं कर सकते क्योंकि कोई भी अनित्य से नित्य का लक्षण नहीं करता, इस लिए जगत् ब्रह्म का लक्षण नहीं है इस प्रकार प्रथम पक्ष सर्वथा असंभव है और न तो ब्रह्म मे रहने वाले नित्यत्वादि धर्म ही उसके लक्षण हैं क्योंकि वे उपलब्ध नहीं हैं। [1]प्रसिद्ध ही लक्षण होता है न कि अत्यन्त अप्रसिद्ध। इस तरह यहाँ पर न शब्द भी प्रक्रान्त हैं, लक्षण के असम्भव होने से और अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से ब्रह्म पदार्थ नहीं हैं और पदार्थ ज्ञान पूर्वक वाक्यार्थ ज्ञान होने से वाक्यार्थ भी नहीं है। अतः लक्षण न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है, ऐस आक्षेप किया गया इसका परिहार सूत्रकार निम्न सूत्र से कर रहे हैं।

१—भाष्यमे ब्रह्मजिज्ञासितव्य मित्युक्तम्, यद कहा गया है, तो पूर्वोक्त आक्षेप होने से अर्थात् ब्रह्म का लक्षण नबननेसे ब्रह्म को जिज्ञासा न करनी चाहिए, तो वहां पर न शब्द भी प्राकरणिक है यह भाव है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

अस्य जगतः यतः जन्मादि, इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जिससे हो वह ब्रह्म है यह सूत्र का अर्थ है ।

शाङ्करभाष्यम्

जन्म उत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थिति प्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था । यत इति कारण निर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृ भोक्तृ संयुक्तस्यप्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगम् यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्य शेषः ।

भामती

मा भूदनुभूयमानं जगत् तद्धर्मतया तादात्म्येन वा ब्रह्मणो लक्षणं तदुत्पत्त्या तु भविष्यति, देशान्तरप्राप्तिरिव सवितुर्व्रज्याया इति तात्पर्यार्थः । सूत्रावयवान् विभजते—जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति । लाघवाय सूत्रकृता जन्मादीति नपुंसकप्रयोगः कृतस्तदुपपादनाय समाहारमाह—जन्मस्थितिभंगमिति । जन्मनश्च इत्यादिः कारणनिर्देशः इत्यन्तः सन्दर्भो निगदव्याख्यातः । स्यादेतत् प्रधानकालग्रहलोकपालक्रियायदृच्छास्वभावा भावेषूपप्लवमानेषु सत्सु सर्वज्ञं सर्वशक्ति स्वभावं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमिति कुतः सम्भावनेत्यत आह—अस्य जगत इति । अत्र नामरूपाभ्यां व्याकृतस्येति चेतनभाव कर्तृकत्व सम्भावनया प्रधानाद्यचेतनकर्तृकत्वं निरूपाख्यकर्तृकत्वं च व्यासेधति । यत् खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते तच्चेतनकर्तृकं दृष्टं यथा घटादि विवादाध्यासितं च जगन्नामरूपव्याकृतं तस्माच्चेतनकर्तृकं संभाव्यते । चेतनो हि बुद्धावालिख्य नामरूपे घट इति नाम्ना रूपेण च कम्बुग्रीवादिना बाह्यं घटं निष्पादयति । अतएव घटस्य निर्वर्त्यस्याप्यन्तः संकल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारक भावोघटं करोतीति । यथाहुः—बुद्धिसिद्धं तु न तदसत् इति । तथा चाचेतनो बुद्धावनालिखितं करोतीति न शक्यं सम्भावयितुमिति भावः । स्यादेतत्—चेतना ग्रहा लोकपाला वा नामरूपे बुद्धावालिख्य जगज्जनयि-

ष्यन्ति कृतमुक्तस्वभावेन ब्रह्मणेत्यत आह—अनेककर्तृ भोक्तृसंयुक्तस्येति। केचित् कर्त्तारो भवन्ति, यथा सूदर्त्विगादयो न भोक्तारः। केचित् भोक्तारः यथा श्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादिषु पितापुत्रादयो न कर्त्तारः तस्मादुभयग्रहणम्। देशकालनिमित्तक्रियाफलानि" इतीतरेतरद्वन्द्वः। देशादीनि च प्रतिनियतानि चेति विग्रहः। तदाश्रयो जगत् तस्य। केचित् खलु प्रतिनियतदेशोत्पादाः यथा कृष्णमृगादयः। केचित् प्रतिनियतकालोत्पादाः यथा कोकिलरवादयः केचित् प्रतिनियतनिमित्ताः यथा, नवाम्बुदध्वानादिनिमित्ताः बलाकागर्भादयः, केचित् प्रतिनियतक्रियाः यथा ब्राह्मणानां याजनादयो नेतरेषाम् एवं प्रतिनियतफलाः यथा केचित्सुखिनः केचिद् दुःखिनः एवं य एव सुखिनस्त एव कदाचिद् दुःखिनः। सर्वमेतदाकस्मिकापरनाम्नि यादृच्छिकत्वे च स्वाभाविकत्वे वा सर्वशक्तिकर्तृकत्वे च न घटते, परिमितज्ञानशक्तिभिर्ब्रह्मोकपालादिभिर्ज्ञातुं कर्तुं चाशक्यत्वात्। तदिदमुक्तम्—मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्येति। एकस्या अपि हि शरीररचनायाः रूपं मनसा न शक्यं चिन्तयितुं कदाचित्, प्रागेव जगद्रचनायाः, किमङ्ग पुनः कर्तुमित्यर्थः सूत्रवाक्यं पूरयति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः।

सुभद्रा—यह अनुभूयमान जगत् ब्रह्मधर्मतया अथवा तादात्म्येन ब्रह्म का लक्षण भले न हो किन्तु ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत अपने कारण को लक्षित करता ही है इसलिए जगत्कारणत्व ब्रह्म का लक्षण हो सकता है। जैसे सूर्य की देशान्तर प्राप्ति उसके गमन को सूचित करती है उसी तरह कार्य जगत अपने कारण को भी सूचित करता है वही कारण ईश्वर या ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि शुद्ध ब्रह्म का लक्षण नहीं बनता या सविशेष ब्रह्म ईश्वर का? यदि प्रथम पक्ष माने तो निर्गुण ब्रह्म का लक्षण न बनना अभीष्ट ही है और द्वितीय पक्ष के मानने पर ईश्वर का जगत्कारणत्व लक्षण संभव होने से कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—सविशेष का यह लक्षण हो, ठीक है परन्तु "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" यहाँ निर्गुण ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय है, नकि सगुण, क्योंकि निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार ही सभी अनर्थों की मूलभूत अविद्या की निवृत्ति का कारण है, इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद में 'अस्थूलमनणु' और मांडूक्योपनिषद् में 'नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं' इत्यादि वाक्यों से निर्विशेष ब्रह्म ही ज्ञेयत्वेन प्रतिपादित है अतः उसी का लक्षण आकांक्षा का विषय है न कि सविशेष।

उत्तर—शास्त्र में द्विरूप ब्रह्म प्रतीत होता है, एक नाम-रूपविकार आदि

उपाधियुक्त 'सगुण ब्रह्म' जो ईश्वर है, यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यज्ञानमयं तपः एको ऽहं बहुस्यां इत्यादि श्रुतियाँ जिसमें प्रमाण हैं। दूसरा सर्वोपाधिवर्जित निर्गुण ब्रह्म है, "अशब्दमस्पर्श-मरूपमव्ययम्, अस्थूलमनणु यत्रनान्यत्पश्यति नान्य च्छृणोति" इत्यादि श्रुतियाँ जिसमें प्रमाण है। इसी को भाष्यकार ने भी आगे चलकर 'आनन्द मयोऽभ्यासात्" इस सूत्र की अवतरणिका में कहा है—"द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट तद्विपरीतं च सर्वोपाधिवर्जितम्"। इस प्रकार सोपाधिक ब्रह्म के ध्यान, पूजा आदि के अभ्यास का परिपाक होने से अन्तकरण शुद्ध होने पर संसार की तुच्छता, निःसारता देखकर निरुपाधिक ब्रह्म के भी श्रवण-मनन निदिध्यासन की आवृत्ति से साधक उक्त ब्रह्म के साक्षात्कार को प्राप्त होता है। अतः निर्गुण-सगुण इस उभयविध ब्रह्म के जिज्ञास्य होने पर निर्गुण का लक्षण असम्भव होने से कौचित्येन सगुण ब्रह्म का लक्षण किया गया। भाष्य में सूत्र के अवयवों का विभाग कर रहे हैं, जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति इत्यादि। जन्म यानी उत्पत्ति, वह है आदि में जिसके ऐसा, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। सूत्रकार ने लाघवात् जन्मादि ऐसा नपुंसक पद का प्रयोग किया है अतः उसकी उपपत्ति के लिए समाहार द्वन्द मानकर "जन्मस्थितिभङ्ग समास का अर्थ है" यह भाष्यकार ने कहा। अन्यथा "जन्म आदिः ययोः स्थितिभङ्गयोः तौ जन्मादी" ऐसी व्याख्या विवक्षित होने पर ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् इस सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने से यण् नहीं होगा तो जन्मादी अस्य ऐसा होने लगेगा।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस श्रुति में पहले निर्देश होने के कारण जन्म में आदित्व है और वस्तुवृक्ष की अपेक्षा भी आदित्व है, क्योंकि कोई वस्तु उत्पत्ति के बाद ही जब सत्ता को प्राप्त होता है तभी स्थिति और प्रलय (विनाश) को भी प्राप्त होता है। सूत्र में अस्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से सन्निधान को प्राप्त हुआ धर्मी 'जगत्' का इदम् शब्द से निर्देश है, षष्ठी जन्मादि के साथ सम्बन्धनिर्देश के लिए है, यतः अर्थात् जिससे, यह कारण निर्देश है। इस प्रकार "जिस कारण (परमात्मा) से यह सम्पूर्ण जगत् जन्मस्थिति और प्रलय को प्राप्त होता है वह ब्रह्म है" यह सूत्र का अर्थ निष्पन्न होता है। वह ब्रह्म है, इस तरह जन्मनश्च से लेकर कारण निर्देश इत्यन्त, पयन्त ग्रन्थ स्पष्ट होने से स्वयं व्याख्यात है।

अच्छा तो प्रधान काल ग्रह लोकपाल क्रिया यदृच्छा स्वभाव अभाव आदि कारणों के रहते हुए (ब्रह्म के कारणता का जो निराकरण कर रहे हैं। उन सबों की विद्यमानता में सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जगत् के जन्मादि

का कारण है यह सम्भावना कैसे ? इस लिए भाष्य में कहा अस्य जगतः इत्यादि आशय यह कि "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्" इस श्वेताश्वतरोपनिषत् के मंत्र में योनिशब्द से प्रधान का ग्रहण है तो प्रधान (प्रकृति) अथवा काल हो जगत का कारण क्यों न हो ? नियति शब्द से क्रिया का ग्रहण और पुरुष शब्द से ग्रह तथा लोकपाल विवक्षित हैं तो ग्रह और लोकपाल हो जगत के कारण क्यों न हों ? "असदेवेदं सोम्य अग्र आसीत्" इस श्रुति में 'असत्' कारण है ऐसा कहा गया, तो असत् (अभाव) ही कारण क्यों न हो अर्थात् उक्त सभी जगत् के कारण हो सकते है तो फिर ब्रह्म ही क्यों कारण माना जाय ? स्वभाववाद में स्वभाव ही नियामक है, यदृच्छा पक्ष में नियामक कोई नहीं है अकस्मात् ही जगत उत्पन्न हुआ तो उक्त सूत्र में 'जगत् कारणत्व' जो लक्षण प्रतिपादित है वह कालादि में अतिव्याप्त है, यह पूर्व पक्ष का भाव है।

भाष्यकार इसका उत्तर दे रहे हैं—नाम रूप से प्रकट भाव को प्राप्त इस संसार में जो चेतन भाव को प्राप्त है तत्कर्तृकत्व की ही सम्भावना है न कि अचेतन कर्तृकत्व की, जिससे जगत में प्रधानादि अचेतन कर्तृकत्व का और शून्य जो उपाख्या से रहित है तत्कर्तृकत्व का निराकरण हो गया, क्यों कि जो नाम और रूप से प्रकट होता है वह चेतनकर्तृक ही देखा गया है, जैसे—घटादि। विवादाध्यासित जगत नामरूप से प्रकट होता है इस लिए वह चेतन कर्तृक ही है, ऐसी सम्भावना की जाती है। चेतन पुरुष ही नाम और रूप को अपनी बुद्धि में बैठाकर इसी लिए बनाने के योग्य घट भी, घट इस नाम से और कम्बुग्रीवादि रूप से युक्त बाह्य घट को बनाता है। जो कि बाहर अभी सिद्ध नहीं है किन्तु भीतर अन्तःकरण के संकल्परूप से सिद्ध है उसमें कर्मकारकत्व 'घटं करोति' की सिद्धि होती है, अन्यथा कारक वही है, जो क्रिया का कारण हो कार्य के पूर्व में कारण का रहना आवश्यक है। क्रिया के पूर्व में घट अभी निष्पन्न हो नहीं है तो उसमें कर्मकारकत्व ही कैसे होगा ? बुद्धि में सिद्ध होने से कारकत्व बन जाता है। जैसा कि कहा भी है—'बुद्धिसिद्धं तु न तदसत्'—बुद्धि में सिद्ध होने से 'घट' अविद्यमान नहीं है, इत्यादि। तो अचेतन प्रधानादि बिना बुद्धि का विषय हुए ही जगत को करते हैं यह संभावना नहीं हो सकती इसलिए उनके कारणत्व का निराकरण हो गया। अच्छा तो अचेतन कारण भले न हो किन्तु चेतन ग्रह लोकपालादि नाम और रूप को बुद्धि में स्थित करके कारण क्यों न हों ? ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार ने अनेक कर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य कहा—अनेक कर्ता

और अनेक भोक्ता से संयुक्त यह जगत् है। इस अनेक कर्त्ता, भोक्ता जीवों का सृज्यत्वेन अर्थात् ए सब बनाने के योग्य हैं ऐसा निर्देश होने से जगत् बनाने की योग्यता उनमे नहीं है यह सूचित होता है उसकी व्याख्या भामती में कर रहे हैं। 'केचित् कर्त्तारो भवन्ति इत्यादि से। कोई कर्त्ता ही होते हैं, जैसे—सूद, (रसोईदार) जो कि केवल वेतन लेकर भोजन बनाता है, स्वयं भोजन बनाकर करता नहीं और ऋत्विक् अर्थात् यज्ञ कराने वाले जो कि केवल दक्षिणा के ही भागी हैं नकि यज्ञ जन्य स्वर्गादि फल के वह तो यजमान को प्राप्त होता है। वे केवल कर्त्ता ही हैं, भोक्ता नहीं। कोई भोक्ता ही है न कि कर्त्ता, जैसे श्राद्ध पुत्र करता है पितरों के उद्देश्य से तो उसका फल स्वर्गादि या तृप्ति पितरों को होती है न कि कर्त्ता पुत्र को। "एवं वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत जाते पुत्रे" ऐसा उपक्रम करके, "यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति" इत्यादि श्रुति से पिता से किया हुआ वैश्वानर इष्टि का फल पवित्रता और तेजस्वी का होना, प्रबलेन्द्रियत्व पशु आदि सम्पत्ति से युक्त होना आदि फल पुत्र में ही है न कि कर्त्ता पिता में तो ए भोक्ता ही हैं न कि कर्त्ता अतः कर्त्ता भोक्ता दोनों का ग्रहण है और जगत् प्रति नियत देशकाल निमित्त क्रिया फलाश्रय है। देशश्च कालश्च निमित्तश्च क्रिया च फलञ्च तानि देशकाल निमित्त क्रिया फलानि यह इतरेतर योग द्वन्द हैं, प्रति नियतानि च तानि देशादीनि यह विग्रह है। जगत् उन सबका आश्रय है। कोइ प्रति नियत अर्थात् निश्चित देश में उत्पन्न होने वाले हैं जैसे—कृष्णसार मृग का एक निश्चित देश हैं, आर्यावर्त न कि कोई पाश्चात्यदेश को किल की कूज बसन्त काल में ही सुनाई पड़ती है, कोई निश्चित निमित्त वाले हैं जैसे—नवीन जलद की ध्वनि को सुनकर बकुले की स्त्री गर्भ धारण करती हैं तो उसके गर्भ धारण में निश्चित नवाम्बुद ध्वनि ही कारण हैं, कोई निश्चित क्रिय है, जैसे—याजन अध्यापन, प्रतिग्रहादि में ब्राह्मणों का ही अधिकार है न कि अन्य वर्णों का तथा इसी प्रकार कोई दुःखी और सुखी है, उसका सुख अथवा दुखरूप फल नियति वशात् यथा काल निश्चित है। जो सुखी हैं वही कदाचित् दुखी भी होता है और दुखी भी कभी सुखी। यह सब आकस्मिक है दूसरा नाम जिसका ऐसी यदृच्छा और स्वभाव वाद में नहीं बनता। श्री उदयनाचार्य ने भी न्याय कुसुमाञ्जलि में कहा है 'हेतु भूति निषेधो न स्वानुपाख्याविधिर्न च। स्वभाववर्णना नैव अवधेर्नियतत्वतः॥ अकस्मात् ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं यह पक्ष ठीक नहीं क्योंकि तब तो कारण की अपेक्षा न होने से कार्य निरन्तर होते रहेंगे। यदि कारण की अपेक्षा न होने से कार्य न हो तो

कभी भी कार्य उत्पन्न न होंगे कार्य कादाचित्क है यह अर्थात् किसी समय में ही होते हैं यह नियम यदृच्छा बाद में नहीं बनता और अपने से भी नहीं हो सकते क्योंकि उत्पत्ति के पहिले स्वयं असत् होने से असमर्थ है तो वह कभी भी कार्य न होंगे यह उक्त दोष है और अनुव्याख्या अर्थात् शून्यपक्ष में भी सर्वदा कार्यापिपत्ति दोष है इसलिए यह जगत आकस्मिक नहीं हो सकता, स्वाभाविक भी नहीं हैं क्योंकि नियत देशकाल स्वभाव वाले वस्तुओं का स्वभाव से उत्पत्ति मानने पर उनकी अवधि न होगी। जो कारण की अपेक्षा न करके स्वभावतः होते हैं वे नित्य हैं जैसे—आत्मा। घटादि कार्य निश्चित अवधि वाले ही देखे गये हैं अतः जगत का कोई सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान कारण है जो कि ईश्वर ही हो सकता है यह भाव है और परीमित ज्ञान शक्तिवाले ग्रह या लोक पालादि भी सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान और उसको करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए भाष्य में कहा, मनसाप्यचिन्त्य रचना रूपस्येति— एक भी शरीर के रचना का रूप जो कि मन से भी कभी चिन्तन का विषय सम्भाव्य नहीं है तो पहले अर्थात् सृष्टि के पूर्व जगत की रचना रूप कैसे सम्भाव्य है। जब उसके रूप की सम्भावना मन से भी परिमित ज्ञानशक्ति वाले ग्रह लोक पालादि नहीं कर सकते तो उसके निर्माण में कैसे समर्थ हो सकते हैं? यह भाव है। तो "ऐसे जगत की उत्पत्ति स्थिति और विनाश जिस सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान से होता है, वह ब्रह्म है" यह उक्त सूत्र का अर्थ है।

शाङ्कर-भाष्यम्

अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे, तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीता स्युरित्याशंक्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणः, तत्रैवस्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते। न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनात, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे, न वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादि प्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतः जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते; श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्या-

भ्युपेतत्वात्। तथाहि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः, 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवे हाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयतिन धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा-सम्भव मिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्व।

भामती

स्यादेतत्, कस्मात् पुनर्जन्मस्थितिभङ्गमात्रमिहादिग्रहणेन गृह्यते, न तु वृद्धिपरिणामापक्षया अपीत्यत आह—अन्येषामपि भावविकाराणां वृद्ध्यादीनां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति। वृद्धिस्तावदवयवोपचय। तेनाल्पावयवादवविना द्वितन्तु-कादेरन्य एव महान् पटो जायत इति जन्मैव वृद्धिः। परिणामाऽपि त्रिविधो धर्मलक्षणावस्थालक्षणो उत्पत्तिरेव। धर्मिणा हि हाटकादेर्धर्मलक्षणः परिणामः कटकमुकुटादिस्तस्योत्पत्तिः। एवं कटकादेरपि प्रत्युत्पन्नत्वादिलक्षण परिणाम उत्पत्तिः। एवमवस्थापरिणामो नवपुराणत्वाद्युत्पत्तिः। अपक्षयस्त्ववयवह्रासो नाश एव। तस्माज्जन्मादिषु यथास्वमन्तर्भावाद् वृद्ध्यादयः पृथङ्नोक्ता इत्यर्थः। अथैते वृद्ध्यादया न जन्मादिष्वन्तर्भवन्ति तथाप्युत्पत्तिस्थितिभङ्गमे-वोपादातव्यम् तथा सति हि तत्प्रतिपादके यतो वा इमानि भूतानीति वेदवाक्ये बुद्धिस्थीकृते जगन्मूलकारणं ब्रह्म लक्षितं भवति, अन्यथा तु जायतेऽस्ति वर्धत इत्यादीनां ग्रहणे तत्प्रतिपादकं नैरुक्तवाक्यं बुद्धौ भवेत्, तच्च न मूलकारण-प्रतिपादनपरम्, महासर्गादूर्ध्वं स्थितिकालेऽपि तद्वाक्योदितानां जन्मादीनां भावविकाराणामुपपत्तेः, इति शंकानिराकरणार्थं वेदोक्तोत्पत्तिस्थितिभङ्ग—ग्रहणमित्याह—यास्कपरिपठितानांत्विति। नन्वेवमप्युत्पत्तिमात्रं सूच्यतां, तन्नान्तरीयकतया तु स्थितिभङ्गं गम्यत इत्यत आह योत्पत्तिर्ब्रह्मणः कारणादिति। त्रिभिरस्योपादानत्वं सूच्यते उत्पत्तिमात्र तु निमित्तकारणसाधारणमिति नोपादानं सूचयेत्। तदिदमुक्त तत्रैवेति। पूर्वोक्तानां कार्यकारण-विशेषणानां प्रयोजनमाह—न यथोक्तेति। तदनेन प्रबन्धेन प्रतिज्ञाविषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य लक्षणद्वारेण सम्भावनोक्ता। तत्र प्रमाणं वक्तव्यम्। यथाहुर्नै-यायिकाः—

> सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येतहेतुना।
> न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः॥

यथा च वन्ध्याजननी इत्यादिरिति।

इत्थं नाम जन्मादि संभावनाहेतुः, यदन्ये वैशेषिकादय इत एवानुमाना-दीश्वरविनिश्चयमिच्छन्तीति सम्भावनाहेतुवां द्रढयितुमाह एतदेवेति चोदयति—

नन्विच्छापीति। एतावतैवाधिकरणार्थं समाप्ते वक्ष्यमाणाधिकरणार्थमनुवदन् सुहृद्भावेन परिहरति—न। वेदान्तेति वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थमर्थं दर्शयति—वेदान्तेति। विचारस्याध्यवसानं सवासनाविद्याद्वयोच्छेदः। तदो हि ब्रह्मावगतेर्निवृ`त्तिराविर्भावः। तत्किं ब्रह्मणि शब्दादृते न मानान्तरमनुसरणीयम् तथा च कुतो मननं, कुतश्च तदनुभवः साक्षात्कारः? अत आह— सत्सु तु वेदान्तवाक्येष्विति अनुमानं वेदान्ताविरोधि तदुपजीवि चेत्यपि द्रष्टव्यम्। शब्दाविरोधिन्या तदुपजीविन्या च युक्त्या विवेचनं मननं। युक्तिश्चार्थापत्तिरनुमानं वा। स्यादेतत् यथा धर्मे न पुरुषबुद्धिसाहाय्यम्, एवं ब्रह्मण्यपि कस्मान्न भवतीत्यत आह—न धर्मजिज्ञासायामिवेति, श्रुत्यादय इति। श्रुतीतिहासपुराणस्मृतयः प्रमाणम्। अनुभवोऽन्तःकरणवृत्तिभेदो ब्रह्मसाक्षात्कार स्तस्याविद्यानिवृत्तिद्वारेण ब्रह्मस्वरूपाविर्भावः प्रमाणफलम्। तच्च फलमिव फलमिति गमयितव्यम्। यद्यपि धर्मजिज्ञासायामपि सामग्र्यां प्रत्यक्षादीनां व्यापारस्तथापि साक्षान्नास्ति, ब्रह्मजिज्ञासायां तु साक्षादनुभवादीनां संभवोऽनुभवार्था च ब्रह्मजिज्ञासेत्याह—अनुभवावसानत्वात्। ब्रह्मानुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थः, निमृ`ष्टनिखिलदुःखपरमानन्दरूपत्वादिति। ननु भवतु ब्रह्मानुभवार्था जिज्ञासा. तदनुभव एव त्वशक्यः, ब्रह्मणस्तद्विषयत्वायोग्यत्वादित्यत आह—भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मविज्ञानस्य।

सुभद्रा—अच्छा तो केवल जन्म स्थिति और नाश हो सूत्रघटक आदि शब्द से क्यों गृहीत हों, क्योंकि भाव पदार्थ में तो ६ विकार होते हैं—उत्पत्ति, सत्ता, वृद्धि, परिणाम अपक्षय और विनाश जैसा कि यास्क मुनि ने कहा है—जायते ऽस्ति वर्धतेविपरिणमते क्षीयतेनश्यति। तो फिर वृद्धि परिणाम और अपक्षय भी क्यों न गृहीत हों? ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार समाधान देते हैं कि वृद्ध्यादिक अन्य विकारों का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः जन्म स्थिति और नाश का ही ग्रहण है।

(१) इसका विवेचन कर रहे हैं भामतीकार वृद्धि—अवयवों के उपचय (बढ़ना) को कहते है। इससे थोड़े अवयव से अवयवी द्वितन्तुकादि से (दो सूत या तीन सुत वाले वस्त्र से दूसरा कई सूतवाला महान् वस्त्र उत्पन्न होता है अतः जन्म ही वृद्धि है,

(२) परिणाम भी तीन प्रकार का होता है—धर्मरूप परिणाम, लक्षणरूप परिणाम और अवस्थारूप परिणाम। इनका उत्पत्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है जैसे—धर्मी हाटकादि (सुवर्ण आदि) का धर्मरूप परिणाम है—

कंगन मुकुट, हार इत्यादि। इन सब की उत्पत्ति ही धर्मलक्षण परिणाम है अर्थात् सुवर्णादि धर्मी का कटक मुकुटादि धर्मरूप परिणाम-विरूपण किया जाता हुआ सुवर्ण से उनकी उत्पत्ति ही होती है इसी में उनका पर्यवसान मानना पड़ेगा। लक्षणरूप परिणाम—प्रत्युत्पन्नत्वादि अर्थात् उसका वर्तमान अतीत और भविष्य, सुवर्ण के कार्य कटकादि वर्तमान हैं हो चुके हैं या होनेवाले हैं यह लक्षणरूप परिणाम भी उत्पत्ति में ही अन्तर्भूत है। इसी प्रकार अवस्था-रूप परिणाम नवपुराणत्वादि (नया पुराना होना)। इस प्रकार उक्त परि-णामत्रय का उत्पत्ति में ही अन्तर्भाव है। अपक्षय तो अवयवों का नाश ही है इस तरह अपक्षय का नाश में अन्तर्भाव हो जाता है अतः जन्मादि मे ही वृद्धि-त्यादि का यथाक्रम अन्तर्भाव होने से पृथक् नहीं कहे गये। यह भाव है। यदि वृद्धयादि का जन्मादि में अन्तर्भाव न भी माना जाय तथापि केवल उत्पत्ति स्थिति और नाश इन्हीं तीन का ही ग्रहण होना चाहिए, ऐसा होने पर ही उसको कहने वाला "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि वेदवाक्यों के बुद्धिस्थ होने पर जगत का मूलकारण 'ब्रह्म सूत्र' से लक्षित होता है, नहीं तो जायते ऽस्ति वर्धते इत्यादि भाव विकारों का ग्रहण होने पर उसका पोषक यास्क मुनि पठित निरुक्तवाक्य ही बुद्धि का विषय होगा। तो वह मूलकारण ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं होगा। महाप्रलय के बाद जो सृष्टि होती है उसके बाद स्थिति के समय में भी यास्क पठित वाक्य में कहे हुए जन्मादि षड्विकारों की सिद्धि हो जाती है। इस शंका को दूर करने के लिए ही श्रुति में कहे हुए उत्पत्ति स्थिति भंग का ही ग्रहण है। इसीलिए भाष्य में "यास्क परिपठितानां तु" इत्यादि कहा गया। इसका आशय यह है कि यास्कपठित उक्त षड्भाव विकारों का यह क्रम कि—जैसे वृक्षादि की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, पुराणत्व, अपक्षय और विनाश क्रमशः हुआ। तो ये षड्विकार सृष्टि के आदि में उद्भूत आकाशादि में संभव नहीं क्योंकि आकाशादि की वृद्धि अपक्षय निरवयव होने से संभव नहीं है। "एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" इस श्रुति वाक्य से आकाश का प्रादुर्भाव निश्चित है। उक्त षड्विकार वृक्षादि में ही सिद्ध होते हैं। तो उनका ग्रहण होने पर वृक्षादि को ही कारणता ब्रह्म में सूत्र द्वारा सिद्ध होगी न कि आकाशादि की कारणता, इसलिये भाष्य में कहे गये मूल कारण से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश गृहीत नहीं होंगे। ऐसी शंका के निवारण के लिये ब्रह्म से जो जगत् की उत्पत्ति उसी में स्थिति और प्रलय 'विनाश' हैं वे ही लिये जाते हैं।

अच्छा तो फिर उत्पत्ति मात्र का ही ग्रहण हो स्थिति और नाश तो अव-

द्यभावी होने से ही प्रतीत हो जायेंगे जो वस्तु उत्पन्न होती है उसकी स्थिति और नाश सिद्ध हैं तो उत्पत्ति से ही स्थिति भंग का भी ग्रहण सम्भावित है, तो फिर उन दोनों का ग्रहण क्यों किया गया ? इसलिये भाष्य में "योत्पत्ति ब्रह्मणः" इत्यादि कहा गया है। ब्रह्म में ही जगत का प्रादुर्भाव स्थिति और नाश होता है इसलिये इन तीनों से उपादान कारण ब्रह्म सूचित होता है। उपादान कारण—जिससे जो उत्पन्न हो उसी में स्थिति और लीन भी हो, वह उपादान कारण है। जैसे मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होकर उसी में स्थिति होता हुआ लीन भी हो जाता है। इससे मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। ठीक उसी प्रकार जगत भी ब्रह्म से उत्पन्न होता है और उसी में स्थिति होकर लीन हो जाता है। इसलिए जगत का उपादान कारण ब्रह्म है। इस बात को जनाने के लिये स्थिति और भंग ग्रहण किया जन्म मात्र के ग्रहण होने पर उत्पत्ति तो केवल निमित्त कारण से भी होती है, जैसे घड़े की उत्पत्ति कुलाल से हुई तो कुलाल केवल निमित्त कारण है—न कि उपादान कारण। उत्पत्ति मात्र निमित्त कारण साधारण होने से उपादान कारणता ब्रह्म में सूचित नहीं हो सकती। इसलिए उन दोनों का भी ग्रहण उचित है।

प्रश्नः—यहाँ पर "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदैक्षत" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को संसार का निमित्त कारण बतला रही हैं जैसे कि मकड़ी जाल बनाती है और ग्रहण भी करती है उसी प्रकार जो कर्त्ता और समर्थ पुरुष ब्रह्म कारण है उसने संकल्प किया जिससे उसकी निमित्त कारणता सूचित होती है। इसी से अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है यह सिद्धान्त भी घटता है फिर इसमें दोष ही क्या ?

उत्तर—ठीक है निमित्त, कारण ईश्वरत्वेन ब्रह्म भले हो, किन्तु केवल निमित्त कारण नहीं है क्योंकि लोक में घटादि के निर्माण मे मिट्टी के बाद ही निमित्त कारण कुलालादि की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार जगत् के निर्माण में अन्य सामग्रियों के बाद ही निमित्त कारण भूत ब्रह्म की आवश्यकता होगी, और वे सामग्रियाँ भी ब्रह्म के समान नित्य होगी तब तो अद्वैत सिद्धान्त की मर्यादा ही समाप्त हो जायेगी। अतः वही उपादान और निमित्त कारण दोनों है। ऊर्णनाभि दृष्टान्त भी उभयविध कारणत्व को सूचित करता है, जैसे मकड़ी अन्य की अपेक्षा न करके जाला रचती है अतः दोनों कारणता उसमें सिद्ध है उसी प्रकार ब्रह्म भी मायोपाधिकत्व रूप ईश्वरत्वेन कारण भी है। उत्पत्ति स्थितिलय विशिष्ट इस जगत की उत्पत्त्यादि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर के अलावा अन्य किसी अचेतन प्रधान, परमाणु, परिमित शक्ति विशिष्ट लोकपाल-

आदि के द्वारा या अन्य किसी संसारी के द्वारा सम्भव नहीं, न तो विशिष्ट देश कालनिमित्त का वहाँ पर ग्रहण होने से स्वभाव से ही—ऐसा भाष्य में कहा गया।

ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त विचार आरम्भ करना चाहिए ऐसी प्रतिज्ञा में विशेषणतया ब्रह्म के विषय होने से लक्षण के द्वारा उसकी सम्भावना की गयी, अतः उसमें प्रमाण कहना चाहिए, क्योंकि लक्षण ही प्रमाणसिद्ध वस्तु को अन्य से पृथक् करता है तथा उसके तात्त्विक स्वरूप का बोध कराता है न कि सत्ता का। इससे ब्रह्म में लक्षण रहने से ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। इस तरह उत्तर सूत्रों से शास्त्रयोनित्वाधिकरण और समन्वयाधिकरण व्यर्थ हैं, यह शंका भी निराधार सिद्ध हुई।

प्रश्न—जैसे "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः धर्म के लक्षण को भी कहता है और उसमें प्रमाण भी है उसी तरह उक्त सूत्र भी 'जगत् ब्रह्म से जन्य हैं और ब्रह्म उसका जनक है" इसका बोध कराता हुआ 'जगत् सकर्तृक है" इसमें हेतु बनकर प्रमाण भी हो जायगा, फिर उत्तराधिकरण से क्या लाभ?

उत्तर—"जगत् सकर्तृकं कार्यत्वत्" इस अनुमान के द्वारा कार्य से किसी न किसी कारण का प्रमाण होने पर अर्थात् कार्यत्व हेतु से अपने कारण की सिद्धि होने पर भी वह कारण एक है या अनेक ऐसा संशय होने पर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही जगत का कारण है यह निर्णय नहीं होगा। एक कारण के सिद्ध होने पर ही सर्वज्ञत्वादि सिद्ध होंगे। लोक में प्रायः ऐसा देखा गया है कि कूप, तडागादि कार्य अनेक कर्तृक हैं, अतः यहाँ पर भी जगत् अनेक कारण कर्तृक हैं, ऐसी सम्भावना हो सकती है क्योंकि अनुमान से केवल कारण का ही निश्चय है न कि इसका कि वह एक भी है, इसलिए भामती में "लक्षण द्वारेण संभावनोक्ता" यह कहा। अतःप्रमाण प्रदर्शनार्थं उत्तराधिकरण सार्थक है।

सम्भावना के कहने पर प्रमाण भी कहना चाहिए, जैसा कि नैयायिक भी कहते हैं—सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुनां। न तस्य हेतु भिस्त्रा-णमुत्पतन्नेव यो हतः। प्रतिज्ञा में सम्भावित पक्ष हेतु से सिद्ध किया जाय तो हेतु से उसकी रक्षा ही नहीं है जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो गया। जैसे—वन्ध्या जननी विशेष—'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा में पक्षभूत पर्वत में संयोग सम्बन्ध से वह्नि साध्य है अथवा तादात्म्येन' वह्निमत्व साध्य है। इस पक्ष में हेतु धूम से वह्निमत्तादात्म्य सिद्ध किया जाता है तो प्रतिज्ञा वाक्य में वह्निमत् पर्वत भी सम्भावना का विषय होने से हेतु के द्वारा सिद्ध करने

योग्य है, तद्वत् 'ब्रह्म विचार्यं सन्दिग्धत्वात्'' 'ब्रह्मविचार्यं' इस प्रतिज्ञा वाक्य में सन्दिग्धत्व हेतु से विचार्यत्व तभी सिद्ध होगा जबकि इसमें प्रमाण हो। केवल हेतु से उसकी रक्षा नहीं होगी। जैसे इस अनुमान वाक्य 'इयं वन्ध्या जननी स्त्रीत्वात्' में वन्ध्या में जननीत्व या जननी तादात्म्य व्याघात युक्त होने से स्त्रीत्व हेतु से उनकी रक्षा असंभव है।

इसी प्रकार जन्मादि सम्भावना के हेतु हैं। अन्य वैशेषिकादि इसी उक्तानुमान से ही ईश्वर की सिद्धि करते हैं इससे सम्भावना को दृढ़ करने के लिए अर्थात् अनुमान से सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती यह केवल युक्ति मात्र है, इसको दृढ़ करने लिए भाष्य में कह रहे हैं–एतदेव इत्यादि। यहाँ अनुमान संसारी जीव से अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता में प्रमाण है, ऐसा ईश्वर को कारण मानने वाले वैशेषिकादि कहते हैं। वही यहाँ क्या जन्मादि सूत्र में भी उपन्यस्त है? नहीं। इसीलिए अधिकरणार्थ की समाप्ति हो जाती है और आगे कहे हुए अधिकरण मे प्रतिपादित अर्थ का अनुवाद करते हुए सुहृद्भाव से उत्तराधिकरण के आरम्भ के पूर्व शिष्य को किंचिद भी अनुपपत्ति न हो अतः परिहार करते है—वेदान्तवाक्यरूपी फूलों को गूंथने के लिए ब्रह्मसूत्र हैं न कि अनुमानोपन्यासार्थं जैसे—सूत्र से फूल गूथे जाते हैं उसी प्रकार वेदान्त भी ब्रह्म सूत्र से ग्रन्थित है वेदान्त वाक्य ही सूत्रों से उदाहृत होकर विचारे जाते हैं। वाक्यार्थविचार के अध्यवसान से निष्पन्न ब्रह्मज्ञान है न कि अनुमानादि अन्य प्रमाणों से निष्पन्न। वाक्यार्थ-विचारणा शब्द से उपासना सहित शब्द जन्यज्ञान कहा गया और तत्पश्चात् उसका फल ब्रह्मज्ञान ब्रह्मसाक्षात्कार कहा गया तो बीच में ज्ञानवाची अध्यवसान ठीक नहीं है ऐसी शंका होने पर भामती में "विचारस्याध्यवसानं……"। कहा अर्थात् अध्यवसान ज्ञानार्थक शब्द नहीं है बल्कि वासना के सहित उक्तमूलाविद्या और पूर्व विभ्रमजन्य संस्कार रूपा अविद्या की निवृत्ति ही अध्यवसान है। एवं वेदान्त-वाक्यों के श्रवण मनन-निदिध्यासन के द्वारा, शाब्दज्ञान होने पर, अविद्या निवृत्ति के बाद ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।

यदि ब्रह्म में शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अनुसरण न करना चाहिए तो फिर यह श्रुति कथन है श्रोतव्यो मन्तव्यः अर्थात् श्रवण के बाद मनन कैसे संभव है और अनुभवात्मक साक्षात्कार भी कैसे होगा? इसलिए भाष्य में कहा—सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु "जगत के जन्मादि का कारण ब्रह्म है" ऐसा कहने वाले वेदान्तवाक्यों के विद्यमान रहने पर ही यदी तत्प्रतिपाद्य अर्थ के ग्रहण

में दृढ़ता के लिए [1]तदविरोधी अनुमान भी प्रमाण है तो उसका निवारण हम नहीं करते। श्रुति ही सहायक रूप से तर्क को स्वीकार किया है, जैसा कि—"श्रोतव्योमन्तव्यः" श्रवण और मनन करना चाहिए। मनन अनुमान है, जैसे—पण्डितो मेधावी.... । अर्थात डाकू-समुदाय किसी गान्धारदेशीय व्यक्ति की आंख और हाथ-पैर बांध कर व्याघ्रादि युक्त-भयंकर स्थान में छोड़ दें और वह विवशतावश विवेक-शून्य हो, क्षुधा से पीड़ित होकर चिल्लाता हुआ बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता है और भाग्यवशात् किसी दयालु की कृपा के फलस्वरूप बन्धन से निर्मुक्त होकर वह बुद्धिमान् पुरुष मार्ग को प्राप्त कर अपने देश को पहुँचने पर सुखी होता है उसी प्रकार यह जीवात्मा धर्माधर्म रूपी डाकुओं द्वारा त्रिदोषमांसादि अशुचि पदार्थ एवं शीतोष्णादि नाना दुःखों से व्याप्त पाञ्चभौतिक अन्नमय शरीरारण्य में मोहरूपी वस्त्र से विवेकरूपीनेत्रों को बांधकर ढकेल दिये जाने पर तृष्णारूपी बन्धन से बँधा हुआ है। दुःखी एवं चिन्ताग्रस्त होता हुआ भाग्यवशात् किसी कारुणिक ब्रह्मज्ञजिज्ञासु की शरण में जाकर उनके द्वारा भली-भांति उपदिष्ट होने पर अपना पूर्व शुद्धबुद्ध आत्मस्वरूप ज्ञातकर अविद्या को निवृत्त कर परमात्म स्वरूप को प्राप्तकर सुखी होता है। इस प्रकार श्रुति ही पुरुष के बुद्धि का साहाय्य आत्मा को दिखला रही है। वेदान्त-वाक्यरूपशब्द का अविरोधी और उससे उपकृत युक्ति से विवेचन मनन है, युक्तिशब्द से अर्थापत्तिया अनुमान अभीष्ट है जिस तरह धर्म विचार में केवल श्रुति ही प्रमाण है उसमें बुद्धि के सहायता की अपेक्षा नहीं होती उसी तरह ब्रह्म जिज्ञासा विचार में [2]श्रुत्यदि ही प्रमाण हो अन्य न हो क्योंकि धर्म के समान ब्रह्म भी शास्त्रै कसमाधिगम्य है ऐसी शंका होने पर भाष्य में कहा गया, न धर्म जिज्ञासा यामिव इत्यादि धर्म जिज्ञासा के तरह ब्रह्म जिज्ञासा में केवल शास्त्र ही प्रमाण नहीं किन्तु अनुभवादि भी यथा संभव प्रमाण हैं। ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक होने से अनुभव साक्षात्कार पर्यन्त विवक्षित है। अनुभव शब्द का अर्थ भामती में कह रहे हैं—अन्तःकरण की वृत्तिविशेष का ही नाम अनुभव है। अर्थात ब्रह्माकाराकारित अन्तःकरणवृत्ति।

शंका—प्रमाण का फल प्रमा होता है, उक्तवृत्ति रूप साक्षात्कार का कोई प्रमात्मक फल नहीं है फिर अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाण कैसे ?

समाधानः—ब्रह्माकार वृत्ति से अविद्या के निवृत्त होने पर ब्रह्म का स्वरूप

१—वेदान्त वाक्यों से जो विरुद्ध न हो और तदुपजीवि अर्थात उनसे उपकृत।
२—आदि पद से स्मृति इतिहास और पुराण का ग्रहण है।

अभिव्यक्त होता है, जो कि वास्तविक फल न होने पर भी फल के समान है तो औपचारिक फल तो है ही। जैसे—कोई पुरुष अपने ही गले में पड़े हार को भूलकर ढूंढ़ता हुआ किसी अन्य व्यक्ति से ज्ञात कराने पर हार प्राप्ति में प्रसन्न हो। यहाँ पर यद्यपि अप्राप्त की प्राप्ति न होने से फल प्राप्ति नहीं है, फिर भी अप्राप्त के समान हार अन्य के द्वारा बताने पर ही तद्विषयक अज्ञान के निवृत्त होने पर उसका लाभ होता है तद्वत शाश्वत ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होने पर भी अविद्यावशात् अप्राप्त के समान प्रतीत होता है और श्रवणादि के बाद अविद्यान्धकार के दूर होने पर प्राप्त हुए के समान होने से फल है।

शंका:—धर्म जिज्ञासा में केवल श्रुत्यादि ही प्रमाण है यह भाष्योक्ति अयुक्त है, क्योंकि श्रुति का ज्ञान शब्द रूप होने से ही होगा। श्रोत्रेन्द्रिय रूप प्रमाण की भी अपेक्षा धर्म जिज्ञासा में हुई तो केवल श्रुति ही प्रमाण कैसे ?

समाधान—यद्यपि धर्म जिज्ञासा की सामग्री में भी प्रत्यक्षादि का व्यापार है तथापि साक्षात् नहीं है आशय यह कि शब्दज्ञानमें श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा होने पर भी श्रुतिप्रतिपाद्य तदर्थ धर्म जो यागादि हैं वे श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है अतः उसके ज्ञान मे साक्षात् श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा नहीं, अतः धर्मज्ञान में साक्षात् प्रत्यक्षादि व्यापार असम्भव है और ब्रह्म जिज्ञासा में तो अनुभवादि साक्षात् भी सम्भव हैं क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा अनुभव के लिए हो होती है। अतः भाष्य में [1]"अनुवावसानत्वात्" कहा, ब्रह्म साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार होने पर समस्त दुःखों की निवृत्ति होने पर परमानन्द जैसा अलौकिक तत्त्व मिलता है जिसमें दुखों का भान कहां ? "ब्रह्म-जिज्ञासायाम्" इस सप्तम्यन्त पद का षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणाम भावकर ब्रह्म-जिज्ञासायाम् अनुभवावसानत्वात् ऐसी योजना करके भाष्य सङ्गत होता है। अनुभव पर्यन्त ब्रह्मजिज्ञासा के होने से अनुभव के लिए जिज्ञासा हो परन्तु उसका अनुभव ही असम्भव है क्योंकि ब्रह्म में अनुभव विषयता की योग्यता नहीं है, इस पर भाष्य में। कहा—भूत वस्तु विषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। भूत शब्द परमार्थ का वाचक है अर्थात् ब्रह्मज्ञान परमार्थ वस्तु जो ब्रह्म तद्विषयक है।

(इस तरह ब्रह्मशास्त्र प्रमाण से वेद्य है केवल अनुमान से नहीं, उक्तसूत्र

१—अनुभव एव, अवसाने समाप्तिः यस्मिन्तस्य भावः तस्मात्, अनुभव ही है समाप्ति अर्थात् फलत्वेनवविवक्षित जिसमें ऐसा होने से, यह अनुभववसानत्वात् शब्द का अर्थ है।

वेदान्त वाक्य यतोवा इत्यादि के आधार पर है न कि अनुमान से ईश्वर सिद्ध करने के लिए। क्योंकि जगत्सकर्तृकं कार्यत्वात्. इस अनुमान में कार्यत्व हेतु से, या कार्य की विचित्रता से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, पहिले, जगत् के अन्तर्गत, परमाणु आकाशादि भी हैं जिसमें कार्यत्व हेतु ही सिद्ध नहीं है जिससे कि पक्ष के एक देश मे हेतु न होने से भागा सिद्धि है कथञ्चित् कार्यत्वमान भी लिया जाय तो अविविचित्र नगर का निर्माण जैसे कतिपय अल्पज्ञों के द्वारा होता है उसी तरह जगत् भी उन्हीं के द्वारा रचित हो ऐसी शंका का निवारण नहीं हो सकता विश्वामित्र कर्तृका सृष्टि पुराण में प्रसिद्ध ही है, अतः अगत्या शास्त्र का शरण ईश्वर सिद्धि में लेना पड़ेगा, यह निष्कर्ष है।

शाङ्कर भाष्यम्

कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्त्तव्यस्य कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा नवागच्छतीति तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति। 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्तु—एवं नैवमस्ति, नास्तीति विकल्प्यते, विकल्पनास्तु पुरुष बुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तु याथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तु तन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव; भूतवस्तु विषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तर विषयत्वमेवेति वेदान्त वाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता न इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावती विषय विषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रिय विषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत्। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं, किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं, किं तर्हि? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्। किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम्। 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म इत्युपक्रम्याह यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति'' (तैत्ति० ३।१) तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन

जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवं जातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञ स्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्त्तव्यानि ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयं जन्माधिकरणम् ॥

भामती

व्यतिरेक साक्षात्कारस्य विकल्परूपो विषयविषयिभावः, नत्वेवं धर्मज्ञानमनुभवावसानं, तदनुभवस्य स्वयमपुरुषार्थत्वात्, तदनुष्ठानसाध्यत्वात् पुरुषार्थस्य, अनुष्ठानस्य च विनाप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिद्धेरित्याह—कर्त्तव्ये हीत्यादिना। न चायं साक्षात्कार विषयतायोग्योऽपि अवर्तमानत्वात्, अवर्तमानश्चानवस्थितत्वादित्याह—पुरुषाधीनेति। पुरुषाधीनत्वमेव लौकिक वैदिक कार्याणामाह—कर्त्तुमकर्त्तुमिति। लौकिकं कार्यमनवस्थितमुदाहरति—यथाऽश्वेनेति। लौकिकेनोदाहरणेन सह वैदिकमुदाहरणं समुच्चिनोति—तथाऽतिरात्र इति। कर्त्तुमकर्त्तुमित्यस्येदमुदाहरणमुक्तम्। कर्त्तुमन्यथा वा कर्तुमित्यस्योदाहरणमाह—उदित इति। स्यादेतत्, पुरुषस्वातन्त्र्यात् कर्त्तव्ये विधिप्रतिषेधानामानर्थक्यम्, अतदधीनत्वात् पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्त्योरित्यत आह—विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः गृह्णातीति विधिः। न गृह्णातीति प्रतिषेधः। उदितानुदितहोमयोर्विधी। एवं नारास्थिस्पर्शन निषेधो ब्रह्मघ्नश्च तद्धारणविधिरित्येवंजातीयकाविधिप्रतिषेधा अर्थवन्तः, कुत इत्यत आह—विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। चो हेतौ। यस्माद् ग्रहणाग्रहणयोरुदितानुदितहोमयोश्च विरोधात्समुच्चयासम्भवे तुल्यबलतया च बाध्यबाधक भावाभावे सत्यगत्या विकल्पः, नारास्थिस्पर्शननिषेधतद्धारणयोश्च विरुद्धयोरतुल्यबलतया न विकल्पः, किन्तु सामान्यशास्त्रस्य स्पर्शननिषेधस्य धारणविधिविषयेण विशेषशास्त्रेण बाधः। एतदुक्तं भवति—विधिप्रतिषेधैरेव स तादृशो विषयोऽनागतोत्पाद्यरूप उपनीतो येन पुरुषस्य विधिनिषेधाधीनप्रवृत्तिनिवृत्त्योरपि स्वातन्त्र्यं भवतीति। भूते वस्तुनि तु नेयमस्ति विधेत्याह—न तु वस्त्वेवं नैवमिति।

सुभद्रा—यहाँ पर व्यतिरेक शब्द का अर्थ है प्रपञ्चाभावो-पलक्षित ब्रह्म स्वरूप। नेति, नेति इस प्रकार श्रुति से बोध्य प्रपञ्च-पुञ्ज के अभाव से उपलक्षित जो ब्रह्म अर्थात् प्रपञ्चाभाव वह है उपलक्षण जिसमें, ऐसे स्वरूप भूत ब्रह्म के वृत्ति रूप साक्षात्कार का ब्रह्म के साथ विकल्परूप (आध्यासिक विषयता है) न कि वास्तविक विषयता। इसको प्रथम सूत्र के उपाख्यान में

कहा भी गया है कि वृत्ति विषयता भी सोपाधिक ब्रह्म में ही है न कि उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म में। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान अनुभवावसान है पर धर्मज्ञान ऐसा नहीं क्योंकि धर्मज्ञान का अनुभव स्वयं पुरुषार्थ नहीं, वह तो धर्मानुष्ठान से ही साध्य है। अनुष्ठान की सिद्धि अनुभव के बिना भी केवल शब्दजन्य ज्ञान मात्र से ही होती है। इसी को भाष्य में कह रहे हैं—कर्त्तव्य विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए श्रुत्यादि ही उसमें प्रमाण है। कर्त्तव्य पुरुष के अधीन होता है, धर्म कर्त्तव्य है। अतः कर्त्तव्य विषयक होने से तथा ज्ञान के समय स्थित न होने से साक्षात्कार विषय के योग्य भी नहीं है। अनुष्ठान जब तक न किया जाय तब तक होता हो नहीं, अतः वह ज्ञान के समय नहीं रहता।

लौकिक और वैदिक कार्य पुरुषाधीन हैं वे किए जा सकते हैं नहीं भी किए जा सकते हैं अथवा विपरीत भी किए जा सकते हैं। जैसे—लोक में गमन क्रिया घोड़े से, पैर से अथवा नहीं भी हो सकती। उसी प्रकार वेद में भी कर्त्तुमकर्त्तुं का उदाहरण-अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करता है, अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करता। अन्यथा कर्त्तुं का उदाहरण-उदय में हवन करता है, अनुदय में हवन करता है।

यदि कर्त्तव्य में पुरुष स्वतन्त्र है तो विधि और निषेध व्यर्थ हैं क्योंकि पुरुष की प्रवृत्ति और निवृत्ति उसके अधीन नहीं, जैसा कि भाष्य में कहे हैं कि विधि और निषेध वाक्य अर्थवान् हैं अर्थात् जिसका ग्रहण हो वह विधि और जिसका ग्रहण न हो वह निषेध है। जैसे—सूर्योदय होने पर अथवा सूर्योदय के पूर्व ही हवन करना विधि और मृतक हड्डी को छूने पर वस्त्र के सहित स्नान करे इसमें अस्थिस्पर्शन का निषेध है। परन्तु 'शिरः कपाली ध्वजवान् भिक्षार्थी कर्मवेदयन। ब्रह्मा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धि याप्नुयात कर्मवेदयन्त।

ब्रह्महत्या करने वाला शव को ध्वजास्वरूप में धारण कर भिक्षार्थी बन कर अपने दुष्कर्म को प्रकट करता हुआ बारह वर्ष तक 'अल्पभोजी के रूप में रहने से ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। यहाँ पर नारास्थि को ध्वजा के रूप में धारण की विधि है। इस प्रकार के विधि-प्रतिषेध अर्थवान हैं। जिसकी प्रपुष्टि यहाँ की जा रही है—विकल्पोत्सर्गापवादाश्च—विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद च हेतुपरक हैं। उदय-कालिक होम अनुदयकालिक होम, नारास्थि स्पर्श और उसका निषेध, इन सबों का समुच्चय विरोध होने से असंभव है और शास्त्र प्रतिपादित होने से समान बली है इससे बाध्य-बाधक भाव नहीं

हो सकता तो अगत्या विकल्प है अर्थात् स्व-स्व-शास्त्र परम्परया उदय काल एवं अनुदयकाल में भी होम करे, यह विकल्प है। नारास्थिस्पर्श का निषेध और धारण-विधि समान बलवाले नहीं हैं किन्तु सामान्य परक होने से सभी के लिए उसके स्पर्श का निषेध है। किन्तु ब्रह्मा पुरुष विशेष के लिए उसके धारण की विधि विशेष शास्त्र है। अतः विशेष वाक्य से समान वाक्य का बाध होता है तो उत्सर्ग सामान्य निषेध वाक्य का विशेष विधिवाक्य अपवाद है इस प्रकार उक्त विधि प्रतिषेध विकल्प तथा उत्सर्ग अपवाद रूप हों इससे उनके व्यर्थ होने की शंका निवृत्त नहीं होती क्योंकि पुरुष स्वतन्त्र है न! इसलिए उसका भाव एतदुक्तं भवति से प्रकट कर रहे हैं—विधि-निषेध वाक्यों से ही पहिले से प्राप्त न होने से यह विषय उत्पाद्य रूप है, क्रिया के द्वारा उत्पन्न करने योग्य है। ऐसा विषय बोधित है जिससे पुरुष की विधि निषेध वाक्य के अधीन प्रवृत्ति निवृत्ति में स्वतंत्रता होती है। आशय यह कि विधि निषेध बोधित क्रिया में पुरुष स्वतंत्र भले हों परन्तु इष्ट और अनिष्ट को शास्त्रज्ञान के बिना स्वयं न जानते हुए लौकिक कर्मों में प्रवृत्त या निवृत्ति होते हुए वे ऐहिक–पारलौकिक फल की प्राप्ति नहीं कर सकते। शास्त्र विहित कर्म सुख के कारण है और निषिद्ध कर्म दुःख हेतुक ऐसा जानकर स्वतन्त्र होते हुए भी उन-उन कर्मों में कदाचित् प्रवृत्त और निवृत्त होकर इष्ट की प्राप्ति कर सकेंगे और अनिष्ट को नहीं। अतः शास्त्र वाक्य अर्थवान् है व्यर्थ नहीं। सिद्ध वस्तु में यह प्रकार (विकल्पादि) सम्भव नहीं। इसलिए भाष्य में सिद्ध वस्तु में इसको असभाव्य बतलाते हुए कहते हैं कि "सिद्ध वस्तु ऐसी है या ऐसी नहीं" इस तरह का विकल्प नहीं होता।

भामती

तदनेन प्रकार विकल्पो निरस्तः। प्रकारिविकल्पं निषेधति अस्ति नास्तीति। स्यादेतत्—भूतेऽपि विकल्पो दृष्टः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति, तत्कथं न वस्तु विकल्प्यत इत्यत आह—विकल्पनास्त्विति। पुरुषबुद्धिरन्तःकरणम्, तदपेक्षा विकल्पनाः संशयविपर्यासाः, सवासनमनोमात्रयोनयो वा यथा स्वप्ने, सवासनेन्द्रियमनोयोनयो वा यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति स्थाणौ संशयः, पुरुष एवेति वा विपर्यासः, अन्यशब्देन वस्तुतः स्थाणोरन्यस्य पुरुषस्याभिधानात्, न तु पुरुषत्वं वा स्थाणुत्वं वाऽपेक्षन्ते समानधर्मधर्मिदर्शनमात्राधीनजन्मत्वात्। तस्मादयथावस्तवो विकल्पना न वस्तु विकल्पयन्ति वाऽन्यथयन्ति वेत्यर्थः। तत्त्वज्ञानं तु न बुद्धितन्त्रं किन्तु वस्तुतन्त्रमतस्ततो वस्तुविनिश्चयो युक्तो, न तु विकल्पनाभ्य इत्याह— न

वस्तुयाथात्म्येति। एवमुक्तेन प्रकारेण भूतवस्तुविषयाणां ज्ञानानां प्रामाण्यस्य वस्तुतंत्रतां प्रसाध्य ब्रह्मज्ञानस्य वस्तुतंत्रतामाह—तत्रैवं सतीति। अत्र चोदयति—ननु भूतेति। यत् किल भूतार्थं वाक्यं तत्प्रमाणान्तरगोचरार्थं तयाऽनुवादकंदृष्टं, यथा नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति, तथा च वेदान्ताः, तस्माद भूतार्थतया प्रमाणान्तरदृष्ट मेवार्थमनुवदेयुः। उक्तञ्च ब्रह्मणि जगज्जन्मादि हेतुकमनुमानं प्रमाणान्तरम्। एवञ्च मौलिकं तदेव परीक्षणीयं, न तु वेदान्तवाक्यानि तदधीनसत्यत्वानीति कथं वेदान्तवाक्यग्रथनार्थता सूत्राणामित्यर्थः। परिहरति—न इन्द्रियविषयात्वेति। कस्मात्पुनर्नेन्द्रिय—विषयत्वं प्रतीच इत्यत आह—स्वभावत इति।

अतएव श्रुतिः—

अराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्,' इति।

सति हीन्द्रियेति। प्रत्यगात्मनस्त्वविषयत्वमुपपादितम्। यथा च सामान्यतो दृष्टमप्यनुमानं ब्रह्मणि न प्रवर्त्तते तथोपरिष्टान्निपुणतरमुपपादयिष्यामः। उपपादितं चैतदस्माभिर्विस्तरेण न्यायकणिकायाम्। न च भूतार्थतामात्रेणानुवादत्वेत्यपरिष्टादुपपादयिष्याभः। तस्मात्सर्वमवदातम्। श्रुतिश्च यतो वेति जन्म दर्शयति, 'येनजातानि जीवन्तीति जीवनं स्थितिं' 'यत्प्रयन्ति' इति तत्रैवलयम्। तस्य च निर्णय वाक्यम्। अत्र च प्रधानादिसंशये निर्णयवाक्यम् 'आनन्दाद्धयेवेति। एतदुक्तं भवति। यथा रज्ज्वज्ञानसहिता रज्जूपादाना धारा रज्ज्वां सत्यामस्ति रज्ज्वामेव च लीयते, एवमविद्यासहितब्रह्मोपादानं जगद् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते इति सिद्धम्॥ २॥ इति द्वितीयं जन्माधिकरणम्॥

सुभद्राः—न तु वस्तु एवं नैवम्'' इससे प्रकार विकल्प का निरास कर अब ''अस्ति नास्ति'' इससे प्रकारि विकल्प का निराकरण कर रहे हैं

शंका—जब कि सिद्ध वस्तु (स्थाणवादि) में भी विकल्प देखा गया है। जैसे—यह ठूँठ है अथवा पुरुष ? तो वस्तु में विकल्प क्यों नहीं ?

समाधानः—पुरुष की बुद्धि के कारण विकल्प हुआ करता है और उसी से संशय, विपर्यास विपरीत ज्ञान, भी। जाग्रत अवस्था में अनुभूत संस्कारों से युक्त मन ही स्वप्न में रण है तथा संशय और विपर्यय भी कुसंस्कार युक्त अन्तःकरण तथा बहिरिन्द्रिय की चपलता के परिणाम है। इस प्रकार जहाँ जिससे युक्त अनुभव उत्पन्न नहीं है वहां तद्विशिष्ट-विषयक संस्कार के न होने पर भी वृक्ष और मनुष्य का जो अलग-अलग अनुभव है उन्हीं अनुभवों के संस्कार से वह

चाहे इस जन्म का हो अथवा जन्मान्तर का उससे युक्त मन स्वप्न में विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतः यह पूर्ण सत्य है कि विकल्प के अस्तित्व में पुरुष का वासना सम्बन्धित अन्तःकरण ही एक मात्र कारण है। जैसे—स्वप्न में। यह ठूंठ है अथवा पुरुष? यहां ठूंठ में संशय, "यह पुरुष ही है" यह विपरीत ज्ञान है। इत्यादि बातें बुद्धि के कारण ही होती हैं। वस्तु का यथार्थ निश्चय पुरुष के बुद्धि के अपेक्षा से नहीं हो सकता, किन्तु है वह वस्तु के अधीन ही। स्थाणु में "यह ठूंठ है अथवा पुरुष? ऐसा बुद्ध्यपेक्षज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है और "ठूंठ ही है" यह यथार्थज्ञान वस्तु के अधीन है। अन्य शब्द से वस्तु (स्थाणु) से भिन्न पुरुष रूप अर्थ विवक्षित है। संशय पुरुष अथवा स्थाणु के वस्तु तत्त्व की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि संशय समान धर्म वाले दो धर्मिओं में एक के दर्शन मात्र से उत्पन्न होता है। इसलिए विकल्प-नाएं वस्तु के अनुसार नहीं होतीं किन्तु पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा से होती हैं। वे वस्तु को विकल्प करने या उसके विपरीत करने में समर्थ नहीं हैं यथार्थ-ज्ञान केवल अन्तःकरण से कल्पित नहीं है किन्तु वस्तुपरक होता है अतः वस्तु तन्त्र है। उक्त प्रकार से "सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञानों में प्रामाण्य वस्तु के अधीन है" इसे सिद्ध कर "ब्रह्मज्ञान वस्तु के अधीन है" इसको भाष्य में कह रहे हैं—

'तत्रैवं सति, इस प्रकार ब्रह्मज्ञान भी सिद्धवस्तु विषयक होने से वस्तु-तंत्र ही है।

शंका—ब्रह्म यदि सिद्ध वस्तु है तो वह अन्य प्रमाण का विषय है फिर वेदान्त वाक्य के विचार व्यर्थ हैं यह स्पष्ट है। क्योंकि जो सिद्धार्थक वाक्य होते हैं वे अन्य प्रमाण का विषय होने से अनुवादक देखे गये हैं। जैसे 'नदी के किनारे फल हैं' यह वाक्य सिद्ध फल का बोध कराता है। 'नदी के किनारे फल' प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है उसी का अनुवाद उक्त वाक्य कर रहा है उसी तरह सिद्ध वस्तु का बोधक होने से वेदान्तवाक्य भी अनुवादक ही होंगे न कि प्रमाण। 'विमता वेदान्ताः प्रमाणान्तरसिद्धार्थ विषयतयाऽनुवादकाः भवितुमर्हन्ति, भूतार्थ प्रतिपादकवाक्यत्वात्—नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्य-वत्' अर्थात् विवादास्पद वेदान्तवाक्य अन्य प्रमाण से सिद्ध वस्तु विषयक होने से अनुवादक होने योग्य हैं सिद्धार्थक वाक्य होने से, जैसे नदी के किनारे फल हैं यह वाक्य। इस अनुमान से वेदान्त वाक्य अनुवादक ही सिद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाणान्तर से सिद्ध होने पर उसका अनुवाद करेंगे। अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध ब्रह्मबोधक वाक्य के सिद्ध होने पर "अनुमान विमतं जगत् सकर्तृकं

धीमत्कर्तृक कार्यत्वात् तब फिर मौलिक होने से उसी की परीक्षा करनी चाहिए। न कि वेदान्त वाक्यों का विचार करना चाहिए फिर भाष्यकार का यह कथन कि "वेदान्त वाक्यकुसुम ब्रह्मसूत्र से गुंथे हैं" सर्वथा असंगत है।

समाधान— ब्रह्म इन्द्रिय का विषय नहीं है इसलिए उसके साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध का ग्रहण न होने से ब्रह्म प्रमाणान्तर का विषय नहीं है। प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म इन्द्रिय का विषय नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभावत: बाह्य विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ हैं, जैसा कि श्रुति में कहा है।

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् परमात्मा ने इन्द्रियों का सृजन बाह्य विषयों के ही ग्रहणार्थ किया अतः उनसे घटपटादि का ही प्रदर्शन होता है अन्तरात्मा का नहीं।

शंका—कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैच्छदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्मन सर्वेद मासव्यम्—उक्त मन्त्र के उत्तरार्ध से विद्वानों के इन्द्रिय का विषय प्रत्यगात्मा के होने का बोध होता है जिससे उसका अन्य श्रुतियों से विरोध है। किसी धीर विद्वान ने मुक्ति की इच्छा करता हुआ प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार किया, मन से ही उस ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए, इत्यादि प्रमाणों के होने पर भी प्रत्यगात्मा ब्रह्म इन्द्रिय का विषय क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—"निर्विशेष अनुपहित शुद्ध ब्रह्म इन्द्रिय का विषय नहीं है" यह उक्त मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय है और सगुण मायोपाधिक ब्रह्म ही विद्वदिन्द्रिय या मन से ग्राह्य है अतः विरोध कहाँ ? इसी को भामती में पहले कहा गया है कि प्रत्यगात्मा अविषय है और ब्रह्म को इन्द्रिय का विषय मानने पर यह कार्य ब्रह्म सम्बद्ध है ऐसा ग्रहण होना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। केवल कार्य गृहीत होता हुआ वह क्या ब्रह्म से सम्बद्ध है या अन्य से, ऐसा निश्चय प्रत्यक्षादि प्रमाण से असम्भव है। इसलिए जन्मादि सूत्र अनुमान के उपन्यास के लिए नहीं है किन्तु वेदान्त-उपनिषद्वाक्यों को विचारलाने के लिए है।

पूर्व की यह आशंका कि 'वेदान्त-वाक्य प्रमाणान्तर से सिद्ध ब्रह्म के अनुवादक हैं, ठीक नहीं, क्योंकि—ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है या अनुमान से ? इन्द्रिय का विषय न होने से प्रथम पक्ष ठीक नहीं, इसको कह चुके हैं, सामान्यतो दृष्ट भी अनुमान ब्रह्म को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है इसका समुचित प्रतिपादन हम आगे तर्कवाद में करेंगे और न्याय कणिका में विस्तृत रूप से किये हैं, ऐसा वाचस्पति मिश्र का कथन है। जिसका आशय संक्षेप में यह है कि—जिस प्रकार घटादि कार्य सकर्तृक हैं उसी तरह यह विश्व भी किसी

बुद्धिमान पुरुष के द्वारा रचा गया है। कार्य होने से यह सामान्य तो दृष्ट अनुमान से ब्रह्म की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि किसी सिद्ध महायोगी अथवा अदृष्ट वश किसी जीव से ही जगत् की उत्पत्ति संभव होने से सिद्ध-साधन दोष है। यदि यह कहा जाय कि जीव अल्पज्ञ है इस अनुमान से, सामग्री और देशकाल के अनुरूप कर्म के फल विभाग आदि को जो जानता है, यह जगत जिसकी रचना है वह ईश्वर ही हो सकता है तो विकल्प होगा कि क्या यह जगत् सामग्री आदि का जो अभिज्ञ है उसी के द्वारा निर्मित है, अथवा सर्वज्ञ के द्वारा प्रथम पक्ष मानने पर सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध नहीं होता और यत्किंचिद् विषयाभिज्ञता जीव में भी होने से अर्थान्तर दोष बना रहता है, इसलिए ठीक नहीं द्वितीय पक्ष भी-साध्य के दृष्टान्त में न होने से व्याप्ति न बनने के कारण युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि कार्यत्व हेतु से आप जगत् को सर्वज्ञ कर्त्तृक सिद्ध करते हैं, दृष्टान्त घटादि का देंगे। घटादि में कार्यत्व हेतु है परन्तु अल्पज्ञ से रचित होने के कारण सर्वज्ञ कर्तृकत्व नहीं है जिससे कि जो कार्य होता है वह सर्वज्ञ कर्त्तृक होता है ऐसी व्याप्ति सिद्ध हो। उसके सिद्ध न होने पर अनुमान कैसे प्रवृत्त होगा। और भी कार्यत्व हेतु से धीमत्कर्तृकत्व को साधता हुआ यह अनुमान ईश्वर में कैसी बुद्धि को सिद्ध करेगा, नित्य या अनित्य ? नित्य पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि आपकी मान्यता के अनुसार जिस तरह कार्य बुद्धिमान पुरुष से रचित है उसी तरह ज्ञान भी जन्य ही है, नित्यज्ञान कहीं दृष्ट नहीं है और दृष्ट के बल पर ही व्याप्ति सिद्ध होती है। भोजनालय में धूम अग्नि का साहचर्य देखने पर ही उनकी व्याप्ति "जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि रहती है" सिद्ध होती है। इस तरह जीवादि में जितने ज्ञान होते हैं वे सब जन्य ही होते हैं, नित्य ज्ञान होता नहीं, ऐसा सिद्ध होने पर ईश्वर में नित्य ज्ञान सिद्ध नहीं होता। यदि अनित्य बुद्धि (ज्ञान) ईश्वर में सिद्ध हो तो ईश्वर के अशरीरी होने से अनित्य ज्ञान में मनः संयोगादि कारण क्लृप्त हैं उसके न होने से जन्यज्ञान की उत्पत्ति ही असम्भव है, इत्यादि। इससे उक्तानुमान प्रमाण से ब्रह्म की सिद्धि न होने से शब्द ही प्रमाण है, यह अगत्या स्वीकार करना पड़ेगा। अतः भाष्यकार ने ठीक ही कहा कि जन्मादि सूत्र अनुमानोपन्यासार्थ नहीं है किन्तु वेदान्तवाक्य प्रदर्शनार्थ है। वह वेदान्त वाक्य क्या है ? जो इस सूत्र से लक्षित है "भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म इत्युपक्रम्याह यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति" (तैत्ति० ३।१) वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के पास जाकर पूँछा कि भगवन ! ब्रह्म को बताइये, इस पर उन्होंने कहा कि—जिससे

ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म हैं उसकी जिज्ञासा करो ? प्रधान परमाण्वादि से जगत की रचना का कहीं व्यामोह न हो इसलिए भाष्यकार ने निर्णयात्यक वाक्य प्रस्तुत किया— "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति" (तैत्ति० ३।६) आनन्दस्वरूप ब्रह्म से ही यह प्राणि वर्ग उत्पन्न होता है स्थित (जीवित) रहता है और उसी में प्रवेश कर जाता है इसी प्रकार "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि वाक्यों से नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाववाला सर्वज्ञ परमात्मा ही जगत का कारण है यह प्रतिपादित है ।

शंका—अद्वितीय ब्रह्म कारणान्तर की अपेक्षा न करता हुआ जगत के जन्मादि का कारण कैसे मान लिया जाय ? क्योंकि उससे उत्पन्न कार्य भी अनादि हो जायेंगे ।

इसके निराकरण के लिए भामती में कहा गया "एतदुक्तं भवति" इत्यादि । जैसे—रस्सी के अज्ञान के सहित रस्सी है उपादान कारण जिसका, ऐसी जो सर्पादि को प्रतीति वह रस्सी के रहने पर ही होती है और उसी में लीन होती है । उसी तरह अविद्या के सहित ब्रह्म है उपादान कारण जिस जगत का, वह ब्रह्म ही में है और उसी में लीन होता है, यह सिद्ध हुआ । आशय यह है कि सर्वविध शक्ति संपन्न अघटित वस्तुओं के भी निर्माण करने में समर्थ अनादि अनिर्वचनीया माया ही अदृष्ट कालादि सहकृत हो कर ब्रह्म को विषय करती हुई सम्पूर्ण जगत का निर्माण करने में समर्थ हैं, ब्रह्म उस माया का अधिष्ठान होने से कारण कहा जाता है । उस माया में विचित्र सामर्थ्य है जिससे कि कार्य अनादि नहीं है ।

जन्माद्यधिकरण भामती भाषानुवाद समाप्त ।

———

शाङ्कर-भाष्यम्

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह ।

शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति ।

भामती

सूत्रान्तरमवतारयितुं पूर्वसूत्रसंगतिमाह—जगत्कारणत्वप्रदर्शनेनेति । शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥ न केवलं जगद्योनित्वादस्य भगवतः सर्वज्ञता, शास्त्रयोनित्वादपि बोद्धव्या । शास्त्रयोनित्वस्य सर्वज्ञतासाधनत्वं समर्थयते—महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्येति । चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च यथायथं निषेकादिश्मशानान्त ब्राह्ममुहुर्त्तोपक्रमप्रदोषपरिसमापनीयासु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मपद्धतिषु च ब्रह्मत्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रमृग्वेदादि, अतएव महाविषयत्वात् महत् । न केवलं महाविषयत्वेनास्य महत्त्वम्, अपि त्वनेकाङ्गोपांगोपकरणतयापीत्याह—अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य पुराणन्याय मीमांसादयो दशविद्यास्थानानि तैस्त या तया द्वारोपकृतस्य । तदनेन समस्त शिष्टजनपरिग्रहेणाप्रामाण्यशंकाऽप्यपाकृता । पुराणादिप्रणेतारो हि महर्षयः शिष्टास्तैस्तया तया द्वारा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थं चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति । न चायमनवबोधको नाप्य स्पष्टबोधको येनाप्रमाणं स्यादित्याह—प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः । सर्वमर्थजातं सर्वथाऽवबोधयन् नानवबोधको नाप्यस्पष्टबोधक इत्यर्थः । अतएव सर्वज्ञकल्पस्य सर्वज्ञसदृशस्य । सर्वज्ञस्य हि ज्ञानं सर्वविषयं शास्त्रस्याप्यभिधानं सर्वविषयमिति सादृश्यम् । तदेवमन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—न हीदृशस्येति । सर्वज्ञस्य गुणः सर्वविषयता, तदन्वितं शास्त्रम्, अस्यापि सर्वविषयत्वात् ।

सुभद्रा—"जन्माद्यस्य यतः" सूत्र से सर्वज्ञ ब्रह्म का जगत के कारणत्वेन प्रतिपादन कर के उस सर्वज्ञता को दृढ़ करने के लिए भगवान् बादरायण ने इस सूत्र का प्रणयन किया ।

केवल जगत का कारण होने से ईश्वर में सर्वज्ञता हो, ऐसी बात नहीं शास्त्र का भी कारण होने से ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध होती है । भाष्य-अनेक विद्या के स्थान से उपकृत, दीपक के समान सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाले और सर्वज्ञ के ही सदृश अत्यन्त महत्व विशिष्ट ऋगवेदादि शास्त्रों

का भी कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है. यह सिद्ध होता है। शास्त्र के महत्व की बात भामती में कह रहे हैं—चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) के यथार्थ वर्णन और गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त, ब्राह्म मुहूर्त से सायंकाल पर्यन्त के कर्मों तथा नित्य, नैमित्तिक या काम्य कर्मों का सविधि वर्णन होने से तथा शिष्यों को सदुपदेश के द्वारा हित के उपायों को बतलाने और अहित तथा उसके उपायों से निवृत्त कराने से ऋग्वेदादि शास्त्र हैं इसके विषय महान हैं अतएव शास्त्र भी महत्व विशिष्ट हैं केवल महाविषयक होने से ही इसमें महत्व नहीं है किन्तु अनेक अङ्ग और उपाङ्ग आदि सामग्रियों के होने से भी वह महत्त्वशील है। इसी से भाष्य में अनेक विद्या स्थानोपवृंहितस्य कहा। वेद के उपाङ्गचार पुराण, न्याय मीमांसा और धर्मशास्त्र तथा वेदाङ्ग छः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये दश विद्या के स्थान हैं। वेदादि शास्त्र इन्हीं विद्यास्थानों से परिपुष्ट है। इससे समस्त शिष्ट पुरुषों से परिगृहीत होने के कारण वेद में अप्रामाण्य शंका का भी निराकरण हो जाता है। पुराणादि के निर्माता महर्षि शिष्ट हैं उन लोगों से सृष्टि वाक्यों में अपेक्षित श्रुत्युक्त सृष्टि का विस्तार पूर्वक वर्णन होने से उनके द्वारा पुराणों का उपयोग श्रुत्यर्थ को दृढ़ करने में ही है। इसी तरह जाति व्यक्ति और प्रमाण प्रमेयादि निरूपण के द्वारा न्यायशास्त्र वैदिक पदार्थ के शोधन के लिए है। वाक्यार्थ का निरूपण करने से मीमांसा—शास्त्र का भी उपयोग श्रुति प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि में है, इसी प्रकार धर्मशास्त्र भी श्रुत्यर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं और षडङ्ग भी वेदार्थ के निरूपण के द्वारा उसके परिज्ञान म उपयुक्त हैं। अतएव भामती में कहा गया "तया तया द्वारोप कृतस्य" उन-उन विद्याओं के द्वारा उपकृत वेद हैं।

पुराणादि के निर्माता महर्षि शिष्ट हैं, वेद उनके द्वारा व्याख्यात है और उन्होंने उसमें प्रतिपादित अर्थ का आदर पूर्वक अनुष्ठान भी किया है अतः उन सबों से वेद ग्रहण किया गया है। यह वेद अर्थ का बोध नहीं कराता अथवा अस्पष्ट रूप से कराता हो ऐसी बात भी नहीं, जिससे इसके अप्रामाणिकता की शंका की जाय, इसलिए भाष्य में कहा—'प्रदीपवत्सर्वार्थविद्योतिन: यह एक अच्छे दीपक के समान सभी अर्थों को प्रकाशित करता हुआ अनवबोध या अस्पष्ट बोधक नहीं हो सकता। इसलिए सर्वज्ञ कल्पस्य कहा—उनके सदृश सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वविषयक होता है। ऋग्वेदादि शास्त्र भी सर्वविषयक

है इसलिए वे सर्वज्ञ के सदृश हैं इस प्रकार "शास्त्र का कारण ब्रह्म है" इसे अन्वय (सत्ता) मुखेन प्रतिपादित कर व्यतिरेक (अभाव) मुखेन कह रहे हैं, 'न हीदृशस्येति' ऋग्वेदादि शास्त्र सर्वज्ञ-गुण-संवलित हैं सर्वज्ञ के गुण सर्व विषयता अर्थात् सर्ववस्तु विषयक ज्ञान से युक्त होना है. ऐसे शास्त्र को सर्वज्ञ परमात्मा को छोड़कर अन्य से उत्पत्ति, सम्भव नहीं है।

शाङ्कर-भाष्यम्

यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतो ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद् यस्मान्महतो भूताद् योनेः सम्भवः, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदः (बृह० २।४।१०) इत्यादि श्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। इति प्रथमवर्णकम्।

भामती

उक्तमर्थं प्रमाणयति—यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति स पुरुषविशेषस्ततोऽपि शास्त्रात् अधिकतरविज्ञान इति योजना। अद्यत्वेऽप्यस्मदादिभिर्यत्समीचीनार्थविषयं शास्त्रं विरच्यते तत्रास्माकं वक्तृणां वाक्याज्ज्ञानमधिकविषयम्। नहि ते तेऽसाधारणधर्मा अनुभूयमाना अपि शक्या वक्तुम्। न खल्विक्षुक्षीरगुडादीनां मधुर रसभेदाः शक्याः सरस्वत्या- प्याख्यातुम्। विस्तरार्थमपि वाक्यं न वक्तृज्ञानेन तुल्यविषयमिति कथयितुं विस्तरग्रहणम्। सोपनयं निगमनमाह—किमु वक्तव्यमिति। वेदस्य यस्माद् महतो भूताद् योनेः सम्भवः, तस्य महतो भूतस्य ब्रह्मणो निरतिशयं सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वं च किमु वक्तव्यमिति योजना। अनेकशाखेति। अत्र चानेक- शाखाभेदभिन्नस्येत्यादिः सम्भव इत्यन्त उपनयः। तस्येत्यादि सर्वशक्तित्वं चेत्यन्तं निगमनम्। अप्रयत्नेनैवेति। ईषत्प्रयत्नेन, यथाऽलवणा यवागूरिति। देवर्षयो हि महापरिश्रमेणापि यत्राशक्तास्तदयमीषत्प्रयत्नेन लीलयैव करोतीति निरतिशयमस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं चोक्तं भवति। अप्रयत्नेनास्य वेदकर्तृत्वे श्रुतिरुक्ता अस्य महतो भूतस्येति। येऽपि तावद् वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदवाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम्। आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णाः पदम्। पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्। व्यक्तिधर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः, वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चा- नित्येति कथं तद्रूपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या। पदा-

नित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता । तस्मान्नृत्तानुकरणवत् पदाद्यनुकरणम् । यथा हि यादृशं गात्रचलनादि नर्तकः करोति तादृशमेव शिक्ष्यमाणाऽनुकरोति नर्तकी, न तु तदेव व्यनक्ति । एवं यादृशीमानुपूर्वी वैदिकानां वर्णपदादीनां करोत्यध्यापयिता तादृशीमेवानुकरोत माणवको न तु तामेवोच्चारयति आचार्यव्यक्तिभ्यो माणवकव्यक्तीनामन्यत्वात् । तस्मा-न्नित्यानित्यवर्णवादिनां न लौकिकवैदिकपदवाक्यादिपौरुषेयत्वे विवादः, केवलं वेदवाक्येषु पुरुषस्वातन्त्र्या ।

'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' ।

तत्र सृष्टिप्रलयमनिच्छन्तो जैमिनीया वेदाध्ययनं प्रत्यस्मादृशगुरुशिष्य-परम्परामविच्छिन्नामनादिमाचक्षते । वैयासिकं तु मतमनुवर्तमानाः श्रुति-स्मृतीतिहासादिसिद्ध सृष्टिप्रलयानुसारेणानाद्यविद्योपधानलब्धसर्वशक्तिज्ञानस्यापि परमात्मनो नित्यस्य वेदानां योनेरपि न तेषु स्वातन्त्र्यम्, पूर्वपूर्व सर्गानुसारेण तादृशतादृशानुपूर्वीविरचनात् । तथाहिं यागादिब्रह्महत्यादयोऽर्थानर्थहेतवो ब्रह्मविवर्ता अपि न सर्गान्तरे विपरीयन्ते, नहि जातु क्वचित् सर्गे ब्रह्महत्या ऽर्थहेतुरनर्थ हेतुश्चाश्वमेधो भवति अग्निर्वा क्लेदयति, आपो वा दहन्ति, तद्वत् । यथाऽत्र सर्गे नियतानुपूर्व्यं वेदाध्ययनमभ्युदयनिःश्रेयसहेतु रन्यथा तदेव वाग्वज्रतयाऽनर्थ हेतुः एवं सर्गान्तरेष्वपीति, तदनुरोधात् सर्वज्ञो-ऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वपूर्वसर्गानुसारेण वेदान् विरचयन्न स्वतन्त्रः । पुरुषास्वा-तन्त्र्यमात्रं चापौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि, तच्चास्माकमपि समान-मन्यत्राभिनिवेशात् । न चैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास इति युक्तम्, नहि बहूनाम प्यज्ञानं विज्ञानां वाऽऽशयदोषवतां प्रतिभाने युक्त आश्वासः । तत्त्वज्ञानव-तश्चापास्त समस्त दोषस्यैकस्यापि प्रतिभाने युक्त एवाश्वासः । सर्गादिभुवां प्रजापति देवर्षीणां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नानामुपपद्यते तत्स्वरूपावधारणम्, तत्प्रत्ययेन चार्वाचीनानामपि तत्र सम्प्रत्यय इत्युपपन्नं ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वं, शास्त्रस्य चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यं चेति । प्रथमवर्णकम् ।

सुभद्रा—भाष्य में उक्त अर्थ को प्रमाणित कर रहे हैं—यद्यद् । जो भी शास्त्र विस्तार के लिए जिस पुरुष विशेष से बनाये जाते हैं, वह पुरुष विशेष उस शास्त्र से अधिक विज्ञान युक्त होता है, जैसे व्याकरणादि शास्त्र पाणिन्यादि प्रणीत है, उन शास्त्रों से अधिक विज्ञान विशिष्ट पाणिन्यादि लोक में प्रसिद्ध हैं । आज भी हम लोगों के द्वारा यथार्थ अर्थ को विषय करने वाला जो शास्त्र निर्मित होता है तो बनाने वाला का ज्ञान वक्ता के वाक्य के ज्ञान से अधिक विषय वाला है । ईख, दुग्ध गुड़ आदि की सामान्य

मधुरता का विभिन्न रूप मे विवेचन सर्वथा असम्भव है वह सरस्वती के भी वश की बात नहीं। शास्त्र में विस्तरार्थ विशेषण लघुकाय है जिसका ऐसे शास्त्र को बनाने वाले भले उस शास्त्र से अधिक विज्ञान युक्त हों परन्तु अतिविस्तृत महत्व विशिष्ट ऋग्वेदादि शास्त्र भगवद् ज्ञान के समान विषयक हैं अर्थात् भगवद् ज्ञान ऋग्वेदादि वर्णित विषयों से अधिक विषयक नहीं हैं जिससे कि उनमें सज्ञवंता सिद्ध हो ऐसी शंका के निवारण के लिए विस्तरार्थ विशेषण शास्त्र में दिया गया अर्थात् अति विस्तृत भी शास्त्र अपने निर्माता से स्वल्पविषयक विज्ञानवान होते हैं। निर्माता अधिक विज्ञान विशिष्ट होता है, इससे यह अनुमान सूचित हुआ। "ईश्वरः वेद विषयादधिक विज्ञानवान्, वेद कर्तृत्वात् यो यस्य कर्ता स तद्विषयादधिक विज्ञानवान्। यथा—पाणिन्यादि"। वेदः स्वविषयादधिकतर विज्ञानशक्तिमत प्रणीतः वाक्य प्रमाणत्वात पाणिन्यादि—शास्त्रवत्, वेदः स्वशक्तेःरधिकतर शक्तिमतो विवर्तः विवर्त्तत्वात् स्रकसर्पवत्। उक्त अनुमानादि ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध करते हैं। ईश्वर वेद वर्णित विषयों से अधिक विज्ञान वाला है। कर्त्ता होने से निर्माता अपने निर्मित विषय से अधिक विज्ञान युक्त होता है। जैसे पाणिन्यादि मुनि अपने निर्मित व्याकरणादि शास्त्र में वर्णित विषय से अधिक ज्ञानवान हैं उसी तरह ईश्वर भी वेद वर्णित विषयों से अधिक ज्ञानवाला है।

अब उपनय के साथ निगमन को कह रहे हैं। किमुवक्तव्यम्—अनेक[1] शाखाओं के भेद से विभिन्न देवता, तिर्यक् (पशुपक्ष्यादि) मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण और चारों आश्रम आदि के विभाग का हेतुभूत जो ऋग्वेदादि शास्त्र जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा के प्रयत्न के बिना ही लीला पूर्वक पुरुष के श्वांस के समान जो सबका कारण है उससे महाभूत उत्पन्न हुए हैं, यह उपनय है और उस महाभूत ब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का क्या कहना, जिससे बढ़कर कोई नहीं, यह निगमन है अप्रयत्नेन—यहाँ पर नञ अल्पार्थक है, अर्थात् कुछ प्रयत्न से। क्योंकि श्वांस लेने में भी कुछ प्रयत्न की अपेक्षा होती ही है। जैसे—"अलवणा यवागू" यवागू कम नमक वाली है। उसी तरह देवता और ऋषियों के द्वारा अथक परिश्रम से भी जो वेद निर्माण साध्य नहीं वही वेद परमात्मा के कौतुक मात्र से उत्पन्न होता है इससे उसकी निरतिशयता सर्वज्ञता

१. ऋग्वेद की २१ 'यजुर्वेद की १०९' सामवेद की सहस्र तथा अथर्ववेद की ५० शाखायें हैं।

एवंसर्वशक्ति, सत्ता सूचित होती है। परमात्मा अल्पप्रयत्न से ही वेद का निर्माण करता है इसमें श्रुति भी प्रमाण है।

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्" वेद उस महाभूत परमात्मा के निःश्वास हैं। जो पूर्व मीमांसक वर्णों को नित्य मानते हैं उनको भी पदवाक्यादि को अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि आनुपूर्वी के भेद से विभिन्न वर्ण समूह ही पद कहलाते हैं। इसी तरह आनुपूर्वी भेद-विशिष्ट पद समूह वाक्य हैं। इस प्रकार वर्णों के नित्य होने पर भी उनके उत्तर वर्णों की स्थितिरूप आनुपूर्वी के अनित्य होने से तद्विशिष्ट पद और वाक्य भी अनित्य हैं। नित्य और विभु (व्यापक) वर्ण में किसी देश या काल से पूर्वापर भाव न होने से आनुपूर्वी वर्ण का धर्म नहीं है किन्तु अभिव्यक्ति का धर्म है अर्थात् ध्वनि या वायु संयोग से जो वर्णों की अभिव्यक्ति होती है उसमें आनुपूर्वी रहती है। अभिव्यक्ति के अनित्य होने से उससे उपकृत (उपगृहीत) नित्य वर्णों के समूह रूप पद नित्य कैसे हो सकते हैं? पद के अनित्य होने से पद समूह वाक्य और महावाक्य भी अनित्य सिद्ध होते हैं अतः पदवाक्यादि के अनित्य होने से नृतनृत्यादि के अनुकरण की भाँति पदवाक्यादि का भी अनुकरण होता है। जैसे—जिस प्रकार कोई शिक्षा प्राप्त करने वाली नर्तकी किसी नृत्यकलाविद् के भावात्मक अंग संचालन का अनुकरण करती है न कि वही क्रिया करती है उसी प्रकार बालक भी अध्यापक से बताये गये वैदिक वर्ण या पद आदि की आनुपूर्वी का अनुकरण करता है, उच्चारण नहीं करता।

आचार्य के द्वारा की हुई वर्णों की अभिव्यक्ति से बालक द्वारा की हुई वर्णों की अभिव्यक्ति भिन्न है। इसलिए नित्य वर्ण को मानने वाले और अनित्य वर्ण को अङ्गीकार करने वालों में लौकिक अथवा वैदिक पद वाक्य के पौरुषेयत्व में विवाद नहीं। केवल वेद वाक्यों में पुरुष स्वतन्त्र है या नहीं, इसमें विप्रतिपत्ति है। कहा भी गया है वैदिक पद और वाक्य में पुरुषों की स्वतन्त्रता का प्रयत्नपूर्वक निषेध करना चाहिए। वहाँ पर जैमिनिमतानुसार "नहि कदाचिदनीदृशं जगत्" यह संसार कभी ऐसा नहीं रहा, यह नहीं, किन्तु सर्वदा ऐसा ही है, इस प्रकार सृष्टि का प्रलय न मानते हुए पूर्व-मीमांसक अनादि काल से वेदाध्ययन में हम लोगों के समान ही हैं। गुरु-शिष्य-परम्परा मध्य में विच्छिन्न न होने से अनादि है। अतः वेद किसी पुरुष विशेष के द्वारा रचित न होने से और उनकी अध्ययनाध्यापन की परम्परा अविच्छिन्न एवं अनादिकाल से प्रचलित होने से आनुपूर्वी (पूर्वापर क्रम विशिष्ट) वेद का ज्ञान इस समय भी संभव है।

भगवान व्यास के अनुयायी उत्तरमीमांसक (वेदान्ती) श्रुति-स्मृति इतिहास और पुराण के प्रमाण से सिद्ध सृष्टि के प्रलय को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गुरुशिष्य-परम्परा का प्रलय में विच्छेद होने पर भी सृष्टि के आदि में सर्वविषयक शक्ति और ज्ञान को प्राप्त, अनादि परमात्मा माया से उपहित होकर वेद का निर्माण करता है परन्तु वेदों का कारण होने पर भी वह उनकी रचना में पूर्व-पूर्व सृष्टि के अनुसार वैसी ही आनुपूर्वी विशिष्ट वेद की रचना करने से स्वतन्त्र नहीं है। आशय यह है कि पूर्व कल्प में वर्णों की जैसी आनुपूर्वी (पौर्वापर्य क्रम) था उसी प्रकार वर्तमान सृष्टि में भी परमात्मा बनाता है उससे भिन्न नहीं। इसी को "तथाहि" इत्यादि से पुष्ट कर रहे हैं। किसी भी सृष्टि में आनुपूर्वी की विभिन्नता उसी प्रकार नहीं देखी जाती जैसे पूर्व सृष्टि के बाद दूसरी सृष्टियों में भी याग और ब्रह्महत्यादि, जो क्रमशः कल्याण और अमंगल के कारण है, ब्रह्म विवर्त होने पर भी इनका विपरीत परिणमन (अश्वमेधादि से अमंगल तथा ब्रह्महत्यादि से मंगल) नहीं ही होता। जैसे कभी किसी भी सृष्टि में ब्रह्महत्या से मंगल क्या ? उसकी एक रेखा भी नहीं झलकती एवं अश्वमेध से अमंगल की संकीर्ण गली में नहीं उतरना पड़ता तथा अग्नि आर्द्रता एवं जल ताप को प्रदान नहीं करता उसी प्रकार सर्गान्तर में भी वेद में आनुपूर्वी-विभेद सर्वथा असम्भव है। अपि च इस सृष्टि में जिस आनुपूर्वी क्रम से नियत वेदाध्ययन मंगल और मोक्ष के कारण है वही विपरीत होने पर वाग्वज्र[1] होने से अनर्थ के कारण होते हैं उसी तरह अन्य सृष्टि में भी है। इसके अनुरोध से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भी परमात्मा पूर्व पूर्वकल्प के अनुसार ही वेद की रचना करता हुआ उसमें स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् पुरुष-बुद्धिपूर्वक वेद की रचना न होने से वेद में अपौरुषेयत्व है। जैमिनीय भी यही पुरुष की स्वतन्त्रता का न होना मात्र अपौरुषेयत्व स्वीकार करते हैं। वेद का बनाने वाला ईश्वर नहीं है यह उनका दुराग्रह है जो कि शास्त्र विरुद्ध है उसको हम वेदान्ती नहीं मानते किन्तु वेद की पुरुष बुद्धिपूर्वक रचना नहीं है इस अंश में उनका और हमारा साम्य है।

शंका—वेदान्ति मत में प्रलय स्वीकृत होने से संप्रदाय का विच्छेद होने से सृष्टि के आदि में वेद का प्रतिभान एकमात्र ईश्वर को ही होगा भला यह विश्वसनीय कैसे ?

---

१. शिक्षा में कहा गया है—मंत्रोहीनः स्वरतो वर्णतोवा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि प्रलय को अंगीकार न करने वाले, और सम्प्रदाय का विच्छेद न चाहने वाले पूर्व मीमांसकों के मत में भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवर्त्तक कारावादिक अनेक ऋषियों में विश्वास करने की अपेक्षा एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में ही विश्वास करना उपयुक्त है। परमेश्वर सर्वज्ञ नहीं है यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि विना सर्वविषयक ज्ञान के वह संसार के उद्भव, पालन और विनाश का कारण ही नहीं हो सकता। अतः तत्साधक युक्तियों से अनुगृहीत "यः सर्वज्ञः स सर्ववित" इत्यादि श्रुति-प्रमाण से उसमें सर्वज्ञता सिद्ध है इस प्रकार उस परमात्मा से विरचित वेद मे विश्वास होना युक्त है। इसी को भामती में 'न चैकस्य प्रतिभानेऽनाश्वास" इत्यादि पद-सन्दर्भ से कहा है—किसी एक को ही सृष्टि के आदि में वेद प्रतिभान स्फूर्त हुआ इसमें क्या विश्वास ? यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि भ्रमप्रमादादि दोष से दूषित हृदय वाले अज्ञानियों मे विश्वास करने की अपेक्षा एकज्ञानी पुरुष मे ही विश्वास करना उचित है जिसमें उक्त दोषों का स्पर्श नहीं। अर्थात् भ्रमप्रमाद आदि सम्पूर्ण दोष का लेशमी जिसमें नहीं रहता। इस तरह सृष्टि के प्रारंभ में प्रादुर्भुत धर्मज्ञान वैराग्यऐश्वर्य युक्त प्रजापति आदि देवर्षियों में उसके स्वरूप का निश्चय युक्त है। उनमें विश्वास होने से आधुनिक जनों मे भी उस पर विश्वास होना सिद्ध होता है अतः ब्रह्म शास्त्र का कारण है और बुद्धि पूर्वक विरचित न होने से वह अपौरुषेय है और अनपेक्ष होने से उसमें स्वतः प्रामाण्य है। यह सिद्ध हुआ।

॥ यह शास्त्र योनित्वाधिकरण का प्रथम वर्णक समाप्त ॥

शाङ्कर-भाष्यम्

अथवा—यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्माधिगम्य इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम् ? यावता पूर्वसूत्र एवैवं-जातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यनुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्यमि-त्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्त्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते—शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

इति तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्।

भामती

वर्णकान्तरमारभते—अथ वेति। पूर्वेणाधिकरणेन ब्रह्मस्वरूप लक्षणासम्भवाशंकां व्युदस्य लक्षणसम्भव उक्तः; तस्यैव तु लक्षणस्यानेनानुमानत्वाशंकामपाकृत्यागमोपदर्शनेन ब्रह्मणि शास्त्रं प्रमाणमुक्तम्। अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः ॥ ३ ॥

इति तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्।

सुभद्रा—अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र ही जिस ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञान में योनि (प्रमाण) है अर्थात् शास्त्र प्रमाण से ही जगत के उत्पत्त्यादि का कारण ब्रह्म जाना जाता है। पूर्व सूत्र में शास्त्र उदाहृत है, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" जिससे यह सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है फिर इस सूत्र की क्या आवश्यकता? इसका निर्देश कर रहे हैं वहाँ पर पूर्व सूत्र के वर्णों से शास्त्र का स्पष्ट ग्रहण नहीं है अतः जगत का केवल जन्म, पालन और विनाश रूप अनुमान ही उपन्यस्त है ऐसी आशंका न हो उसको निवृत्त करने के लिए यह सूत्र शास्त्र योनित्वात् कहा गया।

पूर्व जन्माद्यधिकरण से ब्रह्म का लक्षण असम्भव है ऐसी आशंका को दूर कर लक्षण सम्भव है यह कहा गया, उसी लक्षण का अनुमान में ही तात्पर्य है तो ब्रह्म केवल अनुमान सिद्ध है ऐसी आशंका को दूर करके शास्त्र को दिखला कर ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है यह प्रदर्शित किया।

शास्त्रयोनित्वाधिकरण समाप्त।

———

समन्वयाधिकरणम् । सू० तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है यह पूर्व सूत्र से वर्णित किया—तो ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणकम्—ऐसी प्रतिज्ञा सिद्ध हुई । उसमे हेतु नहीं प्रदर्शित किया तो इस सूत्र से वह कहना चाहिए, अर्थात् युक्ति से सिद्ध करना चाहिए । ब्रह्म शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध है क्योंकि उसी में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का समन्वय अर्थात् तात्पर्य है । यह सूत्रार्थ है ।

भाष्य

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता, आम्नायस्य क्रियार्थ-त्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्, (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रद-र्शितम् । अतो वेदान्तानामानर्थक्यं, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाश-नार्थत्वेन वा, क्रियाविधिशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा नहि परिनिष्ठितवस्तु प्रतिपादनं सम्भवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठित-वस्तुनः तत्प्रतिपादनेच हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अतएव सोऽ-रोदीत् इत्येवमादीनामानर्थक्यं माभूदिति विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीस्तानांस्युः (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्वमुक्तम् । मन्त्राणां च इषेत्वा इत्यादीनां क्रिया तत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्व मुक्तम् न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा । न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपेविधिः सम्भवति क्रियाविषयत्वाद्विधेः । तस्मात्कर्मापे-क्षित कर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रक-रणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते तत्तु समन्वयात् ।

भामती

शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं ब्रह्मणः प्रतिज्ञामात्रेण तदनेन सूत्रेण प्रतिपादनीय मित्युत्सूत्रं पूर्वपक्षमारचयति भाष्यकारः—कथं पुनरिति । किमाक्षेपे । शुद्ध-बुद्धमुक्तोदासीनस्वभावतयोपेक्षणीयं ब्रह्म भूतमभिदधतां वेदान्तानामपुरुषा-र्थोपदेशिनाम प्रयोजनत्वापत्तेः भूतार्थत्वेन च प्रत्यक्षादिभिः समान-विषयतया लौकिकवाक्यवत् तदर्थानुवादकत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न खलु लौकिकानि वाक्यानि प्रमाणान्तरविषयमर्थमवबोधयन्ति स्वतः प्रमाणम्, एवं वेदान्ता अपीत्यनपेक्षत्वलक्षणं प्रामाण्यमेषां व्याहन्येत । न च तैरप्रमाणै र्भवितुं युक्तम्, न चाप्रयोजनैः स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवत्व नियमात् । तस्मात्तत्तद्विहितकर्मापेक्षित कर्तृदेवतादि प्रतिपादनपरत्वेनैव क्रियार्थ-

त्वम्। यदि स्वसन्निधानात्तत्परत्वं न रोचयन्ते ततः सन्निहितक्रियोपासना-विपरत्वं वेदान्तानाम्। एवं हि प्रत्यक्षाद्यनधिगतगोचरत्वेनानपेक्षतया प्रामाण्यं प्रयोजनवत्वंच सिध्यतीति तात्पर्यार्थः।

सुभद्रा—ब्रह्म में शास्त्र प्रमाणकत्व कहा गया, अर्थात् ब्रह्म शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है। ऐसी प्रतिज्ञा[1] सिद्ध हुई परन्तु उसमें हेतु प्रदर्शन नहीं किया। (केवल प्रतिज्ञा मात्र से अभीप्सित अर्थ की सिद्धि नहीं होती) जबतक उसमें हेतु न कहा जाय वह उक्त सूत्र से प्रतिपाद्य है। अतः सूत्र के बाहर ही पूर्वपक्ष की रचना भाष्यकार करते हैं। ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण कैसे, क्योंकि सम्पूर्ण वेद क्रिया परक है, अर्थात्, विधिनिषेधात्मक हैं, अतः जो भाग क्रिया परक नहीं है, वह अनर्थक है, अर्थात् निष्प्रयोजन है, यह जैमिनि मुनि-का मत है। आम्नायस्य इत्यादि सूत्र का यह अर्थ है। भाष्य में कथं शब्द है, (जिसका अर्थ किस प्रकार से होता है) ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है ऐसा मानने वाले पूर्व पक्षी को किस प्रकार से ऐसी जिज्ञासा संभव नहीं है। इसलिए यहाँ पर थमु प्रत्यय का अर्थ प्रकार अविवक्षित है केवल प्रकृत्यर्थ ही विवक्षित है। किम् शब्द का अर्थ यहाँ पर आक्षेप, निषेध है। किम् शब्द के चार अर्थ होते हैं, कुत्सित निन्दा, आक्षेप, निषेध, प्रश्न, पूछना, वितर्क, विकल्प, जैसा कि अभियुक्तों ने कहा भी है, कुत्सितेचाप्याक्षेपे तथा प्रश्न वितर्कयोः। किं शब्द प्रवृत्तिः स्यादेव मर्थ चतुष्टये॥ तो यहाँ पर निषेधार्थक किम् शब्द है, अर्थात् ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि शुद्ध बुद्ध उदासीन स्वभाव होने से ब्रह्म उपेक्षा के योग्य है हेय, त्यागने के योग्य, उपादेय, ग्रहण करने के योग्य नहीं है। वेदान्त वाक्य सिद्ध ब्रह्म रूप वस्तु को कहते हैं जिससे कि पुरुषार्थ सिद्धि संभव नहीं है तो अपुरुषार्थ का उपदेश करने वाले वेदान्त वाक्य प्रयोजन शून्य है। और सिद्ध वस्तु के बोधक होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान विषयक होने से लौकिक वाक्यों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध अर्थ के अनुवादक होने से अप्रामाणिक हो जायंगे। आशय यह है कि, पूर्वमीमांसा के रचयिता जैमिनि मुनि अक्रियार्थक, वाक्यों को अनर्थक मानते हैं क्योंकि सम्पूर्ण वेदों के प्रयोजन का पर्यवसान क्रिया में ही होने से उनमें क्रियार्थकता अवश्य होनी चाहिए, वेदान्त वाक्य सिद्ध ब्रह्म के बोधक होने से क्रियार्थक नहीं है इसलिए उनमें निष्प्रयोजनत्वापत्ति दोष है। और वे सिद्ध वस्तु के बोधक हैं लोक में सिद्ध वस्तु के बोधक वाक्य जैसे घट पट आदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के

१. साध्यविशिष्ट पक्षबोधक वाक्य को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे पर्वतो वह्निमान्। यहाँ पर साध्य वह्नि, तद्विशिष्ट पक्ष पर्वत है, अतः तद्बोधक वाक्य प्रतिज्ञा है।

विषय इष्ट है, वेदान्त वाक्य भी तत्तुल्य हैं इसलिए उनके समान विषयक होने से, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध वस्तु का बोधक होने से केवल अनुवादक ही होंगे। अनुवादक वाक्यों में स्वतः प्रामाण्य नहीं रहता। अनधिगत, जो पहिले से ज्ञात न हो, और अबाधित, जिसका उत्तर ज्ञान से बाध न हो ऐसा जो अर्थ तद्विषयक ज्ञान को उत्पन्न करना ही प्रमाणों का प्रामाण्य है। वेदान्त-वाक्य प्रमाणान्तर सिद्ध वस्तु के बोधक होने से अनुवादक है इसलिए प्रमाणान्तर से अधिगत होने से उनमें प्रामाण्य नहीं है।

विशेष—यद्यपि ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तथापि, क्रिया रहित होने से सिद्ध होने के कारण उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण के विषयत्व की संभावना है, उसके बोधक वेदान्त वाक्य हैं, अतः वे अप्रमाण हैं। जैसा कि यह अनुमान है, ब्रह्म बोधका वेदान्ताप्रमाणम्, मानान्तरयोग्यत्वेसति मानान्तरानुपलभ्यस्यब्रह्मणो बोधकत्वात्, यथा स्पर्श योग्यस्य स्पर्शानुपलभ्यस्य चित्रगत निम्नोन्नतभावबोधकं चाक्षुषज्ञानम् ब्रह्म के बोधक वेदान्त वाक्य प्रमाण नहीं हैं, अन्य प्रमाण के विषय की योग्यता से विशिष्ट होकर अन्य प्रमाण से अरुद्ध ब्रह्म का बोध कराने से, जैसे स्पर्श के योग्य होने पर भी स्पर्श से उपलब्ध न होता हुआ चित्र में प्रदर्शित निम्न (निचाई) उन्नत (ऊँचाई) का ज्ञान कराने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष अप्रमाण हैं। इसी तरह से सिद्ध वस्तु भूत ब्रह्म शब्द से अतिरिक्त प्रमाण से जानने के योग्य है किन्तु वह केवल वेदान्त वाक्य रूप शब्द से ही जाना जा रहा है इसलिए वह भी अप्रमाण है। हेतु में मानान्तर योग्यत्वविशेषण ब्रह्म में, असिद्ध है ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म मानान्तर योग्यम् परिनिष्ठित वस्तुत्वात्, घटादिवत्, ब्रह्म अन्य प्रमाण के योग्य है, सिद्ध वस्तु होने के कारण, घटादि के समान, जैसे घटादि सिद्ध होने से उनमें प्रत्यक्षादि प्रमाण की योग्यता है उसी तरह से सिद्ध होने से ब्रह्म मे भी है, इस अनुमान से ब्रह्म में मानान्तर योग्यत्व सिद्ध होने से हेतु घटक, विशेषण की असिद्धि का परिहार हो जाता है। और पुरुषार्थ शून्य होने से भी वेदान्तवाक्य अप्रमाण हैं क्योंकि सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति ही मुख्य पुरुषार्थ है वे दोनों सिद्ध न होने से ग्रहण और त्याग विषयक हैं, क्रिया का अङ्ग न होने से सिद्ध वस्तु में ग्रहण और त्याग संभव नहीं है।

लौकिक वाक्य अन्य प्रमाण से सिद्ध अथवा जिसमें अन्य प्रमाण से सिद्ध होने की योग्यता हो ऐसे अर्थ का बोध कराते, हुए स्वतः प्रमाण नहीं है। इसी तरह वेदान्त वाक्य भी है इसलिए अन्य की अपेक्षा न रखने वाला स्वतः प्रामाण्य नहीं रह सकता। और उनमें अप्रमाणिकता और प्रयोजन शून्यता युक्त

नहीं है। क्योंकि स्वाध्यायाध्ययनविधि से उनमें प्रयोजन का होना सिद्ध होता है।

अभिप्राय यह है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययन विधि स्वाध्याय पद वाच्य सम्पूर्ण वेदराशि के अध्ययन का विधान करती है, उसके अन्तर्गत वेदान्त भी आते हैं। यदि वे, अप्रामाणिक और निष्प्रयोजन होगें तो उनका अध्ययन निरर्थक होगा, उक्त विधि से उनका भी अध्ययन प्राप्त है, इसलिए उनमें अप्रामाणिकता और निष्प्रयोजनता युक्त नहीं है। अतः विधिवाक्यबोधित याग हवन, दानादि-क्रियाओं में अपेक्षित कर्ता और देवता को प्रकाशित करने से वेदान्तवाक्य क्रियार्थक हैं अर्थात् विधिवाक्य के अङ्गभूत हैं। (विशेष) पूर्वोक्त सन्दर्भ से वेद के क्रियार्थक होने से अक्रियार्थक, वेदान्तवाक्य, अनर्थक न हों इसलिए उनको अर्थवाद वाक्य के समान, विधि वाक्य का ही अङ्गमान कर तत्परक ही मानना युक्त है। विधि वाक्य में यज्ञादि का विधान है। याग के दो रूप हैं, द्रव्य और देवता. और यागादि क्रिया को कर्ता की अपेक्षा होती है। क्रिया कर्ता के बिना निस्पन्न नहीं हो सकती, तो जो वेदान्त वाक्य जीव के बोधक हैं, जैसे योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त ज्योतिः, इत्यादि वे जीवरूपकर्ता को प्रकाशित करते हैं। और ब्रह्म बोधक सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि वाक्य याग स्वरूप में अपेक्षित देवता को प्रकाशित करते हैं। अर्थात् जीवकर्ता है और ब्रह्म, (ईश्वर) याग का देवता है। यह, अङ्गीकार होने से उनमें प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है।

यदि यागादि अन्य प्रकरण में, अर्थात् कर्म कांड के प्रकरण में कहे गए हैं। और वेदान्त वाक्य दूसरे प्रकरण में, ज्ञान कांड के, प्रकरण में कहे गए हैं तो उनका सन्निधान 'सामीप्य' न होने से, वे कैसे क्रिया परक होगें ऐसी यदि शंका हो तो सन्निहित उपासनादिक्रिया के बोधक वेदान्त हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण से, अज्ञात ब्रह्म विषयक उन वेदान्त वाक्यों के होने से, प्रत्यक्षादि की अपेक्षा न करने से उनमें निरपेक्ष प्रामाण्य और प्रयोजन वत्ता सिद्ध होता है। यह पूर्व पक्षी का तात्पर्य भाष्यकार में अनूदित किया।

भामती

पारमर्षसूत्रोपन्यासस्तु पूर्वपक्षदाढ्याय आनर्थक्यं चाप्रयोजनवत्वं सापेक्षतया प्रमानुत्पादकत्वं चानुवादकत्वादिति। अतः इत्यादिकान्तं भाष्य-कवाक्यम्। अस्य विभागमाष्यं नहि इत्यादि उपपन्नावा इत्यन्तम्। स्यादे-तत्—अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपविधिपरा वेदान्ता भविष्यन्ति तथा च

विधिनात्वेकवाक्यत्वात्—इतिराद्धान्तसूत्र मनुग्रहीष्यते । न खल्वप्रवृत्त-प्रवर्त्तनमेव विधः उत्पत्तिविधेरज्ञातज्ञापनार्थत्वात्, वेदान्तानांचाज्ञातं ब्रह्म ज्ञापयतां तथाभावादित्यत आह—न च परिनिष्ठित इति । अनागतोत्पाद्य-भावविषय एव हि सर्वोविधिरूपेयः) अधिकारिविनियोगप्रयोगोत्पत्तिरूपाणां परस्पराविनाभावात्, सिद्धे च तेषामसम्भवात् तद्वाक्यानां स्वैदम्पर्यं भिद्यते । यथा अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः इत्यादिभ्योऽधिकारिविनियोग प्रयोगाणां प्रतिलम्भात् अग्निहोत्रं जुहोति इत्युत्पत्तिमात्रपरं वाक्यम् न त्वत्र विनियोगा-दयोन सन्ति सन्तोऽप्यन्यतो लब्धत्वात् केवलमविवक्षिताः । तस्मात् भावना-विषयोविधिर्न सिद्धेवस्तुनि भवितुमर्हतीति । उपसंहरति—तस्मादिति । अत्रारुचिकारणमुक्त्वा पक्षान्तरमुपसंक्रामति—अथेति । एवं च सत्युक्तरूपे ब्रह्मणि शब्दस्यतात्पर्यात् । प्रमाणान्तरेण यादृशमस्य रूपं व्यवस्थाप्यते न तच्छब्देन विरूध्यते, तस्योपासनापरत्वात्, समारोपेण चोपासनाया उपपत्ते-रिति । प्रकृत मुपसंहरति—तस्मान्नेति । सूत्रेणसिद्धान्तयति एवं प्राप्त उच्यते—तत्तु समन्वयात् ॥ तदेतत् व्याचष्टे ।

सुभद्रा—पारमर्ष सूत्र-परम ऋषि प्रणीत, अर्थात् जैमुनिमुनि रचित आम्नाय सूत्रका उपन्यासतो पूर्णपक्ष को दृढ़ करने के लिए है । आनर्थक्य शब्द का अर्थ, (अर्थ का न होना है), वेदान्त वाक्यों से भी अर्थ प्रतीत होता है—इसलिए अर्थ का न होना युक्त नहीं है—अतः भामती में आनर्थक्य-अर्थात् अर्थयानी प्रयोजन का न होना कहा ।

सापेक्ष होने से प्रमा को उत्पन्न वेदान्त वाक्य नहीं करेंगे क्योंकि वे अनुवादक हैं ।

भाष्य में, अतो वेदान्तानामानर्थक्यं—यह कहा फिर नहि परिनिष्ठित वस्तु प्रतिपादनं संभवति इस वाक्य से, उसी को कह रहे हैं, इसलिए पुनरुक्ति दोष है, ऐसी शंका के होने पर भामती में कहा अतइत्यादि वान्त ग्रहणक वाक्यम् । अतः से लेकर उपासनादि क्रियान्तर विधानार्थ त्वावा-पर्यन्त भाष्य संक्षिप्तार्थ प्रतिपादक है । उसी का विभागभाष्य, अर्थात् विस्तृत विवरण, नहि इत्यादि से लेकर, उपपन्ना वाएतत्पर्यन्त है ।

शंका—(भामती में स्यादेतत् इत्यादि से) यद्यपि वेदान्त वाक्य सिद्ध वस्तु के बोधक होने से क्रिया परक नहीं है, तथापि ब्रह्म के स्वरूप बोधक होने से उत्पत्ति विधि परक वेदान्त हो जायंगे तो उस प्रकार से, विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः, (जै सू अ० १। पा० २।सू० ७।) यह सिद्धान्त सूत्र, भी अनुगृहीत होगा । आशय यह है कि आम्नायस्य

इत्यादि सूत्र से, वेद क्रिया परक हैं, जो क्रिया परक नहीं है वे अनर्थक हैं, यह कहा गया, तो अर्थवाद वाक्य क्रियार्थक न होने से अनर्थक यानी प्रयोजन शून्य हैं जिससे कि, अप्रामाणिक हैं ऐसी शंका होने पर उक्त-सिद्धान्त सूत्र कहा गया। (जिसका अर्थ) विधिवाक्य के साथ अर्थवाद वाक्यों की एक वाक्यता होने से विधि के स्तुति रूप अर्थ से वे प्रयोजन सहित हैं। तो वेदान्त वाक्य भी सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, इत्यादि ब्रह्म के स्वरूप के बोधक होने से उत्पत्ति विधि परक होगें, अन्यवाक्य विधेय ब्रह्म के स्तुति परक होने से उपयुक्त होंगे। इस तरह से उक्त सिद्धान्त सूत्र का अनुग्रह भी हो जायगा।

(विशेष विधि चार प्रकार की होती हैं)।—उत्पत्ति विधि २—विनियोग विधि, ३—प्रयोग-विधि, ४—अधिकार-विधि जो केवल कर्म के स्वरूप मात्र का बोध कराती वह उत्पत्ति विधि है। जैसे अग्निहोत्रं जुहोति अग्नि होत्र करना यहाँ केवल कर्म के स्वरूप का बोध होता है।

अङ्ग और प्रधान मूल अङ्गी उनके सम्बन्ध को बोध कराने वाली, विनियोग विधि है। जैसे दध्नाजुहोति, दही से हवन करता है, प्रधानभूत हवन के साथ उसके अङ्ग भूत दधि के करणत्व सम्बन्ध का बोध उक्त वाक्य से होता है इसलिए वह विनियोग विधि है। अङ्ग सहित प्रधान कर्म में अनुष्ठान का बोध कराने वाली विधि प्रयोग विधि है। यह अङ्ग वाक्यों के साथ एक वाक्यता को प्राप्त हो कर प्रधान विधि है। जैसे प्रयाजादि अङ्ग-भूत, वाक्यों के साथ एक वाक्यता को, प्राप्त दर्शपूर्ण मास से स्वर्ग चाहने वाला याग करे, इस अर्थ का बोधक वाक्य दर्श पूर्ण मासाभ्यां स्वर्ग कामोयजेत, आदि, प्रधान विधि हैं। स्वर्गादि जो यागादि के फल हैं उनके स्वामित्व का बोध कराने वाली विधि, अधिकार विधि है। जैसे (अग्निहोत्र जुहयात्स्वर्गकाम, स्वर्ग चाहने वाला पुरुष अग्नि होत्र करे, स्वर्ग प्राप्त रूप फल का अग्नि होत्र में अधिकृत पुरुष के स्वामित्व संबन्ध का बोध कराने से उक्त विधि, अधिकार विधि है।

इस तरह से उक्त चार विधिओं में ब्रह्म के स्वरूप का बोधक होने से उक्त, वेदान्त वाक्य उत्पत्ति विधिपरक होगे शेष अर्थवाद के समान स्तुतिपरक होने से उसके साथ एक वाक्यता को प्राप्त होकर अर्थवान् होंगे।

शंका—विधिवाक्य प्रवृत्ति के जनक होते हैं, जैसे लोक में जलमानय इत्यादि वाक्य, जलानयन में प्रवृत्ति कराते है। वेदान्त वाक्यतो, सिद्ध ब्रह्म के बोधक होने से

प्रवृत्त नहीं कराते तो वे विधिवाक्य कैसे होंगे। समाधान भामती में (नखल्वप्रवृत्त प्रवर्तनमेव विधिः आदि से) जो प्रवृत्त नहीं है उनको किसी कार्य में नियुक्त करना ही विधि नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति विधि जो ज्ञात नहीं है। उसको जनाने के लिए होती है। वेदान्त वाक्य भी अज्ञात ब्रह्म का ज्ञापन करने से स्वरूप विधि हो सकते हैं। (इसलिए भाष्य में नचपरिनिष्ठिते वस्तु स्वरूपे विधि इत्यादि कहा गया। सिद्ध वस्तु में विधि सम्भव नहीं है क्योंकि विधि क्रिया विषयक है। इसी का व्याख्यान भामतीकार अनागत इत्यादि से कर रहे हैं। सम्पूर्ण विधिवाक्य क्रिया को विषय करते हैं, क्रिया साध्य स्वभाव होती है, जिससे कि वह उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न करने के योग्य है, क्योंकि वह अनागत, अप्राप्त है।

शंका--यदि सम्पूर्ण विधिवाक्य क्रियापरक हैं, तो केवल अधिकार वाक्य स्वर्ग कामोयजेत ही विधि होगी। कम स्वरूप को बोध करानेवाला अग्निहोत्र जुहोति आदि वाक्य विधि कैसे होंगे।

समाधान---अधिकारविधि विनियोग विधि प्रयोगविधि और उत्पत्ति-विधि इन चारों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से, अर्थात् कोई एक विधि अन्य तीन विधि के बिना स्थिति को लाभ नहीं कर सकती। क्योंकि अधिकार है क्रिया के साथ पुरुष का अभिलषित सम्बन्ध जनाना। विनियोग क्रियाफल का अङ्ग है यह जनाना, प्रयोग अनुष्ठान करना है, उत्पत्ति कर्म के स्वरूप का बोध कराती है। तो अधिकार विधि क्रिया का फल के साथ सम्बन्ध का ज्ञान (क्रियाफल का अङ्ग है) इस ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, और उसका ज्ञान अनुष्ठानरूप प्रयोग के बिना नहीं हो सकता, अनुष्ठान कर्म के स्वरूप ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, इस तरह से उन सबका परस्पर अविनाभाव सिद्ध होता है। जो वस्तु सिद्ध है उसमें उक्त विधियाँ असम्भव हैं, क्योंकि सिद्ध वस्तु में पुरुष के व्यापार की अपेक्षा नहीं होती, यदि उनकी अपेक्षा न करके सिद्ध वस्तु फल को उत्पन्न करें, तो हमेशा फल उत्पन्न होने लगेगा। इसलिए अधिकारादि विधि सिद्ध में नहीं हो सकती।

यदि सबका अविनाभाव है तो सबमें चतुर्विधरूपता सिद्ध होती है, तो फिर यह उत्पत्ति विधि है, यह अधिकार विधि है इत्यादि भेद मूलक व्यवहार कैसे ऐसी शंका होने पर भामती में कहा गया, तद्वाक्यानां त्वैदम्पर्यं भिद्यते, उन-उन वाक्यों का तात्पर्य भिन्न-भिन्न है। दृष्टान्त, जैसे अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र करे, स्वर्गकामी पुरुष का अग्निहोत्र में अधिकार है यह अधिकार और स्वर्ग रूप फल के साथ सम्बन्ध यह विनियोग और उसका अनुष्ठान और अग्निहोत्र के स्वरूप का ज्ञान इन सबों की उपलब्धि होने से, सब

विधियों में उत्पत्यादि प्रतीत होते हैं। अग्निहोत्रं जुहुयात्, यहाँ पर भी अग्निहोत्र से इष्ट की भावना करे यह अर्थ प्रतीत होता है। अग्निहोत्र फल न होने से साध्य नहीं है, किन्तु इष्ट स्वर्ग प्राप्ति ही साध्य है, और न तो अग्निहोत्र के स्वरूप की सत्ता ही जानने का विषय है वैसा मानने पर अग्निहोत्र हुआ, अग्निहोत्र होता है, होगा इत्यादि प्रयोगों की आपत्ति होगी तो विधि का उच्छेद हो जायगा। इसलिए अधिकार विधि से प्राप्त विनियोगादि का अनुवाद करके उत्पत्ति विधि स्वरूपमात्र का ज्ञान कराती है। स्वरूपविधि में विनियोगादि नहीं प्रतीत होते यह बात नहीं किन्तु अवश्य अपेक्षित होने से प्रतीत होते हैं, (नञ्द्वय के ग्रहण से दृढ़ता सूचित होती है) अर्थात् विनियोगादि की सत्ता अवश्य है, किन्तु रहने पर भी उनका लाभ अन्य से होने के कारण उनकी विवक्षा नहीं है। सिद्ध ब्रह्म के नित्य होने से उसमे उत्पन्न होने की योग्यता नहीं है जिससे कि भावना उसमें हो इसलिए विनियोगादि का अनुवाद भी सम्भव नहीं है इसलिए उत्पत्ति विधि भी वहाँ नहीं हो सकती। इस कारण से, सत्यं ज्ञानम् इत्यादि ब्रह्म स्वरूप बोधक वाक्य उत्पत्ति विधिपरक नहीं है, इसलिए स्वर्ग कामोयजेत इत्यादि विधि वाक्यों से विधीयमानयागादि कर्म मे अपेक्षित देवता के स्वरूप को प्रकाशित करने से ही सार्थक हैं। एवं योऽयंविज्ञानमयः इत्यादि जीव स्वरूप बोधक वाक्य, उक्त कर्म में अपेक्षित कर्ता के स्वरूप के बोधक होने से सार्थक हैं। तो कहीं पर कर्ता के कहीं पर देवता के प्रकाशक ही सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य हैं इसलिए विधि के अङ्गभूत हैं यह पूर्व पक्षी का आशय है। इस पक्ष में अरुचिका कारण भाष्यकार बतलाकर अन्य पक्ष उपस्थित करते हैं। अरुचि का कारण अन्य प्रकरण है, अर्थात कर्म कांड के प्रकरण में विधि वाक्य पठित है, ज्ञानकांड के प्रकरण में ब्रह्म और जीव के स्वरूप बोधक वाक्य हैं तो विधि के अङ्ग कैसे होंगे इसलिए सन्निहित उपासनादिपरक वेदान्तवाक्य हैं। इस तरह वेदान्त वाक्यों के उपासनापरक होने से सिद्ध वस्तु स्वरूपपरक वेदान्त वाक्य नहीं है जिससे कि अन्य प्रमाणों से विरोध हो अर्थात् अनुमान से जगत्कारणता सर्वज्ञ ईश्वर में सिद्ध होती है, जो कि अल्पज्ञ जीव में संभव नहीं है। वेदान्तवाक्य यदि जीव ब्रह्म के अभेद परक हों तो उनका अनुमान प्रमाण से विरोध होगा। उपासनापरक मानने से विरोध नहीं है, क्योंकि उपासना तो वाचं धेनुमुपासीत यहाँ पर जैसे वाणी मे धेनुत्व का आरोप करके होती है वैसे ही जीव में ब्रह्म दृष्टि का आरोप करके भी सम्भव है इसलिए भेदग्राही प्रमाणों का विरोध नहीं है। भाष्य में प्रकृत प्रकरण प्राप्त विषय का तस्मान्न इत्यादि से उपसंहार कर

रहे हैं, अर्थात् उक्त कारण से ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर तत्तु समन्वयात् इस सूत्र से सिद्धान्त कर रहे हैं।

भाष्य

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद्ब्रह्म सर्वज्ञंसर्वशक्ति, जगदुत्पत्तिस्थिति-लयकारणम्वेदान्त शास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? समन्वयात्। सर्वेषुहि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम् (छा० ६।२।१)। आत्मावा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐत० २।१।१।१) तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर मनन्तर मबाह्यम्, अयमात्मा, ब्रह्म, सर्वानुभूः। वृह० (२।५।१९) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् मुंड० (२।२।११) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुत कल्पना प्रसङ्गात्। नच तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, तत्केनकं पश्येत् (वृह० २।४।१३) :इत्यादि क्रियाकारक फलनिराकरणश्रुतेः। नचपरिनिष्ठितवस्तु-स्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः तत्त्वमसि (छान्दो० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मत्वस्य शास्त्रमन्तरेणा नवगम्य मानत्वात्।

भामती

तु शब्द इति। तदित्युत्तर पक्षप्रतिज्ञां विभजते—तद्ब्रह्मेति। पूर्वपक्षी कक्षाशयः पृच्छति—कथम्। कुतः प्रकारादित्यर्थः। सिद्धान्ती स्वपक्षेहेतुं प्रकारभेद माह—समन्वयात्। सम्यगन्वयः समन्वयस्तस्मात्। एतदेव विभ-जते—सर्वेषुहि वेदान्तेष्विति। वेदान्ताना मैकान्तिकीं ब्रह्मपरतामाचिख्यासु-र्बहूनि वाक्यान्युदाहरति—सदेवेति। यतावा इमानिभूतानि इति तु वाक्य-पूर्णं मुताहृतं जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमिति चेहस्मारित मिति न पठितम्। येनहि वाक्यमुपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते तदेव वाक्यार्थ इति शाब्दाः।

यथोपांशुयाजवाक्येऽनूचोः पुरोडाशयोर्यामितादोषसंकीर्तनपूर्वको पांशुयाजविधाने तत्प्रतिसमाधानेतत्प्रतिसमाधानोपसंहारे चापूर्वोंशुयाजकर्म विधिपरता एकवाक्यतावलादाश्रिता, एवमत्रापि सदेव सोम्येदम् इति ब्रह्मोप-क्रमात् तत्त्वमसि इति च जीवस्य ब्रह्मात्मनोपसंहारात् तत्परतैव वाक्यस्य। एवं वाक्यान्तराणामपि पौर्वापर्यालोचनया ब्रह्मपरत्व मवगन्तव्यम्। नच, तत्परत्वस्य दृष्टस्य सति संभवेऽन्यपरताऽदृष्टा युक्ता कल्पयितुम्, अतिप्रसङ्गात्।

सुभद्रा—उसकी व्याख्या कर रहे हैं भाष्यकार सूत्र में तु शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए है वह ब्रह्म जो कि, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् और जगत् के उत्पत्ति और लय का कारण है वह वेदान्त शास्त्र से ही जाना जाता है। तत् यह

उत्तर पक्ष के प्रतिज्ञा का विभाग कर रहे हैं। उत्तर पक्ष की प्रतिज्ञा, (ब्रह्म शास्त्र प्रमाणकम्), इत्यादिकारक है। पूर्व पक्षी कठोर आशय युक्त होकर पूंछता है, कैसे, सिद्धान्ती अपने पक्ष में हेतु प्रकार भेद को कहता है समन्वयात्, समन्वय होने से सम्यक जो अन्वय, यानी तात्पर्य उस के होने से अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तों का उसी समस्तधर्मशून्य ब्रह्म में तात्पर्य होने से। तात्पर्य विषयीभूत जो अर्थ उसके अविरोधी अर्थ का प्रतिपादन करना ही समन्वय है। (अथवा अन्यवाक्यों से विलक्षण अर्थ का प्रतिपादन करना ही अन्वय में सम्यक्त्व है यानी समन्वय है। गामानय इत्यादि वाक्य क्रिया कारक के सम्बन्ध को कहते हैं। उद्भिदायजेत यहां पर, उद्भिद् और याग के समानार्थक होने पर भी नियोग, अपूर्व की आकांक्षा है। नीलमुत्पलम् इत्यादिस्थल में, नीलगुण और उत्पलरूप गुणी, द्रव्य, का भेदाभेदरूप तादात्म्य प्रतिपाद्य है। वेदान्त वाक्य सम्बन्ध आकांक्षा के सहित अर्थ, भेदाभेदरूप तादात्म्य आदि को नहीं कहते। किन्तु लक्षणावृत्तिसे अखंड एकरस शुद्ध अद्वितीय, ब्रह्म को ही जगत् के कारणता का अनुवाद करके प्रतिपादन करते हैं) इस तरह से ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है, एक अर्थमे तात्पर्य है। जिनका ऐसे वाक्यों के अवयवभूत पदसमूहों से प्रतिपाद्य होने से। अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म के बोध कराने में ही है ऐसा होने से। वेदान्त नियमतः ब्रह्मपरक ही हैं ऐसा कहने की इच्छा से भाष्यकार बहुत वाक्यों का उदाहरण दे रहे हैं। सदेव इत्यादि, श्वेत केतु को सम्बोधन करके उनके पिता महर्षि उद्दालक कहते हैं। हे सोम्य, प्रियदर्शन, सरल प्रकृति, यह जो व्याकृत, अर्थात् प्रकट रूप से जगत् उपलब्ध हो रहा है, यह सृष्टि के पहिले सद्रूप ही था! एव कार से स्थूलरूप से पृथिव्यादि नहीं थे यह सूचित किया। अच्छा तो इदं बुद्धि यह है ऐसी बुद्धि का विषय पृथिवी जल आदि उत्पत्ति के पहिले न हों, परमाणु आदि तार्किक सम्मत नित्य पदार्थ उस समय भी विद्यमान क्यों न हो, इसलिए श्रुति में एकम्, यह दिया। अर्थात् उस समय एक सद्रूप ब्रह्म ही था अन्य कोई वस्तु नहीं थी। तो मृत्तिका को घट के आकार में परिणत करने वाले कुम्भकारके समान सद्रूप से भिन्न निमित्त कारण दूसरा कोई था ऐसी, शंका न हो इसलिए श्रुति में अद्वितीयम्, पद दिया अर्थात् अन्य कोई नहीं था। सृष्टि के पूर्व एक आत्मा ही था। वह ब्रह्म कारण और कार्य से रहित अन्तर से रहित, अर्थात् अनार के फल के समान अपने मे रहने वाले अन्य रस से रहित है। अर्थात् उसके भीतर कुछ नहीं था। और न तो उसके बाहर ही कुछ था बाह्य सब वस्तुएं जो इस समय प्रतीत हो रही हैं वह सब उसी में कल्पित हैं। ऐसा यह ब्रह्म रूप आत्मा सर्वात्मना, सबका, अनुभव करने

वाला साक्षी रूप हैं। जो कुछ दृश्य वस्तु प्रतीत हो रही है, वह सब अमृतरूप ब्रह्म ही है, अर्थात, उसकी सत्तासे अतिरिक्त उनकी सत्ता नहीं है। यह भाष्योदाहृत श्रुतियों का अर्थ है।

भाष्य में यतोवाइमानिभूतानि जायन्ते मह जगत्कारणत्व परकवाक्य उदाहरण रूप में प्रदर्शित नहीं है, इसमें हेतु भामतीकार प्रदर्शित करते हैं कि जगदुत्पत्ति-स्थितिलय कारण यहां परसूत्र है। अर्थात तद्ब्रह्म सर्वज्ञं इत्यादि भाष्य से, यतोवा इत्यादि वाक्य जन्य प्रमेय ब्रह्म कहे जाने से वह प्रमाण भूत यतोवा इत्यादि वाक्य बुद्धिस्थ होता है, इसलिए यहां, पर नहीं पढ़ा गया।

वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म और आत्मा के एकता में ही तात्पर्य है, इसमें हेतु उपक्रम और उपसंहार की एकता हैं, यह दृष्टान्त के सहित भामती मे प्रदर्शित करते हैं, ये नहि इत्यादि से। जिससे, वाक्य का उपक्रम, प्रारम्भ हो और जिससे उपसंहार, समाप्ति, हो वही वाक्यों का अर्थ होता है यह शब्द तत्त्वविदों की प्रक्रिया है। जैसे उपांशुयाजवाक्य मे अव्यवहित पुरोडाशों में आलस्यदोषकथन-पूर्वक उपांशुयाज के विधान मे और उसके प्रतिसमाधान के उपसंहार में अपूर्व जो उपांशुयाजकम तद्विधि परता एकवाक्यता केवल से आश्रित है।

विशेष—पूर्वमीमांसा में भेद लक्षण में विचार किया गया है। (पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात्। जामिवाएतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वचौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय प्रजापति रुपांशुयष्टव्यो ऽजामित्वायाग्निषोमावुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय) ऐसा श्रुत है। पौर्णमास याग के समान उपांशुसंज्ञक याग है।) पूर्णिमातिथि, में किए जाने वाले तीन कर्म हैं—आग्नेय उपांशु अग्निषोमोय, इस त्रिक का नाम पूर्णमास हैं (जिसके अनुष्ठान से अपूर्व द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है) आग्नेय अग्निषोमीय संज्ञक पुरोडाश याग निरन्तर होते हैं, जिससे कि आलस्य दोष उत्पन्न होता है। उसके निवारण के लिए मध्यमें उपांशुसंज्ञक याग करना चाहिए। तो वहां पर उपांशुयाजमन्तरायजति इस वाक्य से क्या विष्णुरुपांशुयष्टव्यः इत्यादि वाक्य विहित यागसमुदाय का अनुवाद है, या अपूर्व याग का विधान, ऐसा संशय होने पर, जैसे, आग्नेय अग्निषोमोय आदि यागों का य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते, यएवं विद्वान मावास्यां यजते इन वाक्यों से अनुवाद है। उसी तरह प्रकृत में भी विष्णु इत्यादि वाक्य विहित याग समुदाय का अनुवाद है। क्योंकि वहां पर विष्णु आदि देवता श्रुत हैं। सर्वस्मै वाएतद्यज्ञाय गृह्यते यद्ध्रुवाज्यम्, इस वाक्य से ध्रौवाज्य द्रव्य का भी लाभ है, जिससे कि द्रव्य देवता रूप याग के स्वरूप की निष्पत्ति होती है,

यष्टव्यः यहां पर विधायक तव्य प्रत्यय भी श्रुत है । उपांशु याजमन्तरा यजति इस वाक्य में वर्तमान काल का निर्देश है जो कि विधायक नहीं, और न तो याग के रूप द्रव्य और देवता हो का निर्देश है । इसलिए उससे समुदाय का अनुवाद ही विक्षित है, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर निरन्तर आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश याग के करने पर आलस्य दोष उत्पन्न होता है उसके निवारण के लिए आज्यद्रव्यक उपांशु नामक, याग का विधान करके उसके अनुष्ठान से आलस्य दोष का अभाव होता है । इसका अजामित्वाय इत्यादि से उपसंहार किया । इसलिए अर्थवाद के उपक्रम और उपसंहार में एकरूपता होने से एक ही, यह वाक्य है ऐसा स्वीकार होनेसे अन्तरायाग, अपूर्व विधि है यह सिद्धान्त किया गया । समुदाय का अनुवादमानने पर अनेक याग के विधान से एक वाक्यता न होती । इससे विष्णु रुपांशु यष्टव्यः इत्यादि वाक्य अर्थवादही है, उनसे अलग-अलग कर्मविहित नहीं है । यह उपांशुयाग कितना महान् है जिससे कि इसमे विष्णु प्रजापति आदि भी यष्टव्य होते हैं । (यह भाव है) उसी तरह से वेदान्त वाक्य में भी, छान्दोग्योपनिषद् में, सदेव सोम्येदम्, इस श्रुति से, ब्रह्म का उपक्रम कर, (प्रारम्भ कर) तत्त्वमसि, (वह ब्रह्म तुम्ही हो) अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता, इसमें उपसहार किया, जिससे की वेदान्त वाक्य भी जीव ब्रह्म के अभेद परक ही हैं । इसी तरह ऐतरेयोपनिषद् में भी, आत्मा वाइदमेक एव इससे उपक्रम कर (स एत मेव पुरुषं ब्रह्म तत मम पश्यत्) शरीर में प्रविष्ट वह (जीवात्मा के रूप में प्रकट) इसी जो कि प्रकरण प्राप्त सृष्टि के आदि का कर्ता है उसी पुरुष को, जो कि पुर, अर्थात्, शरीर में स्थित है उस आत्मरूपी ब्रह्म को अतिशय व्याप्त आकाश के समान परिपूर्ण देखा, (जाना), इससे ब्रह्मरूप आत्माको कह कर प्रज्ञानं ब्रह्म ऐसा उपसंहार किया । एवं बृहदारण्यक में भी अहंब्रह्मास्मि ऐसा उपक्रम करके अयमात्मा-ब्रह्म ऐसा उपसंहार किया । मुंडक में भी कस्मिन्नु, भगवोविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, इससे सर्वात्मक ब्रह्म का उपक्रम करके ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्, ऐसा उपसंहार किया । इस लिए चारों वेद जीव ब्रह्म के एकता में प्रमाण हैं यह दिखला ने के लिए भाष्यकार क्रम से सामवेदीय छांदो ग्योपनिषद्, ऋग्वेदीय ऐतरेयो पनिषद्, यजुर्वेदीय बृहदारण्यक, अथर्ववेदीय मुंडको पनिषद् के वाक्यों का क्रम से उदाहरण प्रदर्शित किया ।

इसी प्रकार से अन्य वाक्य जो कि भाष्य में उदाहृत, नहीं है उनका भी पूर्वापर सम्बन्ध से ब्रह्म परक जानना चाहिए । वेदान्त वाक्यगत पदों का जीव ब्रह्मैक्य परक उपक्रम उपसंहार के द्वारा, ज्ञात होने पर अन्य परक,

क्रिया विधि का शेष, कर्तृदेवतादि स्वरूप, प्रकाश परक, या उपासना परक जो कि अदृष्ट है, पर्थात्, उक्त युक्ति से सिद्ध नहीं है उसकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा, जो प्रसङ्ग पूर्वा पर सम्बन्ध से ज्ञात है उसका अतिक्रमण होगा। और ऐसा स्वीकृत होने पर लोक में भी जिस तात्पर्य से जो शब्द प्रयुक्त हैं वे अन्य परक हो जायगें।

भामती

न केवलं कर्तृपरता तेषामदृष्टा अनुपपन्नाचेत्याह—नच तेषामिति। सापेक्षत्वेनाप्रामाण्यं पूर्वपक्षबीजं दूषयति—न च परिनिष्ठित वस्तुस्वरूपपरत्वेऽपीति। अयमत्राभिसन्धिः, पुंवाक्यनिदर्शनेन हि भूतार्थतया वेदान्तानां सापेक्षत्वमाशंक्यते। तत्रैवं भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्, किं पुंवाक्यानां सापेक्षता भूतार्थत्वेन, अहो पौरुषेयत्वेन। यदि भूतार्थत्वेन ततः प्रत्यक्षादीनामपि परस्परापेक्षत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः। तान्यपिहि भूतार्थान्येव। अथ पुरुषबुद्धिप्रभवतया पुंवाक्यं सापेक्षं, एवं तर्हि तदपूर्णकाणां वेदान्तानां भूतार्थानामपि नाप्रामाण्यम् प्रत्यक्षादीनामिव नियतेन्द्रियलिङ्गादिजन्मनाम्। यद्युच्येत सिद्धे किलापौरुषेयत्वे वेदान्तानामनपेक्षतया प्रामाण्यं सिद्ध्येत, तदेवतु भूतार्थत्वे, न, न सिध्यति भूतार्थस्य शब्दान पेक्षेण पुरुषेण मानान्तरतः शक्यज्ञानत्वात्बुद्धि पूर्वविरचनोपपत्तेः, वाक्यत्वादिलिङ्गकस्य वेदपौरुषेयत्वानुमानस्या प्रत्यूहमुत्पत्तेः।

तस्मात् पौरुषेयत्वेन सापेक्षत्वं दुर्वारम् न तु भूतार्थत्वेन कार्यार्थत्वेतु कार्यस्यापूर्वस्य मानान्तरागोचरतयाऽत्यन्ताननुभूतपूर्वस्य तत्त्वेन समारोपेण वा पुरुषबुद्धावनारोहात् तदर्थानां वेदान्तानामशक्यरचनतया पौरुषेयत्वाभावादनपेक्षं प्रमाणत्वं सिध्यतीति प्रामाण्याय वेदान्तानां कार्यपरत्वमातिष्ठामहे। अत्रब्रूमः—किं पुनरिदं कार्यमभिमतमायुष्मतः यदशक्यं पुरुषेण ज्ञातुम्। अपूर्वमितिचेत् हन्त कुतस्त्यमस्य लिङाद्यर्थत्वं, तेना लौकिकेन संगतिसम्वेदनविरहात्, लोकानुसारतः क्रियाया एव लौकिक्याः कार्याया लिङ्गादेरवगमात्। स्वर्गकामो यजेत इति साध्यस्वर्गविशिष्टो नियोज्योऽवगम्यते सचतदेव कार्यमवगच्छति यत्स्वर्गानुकूलम्। न च क्रियाक्षणभंगुराऽऽमुष्मिकाय स्वर्गायकल्पत इति पारिशेष्याद्वेदत एवापूर्वे कार्ये लिङादीनां सम्बन्धग्रह इतिचेत्, हन्तचैत्यवन्दनादिवाक्येष्वपि स्वर्गकामादिपदसम्बन्धादपूर्वकार्यत्वप्रसङ्गः। तथा च तेषामप्यशक्यरचनत्वना पौरुषेयत्वापातः। स्वदृष्टेन पौरुषेयत्वेन वा तेषाम पूर्वार्थत्वप्रतिषेधे वाक्यत्वादिना लिङ्गेन वेदानामपि पौरुषेयत्वमनुमितमित्यपूर्वार्थतानस्यात्। अन्यतस्तु वाक्यत्वादीना-

नामनुमानाभासत्वोपपादने कृतमपूर्णार्थत्वेनात्र तदुपपादकेन । उपपादितं चापौरुषेयत्व मस्माभिर्न्याय कणिकायाम् इह तु विस्तरभयान्नोक्तम् । तेन पौरुषेयत्वेऽसिद्धे भूतार्थानामपि वेदान्तानां न सापेक्षतया प्रामाण्यविघातः । न चानधिगतगन्तृता नास्ति येन प्रामाण्यं न स्यात्, जीवस्य ब्रह्मताया अन्यतोऽनधिगमात् । तदिदमुक्तं—न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि इति ।

सुभद्रा—उन वेदान्त वाक्यों का कर्तृपरत्व दृष्ट नहीं है यही नहीं किन्तु अनुपपन्न अर्थात् युक्ति विरुद्ध भी है । इसीलिए भाष्य में न च तेषाम् इत्यादि कहा । क्योंकि तत्केनकं पश्येत्, इत्यादि श्रुतियां, वह ब्रह्म किसके द्वारा किसको देखें, सम्पूर्ण भेद के विगलित होने से और क्रिया कारक भाव के भेद मूलक होने से केन करण कारक कं, कर्म कारक, पश्येत्, क्रिया, और तज्जन्य, फल ए सब अद्वितीय कूटस्थ सच्चिदानन्दैकतान ब्रह्म मे सम्भव नहीं, कर्तृ स्वरूप परक वेदान्त वाक्य मज्जी कृत होने से उक्त श्रुति, विरोध स्पष्ट है ।

यदि वेदान्त वाक्य सिद्ध ब्रह्म के बोधक हैं तो उनमें प्रमाणान्तर की विषयता होने से सापेक्षता होती है, जिससे कि स्वतः प्रामाण्य नहीं रहेगा । यह पूर्वपक्ष का बीज प्रामाणान्तर सापेक्षत्व, जिसका खंडन भाष्यकार ने न च परिनिष्ठितवस्तु स्वरूपत्वेऽपि इत्यादि से किया । उसी का, विशद विवेचन, प्रथमभिसन्धिः इत्यादि से भामतीकार कर रहे हैं । तत्त्वमसि इस वाक्य के द्वारा जीव का ब्रह्मात्मभाव शास्त्र के बिना जाना, नहीं जा सकता, ब्रह्म के रूप रहित होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष की विषयता नहीं, है, स्पर्श शब्द आदि से रहित होने के कारण अन्य इन्द्रियों से भी ग्राह्य नहीं है । हेतु न होने से अनुमान प्रमाण का विषय नहीं है, इसलिए ब्रह्म केवल वेदान्त वाक्यों से ही जाना जाता है । अतः प्रमाणान्तर सापेक्ष न होने से तद्बोधक वेदान्त वाक्य स्वतः प्रमाण है । भाष्यकार का भाव है ।

यदि यह कहा जाय कि, सिद्धार्थक होने से उनमें अन्य प्रमाण के विषय की योग्यता है पुरुष वाक्य के समान । तो पुरुष वाक्य के दृष्टान्त से उन वेदान्त वाक्यों से यदि सापेक्षता की आशंका आप करते हैं । तो आप हमारे पूछने पर यह बल लाने का कष्ट करें, कि क्या पुरुष वाक्यों में सापेक्षता, सिद्ध वस्तु के बोधक होने से है, अथवा पौरुषेय, [1]पुरुषोच्चारित होने से) । यदि सिद्धार्थक होने से वे सापेक्ष हैं । जिससे कि उनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है । तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी सिद्ध वस्तु को जनाने वाले हैं, जिससे कि उस हेतु से

१—अथवा पुरुषबुद्धिजन्य होने से ।

उनमें भी प्रमाणान्तर सापेक्षता सिद्ध होगी तो वे भी स्वतः प्रमाण, नहीं होगे। यदि पुरुष के बुद्धि से उत्पन्न होने से पुरुष वाक्य सापेक्ष है तो उस दृष्टान्त के बल से, वेदान्त वाक्य में सापेक्षत्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वेदान्त् वाक्य पुरुष के बुद्धि से उत्पन्न नहीं है, जिससे कि उनमें सापेक्षता सिद्ध हो, अतः सिद्धार्थ बोधक होने पर भी वेदान्त वाक्यों में अप्राम ण्य, नहीं है। जैसे नियत, निश्चित, इन्द्रिय सम्बन्ध, और हेतु ज्ञान आदि से, जन्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि में अप्रमाणिकता नहीं है, उसी तरह। यदि यह कहा जाय कि वेदान्त वाक्यों में अपौरुषेयत्व के सिद्ध होने पर प्रामणान्तर सापेक्ष न होने से उनमें स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है, परन्तु वह, अपौरुषेयत्व ही सिद्धवस्तु के बोधक होने से उनमें सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सिद्ध वस्तु शब्द की अपेक्षा न करके भी पुरुषों से प्रामाणान्तर के द्वारा जानने के योग्य है। इसलिए उनकी पुरुष बुद्धि पूर्वक रचना सम्भव होने से स्वतः प्रामाण्य उनमें नहीं है। वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारत रघुवंशादिवत्। वेद पौरुषेय है, वाक्य होने से, भारत रघुवंश आदि के समान, इस अनुमान से जोकि वाक्यत्वलिङ्गक है। अर्थात् वाक्यत्व हेतु से, वेद में, पौरुषेयत्व का अनुमान विना विघ्न के हो जायगा। इसलिए पौरुषेय होने से वेदान्त वाक्यों में सापेक्षता दुर्वार है न कि सिद्धार्थक होने से यदि उनको कार्य परक मान-लिया जाय तो कार्य के पूर्व में सिद्ध न होने से, अपूर्व रूप कार्य अन्य प्रमाण का विषय नहीं हो सकता, जिससे कि पूर्व में, अनुभव के न होने से कार्य का वास्तविक रूप से या आरोपित रूप से, पुरुष के बुद्धि में स्थित न होने से कार्यार्थक वेदान्त वाक्यों में पौरुषेयत्व सम्भव नहीं है। जिससे कि अनपेक्षत्व रूप स्वतः प्रामाण्य उनमें सिद्ध होता है। इसलिए वेदान्त वाक्य में प्रामाण्य सम्पादनार्थं कार्यपरता ही मानना युक्त है। तो वेदान्त में कार्यार्थ परत्व सिद्ध होने से सिद्धवस्तु की बोधकता न होने से उस हेतु से सापेक्षत्व का अनुमान नहीं हो सकता जिससे कि उनमें अप्रामाण्य की शंका हो। इसपर भामतीकार कह रहे हैं। आयुष्मान् को कैसा कार्यत्व अभिमत है। जो कि पुरुष से जानने के योग्य नहीं है। लौकिक कार्य जलानयनादि पुरुष से ज्ञेय हैं। यदि कहा जाय कि अपूर्व ही कार्यत्वेन अभिमत है, तो वह लिङादि विधि बोधक पद का अर्थ कैसे होगा। क्योंकि जिस शब्द का जो अर्थ होता है उसमें उसका संगति, शक्ति ज्ञान आवश्यक है। अपूर्व रूप अलौकिक कार्य के साथ लिङादि का संगतिज्ञान शक्तिज्ञान सम्भव नहीं है। लोक व्यवहार में लौकिक क्रिया, अर्थात्, कार्य की लिङादि से प्रतीति होती है। और अन्य

प्रमाण से ज्ञात अर्थ में ही शक्तिग्रह लोक में देखा गया है। (जैसे कि घटमानय इत्यादि वाक्य प्रयोजक, वृद्ध से प्रयुक्त होने पर प्रयोज्य वृद्ध घड़ा लाता है, इसको देखकर, व्युत्पित्सु, बालक को प्रयोजक प्रयोज्य वृद्धका और घटानयनादि रूप कार्य को प्रत्यक्ष ज्ञान और शब्द का श्रावण प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है और अनुमान से उक्त वाक्य का घटा नयन अर्थ है यह जान कर अनन्तर घटनय पट मानय इत्यादि वाक्य प्रयोजक वृद्ध के द्वारा प्रयुक्त होने पर घटपद हटाने से और उसके स्थान में पट पद के रखने से घट पद का घड़ा अर्थ है यह शक्ति ज्ञान बालक को होता है जिसमें कि अन्य प्रमाण से ज्ञात घट में शक्तिग्रह होता है यह शक्ति ग्रह की प्रक्रिया संक्षेप में कही गई तो अपूर्व जो कि अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है ऐसे अज्ञात वस्तु में शक्ति ग्रह संभव न होने से लिङादि पद वह का अर्थ कैसे होगा।

यदि यह कहा जाय कि स्वर्गकामो यजेत इस वाक्य में साध्य जो स्वर्ग तद्विशिष्ट अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाला नियोज्य, अधिकारी प्रतीत होता है, वह उसी कार्य को अवगत करेगा जो कि स्वर्ग के अनुकूल हो, अर्थात्-स्वर्ग का जनक हो, यागादि क्रिया क्षणभङ्गुर है, अर्थात् नष्ट होने वाली है, तो वह परलोक सम्बन्धी, मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाला स्वर्गरूप फल की जनिका उत्पन्न करने वाली कैसे होगी। जो जनक कारण होता है, उसको फल के उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान रहना चाहिए। और उक्त वाक्य से याग में स्वर्ग कारणता प्रतीत होती है जो कि उक्त हेतु से अनुपपन्न है इसलिए अगत्या याग से जन्य अपूर्व मानना परमावश्यक है। जिसके द्वारा याग में स्वर्ग की कारणता सिद्ध होती है। ऐसे अपूर्व रूप कार्य स्वर्ग काम पद का समभिव्याहार रूप तर्क से अनुगृहीत वेद से ही लिङादिक का संगति ज्ञान हो जायगा। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तब तो स्वर्ग काम चैत्यबन्दनं कुर्यात्, इत्यादि वाक्य में भी स्वर्ग काम पद के सम्बन्ध से अपूर्व रुप कार्य की प्रतीति होने लगेगी तो उनमे भी बुद्धि पूर्वक रचना संभव न होने से अपौरुषेयत्वा पत्ति होगी। कर्त्ता के स्मरण होने से, चैत्यबन्दन आदि वाक्य में स्पष्ट रूप से पौरुषेयत्व ज्ञात होने से उनमें यदि अपूर्व अर्थ का निषेध हो तो पूर्वोक्त वेदः पौरुषेयः इत्यादि अनुमान से जिसमें कि वाक्यत्व लिङ्ग है उससे वेदों में भी पौरुषेयत्व सिद्ध होगा जिससे कि उसमें भी अपूर्वार्थकता सिद्ध नहीं होगी। यदि कार्यार्थकत्वपक्ष में वाक्यत्व हेतु से पौरुषेयत्व सिद्ध करते हैं, तो वह हेतुसोपाधिक होने से पौरुषेयत्व रूप साध्य को सिद्ध करने में समर्थ

नहीं है यह कहा जाय तो सिद्धार्थकत्व पक्ष में भी उसी से पौरुषेयत्व का निराकरण संभव होने से अपूर्वार्थत्व की कल्पना व्यर्थ है। वाक्यत्व हेतु में, उपाधि, स्मर्यमाण कर्तृकत्व है जिसके कर्त्ता का स्मरण हो, (साध्य व्यापकत्वे सति साधना व्यापकत्व मुपाधिः) साध्य का व्यापक होकर जो साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है वाक्यत्व हेतुक पौरुषेय त्वानुमान में, पौरुषेयत्वरूप साध्य भारत रघुवंशादि में है और वहां पर स्मर्यमाण कर्तृकत्व भी है इसलिए, साध्यका व्यापक है, और वाक्यत्व हेतु वेद वाक्य में भी है और वहां पर स्मर्यमाण कर्तृकत्व नहीं है, जिससे कि साधन का अव्यापक स्मर्यमाण कर्तकत्व है तो उपाधि का लक्षण घट जाने से वाक्यत्व हेतु सोपाधिक है। जिससे कि वह पौरुषेयत्व का साधक हो नहीं हो सकता अतः उक्त अनुमान अनुमानाभास है ऐसामानकर कार्यार्थ-त्वपक्ष मे यदि पौरुषेयत्व का निरास करे तो सिद्धार्थक वेदान्त वाक्य हैं इस पक्ष में भी सोपाधिक होने से वाक्यत्व हेतु से पौरुषेयत्व का निराकरण हो सकता है जिससे कि उसमे स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा।

वेदापौरुषेत्व भामतीकार ने न्याय कणिका नामक ग्रन्थ में विस्तार से उपपादन किया है यहीं पर विस्तार भय से नहीं किया। इस तरह से वेदान्त वाक्य में पौरुषयत्व के सिद्ध न होने पर—सिद्धार्थ का वेदान्त वाक्यों में सापेक्षता, के न होने से प्रामाण्य का अभाव नहीं है। और न तो अनाधगन्तृता (अज्ञात ज्ञापकता[१] का ही,) अभाव है, जिससे कि उनमें प्रामाण्य न हो। क्यों कि जीवका ब्रह्मभाव अन्य प्रमाण से जानने के योग्य नहीं है। इसी से भाष्यकार ने नच परितिष्ठित वस्तु स्वरूपत्वेऽपि इत्यादि कहा।

भाष्य

यत्तु—हेयोपादेय रहितत्वादुपदेशानर्थक्य मिति नैषदोषः, हेयोपादेय-शून्य ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादि प्रतिपाद-नस्यतु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः नतु तथा ब्रह्मण उपासना-विधि शेषत्वं सम्भवति, एकत्वेतु हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादि द्वैत-विज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति। येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेद-वाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टं तथाप्यात्मविज्ञानस्य फल-पर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमान-गम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शन मपेक्ष्येत तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्र प्रमाणकत्वम्।

[१] जो वस्तु पहले न ज्ञात हो उसको बताना

भामती

द्वितीयं पूर्वपक्षबीजं स्मारयित्वा दूषयति —यत्तु हेयोपादेय रहितत्वादिति। विध्यर्थावगमात् खलु पारम्पर्येण पुरुषार्थ प्रतिलम्भः। इह तु तत्त्वमसि इत्यव- गतिपर्यन्ताद्वाक्यार्थ ज्ञानात् बाह्यानुष्ठानायासानपेक्षा त्स्मादेव पुरुषार्थ प्रतिलम्भो नायंसर्पोरज्जुरिय मिति ज्ञानादिवेति। सोऽयमस्य विध्यर्थज्ञाना- त्प्रकर्षः। एतदुक्तं भवति —द्विविधंह्मीप्सितं पुरुषस्य। किञ्चिदप्राप्तं ग्रामादि किञ्चित्पुनः प्राप्तमपि, भ्रमवशाद प्राप्त मित्यवगतं, यथा स्वग्रीवाबद्धं ग्रैवेय- कम्। एवं जिहासितमपि द्विविधं किञ्चिदहीनं जिहासति, यथावऽवियि चरणं फणिनं, किञ्चित्पुनहीन मेव जिहासति यथा चरणाभरणे नूपुरे फणि नमारोपितम्। तत्रा प्राप्तप्राप्तौ चात्यक्तत्यागे च बाह्योपायानुष्ठानपाधाध्यत्वात तदुपायतत्त्व ज्ञानादस्ति पराचीनानुष्ठानापेक्षा। न जातु ज्ञानमात्रं वस्तु पनयति। नहि, सहस्रमपि रज्जुप्रत्यया वस्तुसन्तं फणिनमन्यथयितुमीशते समारोपितेतु प्रेप्सितजिहासिते तत्त्वसाक्षात्कारमात्रेण, बाह्यानुष्ठानानपेक्षेण शक्येते प्राप्तुमिव हातुमिव। समारोपितमात्र जीविते हि ते समारोपितं च तत्त्व- साक्षात्कारः समूलघातमुपहन्तीति। तथेहाप्यविद्यासमारोपितजीवभावे ब्रह्मण्या- नन्दे वस्तुतः शोक दुःखादिरहिते समारोपित निबन्धनस्तद्भावः तत्त्वमसिइति, वाक्यार्थ तत्त्वज्ञानादवगतिपर्यन्तान्निवर्तते! तन्निवृत्तौ प्राप्तमप्यानन्दरूपम प्राप्तमिव प्राप्तं भवति, त्यक्तमपि शोकदुःखाद्यत्यक्तमिव त्यक्तं भवति, तदिद- मुक्तम्—ब्रह्मात्मावगमादेव जीवस्य, सर्वक्लेशस्य सवासनस्य विपर्यासस्य। सहितिन्नश्नाति जन्तूनतः क्लेशः तस्य प्रकर्षेण हानात् पुरुषार्थस्य = दुःखनिवृत्तिः सुखाप्तिलक्षणस्य सिद्धेरिति।

सुभद्रा—और जो पहिले यह कहा था कि ब्रह्म हेयोपादेयशून्य होने से पुरुषा- र्थ नहीं है इसलिए तदुपदेश परक वेदान्त प्रयोजन रहित हैं यह जो द्वितीय पूर्व- पक्ष का बीज उसका स्मरण कराके यत्तु इत्यादि से भाष्यकार दूषित करते हैं। विध्यर्थ के प्रतीत होने पर परम्परया, पुरुषार्थ का लाभ होता है। क्योंकि साक्षात् पुरुषार्थ दुःखकी निवृत्ति, और सुख की प्राप्ति है। (वही पुरुष से चाहने के योग्य है)। विधिवाक्य, बोधितयागादि, अपूर्व के द्वारा स्वर्ग रूप सुख को प्राप्ति कराने से परम्परया पुरुषार्थ के साधक हैं। और तत्त्वमसि आदि वेदान्त वाक्यों से हेयोपादेय रहित ब्रह्म के ज्ञान पर्यन्त वाक्यार्थ ज्ञान से जो बाह्य अनुष्ठान के प्रयास की अपेक्षा नहीं कहते विधिवाक्य के समान। विधिवाक्य के वाक्यार्थ ज्ञान में बाह्य अनुष्ठान की, अपेक्षा होती है जोकि बहुत परिश्रम

से साध्य है। और वेदान्त वाक्य से ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान से ही सर्व-विध दुःख की निवृत्ति होने से पुरुषार्थ की प्राप्ति साक्षात् होती है। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम जिस, पुरुष को हुआ है और वह भय कम्पादिग्रस्त है, उसको नायं सर्पः रज्जुरियम्, यह सर्प नहीं है रस्सी है ऐसा आप्त पुरुष के मुख से सुनकर उसके अर्थ ज्ञानमात्र से सर्प ज्ञान जनित भयकम्पादि सम्पूर्ण, अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं। उसी तरह अपने को शोक मोह ग्रस्त संसारी मान कर भ्रम में पड़ा हुआ जीव भी सद्गुरु मुखारविन्दसे तत्त्वमसि आदि वाक्य को श्रवण कर, तुम वही शुद्ध-बुद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म रहित नित्य सच्चिदानन्द रूप आत्मा हो, न कि संसारी ऐसा अवगत होने पर सकल क्लेश की निवृत्ति रूप पुरुषार्थ की, प्राप्ति साक्षात् ही सिद्ध वस्तु परक वेदान्त वाक्यों से होती है। यही इसका विध्यर्थ ज्ञान से प्रकर्ष, यानी विशेषता है।

यह उक्त होता है, पुरुष को ईप्सित इच्छा का विषय, दो प्रकार का होता है। कुछ जो प्राप्त नही है जैसे ग्रामादि ग्राम प्राप्तः, गांव को प्राप्त हुआ, पुरुष के व्यापार के पहिले ग्राम प्राप्त नहीं है। कुछ प्राप्त होने पर भी भ्रमवश प्राप्त नहीं ऐसा जाना गया जैसे अपने ही ग्रीवा 'कंठ' में पड़ा हुआ हार प्राप्त होने पर भी, भ्रमवशात् प्राप्त नहीं है ऐसा जाना गया उसके खोजने में लगा हुआ पुरुष किसी आप्त पुरुष के मुख से तुम्हारे गले में ही हार है यह सुन कर भ्रम के निवृत्त होने पर प्राप्त ही हार अवगत हुआ। इसी तरह जिहासित भी, 'छोड़ने की इच्छा का विषय' दो प्रकार का होता है, कुछ जो व्यक्त नहीं है उसको त्यागने की इच्छा करता है जैसे चरण में गोलिया कर लिपटा हुआ सर्प उसको त्यागने की इच्छा करना, कुछ जो त्यागा हुआ है भ्रमवश उसको लगा हुआ समझकर छोड़ने की इच्छा करे, जैसे पैर के आभूषण में नूपुर 'पायजेब' में सर्प का आरोप हो अर्थात् उसको सर्प समझ के छोड़ने की इच्छा करे।

तो वहां पर जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसके प्राप्ति में और जिस वस्तु का त्याग नहीं हुआ है उसको त्यागने में जो कि बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा से साध्य है उसके उपायभूत यथार्थ ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा होती है। केवल ज्ञान वस्तु को हटाने में, समर्थ नहीं हो सकते। सच्चे सांप को हजार भी रस्सी का ज्ञान बदल नहीं सकता। आरोप किया हुआ इच्छा का विषय और त्याग का विषय, तो यथार्थ वस्तु के साक्षात्कार मात्र से जिसमें कि बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है प्राप्त किए जा सकते हैं, और छोड़े जा सकते हैं क्योंकि केवल आरोपित मात्र ही अर्थात् प्रतिभास मात्र ही,

उनका जीवन है, वास्तविक नहीं, उस आरोपित वस्तु का 'यथार्थ' वस्तु का साक्षात्कारात्मक ज्ञान मूल के सहित नाश कर देता है। उसी प्रकार यहां पर भी अनादि अविद्या के कारण मैं दुःखी हूँ मैं सुखी हूं इत्यादि जो कि आरोपित है, आनन्द रूप वास्तविक शोक, दुःख आदि से रहित ब्रह्म में, जिसमें कि समारोपित अविद्या ही हेतु है, ऐसे उक्त जीव भाव को, तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान साक्षात्कार पर्यन्त होने से निवृत्ति हो जाती है। उसके निवृत्त होने पर प्राप्त भी आनन्द पूर्व में न प्राप्त हुए के समान प्रतीत होता है। त्यागा हुआ भी दुःख शोकादि ब्रह्म साक्षात्कार के, पूर्व, न त्यागे हुए के समान प्रतीत होता है। इस कारण से भाष्य मे कहा—ब्रह्मात्म भाव के अवगति से जीव को सम्पूर्ण क्लेश संहार, के सहित विपरीत ज्ञान निवृत्त होने पर परमानन्द रूप पुरुषार्थ की, प्राप्ति होती है। वह प्राणियों को पीड़ित करता है इसलिए क्लेश है उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति होने से, अर्थात् फिर वे दुःख उत्पन्न नहीं होते, दुःख निवृत्ति, और सुख प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

भामती

यत्तु आत्मेत्येवोपासीतः आत्मानमेव लोकमुपासीत इत्युपासनावाक्यगतदेवतादिप्रतिपादने नोपासनापरत्वं वेदान्तानामुक्तं, तद्दूषयति—देवतादिप्रतिपादनस्य तु आत्मेत्येतावन्मात्रस्य स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। यदि न विरोधः सन्तु तर्हि वेदान्ता देवतादि प्रतिपादन द्वारेणोपासना विधि परा एवेत्यत आह—न तु तथा ब्रह्मण इति। उपास्योपासकोपासनादि भेदसिद्धीनोपासना न निरस्तसमस्त भेदप्रपंचे वेदान्त वेद्ये ब्रह्मणि सम्भवतीति नोपासना विधिशेषत्वम्। वेदान्तानां तद्विरोधित्वादित्यर्थः। स्यादेतत्—यदि विधि विरहेऽपि वेदान्तानां प्रामाण्यं हन्त तर्हि सोऽरोदीत् इत्यादीनामप्यस्तु स्वतन्त्राणामुपेक्षणीयार्थानां प्रामाण्यम्। न हि हानोपादान बुद्धी एव प्रमाणस्य फले' उपेक्षा बुद्धेरपितत्फलत्वे न प्रामाणीकैरभ्युपेतत्वादिति कृतं वर्हिषिरजत न देयम्, इत्यादि निषेध विधिपरत्वेननैतेषामित्यत आह यद्यपीति।

स्वाध्याय विध्यधीनग्रहण तथाहि सर्वो वेदराशिः पुरुषार्थं तन्त्र इत्यवगतम्। तत्रैकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तं किं पुनरियता सोऽरोदीत्, इत्यादिना पदप्रबन्धेन। न च वेदान्तेभ्य इव तदर्थावगममात्रादेव कश्चित्पुरुषार्थ उपलभ्यते। तेनैषपदसन्दर्भः साकांक्ष एवास्ते पुरुषार्थ मुदीक्षमाणः। वर्हिषि रजतं न, देयम् इत्ययमपि निषेध विधिः स्वनिषेध्यस्यनिन्दा मपेक्षते न

ह्ययन्यथा ततश्चेतनः शक्योनिवर्तयितुम्। यद्यपि दूरतोऽपि न निदामवाप्स्यत्ततो निषेधविधिरेव एतत निषेधे च निन्दायां च दर्विहोमवत् सामर्थ्यद्वयमकल्पयिष्यत्। तदेवमुदाहृतयोः सोऽरोदीत् इति च बर्हिषि रजतं न देयम् इति च पदसन्दर्भयो लक्ष्यमाण निन्दाद्वारेण नष्टाश्वदग्धरथवत् परस्परं समन्वयः नत्वेव वेदान्तेषु पुरुषार्थापेक्षा, तदर्थावगमा देवा नपेक्षात्परमपुषार्थं लाभादित्युक्तम्। ननु विध्यर्थस्पर्शिनो वेदस्यान्यस्य न प्रामाण्यं दृष्टरू मिति कथं वेदान्तानां तदस्पृशां तद्भविष्यत्यस्यत् आह— नतीचानुमानगम्यमिति। अबाधितानाधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानां तच्चस्व त इत्युपपादितम्। यद्यपि चैषामीदृग्बोधजनकत्वं कार्यार्थापत्तिसमधिगम्यं तथापि तद्बोधोपजनने मानान्तरं नापेक्षन्ते। नापीमामेवार्थापत्तिं परम्पराश्रयप्रसङ्गादिति एवत इत्युक्तम्। ईदृग्बोधजनकत्वं च कार्ये इव विधीनां वेदान्तानां ब्रह्मण्यस्तीति दृष्टान्ता न ऐक्षं तेषा ब्रह्मणि प्रामाण्यं सिद्धं भवति, अन्यथा नेन्द्रियान्तराणांरूप प्रकाशनं दृष्टमिति चक्षुरपि न, रूपं प्रकाशयेदिति। प्रकृतमुपसंहरति तस्मादिति।

सुभद्रा—जो कि आत्मा है ऐसी ही उपासना करनी चाहिए, आत्म रूप चैतन्य की ही उपासना करनी चाहिए इस उपासना वाक्य देवता का, अर्थात् सगुण ब्रह्म का, प्रतिपादन होने से वेदान्त सगुण ब्रह्मके उपासना परक हैं। यह कहा, उसको भाष्यकार दूषित करते हैं। (देवतादि प्रतिपादन परक आत्मा है एतावन्मात्र का एकवाक्यगत उपासना परक होने पर भी विरोध नहीं है यह भाष्यकार ने कहा) यदि कोई विरोध नहीं है तो वेदान्त वाक्य देवता के प्रतिपादन, द्वारा उपासना विधि परक ही हों इसलिए भाष्य में कहा गया, ब्रह्म मे उपासना विधि का शेषत्व, 'अङ्गत्व' सम्भव नहीं है। उपासना करने योग्य उपासना करने वाला उपासना क्रिया इत्यादि मे जो भेद उसकी सिद्धि के बिना उपासना नहीं हो सकती, तो भेदसिद्धि के अधीन उपासना समस्त भेद रूप प्रपञ्च की, निवृत्ति हो गई है जिससे ऐसे, वेदान्त से जानने के योग्य ब्रह्म में सम्भावित नहीं है इसलिए उपासना विधि के अङ्ग वेदान्त नहीं है। जीव ब्रह्म के अभेद बोधक वेदान्त भेदमूलक उपासना के विरोधी है। यह भाव है। 'ऐसा हो, परन्तु विधि के अङ्गिकार न होने पर भी यदि वेदान्त वाक्यों में प्रामाण्य स्वीकृत है तो फिर सोऽरोदीत, यदरोदीत्तस्य रुद्रत्वम्, आदि निन्दारूप अथवादवाक्य जो कि स्वतन्त्र और उपेक्षा योग्य अर्थों के बोधक हैं वे क्यों न निषेधरूप विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता के बिना ही प्रमाण हों। हान और उपादान, अर्थात् किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग का

ज्ञान ही प्रमाण, प्रमा, यथार्थ ज्ञान के करण का फल नहीं है किन्तु उपेक्षा ज्ञानको भी प्रमाण का फल प्रामाणिकों ने माना है, तो फिर वर्हिषि रजतं न देयम्, वर्हिः साध्य यज्ञ में रजत नहीं देना चाहिए। यह जो निषेध परक वधि वाक्य है उसके अङ्ग होकर ही उक्त अर्थवाद वाक्य प्रयोजनवान् होते हैं ऐसा मानने की क्या आवश्यकता।

विशेष—(देवैर्निरुद्धः सप्रग्निः प्ररोदीत्, रुदतो यदश्रु प्रशीर्यत तद्रजतमभवत्—देवों ने अग्नि के पास रजत रक्खा था वह नष्ट हो गया, तो उनसे निगृहीत होने पर अग्नि ने रुदन किया, रोते हुए अग्नि के जो आंसू बिखरे वह रजत हुआ। इससे रजत दक्षिणा के योग्य नहीं है, यह निन्दा प्रतीत होती है। उक्त अर्थवाद वाक्य का निन्दितत्व में लक्षणा मानकर उक्त वर्हिषि रजतं नदेयम्, इस निषेधवाक्य के साथ एक वाक्यता मान कर ही उसकी सार्थकता मानी जाती है। जिससे कि यह सिद्ध होता है कि विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होकर ही विधि रहित अर्थ वादवाक्य, सार्थक हैं। यदि विधि शून्य वेदान्त वाक्य अर्थ वान्, है, या, प्रामाणिक हैं तो उक्त अर्थवाद वाक्य भी निषेधपरक विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता के बिना ही सार्थक और प्रामाणिक क्यों न हो यह अभिप्राय है) इसलिए भाष्य में यह कहा गया, यद्यपि वेदान्त वाक्यों से अतिरिक्त स्थल में विधो के सम्बन्ध के बिना वेद वाक्यों का प्रामाण्य नहीं देखा गया है तथापि आत्मविषयक ज्ञान जो कि आत्म साक्षात्कार रूप फलपर्यन्त है तद्विषयक वेदान्त शास्त्रों का प्रामाण्य प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि में स्वाध्याय पद से सम्पूर्ण वेदराशि का ग्रहण होने से सम्पूर्ण वेद पुरुषार्थ के अधीन है यह अवगत होता है। क्योंकि उक्त विधि वाक्य सम्पूर्ण वेद के अध्ययन क्रिया की कर्मता का विधान करता है, जिससे कि सम्पूर्ण वेद प्रयोजन युक्त अर्थ में पर्यवसित होते हैं। अन्यथा निरर्थक मे अध्ययन विधि की सिद्धि नहीं हो सकती। तो वेद में एक भी अक्षर पुरुषार्थ शून्य नहीं है, तो फिर इतना, बड़ा सोऽरोदीत् इत्यादि पद का समूह पुरुषार्थ शून्य हो, यानी, प्रयोजन से रहित हो ऐसी संभावना हो नहीं सकती। और जिस तरह से वेदान्त वाक्यों के अर्थ ज्ञानमात्र से जो कि साक्षात्कार रूप फल पर्यन्त है समस्त दुःख निवृत्ति रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। उस तरह अर्थवाद वाक्य के अर्थज्ञान मात्र से कोई पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है जिससे कि सोऽरोदीत् इत्यादि पद समूह पुरुषार्थ की प्रतीक्षा करता हुआ साकांक्ष

ही रहता है। और बर्हिषि रजतं न देयम् यह निषेधविधि भी निषेध के योग्य रजत दान के निन्दा की अपेक्षा करता है। निषेध वाक्य ही अनर्थ का हेतु है यह अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता जिसके अनुपपत्ति से रजत दान के निन्दा की कल्पना होगी जिससे कि निषेध वाक्य सोऽरोदीत् इत्यादि निन्दा जनक वाक्य को अपेक्षा नहीं करेगा तो यह ठीक नहीं क्योंकि तब तो निषेध वाक्य का निषेध में और निन्दा में दो सामर्थ्य की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें कि गौरव है। और यदि उक्त वाक्य निन्दा की अपेक्षा न करे तो चेतन पुरुष की उससे निवृत्ति नहीं होगी। इसी का स्पष्टीकरण तद्यदि इत्यादि से भामतीकार करते हैं। तो यदि दूर से भी निषेधवाक्य अपने निषेध का विषयभूत रजतदान की निन्दा का लाभ न करे तो निषेध विधि का ही निषेध में और निन्दा में सामर्थ्य द्वय की कल्पना करनी पड़ेगी दर्वि होम के समान। आशय यह, है कि यदेक या जुहुयाद्दर्वि होमं कुर्यात ऐसी विधि श्रुत है। तो दर्व्या होमः दर्वि होमः तृतीया समास से दर्विरूप गुण का विधान होम में किया जाता है ऐसा पूर्व पक्ष होने पर अग्नि होत्रादि की तरह यह कर्म विशेष का ही नाम है यह सिद्धान्त किया गया ऐसा होने पर अम्बष्ठ जाति विशेष को उद्देश्य कर दर्वि होम के स्मृत होने से लौकिक होम की ही दर्वि होम संज्ञा है और तृतीया समास से दर्वि करण कहोम यह अर्थ प्रतीत होना है। तो लौकिक और वैदिक कर्म में अर्थ के समान रूप से घटने पर दोनों मे जैसे दर्वि होम, पद का सामर्थ्य माना जाता है उस तरह से प्रकृत में भी निषेध और निन्दा में दोनों में सामर्थ्य मानने से गौरव होगा। उस तरह से अत्यन्त साकांक्ष एक पद दूसरे के पद के बिना अपने अर्थ बोध के, समाप्ति करने में असमर्थ सोऽरोदीत् यह पद सन्दर्भ और बर्हिषी रजतं न देयम् यह पद सन्दर्भ ए दोनों परस्पर साकांक्ष हैं, इसलिए अर्थवाद वाक्य से अभिधा वृत्ति से निन्दा का लाभ न होने पर भी लक्षणा के द्वारा निन्दितत्व रूप अर्थ का बोध उस पद सन्दर्भ को होने से उसके द्वारा नष्टाश्व दग्ध रथन्याय से परस्पर सम्बन्ध होता है। नष्टाश्वदग्ध रथन्याय जैसे किसी रथ वाले पुरुष का घोड़ा नष्ट हो गया, और दूसरे किसी रथ वाले का रथ नष्ट हो गया, तो रथ वाले को घोड़े की अपेक्षा होने से और घोड़े वाले को रथ की अपेक्षा होने से परस्पर सम्बन्ध, होकर जैसे उन दोनों का कार्य सिद्ध होता है उसी तरह उक्त वाक्य द्वय का भी परस्पर सम्बन्ध होकर ही प्रयोजन युक्त अर्थ में पर्यवसान होता है। इस तरह से वेदान्त में पुरुषार्थ की आकांक्षा नहीं होती उसके अर्थ ज्ञान मात्र से ही जो कि बाह्य

कृत्य की अपेक्षा नहीं करता, परम पुरुषार्थ का लाभ होता है यह पूर्व में कहा जा चुका है।

[1]शंका—विधि वाक्य के साथ जीसका सम्बन्ध नहीं है ऐसे वेद वाक्य का प्रामाण्य अन्यत्र दृष्ट नहीं है तो विधि के सम्बन्ध से शून्य वेदान्त वाक्यों में प्रामाण्य कैसे होगा। इसका समाधान भाष्य में, न चानुमान गम्यं शास्त्र प्रामाण्यम्, शास्त्र में प्रामाण्य अनुमान से नहीं जाना जाता किन्तु स्वतः है जिससे अन्यत्र देखे हुए दृष्टान्त की अपेक्षा हो। जिससे कि विधय संस्पर्शी वेदान्त वाक्य में भी प्रामाण्य है।

(इसकी व्याख्या भामती में की जाती है) प्रमाणों में प्रामाण्य अबाधित जिसका बाधन हो अर्थात् उत्तर ज्ञान से निवृत्ति न हो और अनधिगत, जिसका पूर्व में ज्ञान न हो और सन्देह से रहित हो ऐसे अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करना ही प्रमाणों का प्रामाण्य है वह स्वतः है किसी अन्य की अपेक्षा से नहीं है यह कहा गया है।

शंका—'वेदान्तवाक्यं प्रमाणं अनर्थं निवर्तक ज्ञान जनक वाक्य त्वात्‌त्रा स्वत्रिक सर्पाभाव बोधक नायं सर्पः रज्जुरियामित्यादि वाक्यवत्—वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं अनर्थ को निवृत्त कराने वाला जो ज्ञान उसको उत्पन्न कराने वाला वाक्य होने से, वस्तुतः सर्प नहीं है इस अर्थका बोधक वाक्य यह रस्सी है सर्प नहीं है, इसके समान। इस अनुमान से वेदान्त वाक्य में [1]प्रामाण्य गृहीत होता है। तो भाष्य में शास्त्र प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है यह कैसे कहा।

जिसका उत्थान भामती में यद्यपि इत्यादि से किया गया। यद्यपि प्रमाणो' का इस प्रकार से ज्ञान को उत्पन्न करना अनुमान है पर्याय जिसका ऐसे कार्यार्थापत्ति से समधिगम्य है, जानने के योग्य है।

समाधान—तथापि वेदान्तवाक्यरूपशब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानके उत्पत्ति में शब्द अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते वह ज्ञानरूप प्रमा किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षाके बिना ही शाब्दबोधको उत्पन्न, करने वाला आकांक्षा योग्यतादि विशिष्टवाक्यसे ही होता है। उस प्रमा के उत्पन्न होनेपर प्रमा जनकता के ज्ञान में अनुमान प्रमाण प्रवृत्त हो। और न तो वेदान्त वाक्य जन्य प्रमात्मकरूप ज्ञान अपने उत्पत्ति में उक्त अनुमान की ही अपेक्षा करता है। क्योंकि अन्योयाश्रयदोष है, यदि प्रमा अपने उत्पत्ति में उसकी अपेक्षा करे प्रमा के उत्पन्न होने पर प्रमाण में प्रमा जनकता का अनुमान होगा, और प्रमा तभी उत्पन्न होगी जब प्रमाण में

१—अर्थात् वेदान्त वाक्य से जन्य जो प्रमात्मक ज्ञान रूप कार्य उससे वेदान्त वाक्य प्रमाण है, प्रमा के जनक हैं यह सिद्ध होता है।

प्रमा जनकता का अनुमान हो। तो प्रमा की अनुमान की अपेक्षा है, अनुमान प्रमापेक्षित है तो परम्परा पेक्ष होने से अन्योयाश्रय, दोष है। इस लिए प्रमा अनुमान की अपेक्षा न कर स्वतः होती है। प्रमा जनकत्वरूप प्रमाण त्व के ज्ञान में अनुमान के उपयोग होने पर भी प्रमाके उत्पत्ति में अनुमान की आवश्य-कता नहीं है प्रमा, वाक्य से ही होती है यह भाव है। ऐसी बोधजनकता कार्य परक विधि वाक्य के समान वेदान्तवाक्यों का भी सिद्ध ब्रह्म में है इसलिए दृष्टान्त की अपेक्षा न कर उनवाक्योंका ब्रह्ममें प्रामाण्य सिद्ध होता हैं। सिद्ध ब्रह्ममें भी वेदान्त वाक्यों से प्रमाकी उत्पत्ति अनुभव सिद्ध है यह भाव है। अनुभवसिद्ध भी प्रमोत्पत्तिका यदि अन्यत्र सिद्ध वस्तुपरक अर्थवादादि वाक्यों में न देखे, जाने से अपलापकियाजाय तो फिर श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, रूप को प्रकाशित करती नहीं देखी गई तो चक्षुरिन्द्रिय भी, रूपको प्रकाशित नहीं करेगी। तस्मात् इस हेतु से ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है यह सिद्ध होता है। यह प्रकरण प्राप्त अर्थ का उपसंहार भाष्यमें तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्र प्रमाण कत्वम् से किया। इस तरह से सिद्ध वस्तु से अन्य प्रमाण के अधीन पौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्यमान कर वेदान्त वाक्य में अन्य प्रमाण की अपेक्षा न कर क्रिया विषयता के बिना पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं है यह पूर्व पक्षी का मत, ब्रह्मात्मैक्य अन्य प्रमाणों से जानने के योग्य नहीं है केवल शास्त्रैक समाधिगम्य है उसके अवगति मात्र से ही परम पुरुषार्थ रूप प्रयोजन सिद्ध होता है यह बतलाकर निराकरण किया गया। अब जो कार्य से अन्वित पदार्थ में ही पद का शक्तिग्रह मानते हैं इसलिए सिद्ध वस्तु शब्द बोध्य नहीं है। अतः वेदान्त उपासना नियोगपरक है ऐसा जो मानते हैं उनका मत निराकरण करने के लिए उनके मत से पूर्व पक्ष का उत्थान भाष्यकार करते हैं।

भाष्य

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते। यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्ति विधि विषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीया दीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत्। कुत एतत्, प्रवृत्ति निवृत्तिप्रयोजनत्वा च्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्रतात्पर्यविदे आहुः— दृष्टोहि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् इति। चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्। तस्य ज्ञान मुपदेशः (जै० सू० १।१।५) तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः— जै०सू० (१।१।२५) आम्नायस्य क्रियार्थत्वा दानर्थ क्यमतदर्थानाम्—जै०सू० १।२ १ इतिच। अतः पुरुषं क्वचि द्विषयविशेषे प्रवर्तय त्कुतश्चिद्विषय विशेषा न्निवर्तय च्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेष-तया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्ता नामपि तथैवार्थवत्वं, स्यात्।

सतिच विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादि साधनं विधीयते, एवममृत कामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयतेइति युक्तम् ।

भामती

आचार्यदेशीयानां मतमुत्थापयति—अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्त इति । तथा हि—अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया । मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद्ब्रह्मनिश्चः । नखलुवेदान्ता सिद्धब्रह्मरूपपरा भवितुमर्हन्ति तत्राविदित संगतित्वात् । यत्रहि शब्दा लोकेन न प्रयुज्यन्ते तत्र न तेषांसंगतिग्रहः । न चाहेयमनुपादेयं रूपमात्रं कश्चिद्विवक्षति प्रेक्षावान् तस्याबुभुत्सितत्वात् अबुभुत्सिताव बोधने च प्रेक्षावत्ताविघातात् । तस्मात् प्रतिपित्सितं प्रतिपादयन्नयं लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतमेवार्थं प्रतिपादयेत् । कार्यं चावगतं तध्देतुरिति तदेव बोधयेत् । एवञ्च वृद्धव्यवहारप्रयोगात् पदानां कार्यपरतामवगच्छति । तत्र किञ्चित्साक्षात्कार्याभिधायकं किंचित्तु कार्यार्थं स्वार्थाभिधायकं, न तु भूतार्थपरता पदानाम् । अपिच नरान्तरस्य व्युत्पन्नस्यार्थप्रत्यय मनुमाय तस्य च शब्दभावाभावानुविधानमवगम्य शब्दस्य तद्विषयबोधकत्वं निश्चेतव्यम् नच भूतार्थरूपमात्र प्रत्यये परनरवर्तिनि किंचिल्लिङ्गमस्ति, कार्यप्रत्ययेतु नरान्तरवर्तिनि प्रवृत्तिनिवृत्तीस्तो हेतू इत्यज्ञातसंगतित्वान्न, ब्रह्मरूपपरावेदान्ताः ।

सुभद्रा—आचार्य देशीयों कामत उठा रहे हैं भाष्यकार । आचार्य शब्द से ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्य देशीयरः इस पाणिनिसूत्रसे ईषद समाप्ति अर्थ में देशीयर् प्रत्ययकर उक्त रूप सिद्ध होता है । इससे आचार्यों के अपेक्षा किञ्चिन्यूनता प्रतीत होती है । और उक्त पूर्व पक्षी से विशेषता । क्योंकि वह सिद्ध ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं मानता है । इनके मत मे (सिद्ध) ब्रह्ममें, शास्त्रप्रमाण है तथापि उपासना विधि विषयक ही इहा शास्त्र से प्रतिपाद्य है यह विशेषता है ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध ब्रह्म अलौकिक होने से उसमें, संकेत (शक्तिग्रह) के न होने से और उसका बोध कराने वाले वेदान्त, वाक्यों के शास्त्र होने से अर्थ युक्त, अर्थात्, प्रयोजन से युक्त, होना चाहिए इससे और श्रवणके बाद माननादि के प्रतीति होने से, कार्यार्थक ब्रह्मका निश्चय होता है । वेदान्त सिद्ध ब्रह्म के बोधक नहीं हो सकते अलौकिक होने से उसमें शक्ति ज्ञान गृहीत नहीं होता जिस अर्थ में लोक[1] में शब्द का प्रयोग नहीं होता उस में शब्दका संकेत

१—लोक शब्द से यहाँ शिष्ट वृद्ध जन विवक्षित हैं, साधारण जन नहीं, वैसा मानने से पामर पुरुषों के निरर्थक शब्द प्रयोग देखे जाने से उक्त अर्थ की संगति नहीं होगी ।

ग्रह, शक्ति ज्ञान नहीं होता। क्योंकि कोई भी विचारवान् पुरुष जो न हेय त्यागने के योग्य है, और न तो उपादेय ग्रहण करने के योग्य है, ऐसे केवल वस्तु के स्वरूप मात्र को कहने की इच्छा नहीं करता है। क्योंकि वह जानने की इच्छा का विषय नहीं है। और जो वैसा नहीं हैं ऐसे वस्तु को कहने में उसको विचारक नहीं कहा जा सकता। लोक में मनुष्य उसी को जानना चाहते हैं, जो ग्राह्य अथवा त्याज्य हो।

हित वस्तुका ग्रहण अहित का त्याग लोक में प्रसिद्ध है। अतः वे ही जानने के इच्छा के विषय होते हैं। आशय यह है कि उत्तम वृद्ध का शब्द प्रयोग रूप व्यापार प्रवृत्ति और निवृत्ति के हेतुभूत कार्यार्थ शब्द में ही देखा जाता है। तो प्रेक्षावान्, यानी विचारक पुरुष ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करता है, इसलिए प्रयोग उसी का होता है जो वक्ता के कहने को और श्रोता के जानने की इच्छा का विषय हो। सिद्धार्थक शब्द में उक्त दोनों बातों का अभाव होने से उसमें उक्त पुरुष का प्रयोग नहीं हो सकता। इस कारण से प्रतिपित्सित, (जानने) के इच्छा का विषय जो अर्थ उसको कहने की इच्छा करता हुआ यह लोक प्रवृत्ति और निवृत्ति के हेतुभूत, अर्थ को ही कहेगा। और कार्य अर्थात् कार्यार्थक पद प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण. जाना गया है इसलिए वही बोधक हैं। इस तरह से वृद्ध व्यवहार के प्रयोग से पदों में कार्यपरता का ज्ञान होता है। कुछ पद साक्षत् कार्य के कहने वाले हैं, जैसे आनय आदि पद, कुछ कार्यार्थ, कार्य में अन्वित अपने अर्थ को कहते हैं, जैसे गामानय से गोपद, आनयन रूप कार्य में अन्वित गोत्व विशिष्ट रूप अर्थ को कहता है। तो (गोपदं न कार्यानान्विते गोत्वे गृहीतशक्तिकम् तत्र वृद्धैरप्रयुक्तत्वात, तुरगादिपद वत्। गोपद का काय में अनन्वित अर्थात् कार्य में सम्बन्ध जिसका नहीं है ऐसे गोत्वमें शक्ति नहीं गृहीत होती, उसमें वृद्ध प्रयोग न होने से यह अनुमान सूचित हुआ। इस तरह से पद भूतार्थ के, अर्थात् सिद्ध वस्तुके तात्पर्य से, प्रयुक्त नहीं होते क्योंकि उत्तम वृद्धका प्रयोग उसमें नहीं हैं यह कहा गया। अब मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति जो कि जिज्ञासु बालक के व्युत्पत्ति का कारण है वह भी सिद्ध वस्तु में संभव नहीं है इसलिए भी उसमें शक्ति ग्रह संभव नहीं है यह अपिच इत्यादि से कह रहे हैं भामतीकार। और भी, व्युत्पत्ति, शक्ति, गृहीत है जिसको ऐसे, अन्य पुरुष, अर्थात् मध्यमवृद्ध के अर्थ ज्ञानका अनुमान करके और उस अर्थ ज्ञानका कारण. उत्तम वृद्धके द्वारा प्रयुक्त शब्द ही है यह अन्वय व्यतिरेक द्वारा निश्चत करके शब्द उस अर्थका बोधक है यह निश्चय करना, पड़ेगा। अन्वय, जिसके रहने पर जो रहे वह अन्वय है, जिसके न रहने पर जो न रहे

वह व्यतिरेक है। शब्द के उच्चारण करने पर ही अर्थकी प्रतीति होती है, यह अन्वय, उसके बिना नहीं होती यह व्यतिरेक। सिद्धार्थ, अर्थात्, केवल वस्तु स्वरूपका ज्ञान अन्य पुरुष में है इसमें कोई हेतु, नहीं है। अन्य पुरुष में रहने-वाली कार्य की प्रतीति में प्रवृत्ति और निवृत्ति हेतुभूत हैं। इसलिए सिद्ध ब्रह्म, में व्युत्पत्तिग्रह न होने से वेदान्त ब्रह्म स्वरूप के बोधक, नहीं है।

भामती

अपि च वेदान्तानां वेदत्वाच्छास्त्र प्रसिद्धिरस्ति। प्रवृत्ति निवृत्तिपराणां च सन्दर्भाणां शास्त्रत्वम्। यथाहुः—प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥ इति। तस्माच्छास्त्रत्व प्रसिद्धया व्याहतमेषां स्वरूपपरत्वम्। अपि च न ब्रह्मरूप प्रतिपादन पराणामेषा-मर्थवत्त्वं पश्यामः। न च रज्जुरियं न भुजङ्ग इति यथाकथञ्चिल्लक्षणया वाक्यार्थतत्त्वानिश्चये यथा भयकम्पादि निवृत्तिः, एवं तत्त्वमसि इति वाक्यार्था-वगमान्निवृत्तिर्भवति सांसारिकाणां धर्माणाम्, श्रुतवाक्यार्थस्यापि पुंसस्तेषां तादवस्थ्यात्। अपि च यदि श्रुतब्रह्मणो भवति सांसारिक धर्मनिवृत्तिः कस्मात् पुनः श्रवणस्योपरि मननादयः श्रूयन्ते। तस्मात्तेषां वैयर्थ्य प्रसङ्गादपि न ब्रह्मस्वरूपपरा वेदान्ताः किन्त्वात्मप्रतिपत्ति विषय कार्यपराः। तच्च कार्यं स्वात्मनि नियोज्यं नियुञ्जानं नियोग इति च मानान्तरा पूर्वतयाऽपूर्वमिति चाख्यायते। न च विषयानुष्ठानं बिना तत्सिसिद्धिरिति स्वसिद्धये तदेव कार्यं स्वविषयस्य करणस्यात्मज्ञानस्यानुष्ठान माक्षिपति। यथा च कार्यं स्वविषया धीनानिरूपणमिति ज्ञानेन विषयेण निरूप्यते, एवं ज्ञानमपि स्वविषयमा-त्मानमन्तरेणाशक्यनिरूपण मिति तन्निरूपणाय तादृशमात्मान माक्षिपति, तदेव कार्यम्। यथाहुः—यत्तु तत्सिद्धयर्थमुपादीयते—आक्षिप्यते, तदपि विधेय मिति तन्त्रेव्यवहारः इति। विधेयता च नियोग विषयस्य ज्ञानस्य भावार्थतयाऽनुष्ठेयता, तद्विषयस्य त्वात्मनः स्वरूपसत्ताविनिश्चितिः। आरो-पित तद्भावस्य त्वन्यस्य निरूपकत्वे तेन तन्निरूपितं न स्यात्। तस्मात्तादृगा-त्मप्रतिपत्तिविधिपरेभ्यो वेदान्तेभ्यस्तादृगात्मविनिश्चयः। तदेतत्सव माह यद्यपीति।

सुभद्रा—और भी वेदान्त के वेद का भाग होने से उनमें वेदत्व के रहने से शास्त्र की प्रसिद्धि है। जैसा कि कहा भी है, पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश जिस नित्य, वेद अथवा कृतक पुरुष प्रणीत धर्मशास्त्र मन्वादि स्मृति आदि से किया जाय वह शास्त्र कहा जाता है। इसलिए वेदान्त वाक्यों

में भी शास्त्रत्व के प्रसिद्ध होने से केवल स्वरूप परक उनको मानना व्याघात है। स्वरूप परक मानने से उनमें शास्त्र का उक्त लक्षण न घटने से शास्त्रत्व ही उनमें नहीं रह सकता और वेद होने से शास्त्रत्व का मानना आवश्यक है। और भी यदि वेदान्त केवल ब्रह्मस्वरूप का ही प्रतिपादन करें तो उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध होता हुआ हम नहीं देखते। यदि कहा जाय, कि रज्जुरियं नायं भुजङ्गः, (यह रस्सी है सर्प नहीं है) इस स्वरूप परक वाक्य से भी जिस किसी प्रकार से लक्षण के द्वारा वाक्य के अर्थ तत्त्व का निश्चय होने पर जैसे भयकंप आदि की निवृत्ति होती है, उसी तरह तत्त्वमसि आदि वाक्य जो कि सिद्ध परक है, अर्थात् जीव ब्रह्मैक्य के बोधक हैं उनके अर्थ ज्ञानमात्र से सांसारिक धर्मों की मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं कर्ता भोक्ता हूँ आदि धर्मों की निवृत्ति होने से, सकल दुख निवृत्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि हो जायगी तो यह कहना कि, वेदान्त के स्वरूप परक होने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता युक्त नहीं हैं। तो यह उचित नहीं, वेदान्त वाक्यों के श्रवण करने पर भी उक्त धर्मों की निवृत्ति नहीं होती, (श्रवण के पूर्वकाल में जैसे वे धर्म रहते हैं वैसे ही तदनन्तर भी वे धर्म देखे जाते हैं यह भाव है,) यदि श्रवण किए हुए पुरुष को सांसारिक धर्मों की निवृत्ति हो जाय, तो श्रवण के बाद मनन निदिध्यासन व्यर्थ हो जायेगें, और मनन आदि भी मन्तव्यः आदि वाक्यों से श्रुत हैं। मनन आदिव्यर्थ न हों इसलिए भी वेदान्तब्रह्म स्वरूप परक नहीं हैं, किन्तु आत्म प्रतिपत्ति, आत्मज्ञान है विषय अवच्छेदक, जिस कार्य का तत्परक वेदान्त वाक्य है। प्राभाकर के मत में लिङ्लकार का नियोग यानी अपूर्व अर्थ है, तो वह नियोग क्या कार्य से भिन्न है ऐसी शंका होने पर भामतीकार कहते हैं वह कार्य ही अपने नियोज्य, नियुक्त करने के योग्य अधिकारी को नियुक्त करता हुआ नियोग कहा गया है। अन्यप्रमाणों से पूर्व सिद्ध न होने के कारण अपूर्व कहा जाता है। यदि वेदान्त वाक्य कार्य परक हैं तो सिद्ध ब्रह्म का बोध कैसे होगा, ऐसी शंका होने पर विध्याक्षेप है दूसरा नाम जिसका ऐसे उपादान प्रमाण से (विधि से आक्षिप्त होने से जिसका ग्रहण हो) उसकी सिद्धि होगी। (इसका स्पष्टीकरण भामतीकार न च इत्यादि से) करते हैं विषय के अनुष्ठान के बिना उस अपूर्व की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए अपने सिद्धि के लिए वह अपूर्व रूप कार्य ही अपनी प्रतीतिरूप उपाधि से विषय, और अपने सिद्धि का संपादक होने से करण, भूत आत्मज्ञान के अनुष्ठान का आक्षेप करता है। जिस तरह से कार्य का निरूपण अपने विषय के अधीन है इसलिए वह अपने ज्ञान और विषय से निरूपित होता है, इसी प्रकार आत्म ज्ञान भी अपने विषय आत्मा के बिना उसका निरूपण नहीं हो सकता इसलिए

अपने निरूपण के लिए वैसे आत्मा का आक्षेप करता है अभिप्राय यह है कि यजेत यहाँ पर लिङ्लकार से प्राभाकर के मत में अपूर्व की कार्यत्वेन प्रतीति होती है, कार्य कृति, अर्थात् प्रयत्न से साध्य होता है, अन्य प्रमाणों से पूर्व में असिद्ध अपूर्व रूप कार्य में साक्षात् कृतिसाध्यता बनती नहीं इसलिए जिसके द्वारा अपूर्व में कृतिसाध्यता सिद्ध हो वह यज् धातु का अर्थ याग होम आदि ही कृतिसाध्य हैं, साध्यत्वेन कृति के विषय हैं, इसलिए उससे उत्पन्न अपूर्व भी जिसके द्वारा यागादि की स्वर्ग में करणता सिद्ध होती है वह भी, कृति के विषय हैं। कृतिसाध्यत्व रूप कार्यघटक कृति के विषय, साक्षात् यागादि है, किं विषयिणी कृति ऐसी जिज्ञासा होने पर यागादि विषयिणी कृति, ऐसा अनुभव होने से, उस यागादि से उत्पन्न अपूर्व भी, परम्परया, कृति का विषय है, एवं यागादि स्वर्ग भावना में करण भी हैं यागेन स्वर्गं भावयेत्, याग से स्वर्ग की भावना करे ऐसी प्रतीति होने से, तो यागादि कृति के विषय भी हैं और स्वर्ग भावनामें करण भी हैं। उसी तरह आत्मज्ञान कार्य का विषय भी और करण भी है आत्मा ज्ञातव्यः आत्मेत्येवोपासीत आदि स्थलों में, तव्यप्रत्यय और लिङ्लकार से कार्य प्रतीत होता है, जिसका विषय, आत्मज्ञान है, अर्थात् आत्मोपासनरूप ज्ञान। और उपासना के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है जो कि यागादि के समान करण भी है। उससे आत्मा भी आक्षिप्त है। इस तरह कार्य परक वेदान्त से भी, सिद्धब्रह्मरूप आत्मा का बोध होता है। कार्य यदि अपने, विषय ज्ञान के निरूपण के लिये आत्मा का आक्षेप करता है, तो वह आक्षेप से लभ्य है अतः श्रौत नहीं है ऐसी शंका होने पर भामती में कहा यथाहुः इत्यादि, जैसा कि वृद्धों ने कहा है, जो उसके अर्थात् कार्य के सिद्धि के लिए आक्षिप्त किया जाता है वह भी विधेय है। ऐसा तन्त्र, शास्त्र में व्यवहार है, अर्थात् विधि से आक्षिप्त भी श्रौत है यह प्रभाकर को सम्मत है।

शंका—आत्मा का प्रमात्मक, यथार्थ ज्ञान विधेय हो नहीं सकता प्रत्यक्षादि ज्ञान के समान, जैसे प्रत्यक्ष, इन्द्रिय जन्य ज्ञान वस्तु के अधीन होने से कृतिसाध्य नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रिय का वस्तु के साथ सम्बन्ध होने से वह ज्ञान प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है, उसी तरह आत्मज्ञान भी प्रयत्न की अपेक्षा न करने से विधेय नहीं है, और न तो नित्य होने से आत्मा ही विधेय हो सकता है तो आत्म प्रतिपत्ति विधि परक वेदान्त वाक्य कैसे।

सामाधान नियोग यानी अपूर्व का विषय जो ज्ञान अर्थात् उपासना जो कि क्रिया है उसमें नियोग विषयता, अर्थात् अनुष्ठेयता सम्भव है इसलिए भावार्थतया,

अर्थात् क्रिया होने से अनुष्ठान की योग्यता उस उपासना रूप ज्ञान में सम्भव है। उसका विषय जो आत्मा उसके स्वरूप की जो सत्ता उसका निश्चय, वह पूर्व में ज्ञात न होने से उसकी ज्ञापकता, (उसको जनाना) ही विधेय है जिससे कि विरोध नहीं है। वाचं धेनुमुपासीत के समान, जैसे वहाँ पर वाणीमेंधेनुत्व आरोपित है उसी तरह जीव में सत्य ज्ञान आनन्द आदि जो ब्रह्म का स्वरूप उसका आरोप करके आरोपित ब्रह्म भाव का विधेय ज्ञान विषयता क्यों न हो ऐसी शंका होने पर; भामती में कहा गया आरोपित तद्भावस्य इत्यादि। आरोपित है, तत्भाव जिससे, तद्भपद से अहंब्रह्मास्मि, इस ज्ञान से भासित जो सत्य ज्ञानानन्दादि स्वरूप ब्रह्म वह आरोपित है जिस जीव में ऐसा जो, अर्थात् जीव के स्वरुप कोटि से वहिर्भूत सत्य आदि वह है— यदि विधेय ज्ञान का निरूपक हो तो जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वास्तविक सत्य ज्ञान आनन्द आदि से निरूपित न होगा। किन्तु आरोपित ही निरुपित होगा। आरोप के बिना ही तद्भाव ब्रह्म भाव में यदि ज्ञान निरूपितत्व सम्भव है तो आरोप अयुक्त है। इस कारण से, सत्य ज्ञानानन्दादि स्वभाव विशिष्ट आत्मज्ञान विधि परक वेदान्त वाक्यों से उक्त स्वभाव विशिष्ट, आत्म स्वरूप का निश्चय होता है। यह सब भाष्य में यद्यपि शास्त्र प्रमाणकं ब्रह्म इत्यादि से कहा गया है।

भामती

विधि परेभ्योऽपि वस्तुतत्त्व विनिश्चय इत्यत्र निदर्शन मुक्तयथा यूपेति। यूपेपशुं वध्नाति, इति वन्धनाय विनियुक्तं यूपेतस्यालौकिकत्वात् कोऽसौ यूप इत्यपेक्षिते खादिरो यूपो भवति, यूपं तक्षति यूपमष्टा स्त्रीकरोति इत्यादिभिर्वाक्यैस्तक्षणादिविधिपरैरपि संस्काराविष्टं विशिष्टसंस्थानं दारू यूप इतिगम्यते। एव माहवनीयादवयोऽप्यगन्त व्याः। प्रवृत्ति निवृत्ति परस्य शास्त्रत्वं न स्वरूपपरस्य कार्यं एवच, संबन्धो न स्व-रूपे इति हेतुद्वयं भाष्यवाक्येनो पपादितम् प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वात इत्यादिना तत्सामान्याद्वेदान्ताना मपितथैवार्थवत्वं स्यात् इत्य-न्तेन। नच स्वतन्त्रं कार्यं नियोज्य मधिकारिणमनुष्ठातार मन्तरे णेति नियोज्य भेदमाह—सति च विधिपरत्व इति। ब्रह्मवेद ब्रह्मै वभवति, इति सिद्धवदर्थवादा दवगतस्यापि ब्रह्मभवनस्य न नियोज्य विशेषाकांक्षायां ब्रह्मबुभूषो नियोज्य विशेषस्य रात्रिसत्रन्यायेन प्रति-लम्भः। पिंडपितृयज्ञन्यायेन तु स्वर्गं कामस्य नियोज्यस्य कल्पनायाभथ वादस्यासमवेतार्थत्वयास्यन्तपरोक्षा वृत्तिः स्यादिति। ब्रह्मभव-

श्रामृतत्वमिति अमृतत्वकामस्य इत्युक्तम्। अमृतत्वं चामृतत्वादेव न कृतकत्वेन शक्यमनित्यमनुमातुम् आगमविरोधादिति: भावः।

सुभद्रा—विधि परक वाक्य से भी वस्तुतत्त्व का निश्चय होता है इसमें दृष्टान्त भाष्य में कहा गया, (यथा यूपेत्यादि) यूपे पशुं बध्नाति, (यूप में पशु को बांधता है,) इस वाक्य से बन्धन के लिए विनियुक्त यूप, लोक में प्रसिद्ध न होने से वह यूप क्या है ऐसी अपेक्षा होने पर, खादिर यूप होता है, खैर के लकड़ी का बना हुआ यूप होता है, उस यूप को छीलता है, उसको अष्ट कोण युक्त एक विशेष प्रकार का अवयव संस्थान विशेष करता है इत्यादि लक्षणादि विधिपरक वाक्यों से लक्षणादि से संस्कृत काष्ठ विशेष ही यूप है। अर्थात् अष्टकोण से युक्त लक्षणादि संस्कार जिसका हुआ है ऐसे खंभेके समान बने हुए काष्ठ विशेष की यूप संज्ञा है यह प्रतीत होता है। तो जैसे वहां पर यूपंतक्षति इत्यादि विधिपरक वाक्यों से यूपके वस्तु स्वरूप का निश्चय होता है, ऐसे ही ज्ञान विधिपरक वाक्यों से आत्म स्वरूप का निश्चय हो जायगा। इसी प्रकार भाष्यस्थ आहवनीयादि पदार्थ भी जान लेना चाहिए।

विशेष—(आहवनीये जुहोति ऐसी विधि श्रुत है। आहवनीय क्या है ऐसी जिज्ञासा होने पर वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्निका आधान करे, इस विधि वाक्यमें संस्कार विशिष्ट अग्नि आहवनीय शब्दार्थ है यह ज्ञात होता है, यहां पर भी उक्त विधि वाक्य से आहवनीय के स्वरूपका निश्चय होता है। एवं अपूर्व देवता स्वर्ग आदि भी शास्त्रसे ही जाने जाते हैं क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन प्रवृत्ति और निवृत्ति है प्रवृत्तिपरक या निवृत्तिपरक वाक्यमें ही शास्त्रत्व है न कि केवल स्वरूप मात्रबोधक वाक्यों में, सम्बन्ध, शक्तिग्रह कार्यान्वितमें ही होता है केवल बोधक पदार्थ में नहीं, यह दो हेतु भाष्यकार ने प्रवृत्तिनि वृत्ति प्रयोजनत्वात् से लेकर तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्वं स्यात् पर्यन्त कहा।

(भाष्यमें दृष्टोहि तस्यार्थः इत्यादि जैमिनि प्रणीत सूत्र उदाहृत हैं। उनके अर्थका स्पष्टी करण) दृष्टो हितस्यार्थः कर्मावबोधनम्। उसवेदका अर्थयानी प्रयोजन कर्म यानी नियोगका ज्ञान कराना ही है। (चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्) चोदना शब्दसे क्रिया यानी नियोग, उसके प्रवृत्त कराने वाला, उसका अनुष्ठान कराने वाला वचन कहा जाता है। तस्य ज्ञान मुपदेशः। उस धर्म में ज्ञान, ज्ञायतेऽनेनेतिज्ञानम्, जिससे जाना जाय, अर्थात् प्रमाण उपदेश विधिवाक्य हैं। तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः। उन सिद्धार्थक पदोंका, अर्थात् सिद्धवस्तुके बोधक पदोंका, क्रियार्थ होने से

क्रिया के अङ्गभूत होने से ही समाम्नाय उच्चारण है। (आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतदर्थानाम्) वेदके क्रियापरक कहाने से जो भाग क्रिया परक नहीं हैं उनमें प्रयोजन कुछ नहीं है।

इसलिए पुरुषको किसी विषय विशेष में प्रवृत्त कराता हुआ और किसी विषय विशेष में निवृत्त कराता हुआ ही शास्त्र अर्थवान् है। और सब उसके अङ्गभूत होने से ही उपयुक्त हैं। वेदान्त भी उसी तरह होने से विधिवाक्य के अङ्गभूत होकर ही अर्थवान् हैं।

(स्वतन्त्र कार्य नियोज्य; जो कि नियोगको अपना समझता है, अधिकारी कार्य का स्वामी, अनुष्ठान क्रिया के कर्ता बिना संभव नहीं है इसलिए नियोज्य विशेषको भाष्यमें कहते हैं। विधिपरक वेदान्त वाक्यों के सिद्ध होने से, स्वर्ग चाहने वाले पुरुष के उद्देश्य से जैसे अग्निहोत्रादि का विधान है, उसी तरह अमृतत्व मोक्ष, का मन वाले पुरुष को उद्देश्य कर ब्रह्मज्ञान का विधान किया जाता है। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ब्रह्म जानने वाला ब्रह्म ही होता है, यहां पर भवति इस सिद्ध रूप से ब्रह्मभाव अवगत है, इसलिए कार्य विधि परक वेदान्त नहीं है, ऐसी शंका होने पर वह भी कार्यपरक है इसको भामती में कहते हैं। उक्त अर्थ वाद वाक्य से सिद्ध के समान अवगत भी ब्रह्मभावको नियोज्य विशेषकी आकांक्षा होने पर ब्रह्म बुभूषु जो नियोज्य विशेष उसका रात्रिसत्र न्याय से प्रतिलब्धि होती है। आशय यह है कि प्रति तिष्ठन्ति हवाय एतारात्री रुपयन्ति, यह अर्थवाद वाक्य श्रुत है, वहां पर रात्रि शब्दसे आयुर्ज्यो तिरित्यादि वाक्य विहित सोमयाग विशेष प्रति पा दित है, तो उसका क्या याग साधारण स्वर्ग ही फल है, अथवा प्रतितिष्ठन्ति यह अर्थवाद वाक्य स्थपद प्रतिपाद्य प्रतिष्ठा फल हैं, ऐसा संशय होने पर उक्त अर्थवाद वाक्य से उपस्थित प्रतिष्ठा रूप फल को छोड़कर अनुपस्थित स्वर्गरूप फलकी कल्पना अनुचित है। इसलिए प्रतिष्ठा ही रात्रिसत्रका फल है। प्रतिष्ठा चाहने वाला पुरुष ही उसमें नियोज्य है, अर्थात् अधिकारी है, प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यात् प्रतिष्ठा चाहने वाला रात्रिसत्रयज्ञ करै, ऐसी विधिकी कल्पना होती है। उसी तरह ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति इस अर्थवाद वाक्य से प्रतीत ब्रह्मभाव रूप फल भी विधिकी कल्पना करैगा। यहां पर ब्रह्मभाव के प्राप्ति की इच्छा करने वाला ही नियोज्य है। इस तरह से उक्त वाक्य का विपरिणाम करके ब्रह्म बुभूषुर्ब्रह्म विद्यात्, ब्रह्म होने की इच्छा करने वाला पुरुष ब्रह्मका ज्ञान, अर्थात् उपासना करे, यह विधि पर्यवसित होती है। पिंडपितृयज्ञन्यायसे स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष ही ब्रह्मके उपासनामें नियोज्य है और स्वर्ग प्राप्ति ही फल है,

ऐसी कल्पना करने पर उक्त अर्थवाद वाक्य से प्रतीयमान ब्रह्म भाव रूप अर्थ स्वर्ग प्राप्ति रूपफल से अत्यन्त असम्बद्ध होने से उक्त अर्थवाद वाक्य को अत्यन्त परोक्षवृत्ति (लक्षणा वृत्ति) माननी पड़ेगी जो कि युक्त नहीं है। अभिप्राय यह है कि अमावास्यायामपराह्णे पिंडपितृयज्ञेन चरन्ति यह अप्रकरण पठित वाक्य पूर्वमीमांसामें श्रुत है। वहाँ पर यह विचार किया जाता है कि पिंडपितृयज्ञ क्रत्वर्थ यज्ञका अङ्ग है यज्ञ के फल से ही फलवान् है, अथवा पुरुषार्थ है साक्षात् फल का जनक है ऐसा संशय होने पर श्रुतिमें अमावास्या शब्द के दर्शयाग रूप अर्थ में प्रसिद्ध होने पर क्रत्वर्थ है स्वतंत्रफलक नहीं है ऐसा पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त किया गया कि अमावास्या शब्दको रूढ़ि काल विशेष में होने से और अपराह्ण ऐसा काल विशेष के बोधक पद के समभि व्यवहार होने से अमावास्या तिथिमें विहित पिंडपितृयज्ञ एक प्रकार का यज्ञ विशेष स्वतन्त्र होने से पुरुषार्थ है अर्थात् साक्षात् स्वर्ग रूप फल का जनक है। वहाँ पर जैसे स्वर्ग कामी पुरुष नियोज्य है और स्वर्ग प्राप्ति उसका फल है उसी तरह यहाँ पर भी यदि स्वर्ग कामी पुरुष को नियोज्य माना जाय और स्वर्ग प्राप्ति रूपफल की कल्पना की जाय तो ब्रह्मभवन रूप श्रुत अर्थ का परित्याग करके स्वर्ग प्राप्ति काम रूप अत्यन्त असम्बद्ध अर्थ में उसकी जहत्स्वार्था लक्षणा करनी पड़ेगी। यद्यपि ब्रह्मभाव रूप फल के मानने में भी ब्रह्मभवनकामः ऐसी लक्षणा माननी पड़ती है इसलिए परोक्षवृत्तिता दोनों पक्ष में तुल्य है। तथापि सिद्धान्त में मुख्य अर्थ ब्रह्मभवनका परित्याग न होने से जहत्स्वार्था लक्षणा है पूर्वपक्षमें मुख्य अर्थका अत्यन्त परित्याग होनेसे अवश्य जहत्स्वार्था वृत्ति माननी पड़ती है जो कि अत्यन्त परोक्ष है। ज्ञान विधिका का फल यदि ब्रह्मभाव है तो भाष्यमें अमृतत्व कामस्य ऐसा क्यों कहा, इसपर भामती में कहा गया ब्रह्मभावश्चामृतत्वम्. ब्रह्मभाव ही अमृतत्व है अमृतत्वशब्द से ब्रह्मभावका अभिधान उसके अविनाशी होने से किया। जिससे कि कार्य होने से अनित्यत्वका अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्र विरोध है।

भाष्य ९

नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्, कर्मकांडे भव्योधर्मो, जिज्ञास्यः, इहतु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति, तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञान फलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्ः कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। आत्मा वा अरे, द्रष्टव्यः (बृह० २।४।५) इति। य आत्मा-ऽपहतपाप्मासोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छान्दो० ८।७.१)आत्मेत्येवो-पासीत (बृ०१।४।७) आत्मानमेव लोकमुपासीत।(बृ०१।४।१५) ब्रह्मवेद ब्रह्मव

भवति (मुंड० २।२।९ इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा किं तद्ब्रह्म इत्याकांक्षायाम् तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे, वेदान्ता उपयुक्ताः नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मइत्येव मादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलंभविष्यतीति । कर्त्तव्यविध्यनुप्रवेशे वस्तुमात्र कथने हानोपादानासम्भवात् सप्तद्वीपावसुमती राजाऽसौगच्छतीत्यादिवाक्यवद्वेदान्तानाम नर्थक्यंमेवस्यात्। ननु वस्तुमात्र कथनेऽपि रज्जुरियं नायं सर्प इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्वं दृष्टं तथेहाप्यसंसार्यात्म वस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्ति निवर्तनेनार्थवत्वं स्यात्। स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवणइव सर्पभ्रान्तिः संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, नतु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात् श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृह० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनन निदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्, तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्र प्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

भामती

उक्तेन धर्म ब्रह्मज्ञानयोर्वैलक्षण्येन विधिविषयत्वं, चोदयति—नाविति। परिहरति- नाहत्येवमिति। अत्रचात्मदर्शनं न विधेयम्। तद्धि दृशे रूपलब्धिवचनत्वात् श्रावणं वा स्यात् प्रत्यक्षं वा। प्रत्यक्षमपि लौकिकमहं प्रत्ययोवा भावनाप्रकर्षपर्यंतजं वा। तत्र श्रावणं न विधेयम्, स्वाध्यायाधिनैवास्य प्रापितत्वात् कर्मश्रावणवत्। नापि लैकिकं प्रत्यक्ष तस्य नैसर्गिक त्वात। नचौपनिषदात्मविषयं भावनायेयवैशद्य विधेयं तस्यपिउपासन विधाना देव वाजिन वदनु निष्पादितत्वात्। तस्मादौपनिषदात्मोपासनाऽमृतत्वकामं नियोज्यं प्रति विधीयते। द्रष्टव्यः इत्यादयस्तु विधिसरूपा न विधयइति। तदिदमुक्तम्—तदुपास नाच्चेति। अर्थवत्ताया मननादिप्रतीत्या चेत्यत्र शेषः प्रपञ्चो निगदव्याख्यातः।

सुभद्रा—'जिज्ञासाऽधिकरणमें धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान में लक्षणता कही गई है कर्मकांडके प्रकरण में साध्यधर्म जिज्ञास्य है, और ज्ञानकांड में सिद्ध नित्य निस्पन्न ब्रह्म जिज्ञास्य है, जिससे कि विधि का विषय ब्रह्म बोधक वेदान्त वाक्य नहीं है। ऐसी शंका भाष्य मे की गई और उसका परिहार भी ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य विधि प्रयुक्त ही ब्रह्म यहाँ पर भी प्रतिपाद्य है, आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए, पाप से रहित आत्माका अन्वेषण करना चाहिए, इत्यादि विधि वाक्यके होने से वह आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है, ऐसी आकांक्षा होने पर उसको जनाकर ही सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य उपयुक्त हैं, इत्यादि कहकर किया गया। आत्मा द्रष्टव्यः ब्रह्म शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है ऐसा

मानना चाहिए, यह उपसंहार किया, जिससे कि पूर्वपक्षी, प्रमाण ज्ञान को विधि मानता है ऐसा भ्रम न हो इसलिए भामतीकार, आत्म दर्शन विधेय नहीं हैं यह कहते हैं। क्योंकि द्रष्टव्यः यहाँ पर दृश्धातु उपलब्धि, ज्ञानका वाची है उपासनाका नहीं, तो वह ज्ञान श्रवणेन्द्रिय जन्य है, या प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष भी लौकिक अहंप्रतीति, जो सर्वसाधारण है वह है या विरह विधुर पुरुष को कामिनी के, भावनासे भावित कामिनी साक्षात्कारके समान भावनाके आधिक्य से उत्पन्न। प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय जन्य ज्ञानको, विधेय नहीं मान सकते, वह तो स्वाध्याय विधि से ही प्राप्त है, उक्त विधि, सम्पूर्ण वेदराशि के अध्ययनका विधान करती है, जिसका फल अर्थ ज्ञान है, वही धर्म ज्ञानके समान वेदान्त वाक्यके श्रावण ज्ञानका भी विधान करती है तो पुनः उसका विधान व्यर्थ है, अप्राप्त का ही विधान होता है। और द्वितीय पक्ष लौकिक प्रत्यक्षका भी विधान नहीं हो सकता क्योंकि सर्वसाधारणको होने से वह स्वभाव सिद्ध है। स्वभाव सिद्धका विधाव नहीं होता। और न तो तृतीय पक्ष, उपनिषत्प्रति पादित आत्मा विषयक साक्षात्कार जो कि उस भावनासे, उत्पन्न वैशद्य, स्फुटता, यानी स्पष्टता है जिसमें वह विधेय है, क्योंकि आत्मेत्ये वोपासीत, इस उपासना के विधान से ही, आनुषाङ्गिक या जिन द्रव्य के समान निष्पन्न हो जाता है।

विशेष तप्तेपयसिदध्यानयति सा वैश्वदे व्यामिक्षा वाजिभ्यो, वाजिनम् तपाये हुए दूधमें दही डालने से विश्वेदेव देवताक आमिक्षा एक प्रकारकी हवि निष्पन्नहोती है, अर्थात् तपाए हुए दूधमें दही डालने से दूध फटकर उसके ऊपरका जो सार भाग है वह आमिक्षाके रूप में परिणत होता है, नीचेका भाग जो जलके समान है वह वाजिन् संज्ञक द्रव्य है, तो जैसे वहाँ पर आमिक्षाके लिए व्यापार करने पर वाजिन् रूप द्रव्य आनुषङ्गिक अर्थात् स्वयं निष्पन्न होता है, उसके लिए दूसरे व्यापारकी अपेक्षा नहीं होती। उसी तरह अमृतत्वरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए विहित उपासनासे उक्त साक्षात्कर अवश्य हो जायगा जिससे कि उसका विधान उचित नहीं है। इसलिए उपनिषत्प्रतिपादित आत्माकी उपासना मोक्षकामी पुरुष जो कि नियोज्य है उसके प्रति विहित है। द्रष्टव्यः इत्यादि विधिके समान रूपवाले हैं विधि नहीं है, आत्मो पासना ही विधि है नकि उसका ज्ञान ब्रह्मज्ञानको सिद्धान्ती के समान पूर्वपक्षी भी विधेय नहीं मानता। किन्तु सिद्धान्ती ब्रह्मके स्वरूप ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है यह मानता, है, जो कि पूर्वपक्षीको अभिमत नहीं है, किन्तु उपासना विधिके अङ्ग भूत ब्रह्मके ज्ञानसे मोक्ष होता है यह उसको स्वीकृत है। इसलिए भाष्यमें तदुपासनाच्च कहा।

मननादिके प्रतीतिसे और प्रयोजन युक्त होने से उस आत्मा, ब्रह्म के उपासनासे मोक्ष रूप अदृष्ट फल सिद्ध होता है। इसलिए वेदान्त वाक्य, कार्य परक हैं यह पूर्व पक्षीके मत का अनुवाद भाष्यकारने किया।

आगे इसका निराकरण भाष्यकार कर रहे हैं।

भाष्य

अत्राभिधीयते — न, कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा, अथातो धर्मजिज्ञासा जै० सू० १।१।१ इति सूत्रिता, अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वात् जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च, तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्।

भामती

तदेकदेशिमतं दूषयति — अत्राभिधीयते — न एकदेशिमतम्। कुतः? कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। पुण्यापुण्यमफले सुखदुःखे। तत्र मनुष्यलोकमारभ्य दुःखतारतम्य माविरिञ्चलोकात्। तच्च सर्वं कार्यं विनाशि च। आत्यन्तिकं त्वशरीरत्वमनतिशयं स्वभावसिद्धतया नित्यमकार्यं मात्मज्ञानस्य फलम्। तद्धि फलमिव फलं, अविद्यापनयमात्रेणाविर्भावात्। एतदुक्तं भवति — त्वयाप्युपासनाविधिपरत्वं वेदान्तानामभ्युपगच्छता, नित्यशुद्धबुद्धत्वादिरूपब्रह्मात्मता जीवस्य स्वाभाविकी वेदान्तगम्याऽऽस्थीयते। सा चोपासनाविषयस्य विधेर्न फलम्, नित्यत्वादकार्यत्वात्। नाप्यनाद्यविद्यापिधानापनयः तस्य स्वविरोधिविद्योदयादेव भावात्। नापि विद्योदयः तस्यापि श्रवणमनन पूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावात्। उपासना संस्कारवदुपासनाऽपूर्वमपि चेतः सहकारीति चेत्, दृष्टं च खलु नैयोगिकं फलमैहिकमपि, यथा चित्राकारीरीर्यादिनियोगानामनियतनियतफलानाम्। न गान्धर्वशास्त्रोपासनावासनाया इवापूर्वानपेक्षायाः षड्जादिसाक्षात्कारे वेदान्तार्थोपासनावासनाया जीवब्रह्मभावसाक्षात्कारेऽनपेक्षाया एव सामर्थ्यात्। तथाचामृतीभावं प्रत्यहेतुत्वादुपासनाऽपूर्वस्य नामृतत्वकामस्तत्कार्यमवबोद्धुमर्हति।

अन्यदिच्छत्यन्यत्करोतीतिहि विप्रतिषिद्धम् । नच तत्कामः क्रियामेव कार्यमवगमिष्यति नापूर्वमिति— साम्प्रतम् तस्या मानान्तरादेव तत्साधनत्व प्रतीतेर्विधेर्वैयर्थ्यात् । न चावघातादिविधितुल्यता, तत्रापि नियमापूर्वस्यान्यतोऽनवगतेः नच ब्रह्मभूयादन्यदमृतत्वमाथर्वादिक किञ्चिदस्ति, येन तत्काम उपासनायामधिक्रियेत विश्वजिन्न्यायेन तु स्वर्गं कल्पनायां तस्य, सातिशयत्वं क्षयित्वं चेति न नित्यफलत्वमुपासनायाः । तस्माद्ब्रह्मभूयस्याविद्यापिधानापनयमात्रेणाविर्भावात्, अविद्यापनयस्य च वेदान्तार्थविज्ञानादवगतिपर्यन्तादेव संभवात् उपासनायाः संस्कारहेतुभावस्य च संस्कारस्य साक्षात्कारोपजनने मनसाचिव्यस्य च मानान्तरसिद्धत्वात् आत्मेत्येवोपासीत इति, न विधिः अपितुविधि सरूपोऽयम् । यथोपांशुयाजवाक्ये विष्णुरुपांशु यष्टव्यः इत्यादयो विधिसरूपा न विधय इति तात्पर्यार्थः ।

सुभद्रा—पूर्व में कहे हुये एक देशी का मत भाष्यकार दूषित करते हैं। वह ठीक नहीं क्योंकि कर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के फल में विलक्षणता है। पुण्यकर्म का फल सुख, और अपुण्य, पाप कर्म का फल दुःख है। वहाँ पर मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्म लोक पर्यन्त सुख का तारतम्य अधिक-अधिक, उत्कर्ष है। (तारतम्य, तटतमयोर्भावः तारतम्यम् अतिशय अर्थ का बोधक तर, अत्यन्त अतिशय अर्थ का बोधक तम हैं, उसका होना, तारतम्य शब्द का अर्थ है)। इसी तरह मनुष्य लोक से लेकर अवीचि, एक प्रकार का नरक विशेष लोक पर्यन्त दुःख का तारतम्य है। वह सब कार्य है, अर्थात् कारण से उत्पन्न होने वाला है, और विनाशी (नाशवान्) है। इस तरह कर्म का फल अनित्य है यह कहकर ब्रह्म विद्या का फल, मोक्ष जो कि अशरीरत्व संज्ञक है वह नित्य है, उसका नाश नहीं होता यह कहते हैं। आत्यन्तिक अशरीरत्व, अर्थात् सम्पूर्ण उपाधियां निवृत हो गई है जिसमें ऐसा जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप, अथवा सर्वोपाधि निवृत्त्युपलक्षित ब्रह्म स्वरूप, और, अनतिशय जिसमें किसी के अपेक्षा, उत्कर्षापकर्ष, छोटा बड़ा होना नहीं है ऐसा मोक्ष आत्मा को स्वभाव से ही सिद्ध होने से नित्य जो कि कार्य नहीं है आत्म ज्ञान का फल है। इस तरह से कर्म के फल और ज्ञान के फल में महान् अन्तर है यह सिद्ध होता है।

शंका—फल क्रिया से जन्य होता है सिद्धान्त में मोक्ष आत्म स्वरूप, ही है क्रिया से जन्य नहीं है तो उसमें फलत्व व्यवहार कैसे।

समाधान—इसीलिए फलमिव फलं ऐसा भामती में कहा गया, वह विटलिशय नित्य मोक्ष, फल के समान होने से फल कहा जाता है, अर्थात्

मुख्य फलत्व, मोक्ष में न होने से औपचारिक है। क्योंकि अविद्या का अपनय, निवृत्ति होने से उसका आविर्भाव प्रकाश होता है। वह आत्म स्वरूपनित्य मोक्ष संसारावस्था में भी नित्य होने से विद्यमान है, परन्तु अविद्या रूप दोष के कारण वह आवृत ढंका रहता है। वेदान्त वाक्य जन्य, स्वरूप ज्ञान से अविद्या के निवृत्त होने पर प्रकाशित होता है। इसलिए प्रकाशित होने से फल के समान कहा गया। यह कहा जाता है, जो उपासना विधि परक वेदान्त वाक्यों को मानते हैं, उनका भी नित्य शुद्ध बुद्ध आदि जो ब्रह्म का स्वरूप है तदात्मता अर्थात् ब्रह्मभाव, जीव में स्वाभाविक है जो कि वेदान्त वाक्य से प्रतीत होता है यह मानना, पड़ता है। तो क्या उपासना विधि का फल ब्रह्म भाव है, अथवा अविद्या निवृत्ति, या विद्या (ज्ञान का) उदय ए तीन विकल्प, उपस्थित होते हैं। प्रथम पक्ष जीव का ब्रह्म भाव उपासना विधि का फल संभव नहीं है। क्योंकि वह नित्य है (कार्य नहीं)। और न तो द्वितीय पक्ष, अनादि जो अविद्या वही, पिधान स्वरूप को ढंकने वाली, उसका अपनय निवृत्ति ही फल है, क्योंकि वह तो अपने विरोधी विद्या के उत्पन्न होने से ही हो जाता है। अविद्या अर्थात् अज्ञान, उसका विरोधी, विद्या, अर्थात् ज्ञान है, उसकी निवृत्ति तो वेदान्त वाक्य जनित ब्रह्माकार वृत्ति ज्ञान से ही हो जायगी, तो उसको उपासना विधि का फल मानना व्यर्थ है। और न तो तृतीय पक्ष विद्या, ज्ञान का उदय ही है। क्योंकि श्रवण मनन पूर्वक उपासना से उत्पन्न संस्कार के सहायता से युक्त चित्त से ही उसका उदय हो जायगा, यदि यह कहा जाय कि उपासना से उत्पन्न दृढ़तर संस्कार जैसे वेदान्ती के मत में, अन्तकरण का सहायक है, उसी तरह पूर्व पक्षी जो कि उपासना विधि परक वेदान्त वाक्य को मानता है, उसके मत में भी उपासना से एक अपूर्व उत्पन्न होता है, जो कि अन्तः करण का, सहकारी है, वही उपासना विधि का फल हो सकता है। इसलिए वेदान्त वाक्य विधि परक ही हैं। यदि यह शंका हो कि वह तो ऐहिक होने से मर्दन के समान विधि बोधित फल नहीं हो सकता। (आशय यह है कि मर्दन, शरीरमें मालिश कराने, से जो सुख होता है वह यहीं पर होता है वह जैसे विधि वाक्य बोधित अपूर्व का फल नहीं है) उसी तरह उपासना जन्य अपूर्व भी चित्त का सहकारी होने से जो कि ऐहिक है वैध फल नहीं हो सकता। तो यह युक्त नहीं, क्योंकि नैयोगिक फल नियोग यानी अपूर्व तत्सम्बन्धी फल ऐहिक भी देखा गया है, जैसे चित्र या यजेत पशु कामः वृष्ट्यसम्पत्ति काम, कारीरीं कुर्यात् आदि में पशु की कामना वाला पुरुष चित्रायाग करे, अवर्षण से धान्य सूख रहा है जिसका ऐसा पुरुष धान्य सम्पत्ति की कामना से कारीरी याग करे। तो उक्त

विधि बोधित चित्रायाग से उत्पन्न जो अपूर्व जिसका फल नियत निश्चित नहीं है, प्रतिबन्धकातिशय होने से इस जन्म में फल नहीं मिलता, प्रतिबन्धक के अभाव में इस जन्म में भी फल की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए. उसका फल नियत नहीं है, कारीरी याग से उत्पन्न जो अपूर्व उसका फल कृषि द्वारा धान्यसम्पत्ति नियत है, तो उक्त दोनों, फल ऐहिक होने पर भी, नियोग जन्य, अर्थात् नैयफल हैं, उसी तरह उपासना जन्य अपूर्व भी चित्त सहकारी के होने से ऐहिक होने पर भी नियोग जन्य नैय फल हो जायगा। इस आशंका पर भामती में कहा गया (न) नहीं वह फल नहीं हो सकता, क्योंकि, गान्धर्व शास्त्र के उपासना का जो संस्कार वह जैसे अपूर्व की अपेक्षा के बिना ही षड्जादि स्वर के साक्षात्कार में समर्थ है। उसी तरह वेदान्त प्रतिपाद्य वस्तु के उपासना, से उत्पन्न संस्कार भी अपूर्व की अपेक्षा न कर, जीव के ब्रह्म, रूपता के साक्षात्कार में समर्थ है। इसलिए अपूर्व उपासना विधि का फल नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपेक्षित नहीं है इस तरह, अमृती भाव, मोक्ष, के प्रति उपासना जन्य अपूर्व के हेतुता का निराकरण होने से, मोक्ष का भी पुरुष उस अपूर्व को कार्य, कर्तव्य रूप से नहीं जान सकता। क्योंकि इच्छा तो मोक्ष की करता है, और जो उसमें हेतु नहीं, अर्थात् उसका संपादक नहीं है, उसको कार्य रूप से मानै यह परस्पर विरुद्ध है। जिस विषय की इच्छा होती है, उसी विषय के सम्पादन के लिए प्रयत्न होता हैं। यदि अपूर्व साक्षात्कार में उपयोगी नहीं है तो उपासना रूप क्रिया का ही विधान माना जाय, मोक्ष कामी पुरुष उपासना क्रिया को ही कार्य रूप से प्रवमत करेगा नकि अपूर्व की तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि उपास्य के साक्षात्कार में उपासना हेतु यह अन्वय व्यतिरेक रूप लोक प्रमाण से ही सिद्ध है, (षड्जादि के स्वर के साक्षात्कार के समान, जैसे वहांपर उक्त स्वरों का साक्षात्कार, गन्धर्वशास्त्र के उपासना से अर्थात्, उसका बारम्बार परिशीलन करने से, होता है, उसके बिना नहीं होता, उसी तरह ब्रह्म साक्षात्कार भी तद्विषयक उपासना, से होगा, उसके बिना नहीं होगा, यह मानाम्बर, अर्थात्, अन्वय, व्यतिरेक रूप प्रमाण से ही सिद्ध होने से, आत्मोपासन विधि व्यर्थ है। (क्योंकि जो पूव में सिद्ध न हो, वही विधि होती है यदि कहा जाय, कि व्रीहीनवहन्त यहाँ पर अवहनन रूप नियम विधि जैसे मानी जाती है उसी तरह उपासना विधि भी नियम विधि हो। आशय यह है कि धान को मूसल से कूटै, यहांपर जैसे छिलका के निवृत्ति में, अवघात, अन्वय व्यतिरेक द्वारा कारण है यह निश्चित होने पर भी, नियम विधि मानी जाती है, धान के छिलके की निवृत्ति अव, घास से ही करै नकि नखविदलनादि अन्य साधनों से, अन्यथा

वे यज्ञ के उपयुक्त नहीं होगा, अर्थात्, मूसल से ही कूट कर छिलका जिसका निवृत्त है, ऐसा चावल यज्ञ के पुरोडाश के लिए उपयुक्त है, नखविदलन आदि से तुष विमोक होनेपर वह यज्ञ के उपयुक्त नहीं होगा, ऐसा नियम होने उससे उत्पन्न अपूर्व, याग से उत्पन्न, परमा पूर्व का सहकारी होता है, उसी तरह यहाँ पर भी उपासना के प्रमाणान्तर से होने पर भी नियम पूर्व माना जाय तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पर परमा पूर्व से साध्य है, नियमा पूर्व अन्य प्रमाणों से अवगत नहीं है तो वहाँपर नियम विधि सम्भव है, यहाँपर ब्रह्मभाव रूप मोक्ष नित्य होने से नियमा पूर्व साध्य नहीं है। और न तो ब्रह्मभाव से अन्य अमृतत्व रूप मोक्ष अर्थवादिक कुछ है, जिसके कि उसके कामना से उपासना में अधिकार हो। यदि यह कहा जाय कि विश्वजिताय जेत इस विधि वाक्य में कोई अधिकारी श्रुत नहीं है, तो वहाँ पर उसका अध्याहार होता है, तो स्वर्ग कामी ही अध्याहृत हो या, अन्य, ऐसा सन्देह होने पर, स स्वर्गः स्यात्, सर्वा अत्यविशिष्टत्वात्, जहाँ कोई फल, विधि वाक्य में श्रुत न हो वहाँ पर स्वर्ग रूपफल की कल्पना करनी चाहिए क्योंकि, वह सबमें समान रूप से है, तो वहाँ पर स्वर्ग कामी ही अधिकारी है और उस यज्ञ का स्वर्ग ही फल है, उस तरह यहाँ पर भी उपासना का स्वर्ग फल माना जाय तो यह ठीक नहीं, क्योंकि स्वर्ग सुख में भी तारतम्य है यह पूर्व से कहा गया है, वह अतिशय के सहित है और पुण्य क्षीण होने पर उसका विनाश होता है, इसलिए विनाशी है, तो उपासना का नित्यमोक्ष रूप फल सिद्ध नहीं होगा। इसलिए ब्रह्मभाव रूप अमृतत्व का अविद्या रूप आवरण के निवृत्त मात्र से ही आविर्भाव होता है। अविद्या की निवृत्ति, तो साक्षात्कार पर्यन्त वेदान्त वाक्यों के अर्थ ज्ञानमात्र से ही सम्भव है, उपासना संस्कार के प्रति हेतु है, और अन्तःकरण, संस्कार सहकृत होकर साक्षात्कार के प्रति हेतु है, यह मानान्तर से ही, अर्थात, अन्वय व्यतिरेक रूप लोक प्रमाण से ही सिद्ध होने से, आत्मेत्येवो पासित यह विधि नहीं है किन्तु विधि के समान रूप वाला है। जैसे उपांशुयाज वाक्य में विष्णुरुपांशु यष्टव्यः इत्यादि विधि के समान रूप वाले हैं विधि नहीं है यह तात्पर्य है।

भाष्य

तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण यथा गमनम्, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन यथा गमनम्, तत्रापि सुख-तारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् यावत्संपातमुषित्वा (छन्दो० ५।१०। ५) । इत्यस्माद्गम्यते । तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदना-

लक्षणाधर्मसाध्यमेवेति गम्यते, तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेषु स्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्य मनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथ च श्रुतिः नह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः छान्दो० ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षण धर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वेहि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव, धर्मकार्यमितिचेन्न तस्य स्वाभाविकत्वात्। अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति, काठ० (२।२१) अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः (मुंड० २।१।२।) असङ्गोह्ययं पुरुषः (बृह० ४।३।१५) इत्यादि श्रुतिभ्यः अतएवानुष्ठेय कर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। तत्र किञ्चित्परिणामिनित्य, यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवदमिति बुद्धिर्नविहन्यते, यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्वादिनाम्, यथा च सांख्यानां गुणाः इदं तु परमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्रभूताच्चभव्याच्च क० (२।१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

भामती

श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धमित्युक्तं तत्र श्रुतिंदर्शयति तथा च श्रुतिरिति। न्यायमाह—अतएवेति। यत्किल स्वाभाविकं तन्नित्यम् यथा चैतन्यम् स्वाभाविकं चेदं तस्मान्नित्यम्। परेहिद्वयीनित्यतामाहुः-कूटस्थनित्यतां परिणामिनित्यतां च। तत्र नत्यमित्युक्ते माभूदस्य परिणामिनित्यतेत्यत आह-तत्र किञ्चिदिति। परिणामिनित्यता हि न पारमार्थिकी तथाहि—तत्सर्वात्मना वापरिणमेदेकदेशनवा। सर्वात्मनापरिणामे कथं न तत्त्वव्याहतिः। एकदेशपरिणामेत्र स एकदेशस्ततोभिन्नोवाऽभिन्नोवा भिन्नश्चेत् कथं, तस्य परिणामः नह्यन्यस्मिन्परिणममानेऽन्यः परिणमते, अतिप्रसङ्गात्। अभेदेवा कथं न सर्वात्मना परिणामः। भिन्नाभिन्न तदिति चेत्, तथाहितदेव कारणात्मनाऽभिन्न भिन्नं च कार्यात्मना। कटकादय इवाभिन्ना हाटकात्मना भिन्नाश्च कटकाद्यात्मना। न च भेदाभेदयोर्विरोधान्नैकत्र समवाय इति-युक्तम् विरुद्ध मिति नः क्वप्रत्ययाः प्रमाणविपर्ययेण वर्तते। यत्तु यथा प्रमाणेनावगम्यतेतस्य तथाभाव एव। कुण्डलमिदं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्य प्रत्यये, व्यक्तं भेदाभेदौचकास्तः। तथाह्यात्यन्तिकेऽभेदेऽन्यतरस्यद्विरवभा-

सप्रसङ्गः। भेदे वाऽऽत्यन्तिके न सामानाधिकरण्यं गवाश्ववत्। आधाराधेय-भावे एकाश्रयत्वे वा न सामानाधिकरण्यं, नहि भवति, कुंडं बदरमिति। नाप्येकासनस्थयोश्चैत्रमैत्रयश्चैत्रोमैत्र इति। सोऽयमबाधितोऽसंदिग्धः सार्वजनीनः सामानाधिकरण्य प्रत्यय एव कार्यकारणयोर्भेदाभेदौ व्यवस्थापयति। तथा च कार्याणां कारणात्मत्वात् कारणस्य च सद्रूपस्य सर्वत्रानुगमात्, सद्रूपेणाभेदः कार्यस्य जगतः भेदः कार्यरूपेण गोचरदिनेति। यथाहुः कार्यरूपेण नानात्व-मभेदः कारणात्मना। हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥ इति ॥

सुभद्रा—भाष्यमें अविद्यादि दोष युक्त पुरुषों को धर्म और अधर्मके तारतम्यसे शरीरधारण पूर्वक सुख और दुःख का तारतम्य है जिसमें ऐसा अनित्य संसार श्रुतिस्मृति और न्याय से सिद्ध है यह कहा गया है, तो श्रुति को तथा च इत्यादि से प्रदर्शित करते हैं नवं सशरीरस्य इत्यादि, शरीर के विद्यमान रहते प्रिय और अप्रियका नाश नहीं होता, इससे जैसा पूर्वमें वर्णित संसार, का रूप है उसीका अनुवाद किया गया है, अर्थात् लोक सिद्धका ही अनुवाद है, यथार्थ रूपसे देहसे रहित होने पर आत्मा को वैषयिक सुख दुःख जो कि प्रिय अप्रिय शब्दसे कहा गया है, वे स्पर्श नहीं करते, इस तरहसे प्रिय अप्रियका निषेध होनेसे चोदना, विधि निषेध, रूपधर्म और अधर्म, का कार्य सुख दुःख मोक्ष है संज्ञा जिसकी ऐसे अशरीरत्व में निषेध सूचित होता है, यदि मोक्ष धर्मका कार्य होता, तो प्रिय अप्रियके स्पर्शका निषेध संगत न होता इत्यादि। न्याय सिद्ध है, तो न्याय कहते हैं, अतएव इत्यादि से भाष्यकार, इसीलिए अनुष्ठान करने के योग्य कर्म के फल से विलक्षण होने से मोक्ष रूप फल अशरीरत्व नित्य है यह सिद्ध हुआ। जो स्वभाव सिद्ध होता है वह नित्य होता है अशरीरत्व रूप मोक्षकी स्वभाव, सिद्धता अशरीरं शरीरेषु इत्यादि भाष्योदाहृतश्रुतियों से सिद्ध है। जैसे चैतन्य स्वभावसिद्ध है, वह नित्य है। भाष्यमें मोक्ष में विशेषण कूटस्थ नित्य दिया गया है, तो वह परिणामी नित्यके व्यावृत्तिके लिए संभव नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में परिणामि नित्य स्वीकृत नहीं है, इससे वह व्यर्थ है। इस शंका पर भामती में परे हि द्वयीं नित्यतामाहुः यह कहा गया। अन्य आचार्य दो प्रकारको नित्यता मानते हैं। परिणामी नित्य और कूटस्थ नित्य, तो अन्यको मोक्षमें परिणामि नित्यता की भ्रान्ति न हो इसलिए वह विशेषण सार्थक है। मोक्ष नित्य है। ऐसा कहने पर अन्य सम्मत परिणामि नित्यता मोक्षमें नहीं है यह दिखलाने के लिए भाष्य में कुछ परिणामी नित्य है जिसमें विकार होने पर भी यह वही है ऐसी बुद्धि का

विघात नहीं होता जैसे जगत्‌को नित्यमानने वालों के पृथिवी आदि है, पृथिवीके घट शराव आदि विकार पृथिवी ही है यह कहे जाते हैं अन्य तत्त्व का व्यवहार नहीं होता, मोक्ष वैसा नहीं है किन्तु पारमार्थिक कूटस्थ नित्य है ऐसा कहा। मोक्षके कूटस्थ नित्यतामें पारमार्थिकत्व हेतु है, (वहत) भी घटेगा, जबकि जो पारमार्थिक कहो तीनों काल में जिसका नाश न हो, वह विकारी न हो ऐसा नियम हो। इसलिए परिणामी नित्य भ्रम से सिद्ध है यह भामती में कहते हैं।

परिणामि नित्य तार पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि वह सम्पूर्ण रूप से परिणाम को प्राप्त होता है या किसी एक देश, हिस्से से ही, सम्पूर्ण रूप से, परिणाम होने पर, यह वही है ऐसी बुद्धि का व्याघात क्यों न हो, अर्थात् यह वही है ऐसा उसमें व्यवहार नहीं हो सकता। जिससे कि वह नित्य नहीं हो सकता। क्योंकि परिणाम है पूर्व रूप को छोड़कर, अन्य रूप की प्राप्ति, तो पूर्व रूप का सम्पूर्ण रूप से त्याग होने पर और अन्य रूप के उत्पन्न होने पर उक्त बुद्धि कैसे संभव है जिससे नित्यत्व का व्याघात स्पष्ट है। यदि एक देश का परिणाम मानें तो वह परिणाम को प्राप्त एक देशी धर्मी, एक देश से भिन्न है अथवा अभिन्न है। यदि भिन्न है तो उसका परिणाम कैसे अन्य के परिणत होने पर, अन्य परिणाम को नहीं प्राप्त होता, नहीं तो अतिप्रसङ्ग होगा, भाव यह है कि जो एक देश अन्य रूप को प्राप्त हुआ वह अपने स्वरूप का परित्याग करके नष्ट हो गया, और वह एक देश जिसमे है, ऐसा धर्मी उससे भिन्न है उसका परिणाम हुआ नहीं, तो उसमें परिणाम मिनित्यत्व कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि वह तो भिन्न होने से, परिणाम को प्राप्त नहीं है। यदि एक देश को धर्मी से अभिन्न मानें, तो एक देश और धर्मी के एक होने से सर्वात्मना परिणाम की आपत्ति होगी, जिससे कि अन्य रूप की प्राप्ति होने से नित्यत्व संभव नहो है। यदि उक्त दोनों पक्षों में कहे हुए दोषों को हटाने के लिए भिन्नाभिन्न, भिन्न भी अभिन्न भी, कार्य कारण रूप वस्तु कार्य के आकार से परिणामी है और वे कार्य भिन्न हैं कारण के आकार से अभिन्न हैं। जैसे सुवर्ण के कार्य कटक कुंडलादि ,कारण सुवर्ण रूप अभिन्न हैं और कार्य कटक आदि रूप से भिन्न हैं। यदि यह शंका हो, कि भेद और अभेद इन दोनों का विरोध होने से एकत्र स्थिति नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं, जो प्रमाण के विरोध से वहां पर स्थित प्रतीत हो वह विरुद्ध है, यह अनुभव है, तो ऐसी प्रतीति हम सबों को कहां हो रही है, जो जैसा प्रमाण के द्वारा प्रतीत हो वह उस रूप से माना जाता है। एक ही वस्तु कार्य और कारण के रूप से उभयात्मक है इसमें प्रमाण कहते हैं भामतीकार यह कुंडल सुवर्ण है ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति स्पष्ट ही, भेद और अभेद को प्रकाशित कर

रही है। यदि वहाँ पर सुवर्ण और कुंडल में अत्यन्त अभेद हो तो एक ही वस्तु की दो वार प्रतीति होने लगेगी सुवर्ण सुवर्ण या कुंडल कुंडल। यदि अत्यन्त भेद हो तो गौ और अश्व के समान उक्त प्रतीति नहीं सिद्ध होगी, जैसे गो और अश्व में अत्यन्त भेद होने से गौरश्वः ऐसा सामानाधिकरण्य प्रतीत नहीं होता उसी तरह। यदि यह कहा जाय कि पर्यायवाची शब्द से भिन्न अनेक शब्द के वाच्य अर्थ होने से भेद है और सामानाधिकरण्य होने से अभेद है। सुवर्ण और कुंडल पर्यायवाची शब्द नहीं है और अनेक सुवर्ण और कुण्डल शब्द से वाच्य दो अर्थ हैं इसलिए उनमें भेद है और सामानाधिकरण्य, अर्थात् समानलिङ्ग और वचन जिसमें है ऐसे शब्द का, प्रयोग होने से अभेद भी है। यदि द्रिमत्व यानी सुवर्णत्व कुण्डल व्यक्ति के आश्रित है। तो आधाराधेय भाव होने से अथवा कुंडल के आकार का जो संस्थान विशेष है, वह और सुवर्णत्व एक द्रव्य के आश्रित है, इससे सामानाधिकरण्य है न कि अभेद होने से यह कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि आधाराधेय भाव में सामानाधिकरण्य. नहीं होता। कुंड में वदर है, कुंड आधार वदर वैरि का फल, आधेय है तो कुंड वदरम् ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं होता, अनुभव विरोध होने से। और न तो एक द्रव्य के आश्रित होने से ही सामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है। एक आसन रूप द्रव्य के आश्रित चैत्र और मैत्र में सामानाधिकरण्य देखा नहीं जाता।

तो इस तरह जिसका बाध नहीं होता है, अर्थात् उत्तर ज्ञान से निवृत्ति, नहीं होती और सन्देह से रहित ऐसा सर्वजनीन, सबको होने वाला, उक्त सामानाधिकरण्य का अनुभव ही कार्य और कारण में भेद और अभेद उभयरूपता को सिद्ध करता है। इस प्रकार का कार्य कारण रूप है, लोक में कुण्डलादि कार्य सुवर्णात्मक है यह देखे जाने से, सद्रूप कारण भी, सर्वत्र सन् घटः सन् पटः आदि में अनुगत है इसलिए सद्रूप से कार्य जगत् का अभेद है, और गो घट आदि कार्य रूप से भेद है यह सिद्ध होता है। जैसा कि कहा भी है, कार्य रूप से नानात्व भेद कारण रूप से अभेद एकत्व जैसे सुवर्ण रूप से अभेद कुंडल कटक आदि रूप से भेद है।

भामती

अत्रोच्यते कः पुनरयं भेदो नाम यः सहाभेदेनैकत्रभवेत्। परस्पराभाव इति चेत्, किमयं कार्यकारणयोः कटकहाटकयोरस्ति नवा। नचेत्, एकत्वमेवास्ति, नच भेदः। अस्तिचेद्भेदएव नाभेदः। नचभावाभावयोरविरोधः सहावस्थानासंभवात्। संभवेवा कटकवर्धमानयोरपि तत्त्वेनाभेदप्रसङ्गः भेदस्याभेदाविरोधात्। अपिच कटकस्यहाटकादभेदे यथा हाटकात्मना

कटकमुकुटकुंडलादयो नभिद्यन्ते, एवं कटकात्मनापि न भिद्येरन्, कटकस्य हाटकादभेदात्। तथाचहाटकमेव वस्तुसन्न कटकादयः भेदस्याप्रतिभासनात्। अथ हाटकत्वेनैवाभेदो न कटकत्वेन, तेन तु भेदएव कुंडलादेः। यदि हाटकादभिन्नः कटकः कथमयं कुंडलादिषु नानुवर्तेत ? नानुवर्तते चेत्कथं हाटकादभिन्नः कटकः ? येहि यस्मिन्ननुवर्तमाने व्यावर्तन्ते ते ततोभिन्नाएव यथा सूत्रात्कुसुमभेदाः। नानुवर्तन्ते चानुवर्तमानेऽपि हाटकत्वे कुंडलादयः तस्मात्तेऽपि हाटकातभिन्ना एवेति। सत्तानुवृत्त्या च सर्ववस्त्वनुगमे इदमिहनेदम् इदमस्मान्नेदम्, इदमिदानीं नेदम् इदमेवं नेदमिति विभागो न स्यात्। कस्यचित् क्वचित् कदाचित् कथंचिद्विवेकहेतोरभावात्। अपिचदूरात्कनकमित्यवगते न तस्य कुंडलादयो विशेषा जिज्ञास्येरन्, कनकादभेदात्तेषां तस्य च ज्ञातत्वात्। अथभेदोऽप्यस्ति कनकात्, कुंडलादीनामिति कनकावगमेऽप्यज्ञातास्ते। नन्वभेदोऽप्यस्तीति, किंन ज्ञाताः प्रत्युत ज्ञानमेवतेषांयुक्तम्, कारणाभावे हिकार्याभाव औत्सर्गिकः सचकारणसत्तयाऽपोद्यते। अस्तिचाभेदे कारणसत्तेति कनकेज्ञाते ज्ञाताएवकुंडलादय इति तज्जिज्ञासाज्ञानानि चानर्थकानि स्युः। तेनयस्मिन् गृह्यमाणे यन्न, गृह्यते तत्ततोभिद्यते, यथा करभेगृह्यमाणेऽगृह्यमाणो, रासभः करभात्। गृह्यमाणे चदूरतोहेम्निन गृह्यन्तेतस्यभेदाः कुंडलादयः तस्मात्ते हेम्नो भिद्यन्ते। कथं तर्हिहेमकुंडलमिति सामानाधिकरण्यम् इतिचेत्, नह्याधाराधेयभावे समानाश्रयत्वेवा, सामानाधिकरण्यमित्युक्तम्। अथानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था, च हेम्निज्ञाते कुंडलादिजिज्ञासा च कथम् ? नखल्वभेद ऐकान्तिकेऽनैकान्तिके चैतदुभयमुपपद्यत इत्युक्तम्। तस्माद्भेदाभेदयोरन्यतरस्मिन्नवहेयेऽभेदोपादानैव भेदकल्पना न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेति युक्तम्। भिद्यमानतन्त्रत्वाद्भेदस्य, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात् एकाभावेचानाश्रयस्य भेदस्यायोगात्, एकस्य च भेदानधीनत्वात्, नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वात, एकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वात् अभेदोपादानैवानिर्वचनीयभेदकल्पनेति साम्प्रतम्। तथा च श्रुतिः—मृत्तिकेत्येवसत्यम् इति। तस्मात् कूटस्थनित्य नैव पारमार्थिकी न परिणामिनित्यतेति सिद्धम्।

सुभद्रा—इस तरह भेदाभेदपक्ष का उपपादनकर आचार्य भामतीकार, उसका निराकरण करते हैं। भेदाभेदवादी से यह पूँछा जाता है कि यह भेदनामक क्या वस्तु है (जो कि अभेद के साथ एकत्र होता है) परस्पर अभाव, अर्थात भेदाभाव अभेद है, और अभेदाभाव भेद है, (अथवा म वरूप है) जैसे रूपादिभाव रूपधर्म हैं, उसी तरह भेद भी भावरूप धर्म है। भावरूप यदि माना जाय

तो क्या वह अभेद से विरुद्ध है, अथवा अविरुद्ध, विरुद्धपक्षमें भेद अभेदका एकत्र अवस्थितिसंभव नहीं है, द्वितीयपक्ष अनुभवविरुद्ध है, भेद रहने पर अत्यन्त अभेद भी रहे यह विचारकों के बुद्धि में नहीं आता, यदि अभावरूप भेदको मानें तो क्या वह कार्य 'कटक' कुण्डल आदि कारण 'सुवर्ण' में रहता है अथवा नहीं, यदि नहीं है तो फिर अभेद ही है अर्थात एकत्व ही है।

भेद नहीं है। यदि कार्य और कारण में भेद रहता है तो अभेद नहीं रह सकता, क्योंकि भाव और अभाव का विरोध रहता है, (घट और घटाभाव एक अधिकरण मे एक काल में नहीं रहते। तो सहावस्थान, एक साथ रहना असम्भव, होने से, भाव और अभाव में विरोध नहीं है यह नहीं कह सकते। आशय यह है कि अभेद है एकत्व, जो कि भावरूप है, भेद है, उसका अभाव, तो दोनों पूर्व कथनानुसार एक अधिकरण में एक साथ एक काल में नहीं रह सकते। यदि भाव और अभाव का, अर्थात् भेद और अभेद का सहवस्थान सम्भव है ऐसा मान लिया जाय तो फिर कटक वर्द्धमानक, सुवर्ण के बने हुए आभूषण विशेष, उनमें भी उन-उन आभूषणों में रहने वाले विशेष धर्म कटकत्व वर्द्धमानकत्व, रूप से भी अभेद की आपत्ति होगी क्योंकि भेद के साथ अभेद है का सहावस्थान, रूप विरोध नहीं है, तो फिर कटक का कार्य वर्द्धमानक से, वर्द्धमानक का कार्य कटक से होने लगेगा। और भी बात है, यदि कार्य में कारण से अभेद है तो सम्पूर्ण कार्यों में एक कार्य रूपता की आपत्ति होगी क्योंकि कोई एक कार्य यदि कारण से अभिन्न है, और उस कारण से सभी कार्य अभिन्न हैं तो तदभिन्नाभिन्न होने से उक्त आपत्ति दुर्निवार है (आशय यह है कि किसी एक सुवर्णपिंड से कटक 'कङ्कन' बना उसके तुड़वा कर उसी का कुण्डल बना, वे दोनों, एक ही सुवर्ण पिंड के कार्य हैं कारण से कार्य भिन्न नहीं है, तो तदभिन्ना, भिन्नतत्त्व रूप होता है इस न्याय से अर्थात् तत्पद से कटक लिया गया, उससे अभिन्न सुवर्णपिंड, और उससे अभिन्न कुंडल वह भी, तत्, अर्थात् कटक स्वरूप ही होगा) इसी का स्पष्टीकरण अपि च इत्यादि से करते हैं भामतीकार कटक हाटक, सुवर्ण से अभेद होने पर सुवर्ण के रूप से जैसे कटक कुंडल, मुकुट आदि भिन्न नहीं है, उसी प्रकार कटक मुकुट आदि रूप से भी भेद को नहीं प्राप्त होंगे। क्योंकि कटक का सुवर्ण से अभेद है। तब तो भेद के प्रतीति के न होने से सुवर्ण ही वस्तु सत् है न कि कटक कुंडल आदि, तो उनमें भेद व्यवहार लुप्त हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि कटक के दो रूप हैं, अर्थात् उनमें दो धर्म रहते हैं, कटकत्व और सुवर्णत्व तो सुवर्ण रूप से, कटक मुकुटादि में अभेद इष्ट ही है, कटकत्व मुकुटत्व कुंडलत्व आदि, रूप से परस्पर भेद है, क्योंकि सुवर्ण भी सबमें अनुवृत्त होता है न कि कटकत्व आदि, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि

यदि सुवर्ण रूप कारण से कटक अभिन्न है, तो जैसे सुवर्ण कुण्डल आदि में अनुवृत्त होता है, तो उससे अभिन्न कटक आदि भी क्यों न अनुवृत्त हों, यदि अनुवृत्त नहीं होता तो सुवर्ण से अभिन्न कटक है यह कथन सङ्गत नहीं। जो जिसके अनुवर्तमान होने पर भी जिससे व्यावृत्त, भिन्न होकर प्रतीति होता है वह उससे भिन्न होता है, जैसे सूत माला के, सब फूलों में अनुवृत्त है, और उनका परस्पर भेद अनुवृत्त नहीं है, तो वहभेद और फूल भिन्न हैं। इसी प्रकार सुवर्ण के कुंडल कटक मुकुट आदि सम्पूर्ण आभूषणों में अनुवृत्त होने पर भी कुण्डल आदि सब आभूषणों में अनुवृत्त नहीं है वे परस्पर व्यावृत्त भिन्न होकर प्रतीत होते हैं तो वे भी सुवर्ण से भिन्न ही हैं। उक्त प्रबन्ध से, कुण्डलादयों हाटकाद्भिन्नाः यह प्रतिज्ञा, हाटकेऽनुवर्तमाने व्यावृत्तत्पात् यह हेतु येहि यस्मिन्न नुवर्तमाने व्यावर्तन्ते ततोभिन्नाः इससे व्यावृत्त अनुवृत्त से भिन्नहोता है, यह सामान्य नियम प्रदर्शित किया गया। दृष्टान्त सूत्र कुसुम नानुवर्तन्ते यह उपनय, तस्मात्तेऽपि तथा यह निगमन प्रदर्शित है। और भी यदि सुवर्ण के कुण्डल आदि में अनुवृत्त होने से सुवर्ण से अभिन्न कटक आदि का अनुगम हो तो सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप कार्य में सद्रूप कारण का अनुगम होने से परस्पर भेद नहीं सिद्ध होगा तो सम्पूर्ण भेद व्यवहार लुप्त हो जायगा। (इसी को प्रदर्शित, करते हैं भामती में) सत्ता के अनुवृत्त होने से सम्पूर्ण वस्तु का अनुगम होने पर इदम् यह दही यह, (इस दूध में है) यह घट या तैल आदि इसमें नहीं है, इस प्रकार का सम्बन्ध और उसके अभाव की व्यवस्था नहीं होगी। एवं इदम् यह पट आदि, अस्मात्, इस देवाल से भिन्न है, यह देवाल उससे अर्थात् देवाल से भिन्न नहीं है, इस प्रकार की असङ्कीर्ण व्यवस्था नहीं होगी, इदम्, यह कोकिल का शब्द इदानीं, इस समय बसन्त ऋतु में है यह मेघ की ध्वनि नहीं है, यह व्यवस्था नहीं होगी, इदम् यह घटादि एवम् इसी प्रकार का है यह पटादि इस तरह का नहीं इत्यादि असंकीर्ण व्यवस्था की सिद्धि नहीं होगी। सत्ता के अनुवृत्त होने से किसी का कहीं पर किसी समय किसी प्रकार भेद सिद्ध न होने से उक्त दोष अनिवार्य हो जायगें। कार्य का कारण से वास्तविक ऐक्य नहीं है इसमें और भी हेतु है। दूर से यह सुवर्ण है ऐसा ज्ञान होने पर सुवर्ण से कुण्डलादि के अभिन्न होने से, कुण्डलादि विशेष विषयक जिज्ञासा नहीं होगी, क्योंकि ज्ञात वस्तु में जिज्ञासा नहीं होती, सुवर्ण के ज्ञात होने पर उससे अभिन्न कुंडलादि भी ज्ञात हैं,) तो उनकी जिज्ञासा कैसे सम्भव है। यदि यह कहा जाय कि सुवर्ण का भेद भी कुण्डल आदि में है जिससे कि सुवर्ण के ज्ञान होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता, इसलिए कुण्डलादि विषयक जिज्ञासा होती

है। तो सुवर्ण का अभेद भी कुण्डल में होने से उनका ज्ञान क्यों न हो, भेद होने से वे ज्ञात नहीं है, और अभेद होने से वे ज्ञात हैं, इसमें कोई विनिगमक न होने से अव्यवस्था होगी, बल्कि सुवर्ण के ज्ञात होने पर कुण्डल आदि का ज्ञान होना ही ठीक है, कारण के न रहने पर कार्य का न होना स्वाभाविक है, वह कारण की सत्ता से दूर किया जाता है। आशय यह है कि सुवर्ण के निश्चय से कुण्डल आदि के निश्चय में, सुवर्ण कुंडल, आदि का अभेद कारण है, उस अभेद रूप कारण का अभाव भेद के होने से कुण्डल आदि के निश्चय रूप कार्य का अभाव उत्सर्गतः, अर्थात् स्वभाव से ही प्राप्त है, परन्तु, सुवर्ण और कुण्डल का अभेद रूप कारण जो कि निश्चय के, प्रतिकूल है उसके होने से उस औत्सगिक नियम का अपवाद हो जायगा। अभेद के रहने पर कारण की सत्ता है, इससे कारण सुवर्ण के ज्ञात होने से, कुंडलादि का भी ज्ञान हो जायगा, जिससे कि कुण्डलादि विषयक जिज्ञासा और उनका ज्ञान निरर्थक होंगे। इसलिए जिसका ज्ञान होने पर जो ज्ञात नहीं होता वह उससे भिन्न होता है, जैसे ऊंट के ज्ञात होने पर भी गर्दभ नहीं ज्ञात होता, तो गर्दभ ऊंट से, भिन्न है। दूर से देखने पर सुवर्ण का ज्ञान होने पर भी कुण्डल आदि का ज्ञान नहीं होता इसलिए कुण्डल आदि सुवर्ण से भिन्न हैं। यदि भिन्न हैं तो हेम कुण्डलम् यह सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिक पद का प्रयोग) कैसे। सुवर्ण और कुण्डल में यदि भेद और अभेद न माना जाय तो उक्त सामानाधिकरण्य, अनुपपन्न है अत्यन्त भेद और अभेद में सामानाधिकरण्य नहीं होता, और न तो आधाराधेय-भाव और समान आश्रय होने से सामानाधिकरण्य होता है यह पहिले कहा गया है। इसलिए सामानाधिकरण्य के अनुपपत्ति रूप तर्क से उनमें भेद, और अभेद दोनों सिद्ध होते हे यह यदि कहा जाय तो ठीक नहीं। सुवर्ण कुण्डल का अभेद मानने पर पूर्वोक्त दोष अनुवृत्ति व्यावृत्ति व्यवस्था और सुवर्ण के ज्ञात होने पर उससे अभिन्न कुंडल आदि का ज्ञान होने पर तद्विषयक जिज्ञासा की अनुपपत्ति तदवस्थ है, तो अनुवृत्ति व्यावृत्ति व्यवस्था और जिज्ञासा-नुपपत्ति रूप तर्क से उक्त तर्क के दूषित होने से सुवर्ण कुंडल का अभेद युक्त नहीं है। अत्यन्त अभेद में पूर्वोक्त दोष हों, परन्तु भेदाभेद पक्ष, में भेद के रहने से जिज्ञासा आदि की उपपत्ति हो जायगी तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि अनैका-न्तिक अभेद अर्थात् भेद सामानाधिकरण अभेद में भी अनुवृत्ति व्यावृत्ति व्यवस्था और जिज्ञासा ए दोनों सिद्ध नहीं होते, क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य नहीं रहता इस औत्सर्गिक नियम का कारण के सत्ता से अपवाद होता है तो अभेद रूप कारण के रहने पर, सुवर्ण के ज्ञान से ही कुण्डलादि का ज्ञान होने पर जिज्ञा-

यक जिज्ञासा व्यर्थ है इत्यादि पूर्वोक्त दोष की आपत्ति है। इस तरह से पारमार्थिक भेद और अभेद नहीं हो सकता, यह बतला कर, सिद्धान्त में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति कैसे होगी इसको तस्मादित्यादि से भामती में कहा जाता है। इसलिए भेद और अभेद इनमें एक के तिरस्कृत होने पर अभेदोपादानक भेद की कल्पना युक्त है न कि भेदोपादानक अभेद की कल्पना। आशय यह है कि भेद और अभेद, उनमें परस्पर विरोध होने से एक का बाध आवश्यक है तो सुवर्ण और कुण्डल में, (दोनों की) प्रतीति होने पर, भेद का बाध होता है न कि अभेद का, परन्तु सामानाधिकरण्य प्रतीति के निर्वाह के लिए भेद भी काल्पनिक स्वीकृत है। विरोध होने पर एक का बाध आवश्यक है तो अभेद का ही बाध हो, भेद पारमार्थिक हो, और अभेद काल्पनिक हो ऐसी शंका यदि की जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि भेद विद्यमान वस्तु के अधीन होता है, अर्थात् प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है। भेद प्रतीत होता हुआ किसी से किसी में होगा जैसे घटसे पट भिन्न है, यहां पर घटका भेद पट में है तो प्रतियोगी, घट की अपेक्षा और जिसमें भेद है ऐसे अनुयोगी पट की अपेक्षा भेद को है। प्रतियोग्यनुयोगिनिरपेक्ष भेद असम्भव है। और विद्यमान भेदको प्राप्त हुए घटादि प्रत्येक रूप से एक है, अर्थात् उनमें अभेद, एकत्व है। उसके अभाव में भेद नहीं रह सकता। अर्थात् प्रत्येक घटादि स्वतः एक ही हैं, उनमें अपने से भेद नहीं है अतः अभेद है यदि वह न हो तो उसमें रहने वाला अन्य वस्तुविषयक भेद अपने स्वरूप को ही नहीं प्राप्त होगा, अतः अभेदमूलक भेदकी कल्पना युक्त है। और एकत्वरूप [1]अभेद भेदके अधीन नहीं है, अर्थात् भेद के समान अन्य की अपेक्षा नहीं रखता जिससे कि भेदमूलक अभेद की कल्पना हो, तो इसलिए अभेदमूलक अनिर्वचनीय भेदकी कल्पना है यही युक्त प्रतीत होता है। इसमें श्रुति भी अनुग्राहिका है, मृत्तिकेत्येवसत्यम्. मट्टी ही सत्य है, घटादि विकार नामधेयमात्र है, अर्थात् मिथ्या हैं। उक्त प्रबन्ध से यह सिद्ध हुआ कि जो परिणामी है वह वास्तविक नित्य नहीं हो सकता परिणाम में भेदाभेद भी वास्तविक नहीं है, उक्त युक्ति से परिणाम के नाश होने पर परिणामी का नाश अनिवार्य है। तो मोक्ष में परिणामी नित्यता नहीं है किन्तु कूटस्थनित्यता ही है जो कि पारमार्थिक हैं। यह सिद्ध हुआ। परिणामी नित्यता वास्तविक नहीं है यह भाव है।

---

१. अभेद, भेदाभाव यहाँ पर विवक्षित नहीं है जिससे कि वह अपने ज्ञान में भेद की अपेक्षा करे किन्तु उक्त एकत्व रूप है, एकत्व अपने ज्ञानमें अन्य की अपेक्षा नहीं करता यह भाव है।

भाष्य

अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते. अतो न, कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्ड० ३।२।९।) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मुण्ड० २।२।८।) आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन तै० (२९) अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि बृह० (४।२।४) तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् वाच सनेयि ब्राह्मणोप० (१४।१०) तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईशा०७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च (बृह०१।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि प्र० (६।८) श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति, शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु छान्दो० (७।१।३) तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः छान्दो० (७।२६।२) इति, चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः न्या०सू०(१।१।२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं, संपद्रूपम्, यथा अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति बृह० (३।१।९) इति। न चाध्यासरूपम्, यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत छान्दो० (३।१८।१) आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः छांदो (३।१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः (छान्दो० ४।३।१) इतिवत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्ग, संस्काररूपम्। सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने तत्त्वमसि छान्दो० (६।८।७) अहं ब्रह्मास्मि बृह० (१।४।१०) अयमात्मा ब्रह्म बृह० (२।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः मुंड० (२।८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति मुंड० (३।२।९);

श्रुति चेवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि सम्पदादिपक्षेनसामञ्जस्येनापपद्येरन्। तस्मान्नसंपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा। एवम्भूतस्युब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्याशक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्।

भामती

व्योमवत् इति च दृष्टान्तः परसिद्धः अस्मन्मते तस्यापि कार्यत्वेनानित्यत्वात्। अत्र च कूटस्थनित्यम् इतिनिर्वर्त्यकर्मतामपाकरोति। सर्वव्यापि इति प्राप्यकर्मताम्। सर्वविक्रियारहितम् इति विकार्यकर्मताम्। निरवयवं इति संस्कार्यकर्मताम्। व्रीहीणां खलुप्रोक्षणेन संस्काराख्योंऽशोयथाजन्यते, नैवं ब्रह्मणि कश्चिदंशः क्रियाधेयोऽस्ति अनवयवत्वात् अनंशत्वादित्यर्थः। पुरुषार्थतामाह—नित्यतृप्तमिति। तृष्णया दुःखरहितं सुखमुपलक्षयति। क्षुद्दुःखनिवृत्तिसहितं हि सुख तृप्तिः। सुखं चाप्रतीयमानं, न पुरुषार्थ इत्यत आह—स्वय ज्योतिरिति। तदेवं स्वमतेन, मोक्षाख्यं फलं नित्यं श्रुत्यादिभिरुपपाद्य क्रियानिष्पाद्यस्य, तु मोक्षस्यानित्यत्वं प्रसञ्जयति—तद्यदीति। नचागमबाधः आगमस्योक्तेन प्रकारेणोपपत्तेः। अपिच ज्ञानजन्यापूर्वजनितोमोक्षोनैयोगिक इत्यस्यार्थस्य सन्ति भूयस्यः श्रुतयोनिवारिका इत्याह—अपिच ब्रह्मवेदेति। अविद्याद्वयप्रतिबन्धापनयमात्रेण च विद्याया मोक्षसाधनत्वम् न स्वतोऽपूर्वोत्पादेन चेत्यत्रापि श्रुतीरुदाहरति त्वंहिनः पितेति। नकेवलमस्मिन्नर्थे श्रुत्यादयः अपित्वक्षपादाचार्यसूत्रमपि न्यायमूलमस्तीत्याह—तथाचाचार्यप्रणीतमिति। आचार्य श्लोकलक्षणः पुराणे—आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरतेयस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥ इति॥

सुभद्रा—भाष्यमें, व्योमवत्, आकाश के समान मोक्ष नित्य है यह दृष्टान्त अन्य तार्किक आदि के मत से दिया गया है, वे आकाश को नित्य मानते हैं। सिद्धान्त में, आकाश भी आत्मा से उत्पन्न होने के कारण कार्य है। जिससे कि अनित्य है। कर्म चार प्रकार के होते हैं, प्राप्य, संस्कार्य विकार्य निवर्त्य, ग्रामादि प्राप्य कर्म हैं, पुरुष के व्यापार से वे प्राप्त होते हैं, दर्पणादि संस्कार्य कर्म हैं, घर्षण आदि क्रिया से उनका संस्कार होता है, दध्यादि विकार्य कर्म हैं, घटादि निर्वर्त्य कर्म हैं। उक्त चतुर्विधकर्मों में से कोई एक भी कर्म मोक्ष नहीं है जिसका कि प्रदर्शन, भाष्य में कूटस्थनित्यम् आदि से किया गया है। कूटस्थ नित्य कहने से निर्वर्त्य बनाने के योग्य जो कर्म जैसे घटादि उसकी निवृत्ति किया, जो कूटस्थनित्य है, वह निर्वर्त्य नहीं हो सकता। सर्व व्यापी सर्वत्र व्याप्त है इसलिए प्राप्य

कर्म नहीं है, सम्पूर्ण विकाररहित है यह अविक्रियम् शब्द से कहा गया है, जिससे कि विकार्य कर्म नहीं है, निरवयव होने से संस्कार्य कर्म भी नहीं, है, सावयव व्रीही के प्रोक्षण होने से, जैसे दर्पण आदि में घर्षण आदि से जैसे उनमें संस्कार होता है, उस तरह ब्रह्म में कोई अंश न होने से क्रिया से जन्म संस्कार नहीं हो सकता। मोक्ष में पुरुषार्थता भाष्य में नित्यतृप्त शब्द से कहा गया है, तृप्ति से दुःख रहित सुख उपलक्षित है। क्षुधा से उत्पन्न दुःख की जो निवृत्ति तत्पूर्वक सुख ही तृप्ति है। वह सुख यदि प्रतीत न हो तो पुरुषार्थ न हो इसलिए, स्वयं ज्योतिः भाष्य में कहा गया, स्वयं प्रकाशमान, अपने प्रकाश में अन्य की अपेक्षा न करने वाला। इस तरह से सिद्धान्त में मोक्षफल नित्य है यह श्रुति न्याय आदि से सिद्धकर, क्रिया से सिद्ध होने वाला मोक्ष, अनित्य हो जायगा यह भाष्य में प्रदर्शित करते हैं। तद्यदि इत्यादि से वह ब्रह्म जिसकी जिज्ञासा प्रस्तुत है वह यदि कर्तव्य विधि का अंगभूत होकर उपदिष्ट हो, और उस कर्तव्य से मोक्ष उत्पन्न हो तो अनित्य ही होगा, और मोक्ष को सभी मोक्षवादी नित्य मानते हैं। और भी ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है, कार्य और कारण का अधिष्ठान भूत ब्रह्म के जान लेने पर सम्पूर्ण कर्म नाश को प्राप्त होते हैं। आनन्द रूप ब्रह्म को जानता हुआ किसी से भयभीत नहीं होता। हे जनक तुम भयरहित ब्रह्मभाव को प्राप्त हो। वह जीव जो कि ब्रह्म ही है अविद्या से अपने में जीवभाव की कल्पना किया है वह गुरुपदेश से, अपने को मैं ब्रह्म हूं यह जाना, जिससे कि वह सर्व भाव पूर्णता को प्राप्त हुआ। एकत्व का अनुभव करनेवाले पुरुष को शोक और मोह नहीं होते। वामदेव ऋषि, ब्रह्मका साक्षात्कार करते हुए यह जाना, मैं मनु हुआ, और सूर्य हुआ, अर्थात्, सर्वात्म भाव को प्राप्त हुए। (यह भाष्योदाहृत श्रुतियों का तात्पर्य है) उक्त श्रुतियां ब्रह्म विद्या के प्राप्ति के बाद मोक्षको दिखाती हुई बीच में अन्यकार्य का निवारण करती हैं। मोक्षको यदि उपासना विधि का फल माना जाय, तो यागादि जन्य स्वर्ग के समान कालान्तर मे उसके संभव होने से, ब्रह्म विद्याप्राप्ति के ही अनन्तर ही शोकादि निवृत्तिरूप फल जो कि श्रुति से बोधित है वह संभव नहीं है, जिससे कि उक्त श्रुतियों का विरोध स्पष्ट है। वामदेव ऋषि को ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर ही सर्वात्मभाव की प्राप्ति हुई तो ब्रह्म दर्शन और सर्वात्मभाव के बीच में, अन्य कर्तव्य का वारण हुआ, जैसे ठहर कर गाता है यहाँ पर स्थिति और गान के बीच में जो स्थित हो कर गाता है, तत्कतर्तृक, अर्थात उसके द्वारा अन्य

कार्य नहीं होता यह प्रतीत होता है। एवं सनत्कुमार से नारद ने कहा कि आप हमारे पिता हैं जो अविद्यारूपी समुद्र के पार उतारते हैं, सुना है कि आप ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष से आत्म ज्ञान पाकर पुरुष शोक को पार करते हैं, भगववन् मैं शोक करता हूं आप हमारे शोक को दूर करें। नष्ट हो गया है कषायरस जिसका ऐसे नारद को शोक का कारण अज्ञान की ज्ञान से अर्थात् ज्ञान दे कर निवृत्तिकिया भगवान सनत्कुमार, इत्यादि श्रुतियां मोक्ष में प्रतिबन्धक जो अविद्या उसकी निवृत्तिमात्र ही आत्म ज्ञान का फल दिखलाती है। इसलिए मोक्ष कर्तव्य का अङ्ग नहीं है। यदि मोक्षकर्तव्य का अङ्ग नहीं हैं तो आत्मेत्येवोपासीत इत्यादि शास्त्र का बाध होगा ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि उस शास्त्र की पूर्वोक्त प्रकार से, अर्थात् वह विधि के समान रूप वाला है, न कि विधि है उपपत्ति सिद्धि हो जायगी। और भी यदि उपासना विधि के अङ्ग, वेदान्तवाक्य मानें जाय, अर्थात् मोक्ष उसका अङ्ग हैं तो उपासनात्मक ज्ञान से उत्पन्न अपूर्व से उत्पन्न मोक्ष स्वर्गादि के समान नैयोगिक, नियोग अपूर्व से जन्य होगा। जिसको निवारण करने वाली बहुत श्रुतियां है ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इत्यादि जो कि पूर्व में व्याख्यात हैं। पूर्व पूर्व भ्रमजन्य संस्कार रूपा अविद्या, और मूलाविद्या यही दो प्रतिबन्ध रुकावट डालने वाली हैं जिन ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान में इनकी जो निवृत्ति केवल उतने से ही ज्ञान में मोक्षसाधनता है, नकि स्वतः अर्थात् विहित जो उपासनात्मक ज्ञानरूपीक्रिया उससे अथवा अपूर्वोत्पत्ति के द्वारा। इसमें भी भाष्यकार (त्वंहिनः पिता) इत्यादि श्रुति प्रदर्शित कर रहे हैं। जो कि पूर्व में व्याख्यात है। और उक्त अर्थ मे न केवल श्रुत्यादि ही मूल है यह बात नहीं किन्तु आचार्य अक्षपाद (गौतम) मुनि का बनाया हुआ दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानाम् इत्यादि न्याय सूत्र भी है। आचार्य का लक्षण पुराणों में कहा गया है, आचिनोति इत्यादि। शास्त्र के अर्थों का सम्यक् चयन, (संग्रह) करे, लोगों को सदाचार में स्थापित करे, और स्वयं भी शास्त्रानुकूल आचरण करे, जिससे कि वह आचार्य कहा जाता है।

भामती

तेनहि प्रणीतं सूत्रम् - दुःखजन्म प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः इति। पाठापेक्षया, कारणमुत्तरं कार्यं च पूर्वम्, कारणापाये कार्यापायः कफापाय इव कफोद्भवस्य ज्वरस्यापायः। जन्मापाये दुःखापायः, प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः, दोषापाये प्रवृत्त्यपायः मिथ्याज्ञानापाये

दोषापायः । मिथ्याज्ञानं चाविद्या, रागाद्यपजनितक्रमेण, दृष्टेनैव संसारस्य परमं निदानम् । सा च तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनावगतिपर्यन्ते न विरोधिना, निवर्त्यते । ततोऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मरूपाविर्भावोमोक्षः, ननु, विद्या-कार्यस्तज्जनितापूर्वकार्यो वेतिसूत्रार्थः । तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाय इत्येता-वन्मात्रेण सूत्रोपन्यासः, नत्वक्षपादसम्मतं तत्त्वज्ञानमिह संमतम् । तदनेना-चार्यान्तरसम्वादेनायमर्थो दृढ़ीकृतः ।

सुभद्रा—आचार्य गौतममुनिके द्वारा बनाया हुआ उक्त न्याय सूत्र है । उक्त सूत्रमे जैसा पाठ है, उसके अपेक्षा कारण, उत्तर, वादमें हैं, कार्य, पहिले है, अर्थात् दुःख के प्रति जन्म कारण है, जन्म के प्रति, प्रवृत्ति, कारण है, प्रवृत्ति के प्रति दोष कारण है, दोषके प्रति मिथ्याज्ञान, कारण है । कारण के नाश होने पर कार्य का नाश होता है, कारण कफके नाश होने पर उससे उत्पन्न ज्वर जैसे नाश को प्राप्त होता है । तो कारण जन्म के नाश होने पर कार्य दुःखका नाश होता है और जन्म रूप कार्य के प्रति कारण प्रवृत्तिके नाश होने पर जन्म का नाश होता है, प्रवृत्ति के प्रति रागद्वेषादि दोष कारण हैं उनके नष्ट होने पर प्रवृत्ति का नाश होता है, दोषके प्रति मिथ्या ज्ञान कारण है, मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर, दोष नष्ट होता है । और मिथ्या ज्ञान ही अविद्या है, जो कि रागादि दोषों को क्रम से उत्पन्न कर संसार का मूल कारण है । वह अविद्या साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्मात्मैकत्व रूप, तत्वज्ञान से जो कि अविद्या का विरोधी है, उससे निवृत्त होती है । तो अविद्या के निवृत्त होने से ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव मोक्ष है । न कि यह विद्या का कार्य, अथवा उससे उत्पन्न अपूर्व का कार्य है । यह सूत्र का अर्थ है ।

शंका—नैयायिक, षोड़शपदार्थ के तत्त्व ज्ञान से मुक्ति, मानते हैं, जोकि वेदान्तियों को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उनके मत में संशय रहित ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान ही तत्वज्ञान है, जिससे कि मिथ्या ज्ञान की, निवृत्ति होती है, और उसके निवृत्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, न कि पदार्थोंके तत्त्व ज्ञान से इसलिए न्याय सूत्र का उपन्यास व्यर्थ है ।

समाधान—तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है केवल इतने ही, अंश में उक्त सूत्र का उपन्यास किया गया है, नकि न्यायदर्शन प्रणेता गौतम मुनिसम्मत तत्त्वज्ञान यहां पर अभिप्रेत है । इस तरह तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान निवृत्त होता है यह अर्थ अन्य आचार्य को भी सम्मत है, इस को दृढ़ अर्थात् पुष्ट किया ।

भामती

स्यादेतत्—नैकत्वविज्ञानं स्थितवस्तुविषयं, येन मिथ्याज्ञानं भेदावभासं निवर्तयन्न विषयोभवेत्, अपितु सम्पदादि रूपम्। तथा च विधेः प्रागप्राप्तं पुरुषेच्छया कर्तव्यं सत् विधिगोचरो भविष्यति। यथा वृत्त्यनन्तत्वेन मनसो विश्वेदेवसाम्याद्विश्वान्देवान्मनसि संपाद्य मन आलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा प्राधान्येन संपाद्यानां विश्वेषामेव देवानामनुचिन्तनम्, तेन चानन्तलोकप्राप्तिः। एवं चिद्रूप साम्याज्जीवस्य ब्रह्मरूपतां सम्पाद्य जीवमालम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा, प्राधान्येन ब्रह्मानुचिन्तनम्, तेन चामृतत्वफल प्राप्तिः। अध्यासे त्वालम्बनस्यैव प्राधान्येनारोपिततद्भावस्यानुचिन्तनम्, यथा मनोब्रह्मेत्युपासीत आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। एव जीवमब्रह्मब्रह्मेत्युपासीत इति। क्रिया विशेषयोगाद्वा यथा वायुर्वाव संवर्गः प्राणोवावसम्वर्गः। वाह्यवाखलु वायुर्देवता वह्न्यादीन् संवृङ्क्ते। महाप्रलयसमयेहि वायुर्वह्न्यादीन्सवृज्य संहृत्यात्मनि स्थापयति। यथाह, द्रविडाचार्यः—संहरणाद्वा संवरणाद्वा स्वात्मीभावाद्वायुः संवर्ग इति। सहि सर्वाणि वागादीनि संवृङ्क्ते। प्रायणकालेहि स एव सर्वाणीन्द्रियाणि संगृह्योत्क्रामतीति। सेयंसम्वर्गदृष्टिर्वायौ प्राणे च दशाशानतं जगद्दर्शयति यथा, एवं जीवात्मनि वृद्दणक्रियया ब्रह्मदृष्टिरमृतत्वायफलाय कल्पत इति। तदेतेषु त्रिष्वपि पक्षेष्वात्मदर्शनोपासनादयः प्रधानकर्माणि अपूर्वविषयत्वात्, स्तुतशस्त्रवत्, आत्मातु द्रव्यं कर्मणिगुण इपि, संस्कारोवात्मनोदर्शनं विधीयते। यथादशपूर्णमासप्रकरणेपत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति इति समाम्नातं प्रकरणिनाच गृहीतमुपांशुयाजाङ्गभूताज्यद्रव्यसंस्कारतयाऽवेक्षणं गुणकर्म विधीयते। यैस्तु द्रव्यंचिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत (जै. अ. २। पा. १ सू. ८) इति न्यायादत आह—न चेद ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान मिति। कुतः ? सम्पदादिरूपेहि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान इति। दर्शपूर्णमास प्रकरणे हि समाम्नातमाज्यावेक्षणं तदङ्गभूताज्यसंस्कार इति, युज्यते। न च आत्मावा अरे द्रष्टव्य इत्यादि कस्यचित्प्रकरणे, समाम्नातम्। न चानारभ्याधीतमपि यस्यपर्णमयी जूहूर्भवति, इत्यव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धजुहूद्वारेण जुहूपदं क्रतुंस्मारय द्वाक्येन यथा पर्णतयाः क्रतुशेषभावमापादयति, एवमात्माऽव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धः, येन तद्दर्शनं क्रत्वङ्ग सदात्मानं क्रत्वर्थे संस्कुर्यात्। तेन यद्ययं विधि स्तथापि, सुवर्णं भार्यम् इतिवत् विनियोगभङ्गेन प्रधानकर्मैव अपूर्वविषयत्वात्, नगुणकर्मेति स्थवीयस्तयैतद्दूषणमनभिधाय सर्वपक्षसाधारणं दूषणमुक्तम्, तदतिरोहितार्थतया न व्याख्यातम्।

सुभद्रा—भाष्य में न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्। यह ब्रह्मात्मै-कत्वविज्ञान सम्पद्रूप नहीं है, इत्यादि कहा गया है, उसका उत्थान भामती में, स्यादेतत्—इत्यादि से किया गया है।

जो वेदान्त वाक्यों को उपासना विधि परक मानते हैं उनके मत से इस शंका का उत्थान किया जाता है कि एकत्व का विज्ञान जो मोक्ष का हेतु है, स्थित ब्रह्म रूप वस्तुविषयक नहीं है, किन्तु सम्पदादि रूप है। आशय यह है कि उक्त सन्दर्भ से वेदान्तवाक्य सामान्यतः उपासनाविधिपरक न हो, किन्तु सम्पदादि रूप विशेष उपासना विधिपरक क्यों न माने जाय लाघववशात्। अर्थात्, एकत्व विज्ञान भी सम्पदादि रूप है, न कि केवल स्वरूपमात्र को प्रकाशित करने वाला, जिससे कि मिथ्या ज्ञान, जो भेद की प्रतीति, उसको निवृत्त करता हुआ विधि का विषय न हो। तो जैसे विधि, पहिले प्राप्त नहीं है, अप्राप्त का ही विधान होता है और पुरुषके, इच्छा से कर्तव्य है, उसी तरह, सम्पदादि रूप ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानभी, पहिले प्राप्त न होने से और पुरुष के इच्छा के अधीन होनेसे विधि-विषयक हो जायगा। उपासना तीन प्रकार की होती है, सम्पद् अध्यास, विशिष्ट क्रिया योग निमित्त। आलम्बन आधार को अविद्यमान के समान कर जिस वस्तु का हम उसमें आरोप करते हैं उसका प्रधानभाव से चिन्तन करना सम्पद् उपासना है। इसमें आरोप जिसका किया जाता है, उसकी प्रधानता रहती है। जैसे, मन की वृत्तियां[1] अनन्त है, और विश्वेदेवसंज्ञक देवता भी अनन्त हैं दोनों में अनन्तत्वधर्म होने से समानता है, तो आलम्बन मन को अविद्यमान के समान मान[2]कर उसमे विश्वेदेव का आरोप कर, उस रूप से, अर्थात् विश्वेदेवरूप से अनुचिन्तन करना, यह सम्पद् उपासना है, जिससे कि अनन्त लोक की प्राप्ति होती है। इसी तरह, जीव भी चेतन है, और ब्रह्म भी, तो चैतन्य रूप से जीव ब्रह्म की समानता होने से, आलम्बन, जीवको अविद्यमान के समान कर, अर्थात्, उसमे अल्पज्ञत्व बुद्धि का तिरस्कार कर उत्कृष्ट ब्रह्म रूप का आरोप करके ब्रह्मरूप से चिन्तन करना, संपद् उपासना है, जिससे कि अमृतत्व, मोक्ष रूप फल की, प्राप्ति होती है। अथवा अध्यासरूप है, आलम्बन, आधार, में जिसका आरोप करते हैं, उसका आरोप करके आधार का ही प्रधान भाव से अनुचिन्तन, अध्यास है,

१. मन एक रूप से नहीं रहता, कभी घट के आकार से परिणत होता है कभी पट मठ आदि अनन्त वस्तु के आकार में परिणत होता रहता है।

२. मन नहीं है किन्तु विश्वेदेव ही है, जैसे पाषाण प्रतिमाको पाषाण न मानकर देव मानना।

इसमे, अधिष्ठान प्रधान होता है, अधिष्ठानभूत, आलम्बन की प्रधानता होने से, आरोपित है तद्भाव जिसका, अर्थात् आरोपित है ब्रह्मभाव जिस मन आदि में उसका अनुचिन्तन, जैसे, मनोब्रह्मत्युपासीत, मन ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे, आलम्बन मन में ब्रह्मदृष्टि कर ब्रह्मभाव से मन का चिन्तन करना, अध्यास है।

आदित्यो ब्रह्मे त्यादेशः सूर्य ही ब्रह्म है ऐसा उपदेश है, आलम्बन भूत आदित्य में, ब्रह्म का आरोप करके, ब्रह्म भाव से, उन, का चिन्तन, आदि इसी। प्रकार ब्रह्म भिन्न जीव में ब्रह्म दृष्टि कर, ब्रह्म भाव से उपासना करें, अर्थात् जीव ब्रह्म नहीं है, उन में, वास्तविक एकता नहीं है, किन्तु ब्रह्म भिन्न जीव को आलम्बन, बना कर, ब्रह्म भाव से जीवका ही अनुचिन्तन करें जिससे कि मोक्षकी प्राप्ति होगी। अथवा क्रिया विशेषसम्बन्ध निमित्तक हैं, जैसे वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव सम्वर्गः। बाह्य जो वायुदेवता वह वह्नि चन्द्र सूर्य आदि सब को संवरण करता है। अर्थात् महाप्रलय के समय में वह्नि आदि सबको अपने में समेट कर स्थापित करता है। जैसा कि द्रविडाचार्य ने कहा है, संहरणाद्वा (संवरणाद्वाऽऽत्मीभावाद्वायुः संवर्गः इति) संहार करने से अथवा संवरण समेटने से, आत्मीभाव से अपने स्वरूप के अन्तर्गत उन सबको प्रविष्ट करने से, वायु संवर्ग है यह आधि दैविक है। आध्यात्मिक कहते हैं। प्राणः संवर्गः। शरीर में स्थित प्राणवायु संवर्ग है। वह सम्पूर्ण वाक् चक्षुरादि इन्द्रियों को समेट लेता है। मृत्यु के समय में सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने में समेट कर वह उत्क्रमण करता है, निकल जाता है। यद्यपि श्रुति में सुषुप्ति अवस्था में प्राण को सम्वर्ग कहा है, तथा आधिदैविक वायु का महाप्रलय में सम्पूर्ण अग्न्यादि देवता का संवरण करने से, उसी न्याय के साम्य से आध्यात्मक प्राण वायु का भी प्रलय, स्थानीय मरण ही प्राकरणिक होने से, प्रायण काल, मरण काल में, ही प्राण को सम्वर्ग कहा गया। आधिदैविक दशोंदिशाओं. में, व्याप्त वायु ही देह में परिच्छिन्न होकर प्राण वायु कहाती है, उस परिच्छिन्नत्व का त्याग करके आध्यात्मिक शरीरस्थित, प्राणवायु और आधि दैविक, सर्वत्र व्याप्तवायु, इनमें एकत्व बुद्धि कर, अथवा पृथक् संवर्ग दृष्टि की भावना निरन्तर करने से, वायु, के दशोंदिशाओं में व्याप्त होने से, उनमें स्थित, सम्पूर्ण जगत् का प्रत्यक्ष होता है यह सम्वर्ग उपासना का फल है। तो वायु में अथवा प्राण में संवरणादि विशिष्ट क्रिया के योग से सम्वर्ग दृष्टि करके उपासना जैसे होती है, उसी प्रकार जीवात्मा में भी बृंहण क्रिया, अर्थात्

देहादि के परिणमन, वृद्धि आदि क्रियाके योग से ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने से अमृत्व, मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। तो इस पूर्वोक्त तीनों पक्षों में, आत्म दर्शन, आत्मोपासनादि प्रधान, कर्म हैं, अपूर्व विषयक होने से स्तुतशस्त्र के समान। अभिप्राय, यह है कि सम्पत् अध्यास विशिष्ट क्रियायोग निमित्तक, इनमें से यदि कोई उपासनापरक वेदान्त वाक्य हैं तो आत्मदर्शन आत्मविषयक यथार्थ ज्ञान और उपासना आदि प्रधान कर्म होंगे, जिससे दृष्टान्त स्तुत शस्त्र है। पूर्व मीमांसामे, आज्यैः स्तुवते, प्रउगं शंसति येस्तुतशस्त्र कहे गए है। आज्य और प्रउग शब्द, स्तोत्र विशेष, और शस्त्र विशेष के नाम है। प्रगीत मन्त्र से साध्य, अर्थात् गीति पूर्वक, देवता के गुण सम्बन्ध को कहना, स्तोत्र है, मन्त्रों का स्वरपूर्वक उच्चारण और राग से उच्चारण, और उसमें अक्षर की न्यूनता होने पर हा इ वु आदि पद गाया जाता है, जोगीति पूर्वक है। अप्रगीत मन्त्र से, साध्य, अर्थात् स्वर पूर्वक उच्चारण होने पर भी जोगीति पूर्वक नहीं है और देवता के गुण सम्बन्ध को कहता है, वह शस्त्र है। तो उक्त स्तोत्र और शस्त्र क्या देवता के प्रकाश, रूप संस्कार के लिए गुण कर्म हैं, या अपूर्व उत्पन्न करने के लिए प्रधान कर्म हैं, जैसे यजेत आदि पद से बोधित यागादि अपूर्व के जनक होने से प्रधान कर्म हैं। उस तरह ए भी अपूर्व के जनक होने से प्रधान कर्म हैं। ऐसा सन्देह होने पर गुण के सम्बन्ध को कहने से, गुण है जिस देवता, में उनको प्रकाशित करने से, और यज्ञके उपयोगी देवता का स्मरण रूप, दृष्ट प्रयोजन होने से ए अप्रधान कर्म हैं ऐसा प्राप्त होने पर, सिद्धान्त किया गया, कि गुण कर्म नहीं है, किन्तु प्रधान कर्म हैं, क्योंकि यहांपर स्तुति का विधान श्रुत है, स्तुति गुण का अभिधान कर, स्वरूप को प्रकाशित करती है, जैसे विशाल वक्षाः क्षत्रिय युवा, किसी बलिष्ट क्षत्रिय युवक के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए, विशाल वक्षस्त्व रूप गुण को कहा गया जिससे उसके स्वरूप का ज्ञान हुआ वह स्तुति है, क्योंकि उक्त वाक्य गुण सम्बन्ध परक है। यदि यो विशाल वक्षाः तमानय ऐसा कहा जाय, तो लंबी चौड़ी छाती वाला है उसको लाओ, तो वहां पर आनयन क्रिया की प्रधानता होने से स्तुति नहीं प्रतीत होती। इस लिए स्तुति और शस्त्र का, जिन मन्त्र वाक्यों से गुण के सम्बन्ध का अभिधान करना है वह स्तुत और शास्त्र होता है, जब गुण के द्वारा स्मरण के योग्य देवता के स्वरूप प्रकाशन परक मन्त्र हों तब स्तुति नहीं होती, स्तुति यहाँ पर आज्यै, स्तुवते आदि वाक्यों से प्रतीत हो रही है इसलिए यहां पर मन्त्रवाक्य देवता के स्वरूप को प्रकाशित नहीं करते। किन्तु गुण के सम्बन्ध को कहते हैं, इससे

स्तुत और शस्त्र में प्रधान कर्मता मानी जाती है, और वहाँ पर कोई दृष्ट प्रयोजन न होने से, स्तुतशस्त्र को अपूर्व का जनक माना जाता है, यागादि के समान प्रधान कर्म होने से अपूर्वोत्पत्ति के द्वारा, स्वर्गादि लोक प्राप्ति ही उसका फल है। उसी तरह आत्मा की उपासना प्रधान कर्म है, उससे उत्पन्न अपूर्व के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होगी, आत्मा सिद्ध रूप होने से उस उपासना कर्म का अङ्ग है। इसलिए वस्तुतः द्रव्य रूप भी आत्मा उपासना रूप कर्म में गुण भूत अर्थात्, अप्रधान ही है। द्रव्य और देवता को मीमांसक गुण अर्थात्, अप्रधान मानते हैं, कर्म प्रधान होता है। उस कर्म का साधन अथवा विशेषण भाव से प्राप्त द्रव्य देवतादि अप्रधान ही होते हैं। इस तरह यहां पर आत्मोपासन प्रधान कर्म हैं, आत्मा उसमे अप्रधान कर्म है। तो आत्मदर्शन, अथवा आत्मसंस्कार गुण कर्म है। जैसे दर्शपूर्णमास के, प्रकरण मे, पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति यह कहा गया, और प्रकरण है जिसका ऐसा जो दर्शपूर्णमास उससे गृहीत, उसका अङ्गभूत जो उपांशुयाग उसका अङ्ग जो आज्य द्रव्य उसका संस्कार यजमान के पत्नी के द्वारा अवेक्षण रूप देखना, रूप गुण कर्म का उक्त वाक्य द्वारा विधान किया जाता है, तो जैसे अवेक्षण से आज्य रूप द्रव्य का संस्कार होने से अवेक्षण गुण कर्म है, इसी प्रकार यज्ञ का कर्ता जीवात्मा, के होने से यज्ञाङ्ग भूत आत्मा मे आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः इस वाक्य से, दर्शन रूप गुण कर्म का विधान होता है। यंस्तुद्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्रप्रतीयते, इस न्याय से, जिस अवघात आदि से द्रव्य का, संस्कार करने की इच्छा करते हैं उसमें गुणभूत कर्म की प्रतीति होती है। आत्म रूप द्रव्य का दर्शन से संस्कार चिकीर्षित होने से आत्मदर्शन गुण कर्म है इसका विधान किया जाता है। इस तरह वेदान्त वाक्य वास्तविक जीव ब्रह्मैक्यके बोधक नहीं है किन्तु सम्पदादि रूप, उपासना विधिपरक है, यह पूर्व पक्षी के द्वारा प्रदर्शित करने पर भाष्य में इसका निराकरण, न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं-सम्पद्रूपम्, आदि से किया जाता है। ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान संपदादिरूप नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर तत्वमसि अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि, वाक्य घटक पदों का जो ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान रूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य ही है वह पीडित होगा। भिद्यते हृदय ग्रन्थिः इत्यादि वाक्यों से, केवल अविद्यानिवृत्ति मात्र रूप फल का श्रवण अवरुद्ध हो जायगा। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, इत्यादि वचनों से बोधित ब्रह्म भाव के प्राप्ति का सामञ्जस्य नहीं होगा। इस लिए सम्पदादि रूप ब्रह्मात्मैक, त्वविज्ञान नहीं है। यह भाष्य का तात्पर्य है। और भी, आत्मदर्शन को संस्कारकर्मत्व प्रकरण से आप कहते हैं, अथवा वाक्य से, प्रथम पक्षयुक्त नहीं है क्योंकि दृष्टान्त में साम्य नहीं है। आशय यह है कि, दर्शपूर्णमास के

प्रकरण मे पर्य्यवेक्षित, आज्य के समाम्ना त होने से, उसमे पड़ जाने से, आज्य का अवेक्षण प्रकरण का अङ्गभूत आज्य का संस्कार हैं, इस लिए वहाँ पर गुण कर्म का विधान युक्त है। आत्मावाऽरेद्रष्टव्यः आदि वाक्य किसी प्रकरण में पढ़े नहीं गए जिससे कि प्रकरण के अङ्ग हों इसलिए वहाँ पर गुण कर्म का विधान मानना उचित नहीं हैं। वाक्य से गुणभूत कर्मत्व है यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि अप्रकरण पठितवाक्य अनारभ्याधीत कहा जाता है, तो ऐसा वाक्य भी, यस्यपर्णमयी जुहूर्भवति यह, अव्याभिचरित हैं यज्ञ का सम्बन्ध जिसका ऐसे जुहू के द्वारा जुहू पद में यज्ञ की स्मरण करता हुआ वाक्य से पर्णता को यज्ञ का अङ्ग भाव आपादन करता हैं, उस तरह आत्मा का यज्ञ के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध, नहीं हैं, पर्णमयी जुहू का यज्ञ में ही उपयोग होने से यज्ञ के साथ उसका अव्यभिचरित सम्बन्ध हैं, आत्माका यज्ञ होमे उपयोग नहीं है किन्तु तदतिरिक्तस्थल मे भी उसकी विद्यमानता रहती है। जिससे कि यज्ञ के साथ उसका अव्यभिचरित सम्बन्ध नहीं है। जिससे कि आत्मदर्शन यज्ञ का अङ्ग होकर आत्मा को यज्ञ के लिए संस्कृत करे। आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः यह विधि सुनी जाती है, तो आत्मदर्शन, गुण भूत विधि हो ऐसी शंका होने पर भामती मे तेन यद्ययं विधिः इत्यादि से निराकरण किया जाता है। यदि यह विधि हो तो, सुवर्ण भार्यम् के समान विनियोग के, भङ्ग से प्रधान कर्म ही होगा अपूर्व का जनक होने से नकि गुण कर्म। आशय यह है कि पूर्व मीमांसा के, शेष लक्षण मे कहा गया है, तस्मात्सुवर्ण हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति यह अप्रकरण पठित वाक्य है, सुन्दर वर्ण वाले हिरण्य, सोना का धारण करना चाहिए जिससे कि भ्रातृव्य, शत्रु, दुष्ट वर्ण वाला, होता है। इस वाक्य में विहित शोभन वर्ण युक्त हिरण्य धारण यज्ञ का अङ्ग है या प्रधान कर्म, पुरुष का धर्म स्वतन्त्र फल वाला है ऐसा सन्देह होने पर, दुर्वर्ण पद घटित वाक्य में एवं कामः ऐसा शब्द न होने से स्वतन्त्र फल की कल्पना लाघवात् नहीं मानी जाती, किन्तु यज्ञ के ही फल से फलवान् है, यज्ञका ही अङ्ग हिरण्य धारण है, ऐसा पूर्व पक्ष के होने पर, क्रतु, यज्ञ के साथ हिरण्यधारण का अव्यभिचरित, अर्थात् नियमपूर्वक सम्बन्ध न होने से यज्ञ का अंङ्ग नहीं है, किन्तु प्रधान कर्म ही है, दुर्वर्णोऽस्यभ्रातृव्यो भवति इस वाक्य शेष से ज्ञात शत्रु की दुर्वर्णता ही इसका फल हैं, क्योंकि हिरण्य का, धारण यज्ञ के अतिरिक्त स्थल में भी होता है, तो यज्ञ के साथ उसका अव्यभिचरित, नियमपूर्वक सम्बन्ध नहीं है, इस लिए विनियोग भङ्ग से अर्थात् यज्ञ में ही इसका उपयोग हो ऐसा नियमन होने से वह प्रधान कर्म माना जाता है, उसी तरह यहाँ पर भी आत्मसाधनक दर्शन से अमृतत्व मोक्ष की भावना करे ऐसी

विधि होने से, आत्मदर्शन, अपूर्व का जनक होने से प्रधान कर्म ही होगा न कि गुण कर्म। वस्तुतः आत्मा, वाऽरे द्रष्टव्यः इत्यादि वाक्य विधि नहीं है किन्तु विधि के समान रूप वाले हैं, यह भाष्यकार, और भामतीकार को अभिप्रेत है। इसीसे यह पूर्वोक्त दूषण अत्यन्त स्थूल होने से भाष्यकार ने इसको न कहकर, सर्व पक्ष साधारण दूषण, सम्पदादि रूप ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान मानने पर तत्वमस्यादि वाक्यों का पद समन्वय पीडित होगा इत्यादि, कहा। जिसका व्याख्यान स्पष्टार्थक होने से भामती में नहीं किया गया।

भाष्य

न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः। अन्यदेव, तद्विदितादथ अविदितादधि (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात्, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् (बृह० २।४।१३) इति च। तथोपास्ति क्रियाकर्मत्व प्रतिषेधोऽपि भवति—यद्वाचाऽभ्युदितं येन वागभ्युद्यते इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य तदेवब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते (केन० १।०) इति। अविषयत्वे च ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरितिचेत् न अविद्याकल्पित भेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। नहि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म, प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेदसः। अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम् (केन० २।३) न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न विज्ञाते र्विज्ञातारं विजानीथाः (बृहः ३।४।२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन, नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। यस्यतूत्पाद्योमोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति, युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च, तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरेकत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो, मोक्षः येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारोहि नाम संस्कार्यस्य, गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा १ न तावद्गुणाधानेन, सम्भवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि, दोषापनयनेन, नित्यशुद्ध ब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म, एव सस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययाऽऽत्मनि संक्रियमाणोऽभिव्यज्यते, यथादर्शे निघर्षणक्रियया संक्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इतिचेन्न क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्व मात्मनः प्रसज्येत।

अविकार्योऽयमुच्यते इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः सम्भवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न, देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव, कश्चिदविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इतियुक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्य फलं अहमरोग इति यत्र बुद्धि रुत्पद्यते, एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इतियत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैवह्यहङ्कर्त्राऽहंप्रत्यय विशेषेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स, एवाऽश्नाति। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः (काठ० १।३।४) इति च। तथा च एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च ॥ (श्वेता० ६।११) इति, सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्, (ईशा० ८) इति चैतौमन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियाऽनुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।

भामती

किञ्च ज्ञान क्रियाविषयत्वविधानमस्य बहुश्रुति विरुद्ध मित्याह नच विदिक्रियेति। शङ्कते—अविषयत्व इति। ततश्चशान्तिकर्मणि, वेतालोदय इति भावः। निराकरोति—न। कुतः अविद्याकल्पित भेदनिवृत्तिविषयत्वादिति। सर्वमेवहिवाक्यं नेदं तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति। नहीक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य, आख्यातुम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तेन प्रमाणान्तरसिद्धे लौकिक एवार्थे यदा गतिरीदृशी शब्दस्य तदा कैव कथा प्रत्यगात्मन्य लौकिके। अदूरविप्रकर्षेणतु कथञ्चित्प्रतिपादनमिहापि समानम्। त्वंपदार्थो हि प्रमाता प्रमाणाधीनया प्रमित्या प्रमेयं, घटादि व्याप्नोतीत्यविद्याविलसितम्। तदस्याविषयीभूतोदासीन तत्पदार्थप्रत्यगात्मसामानाधिकरण्येन प्रमातृत्वाभावात् तन्निवृत्तौ प्रमाणादयस्तिस्रो विधा निवर्तन्ते। नहि पंक्तुरवस्तुत्वेपावय पाचानानि वस्तुसन्ति भवितु मर्हन्तीति। तथाहि, विगलित पराग्व्यावृत्त्यर्थकं पदस्य तदस्तदा त्वमितिहि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि

यत्पदम्। तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं, विशुद्धचिदात्मतां त्यजति सकलान् कर्तृत्वादीन्पदार्थं मलान्निजान्॥ इत्यन्तरश्लोकः १ अत्रैवार्थे श्रुतीरुदाहरति तथा च शास्त्रम-यस्यामतीमति। प्रकृत मुपसंहरति अतोऽविद्याकल्पितेति। परपक्षे मोक्षस्यानित्यतामापादयति यस्यत्विति। कार्यम्—अपूर्व यागादिव्यापार जन्यम् यमपेक्षते मोक्षः स्वोत्पताविति।

सुभद्रा—ज्ञान क्रिया विषयता का विधान आत्मा का बहुत श्रुतियों से विरुद्ध है। इसलिए भाष्य में कहा गया, ज्ञान क्रिया का कर्मस्वरूप से ब्रह्म में कार्य विधि मानना युक्त नहीं है। अन्यदेव तद्विदितात् इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को विदित और अविदित से अन्य बतला रही है, ज्ञानार्थक विद्धातु से कर्मक्त प्रत्यय होकर विदित शब्द निष्पन्न होता है, तो ब्रह्म ज्ञान क्रिया का कर्म नहीं है यह श्रुति से बोधित होता है, ज्ञान क्रिया का कर्म होने से ब्रह्म में कार्य का अनुप्रवेश मानने से उक्त श्रुति, का विरोध स्पष्ट है। एवं येनेदं सर्वं विजानाति, जिससे यह सब प्रपञ्च जाना जाता है। उसको किससे जाना जाय, प्रसंग कूटस्थ साक्षी चैतन्य के द्वारा ही सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं, वह सबका प्रकाशक है, जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है, परन्तु उसके प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती उसी तरह ब्रह्म सबका प्रकाशक है, उसको जानने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं है इस तरह से ब्रह्म में ज्ञान क्रिया के कर्मत्व का निषेध बतला कर, उपासना क्रिया के कर्मत्व का भी निषेध यद्वाचाऽनभ्युदितं इत्यादि से भाष्यकार बतला रहे है। जो वाणी से प्रकाशित नहीं जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसको ब्रह्म जानो जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म है। इसमन्त्र से ब्रह्म वाणी का विषय नहीं ऐसा कह कर जिस उपाधि विशिष्ट देवता की उपासना, लोग करते हैं वह ब्रह्म नही, (ऐसा सिद्ध होता है) जिससे कि उपासना का भी ब्रह्म कर्म नहीं है।

शंका—ब्रह्म यदि किसी का विषय नहीं है, तो शास्त्र का भी विषय न होने से उसमें शास्त्र प्रमाण कैसे तो शान्ति कर्म में बेताल का उदय हो जायगा, जैसे साधारण प्रेतबाधा के निवृत्ति के लिए किए हुए शान्ति कर्म में प्रबल बेताल का उदय हो, उसी तरह ब्रह्म में विषयता का अभाव कहकर, उसमें शास्त्र प्रमाण है इसका भी भंग आप वेदान्तियों ने कर दिया।

समाधान—भाष्यमें न नहीं शास्त्र अविद्या कल्पित भेद की निवृत्ति को विषय करते हैं।

विशेष—अद्वैत सिद्धान्त में यद्यपि ब्रह्म किसी का विषय नहीं है, स्वतः सिद्ध है, और एक रूप है। तथापि अनादि अविद्यावशात् कल्पित भेद से भि

के समान प्रतीत होता है, शास्त्र के द्वारा उस भेद को निवृत्ति होती है। और शाब्दात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति, शास्त्र के द्वारा होती है, उसके अभ्यास से उत्पन्न अनन्त दृढ़ संस्कार के परिपाक के सहित अन्तःकरण रूपी करण से जायमान निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक जो वृत्ति उससे सम्पूर्ण भेदमूलक प्रपञ्च नष्ट होकर वह वृत्ति स्वयम् नष्ट हो जाती है। इस तरह शास्त्र जन्य अन्तःकरण वृत्ति उपहित ब्रह्म को विषय करती है, उसके साथ आध्यासिक, सम्बन्ध को लेकर शास्त्र प्रमाणक ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म वाणी आदि का विषय नहीं है इसको बतलाने वाली श्रुति चक्षुरादि प्रमाण जन्य वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य का विषय रूप जो फल व्याप्यत्वरूप कर्मत्व उसका निवारण करती है न कि वृत्ति व्याप्यता, वृत्ति विषयता का, कहा भी है, फल व्याप्यत्व मेवास्य शास्त्र कृद्भि र्निवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्व मिष्यते। ब्रह्म में फल व्याप्यता का ही शास्त्रकारों ने निवारण किया है, न कि वृत्ति व्याप्यता का, अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति व्याप्यता इष्ट है। (इत्यादि)

इसी का स्पष्टीकरण भामती में, सर्व मेवहि इत्यादि पद सन्दर्भ से किया जाता है। सभी वाक्य यह ऐसा है इस रूप से वस्तुओं के भेद को जनाने में समर्थ नहीं है, ऊंख, दूध, गुड़ इत्यादि मधुर वस्तुओं के मधुर रस की विशेषता को कहा नहीं जा सकता। अर्थात् उक्त वस्तुए मधुर हैं, यह वाक्य से जाना जाता है, परन्तु उन सब में जो माधुर्य की विलक्षणता इसमें ऐसा माधुर्य है यह वाक्य से बोधित नहीं होता इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए। अर्थात् वस्त्र में सफेदी हो और दूध, शंख आदि में भी सफेदी है, यह वाक्य से बोधित होने पर भी वस्त्र में सफेदी कैसी है, और दूध, शंख आदि में उससे विलक्षण सफेदी कैसी है यह वाक्य से नहीं बोधित होता, है। तो इस तरह से, अन्य, प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध लौकिक पदार्थ में ही जब शब्द की गति ऐसी है, तो अलौकिक प्रत्यगात्मा मे क्या कहा जा सकता है कि वह ऐसा ही है। अदूर विप्रकर्ष से कथञ्चित्प्रतिपादन यहां पर भी समान है। वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म साक्षात् अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं कहा जाता, इसलिए विप्रकर्ष है, वेदान्त वाक्यों का अभिधेय जो सर्वज्ञत्व जगत्कारणत्वाद्युपहित चैतन्य, उसके साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त जो शुद्ध उपाधिरहित ब्रह्म उसका लक्षणावृत्ति से बोध वेदान्त वाक्य से होने से अदूर भी है। (जैसे गामानय इत्यादि वाक्यों से गोशब्द के अभि, धावृत्ति से प्रतिपाद्य गोत्वधर्म के, साथ तादात्म्यभावको प्राप्त गोव्यक्ति का बोध और उसका आनयनादि क्रियामें अन्वय कथञ्चित् सम्भव है उसी तरह)। स्वं पदार्थ प्रमाता प्रमाण के अधीन प्रमिति से प्रमेय घटादि को, व्याप्त करता है, यह अविद्या का विलास है।

विशेष—व्याख्यात्वंपद का वाच्यार्थ जीव है, अन्तःकरण, या अविद्या-रूप उपाधि से युक्त चेतन ही जीव है, और वह घटपट आदि विषयों की जो प्रमिति फलरूप यथार्थ ज्ञान उसका आश्रय होने से प्रमाता है, वह प्रमाण, चक्षुरादि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की वृत्ति उनके अधीन जो प्रमिति, अर्थात् विषयों का फलरूप यथार्थज्ञान, जिसके विषय घटादि हैं उनको व्याप्त करता है। प्रमातृत्व आदिधर्म त्वं, पद बोध्य जीव में वास्तविक नहीं है यदि वे उसमें वास्तविक माने जाय तो तत् पदार्थ के साथ उनका सामानाधिकरण्य नहीं बनता, क्योंकि तत्पदार्थ है, सर्वज्ञत्वादिउपाधिविशिष्ट चेतन, (या मायोपहित चेतन) जिसमें कि प्रमातृत्व आदि धर्म सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्तिरूप प्रमाणके बिना प्रमातृत्व होता नहीं, मायोपहित चेतन स्वरूप ईश्वर में, अन्तःकरणरूप उपाधि है नहीं, इसलिए प्रमातृत्व आदिधर्म-जीव में अविद्या के ही विलास है, वास्तविक नहीं। और भी यदि वे धर्म वास्तविक यानी पारमार्थिक सत् हों तो सत्य वस्तुकी ज्ञान से निवृत्ति न होने से नेह नानास्तिकिञ्चन, विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, आदि श्रुतियों से बोधित दृश्यमात्र की निवृत्ति नहीं हो सकती, तो उन श्रुतियों का विरोध होगा। इत्यादि युक्ति से, प्रमातृत्व प्रमाणभाव प्रमिति प्रमेय, ए सब अविद्यासे ही कल्पित है, मिथ्या हैं, केवल उनको व्यावहारिक सत्ता है, न कि पारमार्थिकता। प्रमातृत्व आदि के अविद्या विलास कल्पित होनेसे, प्रमातृत्व आदिका अविषय, जो उदासीन तत्पदार्थ प्रत्यगात्मा उसके साथ त्वं पदार्थ का सामानाधिकरण्य होनेसे, प्रमातृत्व आदि की निवृत्ति होने से प्रमाण आदि तीनों प्रकार निवृत्त हो जाते हैं। आशय यह है कि समान विभक्तिक पदों का प्रयोगरूप सामानाधिकरण्य, तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का अभेद अर्थात् ऐक्य होनेसे ही सम्भव है। वह तभी हो सकता है, जब त्वं पदार्थ जीवमें प्रमातृत्व काल्पनिक हो, जिसकी निवृत्ति वेदान्तवाक्य जन्यज्ञान से होती है। तो प्रमातृत्व के निवृत्त होने पर, प्रमाण प्रमेय प्रमिति ए सब भी निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि जब प्रमाता ही नहीं, तो प्रमाण आदिकी स्थिति कैसे संभव है। जैसे पाचक पकाने वाला ही वस्तु सत् न हो, तो उससे पकाने के योग्य वस्तु और पाक क्रिया उसके साधन आदि वस्तुसत् कैसे होगें।

जैसा कि कहा भी है, (विगलित परागित्यादि) परागभावः अर्थात् बाह्य-भावसे वृत्ति व्यापार अर्थात् व्यापार विगलित नष्ट हो गया है, जिसका ऐसा प्रत्यक्भाव आन्तरभाव को प्राप्त तत्त्वमसिवाक्य घटक तत्पदार्थ तदा उस समय कब जब कि त्वंपदके साथ एकार्थ भावको प्राप्त होता है, और त्वम् यह पद भी तत्पद के साथ एकार्थ भावको प्राप्त होता है, एकार्थभाव क्या है, विशुद्ध-

चिदात्मता अर्थात् सम्पूर्ण कर्तृत्वादिधर्म, जो त्वंपदके वाच्य अर्थ हैं वही मल अर्थात् दोष है, उसको त्याग कर विशुद्ध चैतन्यरूप के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त होता है, यह मध्य श्लोक है। इसी अर्थ में भाष्यकार श्रुतियों को उदाहरण देते हैं। ब्रह्म विषय नहीं है इस विषय में यस्यामतं इत्यादि श्रुतियों को प्रदर्शित करते हैं, यह भाव है। जिस पुरुष को ब्रह्मज्ञान का विषय नहीं है। ऐसा निश्चय है उस पुरुष को ब्रह्म सम्यक् रूपसे ज्ञात है, अर्थात् उसके अन्तःकरण में अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप से प्रकाश को प्राप्त है। जिसको ब्रह्मज्ञान का विषय है ऐसा निश्चय है, वह ब्रह्म को ठीक से नहीं जानता, क्योंकि ब्रह्म और ज्ञान के भेद निश्चय होने पर ही, ब्रह्म ज्ञान का विषय है, ऐसा निश्चय होगा, परन्तु ब्रह्म ज्ञान रूप ही है, स्व अपने में स्व विषयता संभव नहीं, इसलिए ब्रह्म ज्ञान का विषय है, ऐसा ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं है। ब्रह्म अविज्ञात है, अर्थात् ज्ञान का विषय नहीं है, ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्म विज्ञात होता है। ब्रह्म विज्ञात है, ज्ञान का विषय है, मैंने उसको जाना ऐसा जो प्रमाता प्रमाण प्रमेय आदि भेद ज्ञान वाले हैं ऐसा जानने वालों को ब्रह्म अविदित ही है, ऐसे लोग ब्रह्म के स्वरूप को ठीक से नहीं समझे, भेद ज्ञान से रहित विद्वानों को ही ब्रह्म विज्ञात होता है, देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित ब्रह्म मैं हूँ ऐसा निश्चय होता है। दृष्टि चक्षुरिन्द्रिय जन्य अन्तःकरण वृत्ति के द्रष्टा प्रकाशक साक्षी रूप ब्रह्म को कोई नहीं देखता, अर्थात् जिससे वृत्ति प्रकाशित होती है उसका प्रकाशक कौन है, वह तो स्वतः सिद्ध नित्य प्रकाश रूप है, अपने प्रकाश में अन्य की अपेक्षा नहीं करता, उसको देखने की सामर्थ्य किसमें है, एवं विज्ञाता, बुद्धि अन्तःकरण का जो ज्ञातृत्व धर्म है उसको जानने वाला प्रकाश करने वाला कौन है, उसको अनित्य दृष्टि से, अर्थात् जो दृश्यकोटि के अन्तर्गत है उससे जाना नहीं जा सकता इत्यादि, भाष्योदाहृत श्रुतियों का अर्थ है। इस तरह से ब्रह्म को अविषय बतलाकर भाष्यकार प्रकरण प्राप्त विषय का उपसंहार अतोऽविद्याकल्पित आदि से करते हैं। दूसरे के पक्ष में मोक्ष अनित्य हो जायगा ऐसी आपत्ति देते हैं भाष्यकार, यस्यतु आदि से। कार्य अपूर्व यागादि व्यापार से उत्पन्न उसकी अपेक्षा मोक्ष अपने उत्पत्ति में करता है।

भामती

तयोः पक्षयोरिति, निवर्त्यविकार्ययोः। क्षणिकं ज्ञानमात्मेति बौद्धः। तथा च विशुद्धविज्ञानोत्पादो मोक्ष इति निवर्त्यो मोक्षः, अन्येषांतु संसार रूपावस्था मपहाय. या कैवल्यावस्थावाप्तिरात्मनः स मोक्ष इति विकार्यो मोक्षः। यथापयसः पूर्वावस्थापहानेनावस्थान्तरप्राप्तिर्विकारोदधीति। तदे-

तयोः पक्षयोरनित्यता मोक्षस्य कार्यत्वात् दधिघटादिवत् अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते इति श्रुतेर्ब्रह्मणो विकृताविकृतदेशभेदावगमादविकृतदेशब्रह्मप्राप्तिरुपासनादिविधिकार्या भविष्यति, तथा च प्राप्यकर्मता ब्रह्मण इत्यत आह । न चाप्यत्वेनापीति । अन्यदन्येन विकृतदेशपरिहारेणाऽविकृतदेशं प्राप्यते । तद्यथोपवेलं जलधिरतिबहल चपलकल्लोलमालापरस्पराफालनसमुल्लसत्फेनपुञ्जस्तबकतया विकृतः मध्येतु प्रशान्तसकलकल्लोलोपसर्गः स्वस्थः स्थिरतयाऽविकृतस्तस्य मध्यमविकृतं पौतिकः पोतेन प्राप्नोति । जीवस्तु ब्रह्मैवेति किं केन प्राप्यतां, भेदाश्रयत्वात्प्राप्तेरित्यर्थः । अथ जीवो ब्रह्मणोभिन्नस्तथापि न तेन ब्रह्माप्यते, ब्रह्मणो विभुत्वेन नित्यप्राप्तत्वादित्याह—स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपीति । संस्कार्यकर्मतामपाकरोति—नापि संस्कार्य इति । द्वयोहि संस्कार्यता—गुणाधानेन वा यथा बीजपूरकुसुमस्य लाक्षारसावसेकः तेनहि तत्कुसुमं संस्कृतं लाक्षासवर्णं फलं प्रसूते । दोषापनयेन वा, यथामलिन मादर्शतलं निघृष्टं मिष्टकाचूर्णेनोद्भासितभास्वरत्वं संस्कृतं भवति । तत्र न तावद् ब्रह्मणि गुणाधानं संभवति । गुणोहि ब्रह्मणः स्वभावोवा ? भिन्नोवा ? स्वभावश्चेत् कथमाधेयः तस्यनित्यत्वात् । भिन्नश्चेतु कार्यत्वेन मोक्षस्यानित्यत्वप्रसङ्गः । न च भेदेधर्मधर्मिभावः गवाश्ववत् । भेदाभेदश्च व्युदस्तः विरोधात् । तदनेनाभिसन्धिनोक्तम्—अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वात्मोक्षस्य । द्वितीयं पक्षमाक्षिपति—नापि दोषापनयनेनेति । अशुद्धिः सती दर्पणेनिवर्तते नतु ब्रह्मणि असती निवर्तनीया नित्यनिवृत्तत्वादित्यर्थः । शङ्कते - स्वात्मधर्म एवेति । ब्रह्मस्वभाव एव मोक्षोऽनाद्यविद्यामलावृत उपासनादिक्रिययाऽऽत्मनि संस्क्रियमाणोऽभिव्यज्यते न तु क्रियते । एतदुक्तं भवति—नित्यशुद्धत्वमात्मनोऽसिद्धं संसारावस्थायामात्मनोऽविद्यामलिनत्वादिति शंकां निराकरोति—न । कुतः क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः । नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्त तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म । अभ्युपेत्यत्वशुद्धिं क्रियासंस्कार्यत्वं दूष्यते । क्रिया हि ब्रह्म समवेता वा ब्रह्म संस्कुर्यात्, यथा निघर्षण मिष्टकाचूर्णसंयोगविभागप्रचयो निरन्तर आदर्शतलसमवेतः । अन्यसमवेता वा । नतावद्ब्रह्मधर्मः क्रिया तस्याः स्वाश्रयविकारहेतुत्वेन ब्रह्मणोनित्यत्वव्याघातात् । अन्याश्रया तु कथमन्यस्योपकरोति अतिप्रसंगात् । नहि दर्पणेनिघृष्यमाणे मणिर्विशुद्धो दृष्टः । तदनिष्टमिति । तदा बाधनं परामृशति । अत्रव्यभिचारं चोदयति—ननु देहाश्रयेति । परिहरति—न । देह संहतस्येति । अनाद्यनिर्वाच्याविद्योपधानमेव ब्रह्मणो जीव इति च क्षेत्रज्ञ इति चाचक्षते । स च स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियादिसंहतस्तत्संघातमध्यपतितस्त-

दभेदेनाहमितिप्रत्ययविषयीभूतः अतः शरीरादिसंस्कारः शरीरादिधर्मोऽप्यात्मनो भवति, तदभेदाध्यवसायात्। यथाङ्गरागधर्मः सुगन्धिता कामिनीनां व्यपदिश्यते। तेनात्रापि यदाश्रिता क्रिया सांव्यवहारिकप्रमाणविषयीकृता तस्यैव संस्कारोनान्यस्येति न व्यभिचारः। तत्त्वतस्तु न क्रिया न संस्कार इति। सनिदर्शनं तु शेषमध्यासभाष्य एव कृतव्याख्यान मिति नेहव्याख्यातम्। तयोरन्यः पिप्पलमिति। अन्यो जीवात्मा। पिप्पलं कर्मफलम्। अनश्नन्नन्यइति। परमात्मा। संहतस्यैव भोक्तृत्वमाह मन्त्रवर्णः—आत्मेन्द्रिय इति। अनुपहितशुद्धस्वभावब्रह्मप्रदर्शनपरौ मन्त्रौ पठति—एको देव इति। शुक्रं दीप्तमत्। अव्रणं दुःखरहितम्। अस्नाविरं अविगलितम्, अविनाशीति यावत्। उपसंहरति—तस्मादिति। ननुमाभूत्निर्वर्त्यादिकर्मताचतुष्टयी, पञ्चमीतु काचिद्विधाभविष्यति, यथा मोक्षस्य कर्मता घटिष्यत इत्यत आह—अतोऽन्यदिति। एभ्यः प्रकारेभ्यो न प्रकारान्तरमन्यदस्ति, यतोमोक्षस्य क्रियानुप्रवेशोभविष्यति। एतदुक्तं भवति—चतसृणां विधानां मध्याऽन्यतमया क्रियाफलत्वं व्याप्तं सा च मोक्षाद्व्यावर्तमाना, व्यापकानुपलब्ध्या मोक्षस्य क्रियाफलत्वं व्यावर्तयतीति। तत्किं मोक्षो क्रियैव नास्ति, तथा च तदर्थानि शास्त्राणि तदर्थाश्च प्रवृत्तयोऽनर्थकानीत्यत उपसंहारव्याजेनाह तस्माज्ज्ञानमेक मिति।

सुभद्रा—निर्वत्य और विकार्य पक्षमें मोक्ष निश्चय ही अनित्य हो जायगा, क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने वाले बौद्धों के मतमें, विशुद्ध विज्ञान की उत्पत्ति ही मोक्ष है, उत्पन्न होने से वह निर्वर्त्य अर्थात् निष्पत्ति के योग्य है। (एवं शून्यवादी बौद्ध सब शून्य है वस्तु को सत्ता नहीं है सम्पूर्ण वस्तुएं अविद्यावशात् अनादि वासना की विचित्रता से प्रतीत होते हैं ऐसा मानते हैं, तो उनके मतमें शून्य भावना के वृद्धिसे निरन्तर उसका अभ्यास करने से सम्पूर्ण वासना के नाश होने पर अनेक विध विषयाकार का उपप्लव दूर होकर विशुद्ध विज्ञानरूप मोक्ष उत्पन्न होता है। जिससे कि निर्वत्य होने से अनित्य ही होगा। अन्य वैष्णव आचार्यों के मत में जीव का संसारी भाव वास्तविक है, निरन्तर भगवदुपासना से जीव सांसारिक अवस्था का परित्याग कर, कैवल्य अवस्था की प्राप्ति मोक्ष है तो वास्तविक पूर्व अवस्था का परित्याग होने से और अन्य अवस्था के प्राप्त होने से मोक्ष विकार्य है जैसे दूध अपने पूर्व रूप को त्याग कर, दधिभाव को प्राप्त हुआ तो दधि विकार्य है, तो उक्त दोनों पक्षों में मोक्ष कार्य होने से दधि और घट के समान अनित्य हो जायगा, बौद्धों के मत में घट के समान निर्वत्य होने से और वैष्णवों के मत में दधि के समान विकार्य होने से।

विशेष—भाष्य मेयस्यतूत्पाद्यो मोक्ष इत्यादि सन्दर्भ से, जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है, वह मानस वाचिक कायिक कार्य की अपेक्षा करता है यह कहा गया उसी प्रतीक को लेकर, भामतीमें कार्य यानी अपूर्व, जो कि यागादि व्यापार से उत्पन्न होता है उसकी अपेक्षा मोक्ष अपने उत्पत्ति में करता है ऐसा कहा सो ठीक नहीं, क्योंकि बौद्ध वेदको प्रमाण नहीं मानते, तो उसमें विहित यागादि किया कलाप भी उनको अङ्गीकार नहीं है, तो उसमें उत्पन्न अपूर्व की मोक्ष कैसे अपक्षा करेगा, ठीक है, यद्यपि उनके मत में यागजन्य अपूर्व की अपेक्षा नहीं है, तथापि शून्य भावना के वृद्धि से उत्पन्न संस्कार मोक्ष में हेतु है। अतः संस्काररूप अपूर्व को मोक्षमें अपेक्षा होनेसे, भामतीमें, वैसा कहा गया, इसीलिए यागादिमें आदि शब्द का ग्रहण है, मोक्ष उत्पाद्य और विकार्य न हो, परन्तु 'अथयदतः परो दिवो' ज्योतिर्दीप्यते, उसद्युलोक (स्वर्ग लोक) से परे जो स्वयं प्रकाशमान ज्योति प्रकाशित है, इस श्रुति से ब्रह्ममें विकृत और अविकृत देश भेदकी प्रतीति होनेसे अविकृत देश ब्रह्मकी प्राप्ति उपासनादि विधिके कार्य होगे, तो ब्रह्ममें अर्थात् मोक्ष में प्राप्य कर्मता क्यों न हो, ऐसी शंका होने पर भाष्यमें, कहा गया कि आप्यत्वेन कार्यापेक्षा भी ब्रह्म में नहीं है। क्योंकि अन्य वस्तु अन्य से विकारयुक्तदेश का परित्याग कर विकार रहित देशमें प्राप्त कराया जाता है। जैसे समुद्र अपने किनारे के पास बहुत ज्यादा चञ्चल तरङ्गों की श्रेणीके परस्पर आघात से प्रकट होरहा है फेनसमूह के गुच्छे जिसमें ऐसा होनेसे वह विकृत है, बीचमें सम्पूर्ण तरङ्गों के उपद्रव शान्त होनेसे स्थिर है जिससे कि विकाररहित है तो उसके मध्य भागमें नाविक जहाज के द्वारा प्राप्त होता है। समुद्र से भिन्न नाविक, अपने से भिन्न जहाज के द्वारा किनारे के पास समुद्र का विकृत देश परित्याग कर उसके मध्यभाग मे जो विकाररहित है वहाँ प्राप्त होता है, यह निष्कर्ष है। तो यहाँ पर भेद प्रतीतिपूर्वक प्राप्ति होती है। सिद्धान्त में जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है, तो कौन किससे प्राप्त हो प्राप्ति तो भेद के अधीन है। (स्वमेवकी प्राप्ति सर्वदा होने से किसी के द्वारा कराई नहीं जाती) यदि जीव ब्रह्म से भिन्न है यह भी मान लिया जाय तो ब्रह्म के आकाश के समान व्यापक होने से उसकी नित्य प्राप्ति है, वह किसी के द्वारा कराई नहीं जाती, इसलिए प्राप्य कर्मता भी ब्रह्म स्वरूप मोक्ष में नहीं है। (इसी को भाष्यकार ने स्वरूप व्यतिरिक्तत्वेऽपि इत्यादि से कहा है) एवं संस्कार्य कर्मता भी मोक्षमें नहीं है, क्योंकि संस्कार्यता दो प्रकार की होती है, गुणाधानसे, जैसे बीजपूर के पुष्प को, लाक्षा, आलता आदि के रस से सीचना जिससे कि उसमें गुणों का आधान हुआ, तो वह फूल संस्कृत होकर लाक्षा

के समान फूलों को उत्पन्न करता है। अथवा दोषों के हटानेसे, जैसे मलिन-दर्पण का मालिन्यरूप दोष ईंट के चूर्ण से घिसे जाने पर निवृत्त होकर उद्भासितभास्वरत्वविशिष्ट होता है, अर्थात् उसमें चमक आ जाती है, (जिससे कि प्रति बिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होता है) उक्त दोनों संस्कारों में से गुणाधानं संस्कार ब्रह्म में सम्भव नहीं है। क्योंकि संस्कार से जो गुण उत्पन्न होगा वह ब्रह्म स्वरूप से अतिरिक्त है, अथवा तत्स्वरूप है। ब्रह्म स्वरूप गुण नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म के नित्य होने से तत्स्वरूप गुण भी नित्य होगा जिससे कि वह उत्पाद्य नहीं होगा। यदि उसको ब्रह्म से भिन्न मानें, तो कार्य होने से मोक्ष अनित्य हो जायगा। और भी वह गुण यदि ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न है तो उसका धर्म नहीं हो सकता, जिससे कि धर्म धर्मीभाव नहीं बन सकता, क्योंकि गो और अश्वके समान अत्यन्त भेदमें, धर्म-धर्मी भाव नहीं होता। जैसे गो और अश्व एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं तो गो का धर्म अश्व नहीं, और अश्व का धर्म गो नही। (धर्म शब्द से यहाँ पर वृत्तिमत्व, अर्थात् जो जिससे रहे, वह गृहीत है, नकि चोदनारूप धर्म)।

भेद और अभेद दोनों यदि माने जाय जैसे गोत्व जाति गो का धर्म है वह गो से अत्यन्त भिन्न नहीं है, गो से अतिरिक्त में उसकी प्रतीति नहीं होती, और न तो अत्यन्त अभिन्न है वैसा मानने पर दोनों पर्यायवाची हो जायगें, जो कि इष्ट नहीं है। अतः उनका जैसे भेद और अभेद है उसी तरह जो गुण ब्रह्म में आहित होगा, वह भिन्न भी और अभिन्न भी है, तो इस भेदाभेद का निराकरण विरोध होने से पूर्व में ही भामतीकार ने किया है, इसलिए वह भी संगत नहीं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूप-त्वान्मोक्षस्य। मोक्षके ब्रह्म स्वरूप होने से उसमें आधेयता, उत्पाद्यता नहीं हो सकती, और न तो उसमें कोई अतिशय विशेषता ही गुणों के द्वारा की जा सकती है। इस तरह से गुणाधान प्रथम पक्ष की असंभाव्यता दिखलाकर द्वितीयपक्ष दोषापनयन भी मोक्ष में नहीं हो सकता यह प्रदर्शित करते हैं। दोष की निवृत्ति अशुद्ध मलिन पदार्थ की होती है। जो स्वतः शुद्ध है उसमें दोष हई नहीं है तो उसकी निवृत्ति क्या होगी। और भी ब्रह्मस्वरूप मोक्ष में अशुद्धि सत्य है अथवा असत्य यदि सत्य है, तो वह ब्रह्म से भिन्न है, अथवा अभिन्न या भिन्नाभिन्न, कोई भी पक्ष ठीक नहीं भिन्न होने पर धर्मधर्मीभाव नहीं हो सकता, अभिन्न होने पर तत्स्वरूप ब्रह्म के नित्य होने से उसकी निवृत्ति संस्कार के द्वारा नहीं हो सकती। भिन्नाभिन्न पक्ष विरोध होने से सम्भव नहीं है, इत्यादि। विद्यमान अशुद्धि की ही निवृत्ति होती है, जैसे दर्पण की मलिनता इष्टकादि चूर्ण के घर्षणसे निवृत्त

होती है, नकि अविद्यमान, नित्यशुद्ध ब्रह्ममें अशुद्धि के विद्यमान न होनेसे उसकी निवृत्ति कैसी। भाष्य में शंका करते हैं, ब्रह्मका धर्म ही मोक्ष है, अर्थात् मोक्ष ब्रह्मका स्वभाव ही है, परन्तु अनादि अविद्यारूप दोष से ढके होने के कारण उपासनादि क्रिया से आत्मा के संस्कृत होने पर, वह अभिव्यक्त होता है न कि वह उत्पन्न किया जाता है। यह कहा जाता है। आत्मा में नित्यशुद्धत्व आदि धर्म प्रसिद्ध है क्योंकि संसारावस्थामें अविद्यारूप दोषसे उसमें मलिनता रहती है। मोक्षावस्थामें ही आत्मा में श्रुतिबोधित नित्य शुद्धत्वादि हैं नकि संसारावस्था में इस शंका का निराकरण भाष्यकार करते हैं। न नहीं क्योंकि ब्रह्ममें अर्थात् आत्मा में क्रिया श्रयता की सिद्धि नहीं है। यदि उसमें क्रिया मानी जाय तो आत्मा विकारी हो जायगा, तो अविकार्योऽय मुच्यते, आदि श्रुतियों का विरोध होगा। अविद्यारूप दोष से ब्रह्म में अशुद्धि नहीं है, क्योंकि अविद्या का आश्रय ब्रह्मनहीं है किन्तु जीव है। वह अविद्या अनिर्वचनीय है यह पहले कहा गया है जिससे कि ब्रह्म नित्य शुद्ध है। (यदि अशुद्धिमान भी ली जाय तो भी क्रियासे संस्कार्य ब्रह्म नहीं है) इसी को भामती में कहते हैं, अशुद्धि अङ्गीकार करके भी क्रिया संस्कार्यत्व आत्मा मे दूषित करते हैं। क्रिया ब्रह्म से सम्बन्ध होकर ब्रह्म को संस्कृत करेगी, जैसे निघर्षण, अर्थात् ईंट के चूर्णका संयोग और विभाग और उसका समूह निरन्तर दर्पणतल से सम्बद्ध है। अथवा अन्य से सम्बद्ध क्रिया ब्रह्म को संस्कृत करती है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि क्रिया ब्रह्मसे सम्बद्ध नहीं हो सकती, अर्थात् ब्रह्म में समवाय सम्बन्ध से क्रिया रह नहीं सकती यदि ब्रह्म में क्रिया मानी जाय तो उसमें विकार हो जायगा। क्यों कि जिसमें रहती है उसमें विकार उत्पन्न किए बिना वह अपने स्वरूप को ही प्राप्त नहीं होती, तो क्रिया अपने आश्रय के विकार का हेतु है, तो ब्रह्म विकारी हो जायगा जिससे कि ब्रह्ममें, नित्यत्व का बाध हो जायगा। यदि अन्याश्रित क्रिया ब्रह्म को संस्कृत करती है यह द्वितीय पक्ष माना जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि अन्यमें रहने वाली क्रिया से अन्य का उपकार देखा नहीं गया है, दर्पण के घसने पर मणि की शुद्धि नहीं देखी गई। (यदि वैसा माना जाय तो चैत्र के भोजन क्रिया से मैत्रकी भी तृप्ति होने लगेगी।)

शंका—चैत्र में रहने वाली क्रिया से तद्भिन्न दर्पणका संस्कार देखा गया है इससे उक्त नियम, अर्थात् अन्याश्रित क्रिया से अन्या का उपकार नहीं होता, यह मानना ठीक नहीं।

समाधान—चैत्र, में रहनेवाली स्पन्द रूप क्रिया से उत्पन्न जो इष्टकादिचूर्णका संयोग विभाग रूप पारम्पर्य, फल जो कि दर्पण में

समवायेन रहता है उससे ही दर्पणका संस्कार होता है नकि अन्यसे जिससे कि उक्त नियम में व्यभिचार नहीं है ब्रह्म जो कि व्यापक सर्वत्र विद्यमान है उसमे अन्याश्रित क्रिया से संयोग विभागादि संभव नहीं है, जिस में कि उसका संस्कार संभव हो। भाष्य में आत्मा में यदि क्रिया मानी जाय तो आत्मा विकारी होने से अनित्य हो, जायगा, तो आत्मा को अविकारी बतलाने वाली श्रुतियों का बाध होने लगेगा जो कि अनिष्ट है ऐसा कहा गया है तथा निष्टम् इस पदसे, यहाँ पर तत्पद से अविकार्योऽयुमुच्यते इत्यादि वाक्यों के बाध का परामर्श होता है। देह आत्मा से भिन्न है यह चार्वाकातिरिक्त समस्तदार्शनकों अभिप्रेत है तो देह में रहने वाली क्रिया से उससे भिन्न आत्मा कैसे संस्कृत होगा, यह भाष्य का अभिप्राय है। अन्याश्रित क्रियासे अन्य संस्कृत नहीं होता, इस नियममें व्यभिचार भाष्यकार कह-रहे है। ननु देहाश्रयया इत्यादि, से, देहके आश्रित स्नान आचमन आदि क्रिया से देही आत्मा का संस्कार देखा गया हैं तो उक्त नियम व्यभिचारत है इस शंका का समाधान, भाष्यमे न, शुद्ध आत्माका संस्कार नही होता, जिसका संस्कार होता है वह अविद्यासे गृहीत देहादि संहात विशिष्ट ही है जिससे कि उक्त दोष नहीं है। आशय यह है, कि देहादिमें अहं पदार्थं आत्माका भ्रम है जिसको ऐसे पुरुष ही संस्कार्य है। यह क्यो स्वतः आत्मामे संस्कार्यता क्यों न हो इस पर भामतीमें कहा गया अनादि अनिर्वचनीय अविद्या रूप उपाधि से युक्त ब्रह्म, ही जीव और क्षेत्रज्ञ पदसे व्यवहृत होता है। सुषुप्तिमें अविद्या, का उपधान होने पर भी व्यवहार नहीं होता इससे कहते है कि वह स्थूल और सूक्ष्मशरीर इन्द्रिय आदि, अर्थात् प्राण-मन बुद्धि इत्यादि, इन सबका जो समुदाय उनके मध्यमें स्थित होकर उन सबमें अभेद बुद्धि होने से अहम् इस प्रतीतिका विषय होकर आत्मा प्रतीत होता है, इसलिए शरीरादिका संस्कार शरीरादि का धर्म होने पर भी आत्माका धर्म माना जाता है क्योंकि शरीर आदि में आत्माका अभेदाध्यवसाय है। जैसे सुगन्धका होना अङ्गराग, चन्दन कस्तूरी आदि अनुलेपन द्रव्यका धर्म हैं, परन्तु उसका व्यवहार कामिनीमें भी होता है, जैसे कोई विलासिनीस्त्री सुगन्धित द्रव्योसे अनुलिप्त होनेपर यह सुगन्धि युक्त है ऐसा व्यवहार होता है उस तरह इससे यहाँ पर भी जिसके आश्रित क्रिया व्यावहारिक प्रमाण का विषय की गई है उसीका संस्कार होता है न कि अन्यका जिससे कि उक्त नियममें व्यभिचार नहीं है। वस्तुतः शुद्ध आत्मा में न तो क्रिया है न संस्कार किन्तु देहादिमें एकत्वेन अध्यस्त आत्मा में क्रिया आरोपित है और उसीमें संस्कार

भी है यह भाव है। दृष्टान्त के सहित इसका व्याख्यान अध्यास भाष्य के व्याख्यान करते समय ही किया गया है इसलिए यहां पर उसका विस्तार नहीं किया जाता। देहादि संघात विशिष्ट आत्मा में ही सम्पूर्ण क्रियायें निस्पन्नकी जाती हैं उनका फल भी वही भोगता है इसमें प्रमाण भाष्यकार ने तयोरन्यः पिप्पलम् यह श्रुति दिया। इस संसार रूपी वृक्षमें दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा बैठे हैं उन दोनोंमें एक अर्थात् जीवात्मा मधुर फल अर्थात्, कार्यों का फल सुख दुख भोग करता है, और दूसरा, अर्थात् परमात्मा फल न भोगता हुआ स्वयं प्रकाशित रहता है। यह उक्त श्रुति का अर्थ है। जिससे कि जीवमें भोक्तृता सिद्ध होती है। अविद्यावशात् देहादि संघात विशिष्ट आत्मा ही जीव है यह पूर्वमें उक्त है। इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्मा ही भोक्ता है। भोक्ता है ऐसा मनोषियोंने कहा है यह मन्त्रो भी देहादि संघात विशिष्ट में ही भोक्तृता प्रतिपादन करता है। अनुपहित, उपाधि से रहित, शुद्ध स्वभाव जो ब्रह्म तत्प्रदर्शन परक मन्त्रों को भाष्यकार कहते हैं। एको देवः सपर्यगात् इत्यादि एकदेव अर्थात् परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में गूढ़ छिपा हुआ हैं सर्वत्र व्याप्त, है आकाश के समान, नहीं किन्तु सम्पूर्ण प्राणि-ओंका अन्तरात्मा जो कि कर्म फल को देनेवाला है सम्पूर्ण प्राणीओंका अधिष्ठान है और साक्षी है चेतन हैं हृदयसे रहित है, ज्ञानादि गुण से रहित है। वह आत्मा सर्वगत है शुद्ध है, स्थूल सूक्ष्म शरीर से रहित है, शुक्र अर्थात् दीप्तिमान प्रकाश रूप है दुःख से रहित है, अविनाशी है इत्यादि। उनश्रुतियों का अर्थ है। उक्त दोनों मन्त्रों से ब्रह्ममें कोई अतिशय यानी विशेषता नहीं उत्पन्न होती और वह नित्य शुद्ध है यह सिद्ध होता है, जिससे कि ब्रह्म स्वरूप मोक्ष संस्कार्य नहीं है। अच्छा तो उक्त निर्वर्त्य विकार्य संस्कार्य प्राप्य चतुर्विध कर्मता मोक्ष में न हो किन्तु कोई इन चारों से विलक्षण पांचवां प्रकार का कर्म संभव होगा जिससे कि मोक्षमें कर्मता घट जायगी। इससे भाष्यमें कहा गया। कि इन चार प्रकार से भिन्न कोई प्रकार नहीं है जिससे कि मोक्षका क्रिया में अनुप्रवेश हो। यह कहा जाता है। उक्त चार प्रकार की जो कर्मता है उसमें अन्यतमही क्रिया जन्य, फलसे व्याप्त होता है वह मोक्ष में नहीं है तो व्यापक जो उन चार प्रकार के कर्मोंका अभाव उसके उपलब्ध न होनेसे मोक्षमें व्याप्य क्रियाजन्यफलका भी अभाव सिद्ध होता है। तो क्या मोक्ष क्रिया ही नहीं है तब तो उसके लिए शास्त्र और प्रवृत्ति निरर्थक होगी इस लिए भाष्यमें उपसंहारके व्याजसे कहा कि एक ज्ञान को छोड़ कर क्रिया का लेश मात्र भी प्रवेश मोक्ष में नहीं है।

भाष्य

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नामसा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसाध्यायेद् वषट्करिष्यन् इति संध्यां मनसा ध्यायेत् (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु। ध्यानंचिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं पुरुषतन्त्रत्वात्, ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणञ्च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यम्। केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न, चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा पुरुषोवाव गौतमाग्निः योषावाव गौतमाग्निः छान्दो० ५।७.८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निंबुद्धिर्मानसीभवति। केवल चोदनाजन्यत्वात्क्रियैवसा पुरुषतन्त्रा च। यातु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवंसति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञान न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठी भवन्ति उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्. अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्। किमर्थानितर्हि आत्मावाअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि, स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टं मे भूयादनिष्टं माभूदिति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखी कृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति—आत्मावा अरे द्रष्टव्यः इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। इदं सर्वं यदयमात्मा (बृह० २।४।६) यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केनकं पश्येत् केनकं विजानीयात् विज्ञातारमरेकेन विजानीयात् (बृह० ४।५।१५) अयमात्मा ब्रह्म (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वान भवतीति तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलङ्कारोह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौसत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यताचेति। तथा च श्रुतिः आत्मानं चे द्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्यकामाय शरीर मनुसंज्वरेत्॥ (बृह० ४।४।१२) इति। एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत। (१५।२०) इति स्मृतिः तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

भामती

अथ ज्ञानं क्रिया मानसी कस्मान्न विधिगोचरः? कस्माच्च तस्याः फलं

निर्वर्त्यादिष्वन्यतमं न मोक्षः ? इति चोदयति—ननु ज्ञानमिति । परिहरति न । कुतः ? वैलक्षण्यात् । अयमर्थः—सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया, नत्वियं ब्रह्मणि फलं जनयितुमर्हति, तस्य स्वयंप्रकाशतया विदिक्रियाकर्मभावानुपपत्तेरित्युक्तम् । तदेतस्मिन्वैलक्षण्ये स्थित एव वैलक्षण्यान्तरमाह क्रियाहि नाम सेति । यत्र विषये, वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते । यथा देवतासम्प्रदानकहविर्ग्रहणे देवतावस्तुस्वरूपानपेक्षा देवताध्यानक्रिया यथा वा योषिति अग्निवस्त्वनपेक्षाऽग्निबुद्धिर्या सा क्रियाहि नामेति योजना । नहि यस्य देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां वषट्करिष्यन् इत्यस्मा द्विधेः प्राग्देवताध्यानं प्राप्तं प्राप्तं त्वधीतवेदान्तस्य विदितपदतदर्थसम्बन्धस्याधिगतशब्दन्यायतत्त्वस्य सदेवसोम्येदम्, इत्यादेः तत्त्वमसि इत्यन्तात् सन्दर्भात् ब्रह्मात्मभावज्ञानं शब्दप्रमाणसामर्थ्यात् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षसामर्थ्यादिव प्रणिहितमनसः स्फीतालोकमध्यवर्तिकुम्भानुभवः । नह्यसौस्वसामग्रीवललब्धजन्मा सन् मनुजेच्छयाऽन्यथा कर्तुमकर्तुं वा शक्यः, देवताध्यानवत् येनार्थवानत्र, विधिः स्यात् । नचोपासनावाऽनुभवपर्यन्तता वाऽस्य विधेर्गोचरः । तयोरप्यन्वयव्यतिरेकावधृतसामर्थ्ययोः साक्षात्कारे वा ऽनाद्यविद्यापनयेवा विधिमन्तरेण प्राप्तत्वेन पुरुषेच्छयाऽन्यथाकर्तुमकर्तुं वाऽशक्यत्वात् । तस्मा ब्रह्म ज्ञानं मानसी क्रियाऽपि न विधिगोचरः, पुरुषचित्तव्यापाराधीनायाश्च क्रियाया वस्तुस्वरूपनिरपेक्षिता क्वचिदविरोधिनी यथा देवताध्यानक्रियायाः, नह्यत्र वस्तुस्वरूपेण कश्चिद्विरोधः । क्वचिद्वस्तुस्वरूपविरोधिनी यथा योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिरित्येतावताभेदेन निदर्शनमिथुनद्वयोपन्यासः । क्रियैवेन्त्येवकारेणवस्तुस्वरूपमपाकरोति । ननु आत्मेत्येवोपासीत इत्यादयो विधयः श्रूयन्ते । नचप्रमत्तगीताः तुल्यं हि साम्प्रदायिकम् तस्माद्विधेयेनात्रभवितव्यमित्यत आह—तद्विषयालिङादयइति । सत्यमूश्रूयन्ते लिङादयः नत्वमी विधिविषयाः तद्विषयत्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । हेयोपादेयविषयोहि विधिः । सएव चहेयउपादेयोवा यं पुरुषः कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम् शक्नोति । तत्रैव च समर्थः कर्ताऽधिकृतो नियोज्योभवति । नचैवंभूतान्यात्मश्रवणमननोपासनदर्शनादीनीति विषयसदनुष्ठात्रोर्विधिव्यापकयोरभावाद्विधेरभाव इति प्रयुक्ताअपिलिङादयः प्रवर्तनायामसमर्था उपल इवक्षुरतैक्ष्ण्यं कुण्ठमप्रमाणीभवन्तीति । अनियोज्यविषयत्वादिति । समर्थोहि कर्ताऽधिकारी नियोज्यः । असामर्थ्ये तु न कर्तृता ततोनाधिकृतोऽतो ननियोज्य इत्यर्थः । यदि विधेरभावान्नविधिवचनानि, किमर्थानि तर्हिवचनान्येतानिविधिच्छायानीति पृच्छति—किमर्थानीति युक्तानि स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वानुपपत्तेरितिभावः । उत्तरम्—स्वाभाविकेति

अन्यतः प्राप्तएव हि श्रवणादयो विधिस्वरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते। नचानुवादोऽप्रयोजनः प्रवृत्तिविशेषकरत्वात्। तथाहि वतादिष्टानिष्टविषयेऽन्ऽजिहासापन्हृतहृदयतया वहिर्मुखो न प्रत्यगात्मनि समाधातुमर्हति। आत्मश्रवणादिविधिसरूपैस्तु वचनैर्मनसोविषयस्रोतः खिन्नीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतउद्घाट्यते इति प्रवृत्तिविशेषकरताऽनुवादानामस्तोति सप्रयोजनतया स्वाध्यायविध्यधीन ग्रहणत्व मुपपद्यत इति। यच्चोदितमात्मज्ञानमनुष्ठानानङ्गत्वादपुरुषार्थमिति तदयुक्तम्, स्वतोऽस्य पुरुषार्थत्वे सिद्धे यदनुष्ठानानङ्गत्वं तद्भूषणं न दूषणमित्याह—यदपीति अनुसंज्वरेत्-शरीरंपरितप्यमानमनुतप्येत। सुगममन्यत्। प्रकृत मुपसंहरति—तन्मान्न प्रतिपत्तीति।

सुभद्रा—पूर्व में यह कहा गया है कि ज्ञान को छोड़कर क्रिया का लेश भी मोक्ष में नहीं है। जिससे कि विधिका विषय मोक्ष नहीं है। तो इस पर शंका भाष्य और भामती में ज्ञान भी मानसी क्रिया है वो क्यों न विधिका विषय हो और क्यों न उसका फल निर्वत्य आदि चार प्रकार मे कोई एक प्रकार का हो ऐसी शंका भाष्यकार ननु इत्यादि, से करके परिहार करते हैं, नहीं क्यों कि क्रिया से ज्ञानमें विलक्षणता है, अर्थात्, भेद है, यह अर्थ है, सत्य है ज्ञान मानसी क्रिया है परन्तु वह ब्रह्म में फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, जिससे कि उसमें ज्ञान क्रिया की कर्मता बन नहीं सकती यह पहिले कहा गया है। आशय यह है कि मानसी क्रिया दो प्रकार की होती है, उसमें एक पुरुष के इच्छा और प्रयत्न से साध्य पुरुष के अधीन उपासना स्वरूप है। अन्य प्रमाण के व्यापार के अधीन वस्तु निष्ठ ज्ञान रूपर हैं क्योंकि इच्छा और प्रयत्न न करते हुए भी पुरुष को चक्षुरिन्द्रियादि प्रमाण और प्रमेय के सम्बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति अनिवार्य हो जाती है। इसलिए क्रियात्वके ज्ञान और उपासना दोनों में सामान्य रूप से रहने पर भी ज्ञान विधेय नहीं है। यह उपासना से ज्ञान में विलक्षणता है। इस वैलक्षण्य के स्थित होने पर भी, अन्य वैलक्षण्य कहते हैं भाष्य में क्रिया हि नाम सायत्र वस्तु स्वरूप निरपेक्षैव चोद्यते इत्यादि से। क्रिया वह है जहाँ पर कि वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा न करके विधान की जाती है, और पुरुष के चित्त के व्यापार के अधीन हो—अर्थात् जहाँ पर विषय की अपेक्षा न कर पुरुष के प्रयत्न से साध्य हो वह क्रिया है। जैसे देवता सम्प्रदान कारक है जिसमे अर्थात्, देवता के उद्देश्य से हवि के ग्रहण मे देवता के वस्तु स्वरूप की अपेक्षा न कर देवता के ध्यान की क्रिया। और जैसे स्त्रीमे अग्नि के वस्तु स्वरूप की अपेक्षा न कर जो अग्नि बुद्धि होती है वह क्रिया है। इस तरह से ध्यान रूप क्रिया मे वस्तु की अपेक्षा, नहीं है यह

बतलाकर पुरुष के इच्छा के अधीन ध्यान होता है यह कहते हैं । जिस देवता के उद्देश्य में हविर्गृहीत हो वषट्कार करता हुआ उस देवता का ध्यान करें इस विधि के पूर्व देवता का ध्यान किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है, इसलिए वह ध्यान उस पुरुष के इच्छा के अधीन है, पुरुष के द्वारा करने न करने और विपरीत करने के योग्य है पुरुष के इच्छा के अधीन होने से । ब्रह्मात्मैक विज्ञान तो वेदान्त अध्ययन किया है जिसने और पद अर्थ और सम्बन्ध को जान लिया है और शब्द न्याय के तत्व को जान लिया है ऐसे पुरुष को सदेव सोम्येदम् यहां से लेकर तत्त्वमसि पर्यन्त सन्दर्भ से शब्द रूप जो प्रमाण उसके सामर्थ्य से ही प्राप्त हो जाता हैं । (उसमे विधि की आवश्यकता नहीं है) जैसे इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध के सामर्थ्य मात्र से ही सावधान मनवाले पुरुष को स्पष्ट प्रकाश के मध्य में विद्यमान घटका अनुभव होता हैं । वह अपने सामग्री के बल से उत्पत्ति को प्राप्त कर मनुष्य के इच्छा से करने न करने या विपरीत करने के योग्य नहीं है, जिससे कि देवता के ध्यान के समान यहाँ पर विधि सार्थक हो । अच्छा तो पूर्वोक्ति युक्ति से ज्ञान विधेय न हो परन्तु शब्द जन्य ज्ञान का जो अभ्यास तद्रूप उपासना जो अनुभव पर्यन्त है उसमे ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति हेतुता पुरुष के इच्छा के अधीन होनेसे विधेय क्यों न हो । नहीं, उपासना का साक्षात्कार के प्रति हेतुता तो लोकसिद्धि अन्वय, व्यतिरेक प्रमाण से ही प्राप्त है । (जिसके रहने पर जो हो वह अन्वय है जिसके न रहने पर जो न रहैं, वह व्यतिरेक है । दंड के रहने पर ही घट उत्पन्न होता है यह अन्वय दंड के अभाव से घटके उत्पत्ति का अभाव यह व्यतिरेक इस तरह अन्वय व्यतिरेक के द्वारा घटके प्रति दंडमे कारणता का निश्चय होता है) उपासना के अर्थात् मनोयोग पूर्वक किसी वस्तु के अनुचिन्तन का, जैसे रत्न पारखी किसी रत्न को देखने पर उसकी परीक्षा ठीक नहीं कर सका, परन्तु ध्यान पूर्वक उसकी परीक्षा करने पर वह उसकी ठीक पहचान लेता है यह अन्वय है यदि वह ध्यानपूर्वक परीक्षा न करता तो उसको रत्न का यथार्थ ज्ञान न होता तो यह व्यतिरेक है । इस तरह किसी वस्तु के साक्षात्कार के प्रति उपासना की, कारणता अन्वयतिरेक से लोक सिद्ध होने पर ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति उपासना का, और साक्षात्कार का अनादि अविद्या रूप दोष के तिरस्कार मे हेतुता भी सिद्ध हो जायगी जिससे कि विधि मानने की आवश्यकता नहीं है । जिससे कि पुरुष के इच्छा से अन्यथा क्रिया जा सके या न किया जा सके । इसलिए ब्रह्मज्ञान मानसी क्रिया होने पर भी विधि नहीं हैं । पुरुष के चित्त व्यापार के अधीन क्रिया का वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा न होने में कही पर विरोध नहीं होता जैसे देवता विषयक ध्यान क्रिया का

देवता के स्वरूप के साथ विरोध नहीं है। कहीं पर वस्तु के स्वरूप का उक्त क्रिया के साथ विरोध है जैसे स्त्री मे अग्निबुद्धि रूप क्रिया का अग्नि के स्वरूप के साथ विरोध हैं। यह भेद होने से ही दृष्टान्त दिए गए। भाष्यमें चोदना जन्यत्वात्क्रियैव सा—ऐसा कहा है यहाँ पर एवपद से क्रिया ही है न कि. ज्ञान चोदना विधि वाक्य से जन्य होने से, जिससे कि वस्तु के अधीन क्रिया नहीं है यह सूचित हुआ। इसी प्रकार ज्ञान मेवैतन्न क्रिया में ज्ञान ही है क्रिया नहीं जिससे कि पुरुष के अधीन ज्ञान नहीं है यह जानना चाहिए।

शंका—भामती में ननु इत्यादि से। आत्मेत्येवोपासीत, आत्मा है, ऐसी ही उपासना करनी चाहिए इत्यादि विधि सुनी जाती है, आत्मज्ञान मे विधि न मानने पर उक्त विधि बोधक वाक्य से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि वे प्रमत्त गीत हैं, अर्थात् मतवाले पुरुष के गीत के समान हैं तो ठीक नहीं क्योंकि साम्प्रदायिकता दोनों में समान हैं। आशय यह है कि गुरु मुख से अध्ययन जैसे एकत्व बोधक तत्त्वमसि आदि वाक्यों का होता है वैसे ही उक्त विधि वाक्य का भी इसलिए साम्प्रदायिकता दोनों में समान है। इसलिए यहाँ पर भी विधि माननी चाहिए।

समाधान—जैसे पत्थर आदि में प्रयोग किए जाने पर छुरे की तीखी धार कुण्ठित हो जाती है उसी तरह ज्ञान के विषय में श्रुत भी लिङादि, अर्थात् विधि, प्रयुक्त होने पर कुंठित हो जाती है। आशय यह है यद्यपि आत्मा के विषय में लिङादि श्रुत है यह सत्य है, परन्तु विधि के विषय नहीं है। उनसे विधिका बोध नहीं होता। यदि आत्म विषयक ज्ञान को विधि अनुष्ठान करने के योग्य विषयक माना जाय तो आत्मेत्येवोपासीत आदि वाक्यों का अप्रामाण्य हो जायगा। क्योंकि यजेत आदि विधि वाक्य अनुष्ठेय वस्तु विषयक होने से ही प्रामाणिक होते हैं। ब्रह्म ज्ञान वस्तु के अधीन होनेसे अनुष्ठेय नहीं है यह पूर्वमें कहा जा चुका है इसलिए, उसको तद्विषयक मानने से अप्रामाण्य दुर्निवार है। क्योंकि विधि हेय, या उपादेय को विषय करती है, वही हेय या उपादेय हो सकता है जिसमें कि पुरुष करने न करने या विपरीत करनेमें स्वतन्त्र है। उसमें समर्थ कर्ता ही अधिकृत है, नियोज्य है। आत्मा का श्रवण मनन उपासना दर्शन आदि हेय अथवा उपादेय नहीं हैं। प्रमाण से प्रमेय के साथ सम्बन्ध होने पर पुरुष के इच्छा के न होने पर भी वस्तु का ज्ञान होता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। वेदान्त वाक्यों के श्रवण मनन निदिध्यासन से आत्म साक्षात्कार हो जायगा इसलिए

उसको विधि मानना निरर्थक है। विधि वाक्य के बलसे पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं होता किन्तु साधन चतुष्टय सम्पन्न होने पर ही यह जिज्ञासा सूत्रके व्याख्या में उपपादित है। यद्यपि उपासना पुरुष के इच्छा के अधीन होनेसे उसमें कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुंवा शक्यता सम्भव है। तथापि उपासना की साक्षात्कार में हेतुता साक्षात्कार की अविद्या निवृत्ति में हेतुता अन्वय व्यतिरेक से ही सिद्ध है इसलिए उपासना में भी विधि निष्प्रयोजन है यह भी पूर्व में प्रदर्शित है। और भी, जहां पर विधि मानी जाती हैं, वहां पर उसका विषय और उसके अनुष्ठाता अवश्य रहते है, जैसे यजेत .इस विधिका याग विषय है और उसका अनुष्ठाता स्वर्गकामी पुरुष है तो विधि जहां पर होगी वहां विषय और अनुष्ठाता अवश्य रहेंगे तो विधि के व्यापक विषय, और अनुष्टाता है आत्मश्रवण दर्शन उपासन आदि में, विधिका व्यापक अनुष्ठाता और विषय के अभाव से व्यापक के न होने से व्याप्य विधि का भी अभाव सिद्ध होता है इसलिए उसमें प्रयुक्त भी लिङादि विधि पुरुष को प्रवृत्त कराने में असमर्थ हो कर पत्थर पर फेंके गए छुरे के धार के समान कुंठित होती है। क्योंकि हेयोपादेय विषय विधि है यह पूर्व मे कहा गया है। ब्रह्म न तो हेय है न उपादेय। और भी भाष्य में विधि का विषय आत्मा, यानी, ब्रह्म नहीं है इसमें हेतु अनियोज्य विषयत्वात्, कहा नियोज्य का विषय न होने से ब्रह्म विधि का विषय नहीं हैं। जो जिस कार्य में समर्थ होना है वह उसका कर्ता होता है, जो कर्ता होता है वही कर्म में अधिकृत उस कर्म का स्वामी और नियोज्य होता है। अर्थात् जो नियोग, कार्य, यागादि जन्य अपूर्व को अपना करके जानता है वही कर्म में अधिकृत उसका स्वामी और नियोज्य होता है। (असामर्थ्य में अर्थात् जो जिस कार्य में समर्थ नहीं है वह उसमें अधिकृत नहीं होता अतः वह नियोज्य नहीं है।) और नियोज्य हेय अथवा उपादेय विषय के रहने पर ही होता है, उन के न रहने पर नहीं होता है। यागादि उपादेय है न सुरां पिबेत् सुरा पान न करें, सुरा पान हेय है। अतः उन स्थलों में याग और सुरापान के, उपादेय और हेय विषयक होने से पुरुष नियोज्य है इसलिए वहां पर विधि मानी जाती है। ब्रह्म के हेयोपादेय रहित होने से नियोज्य भी नहीं रहता अतः वहां पर विधि नहीं है।

शंका—आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः। आत्मेत्येवोपासीत आदि वाक्य यदि विधि नहीं है तो क्यों विधि के समान प्रतीत होते हैं। यदि कहा जाय कि वे निरर्थक हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधिसे स्वाध्यायपदवाच्य समस्त वेदराशि के अन्तर्गत होने से उनका भी अध्ययन प्राप्त

है जिसका फल भामती कार के मत में अर्थावगति है न कि केवल अक्षरा वाप्ति। यदि वे अनर्थकहीं तो, उनका ग्रहण उक्त विधि वाक्य से कैसे होगा।

समाधान—भाष्य मे, स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय से विमुख करने के लिए उक्त वाक्य हैं। (आशय यह है कि श्रवण आदि आत्मसाक्षात्कार के लिए अवश्य कर्तव्य होने से लोक सिद्ध अन्वयव्यतिरेक प्रमाण द्वारा प्राप्त होकर विधि सदृशवाक्यों से अनूदित होते हैं। अर्थात् उन श्रवण आदि का अनुवाद करते हुए विधि सदृश श्रोतव्यः आदि वाक्य उनमें प्राशस्त्य का बोध करा कर, आत्म विषयक श्रवण मनन आदि अवश्य कर्तव्य हैं निरतिशय सुखरूप पुरुषार्थ के जनक होने से, यह जनाते हुए आत्म विचार में अभिरुचि उत्पादन करते हुए और अनात्मवस्तुओं में अरुचि उत्पादन करते हुए वे वचन सार्थक हैं।) इसी बात को भामतीकार नचानुवादोऽप्यप्रयोजनः इत्यादि से कह रहे हैं। अनुवाद भी प्रयोजन रहित है ऐसी शंका न करनी चाहिए क्योंकि अनुवाद प्रवृत्ति विशेष को सम्पादन कर के सार्थक है। देखिए, इस लोक में जितने इष्ट विषय हैं उनको पाने की इच्छा, और अनिष्ट विषयों के छोड़ने की इच्छा से जिनका हृदय यानी अन्तःकरण अपहृत है। (उन विषयों के अधीन है) ऐसे बाह्य विषयासक्त पुरुष, प्रत्यगात्मा में मनको समाहित करने में योग्य नहीं होते। आत्मा श्रोतव्यः आदि विधि सदृश वाक्यों से मन को विषय के प्रवाह से रोककर प्रत्यगात्मा के प्रवाह को उघाड़ दिया जाता है इस तरह से अनुवाद वाक्यों में प्रवृत्ति विशेष के सम्पादन करने से उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। जिससे कि स्वाध्याय विधि के अधीन उनका ग्रहण सिद्ध होता है। और भी जो यह कहा था कि आत्मज्ञान अनुष्ठान का अङ्ग न होने से पुरुषार्थ नहीं हैं, तो वह ठीक नहीं क्योंकि समस्त दुःख का निवर्तक होने से उसमें स्वतः पुरुषार्थता सिद्ध है न कि अनुष्ठान का अङ्ग होने से जिससे कि अनुष्ठान का अङ्ग न होना उसका भूषण है न कि दूषण। इसलिए भाष्यकार ने कहा अलङ्कारो ह्ययमस्माकम् यद्ब्रह्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता च ब्रह्म ज्ञान होने पर सम्पूर्ण कर्तव्यों से निवृत्ति का होना और कृतकृत्य होना हमारा अलङ्कार है, जिनमें कि श्रुति भी प्रमाण है आत्मानंचेद्विजानीयादि। कोई पुरुष यह स्वयं प्रकाशमान आनन्द रूप परमात्मा में हूं ऐसा यदि, जान जाय उपाधिकृत भेद का परित्याग कर, तो किस फल की इच्छा करता हुआ किस भोक्ता की प्रीति के लिए शरीर को संतप्त करे इत्यादि। प्रकरण प्राप्त अर्थ का उपसंहार भाष्यकार करते है। तस्मान्न प्रति-पत्ति इत्यादि। इसलिए ज्ञान विधि का विषय होकर, ब्रह्म का समर्पण नहिं है।

भाष्य

यदपि केचिदाहुः—प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागोनास्ति इति तन्न औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योऽसा वुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतु र्विधद्रव्यविलक्षणः स्व-प्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम् ' सएष नेति नेत्यात्मा (बृह. ३०।३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात् । नन्वात्माऽहंप्रत्ययविषयत्वा'दुपनिष त्स्वेव विज्ञायत इत्य नुपपन्नम् । न तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् । नह्यहंप्रत्यय विषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाराडे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा । अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अतएव नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः । तस्मा त्पुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः, (काठ० १।३।११) तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि (बृह० ३।९।२६,) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्वे उपपद्यते । अतोभूतवस्तुपरा वेदभा गो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

भामती

प्रकृत सिद्धयर्थमेकदेशिमतं दूषयितुमनुभाषते । यदपि केचिदाहुरिति । दूषयति तन्नेति । इदमत्राकूतम्—कार्यबोधेयथा चेष्टालिङ्गे हर्षादय स्तथा । सिद्धबोधेऽर्थवत्तैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ॥ यदिहि पदानां कार्याभिधाने तदर्थं, स्वार्थाभिधानेवा नियमेन वृद्धव्यवहारे सामर्थ्य मवधृतं भवेत्, न भवेदेव महेयोपादेयभूतब्रह्मात्म तापरत्वमुपनिषदाम्. तत्राविदितसामर्थ्यत्वात्पदानां लोके तत्पूर्वकत्वाच्च वैदिकार्थप्रतीतेः । अथतु भूतेऽप्यर्थे पदानां संगतिग्रह स्तत उपनिषदां तत्परत्वं पौर्वापर्यपर्यालोचनयाऽवगम्यमान मपह्नुत्य न कार्य परत्वं शक्यं कल्पयितुम्, श्रुतहान्यश्रुत कल्पनाप्रसङ्गात् । तत्र तावदेवमकार्येऽर्थे न संगतिग्रहः यदि तत्परः प्रयोगो न लोके दृश्येत । तत्प्रत्ययोवा व्युत्पन्नस्योत्नेतुं न शक्येत् न तावत्तत्परः प्रयोगो न दृश्यते लोके, कुतूहलभयादिनिवृत्त्यर्थानामकार्यपराणां पदसन्दर्भाणां प्रयोगस्या लोके बहुल मुपलब्धेः । तद्यथा आखंडला दिलोकपाल चक्रवालाधिवसतिः सिद्धविद्याधरगन्धर्वाप्सरः परिवारो ब्रह्मलोकावतीर्णमन्दाकिनीपयःप्रवाहपातधौतसकलधौतमयशिलातलो नन्दनादिप्रमदवनविहारिमणिमयशकुन्तकमनीयनिनदमनोहरः पर्वतराजः सुमेरु

रिति, नैष भुजङ्गोरज्जुरियमित्यादि। नापि भूतार्थबुद्धिर्व्युत्पन्नपुरुषवर्तिनी न शक्या समुन्नेतुम् हर्षादेरुन्नयनहेतोः संभवात्। तथ ह्यविदितार्यजनभाषार्थो द्रविडो नगरगमनोद्यतो राजमार्गाभ्यर्णं देवदत्त मन्दिरमध्यासीनः प्रतिपन्नजनकानन्दनिबन्धनपुत्रजन्मा वार्ताहारेण सह नगरस्थदेवदत्ताभ्याशमागतः पटवासोपायनार्पणपुरःसरं दिष्ट्या वर्धसे, पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्याहारश्रवणसमनन्तर मुपजातरोमाञ्चकञ्चुकं विकसितनयनोत्पल मतिस्मेरमुखमहोत्पलमवलोक्य देवदत्त मुत्पन्न प्रमोद मनुमिमीते, प्रमोदस्य च प्रागभूतस्य तद्व्याहार श्रवणसमनन्तरं भवतस्तद्धेतुताम्। नचायम प्रतिपादयन् हर्षहेतुमर्थं हर्षाय कल्पत इत्यनेन हर्ष हेतुरर्थ उक्त इति प्रतिपद्यते। हर्षहेत्वन्तरस्य चाप्रतीतेः पुत्रजन्मनश्च तद्धेतोरवगमात्त देव वार्ताहारेणाभ्यधायीति निश्चिनोति। एवं भयशोकादयोऽप्युदाहार्याः। तथा च प्रयोजनवत्तया भूतार्थाभिधानस्य प्रेक्षावत्प्रयोगोऽप्युपपन्नः। एवञ्च ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य परमपुरुषार्थहेतुभावादनुपदिशतामपि पुरुष प्रवृत्तिनिवृत्ती वेदान्तानां पुरुष हितानुशासनाच्छास्त्रत्वं सिद्ध भवति। तस्माद्धमेतत् विवादाध्यासिता'न वचनानि भूतार्थविषयाणि भूतार्थविषयप्रमाजनकत्वात्। यद्यत् विषयप्रमाजनकं तत्तद्विषयं यथा रूपादिविषयं चक्षुरादि तथा चैतानि तस्मात्तथेति तस्मात्सुष्ठूक्तम्-तन्न औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वादिति।

सुभद्रा—प्रकरण प्राप्त वस्तु के सिद्धि के लिए एक देशी का मत दूषित करने के लिए उसका अनुवाद भाष्यकार यदपि केचिदाहुः, इत्यादि पद सन्दर्भ से कर रहे हैं। किसी ने जो ऐसा कहा है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप जो विधि और उसका अङ्ग उससे अतिरिक्त केवल वस्तु को कहने वाला वेद भाग नहीं है उसको दूषित करते है तन्न इत्यादि से, वह ठीक नहीं। यह अभिप्राय है कि पूर्ववादी ने पहिले जो अज्ञातसंगति त्वेन इत्यादि से कहा था कि अन्य पुरुष में होने वाला शब्द के अर्थज्ञान का हेतुभूत जो प्रवृत्ति और निवृत्ति वह कार्यबोधक शब्द में ही है सिद्ध शब्द में नहीं, जिससे कि सिद्ध वस्तु मे शक्तिग्रह संभव नहीं है उस पर भामतीकार कहते हैं कार्य बोधे यथा चेष्टा इत्यादि आशय यह है कि उक्त युक्ति से उपनिषदे सिद्ध वस्तु को बोध नहीं करा सकती ऐसा पूर्व वादी ने आक्षेप किया था, अर्थात् सिद्ध वस्तु में वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य है इसके लिए सिद्ध वस्तु में शक्तिज्ञान आवश्यक है वह संभव नहीं है उक्त युक्ति से इसलिए संकेत ज्ञान, न होने से बोध नहीं हो सकता वो युक्ति से उसका निराकरण किए बिना पुरुष उपनिषदों से जाना जाता हैं जो कि विधि का अङ्ग नहीं हैं यह कहना भाष्यकार का संगत नहीं हो सकता ऐसी आशंका होने

पर पुरुष उपनिषद से गम्य है इस के उपयोगी न्याय को जो भाष्यकार को अभिप्रेत है उसको प्रदर्शित कार्य बोधे इत्यादि से भामतीकार करते हैं। कार्य के ज्ञान में जैसे चेष्टा हेतु है उसी तरह शुद्ध वस्तु के ज्ञान में हर्ष आदि रूप अर्थ प्रयोजन का होना हेतु है, क्योंकि हित, यानी कल्याण के कहने से ही शास्त्रत्व सिद्ध होता है। अज्ञातसंगतित्वेन आदि पूर्वोक्त कारिका में अर्थ प्रयोजन के होने से ही शब्द का शक्तिग्रह होता है, कार्यार्थक शब्द से ही प्रयोजन सूचित होता है न कि सिद्धार्थक शब्द से यह ठीक नहीं क्योंकि सिद्ध पुत्रजन्म आदि के बोध से हर्ष आदि प्रयोजन का लाभ होता है। इसलिए सिद्धवस्तु वस्तु में शक्ति ग्रह नहीं होता किन्तु कार्यार्थक में ही यह पूर्व वादी का कथन संगत नहीं है। 'यदि पदों का कार्य के कहने में अथवा कार्य है अर्थ प्रयोजन जिसका अर्थात् कार्य मे अन्वित स्वार्थ के कहने में सामर्थ्य वृद्धव्यवहार से नियम पूर्वक निश्चय किया गया हो तो अहेय अनुपादेय भूतब्रह्मपरता उपनिषद् वाक्यों की न हो, क्योंकि लोक में ऐसे पदों का सामर्थ्य यानी शक्तिज्ञान देखा नहीं गया है, वैदिक अर्थ का ज्ञान लोक सिद्ध मर्यादा का अति क्रमण नहीं कर सकता किन्तु तत्पूर्वक ही होता है परन्तु यदि लोक में सिद्ध अर्थ में भी पदों का संगति ज्ञान हो सकता है तो उपनिषदों का सिद्ध वस्तुपरत्व अर्थात् सिद्ध ब्रह्मात्म परत्व जो कि पूर्वा पर सन्दर्भ के पर्यालोचन से प्रतीत होता है उसका अपलापकर के कार्य परता की कल्पना युक्त नहीं है क्योंकि श्रुत की हानि और, अश्रुत की कल्पना होगी। आशय यह है कि उपनिषद् वाक्यों के पूर्वा पर सन्दर्भ के पर्यालोचन से ब्रह्म का स्वरूप बोधकराने में यदि उनका तात्पर्य निश्चित होता है तो उसका परित्याग कर अश्रुत जिसमें उनका तात्पर्य नहीं है कार्य परक उनकी कल्पना करनी पड़ेगी। कार्य से भिन्न अर्थ में पदों का संगति ग्रह नहीं होना ऐसा तब कह सकते हैं यदि लोक में सिद्धार्थ परक प्रयोग न देखा गया हो, अथवा उसका बोधव्युत्पत्ति को न हो परन्तु ऐसी बात नहीं। लोक में सिद्ध वस्तु परक पदों, का प्रयोग नहीं होता यह नहीं कह सकते, कुतूहल भय, आदि के निवृत्ति के लिए जो कार्य परक नहीं है ऐसे पद समूहों का प्रयोग लोक में बहुत उपलब्ध होता है। (जैसे सुमेरुपर्वत को देख कर किसी को कौतुक आश्चर्य हुआ वह किसी से पूंछता है कि यह क्या है, तो उसके कुतूहल के निवृत्ति के लिए वह उत्तर देता है) इन्द्र आदि लोक पालों के समूह का निवासस्थान सिद्ध विद्याधर गन्धर्व आदि देवयोनि विशेष, अप्सरा आदि जिसके परिवार हैं, ब्रह्म लोक से अवतीर्ण गङ्गा जी के पूत जल प्रवाह गिरने से धो दिया गया है सुवर्ण का शिलातल जिसका नन्दन आदि हर्ष को बढ़ाने वाले जो वन हैं उसमें विहार करते

वाला रत्न मणिमय पक्षियों के सुन्दर शब्द से अत्यन्त मन को हरण करने वाला पर्वतों का राजा यह सुमेरु है। यहां पर उक्त विशेषण विशिष्ट सुमेरु का ज्ञान सिद्धार्थक पद से हीं होता है क्योंकि किसी कार्य की प्रतीति वहां पर नहीं हो रही है। इसी तरह भयके निवृत्ति के लिए, रस्सी में सर्प भ्रमवाले पुरुष के उद्देश्य से यह सर्प नहीं हैं किन्तु रस्सी है यह पद सन्दर्भ प्रयुक्त होता है जिस से कि उस पुरुष की भय निवृत्ति होती है यहां पर भी किसी कार्य की प्रतीति नहीं होती जिससे कि सिद्ध होता है कि लोक में सिद्ध वस्तु में भी संगति ज्ञान होता है। और न तो 'सिद्धार्थ विषयक ज्ञान व्युत्पन्न पुरुष में नहीं है किसी हेतु के न होने से ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि हर्षादि के द्वारा उसका अनुमान से ज्ञान सभव है, अर्थात् व्युत्पन्न पुरुष को सिद्धार्थक पद से भी ज्ञान हुआ ऐसा उसके प्रसन्न मुख आदि को देख कर निश्चित किया जा सकता है। जैसे कि जिसने आर्य पुरुषो के भाषा का अर्थ नहीं जाना है ऐसा द्रविड़ जाति का पुरुष, किसी नगर मे जाने के लिए तैयार होकर राज मार्ग के समीप देवदत्त के घर में स्थित होकर अर्थात् (वहां प्राप्त होकर जान लिया है पिता के आनन्द का कारण पुत्र के जन्म को जिसने ऐसा वह वार्ता को ले जाने वाले देवदत्त के भृत्य के साथ नगर मे स्थित देवदत्त के समीप मे प्राप्त होकर, सिन्दूर से रंगा हुआ पुत्र पद से चिन्हित वस्त्र जो कि पटवास नाम से लाट देश मे प्रसिद्ध है उसको उपहार देता हुआ अर्थात् भेटरूप से देता हुआ भाग्य से आप वृद्धि को प्राप्त हुए हैं आपको पुत्र उत्पन्न हुआ है ऐसा समाचार लाने वाले पुरुष के शब्द को सुनने के अनन्तर ही उत्पन्न हुआ है रोमाञ्च जिसको खिल गया है नेत्ररूपी कमल जिसका अत्यन्त स्मेर हास्य युक्त प्रसन्न है मुखरूपी कमल जिसका ऐसे देवदत्त को देखकर यह अत्यन्त आनन्द युक्त है ऐसा वह द्राविड़ अनुमान करता है, हर्ष के कार्य रोमाञ्च मुख कमल का विकास आदि होने से, उस सन्देश वाहक के वचन को सुनने के पूर्व हर्ष के न होने से और उसके सुनने के बाद ही हर्ष के उत्पन्न होने से उक्त पुत्रोत्पत्तिका प्रतिपादक वचन ही हर्ष का हेतु है यह वह निश्चय करता है। हर्ष का कारण जो पुत्रोत्पत्तिरूप अर्थ उसको न कहने से देवदत्त हर्ष युक्त न होता, इससे हर्ष का कारण पुत्रोत्पत्तिरूप अर्थ ही है, अन्य कोई अर्थ हर्ष का हेतु प्रतीत न होने से पुत्र जन्म हर्ष का हेतु है इसका निश्चय होने से उस भाषा को न जानने पर भी वही सन्देश वाहक ने कहा यह वह निश्चय करता है। इसी तरह भयशोकादिजनकवाक्य सुनने के अनन्तर भयशोकादि देखकर वे वाक्य ही भयशोकादि के हेतु हैं यह समझना चाहिए। इस तरह से प्रयोजन के होने से सिद्धार्थक शब्द का प्रयोग भी प्रेक्षावान्, ऊहापोह कुशल

विचारज करते हैं यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार से ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान भी परम पुरुषार्थ का हेतु होने से पुरुष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश न करते हुए भी वेदान्त वाक्य पुरुष के हित को बतलाते हुए सार्थक होते हैं जिससे कि उनमे शास्त्रत्व सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विवादाध्यासित वाक्य सिद्धार्थ विषयक है सिद्धार्थ विषय के यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने से, जो जिस विषय के यथार्थ ज्ञान का जनक होता है वह तद्विषयक है, जैसे रूपादि विषयक चक्षुरादि एभी वैसे हैं इसलिए भाष्यकार ने ठीक कही कहा, औपनिषद पुरुष, अर्थात् उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष, अन्य विधि आदि का अङ्ग नहीं है।

भामती

उपनिपूर्वात्सदेर्विशरणार्थात्क्विप्युपनिषत्पदं व्युत्पादितम्, उपनीयाद्वयं ब्रह्म सवासनामविद्यांहिनस्तीति ब्रह्मविद्यामाह। तद्धेतुत्वाद्वेदान्ता अप्युपनिषदः ततो विदित औपनिषदः पुरुषः। एतदेव विभजते—योऽसावुपनिषत्स्वेवेति। अहं प्रत्ययविषयाद्भिनत्ति—असंसारीति। अतएव क्रियारहितत्वाच्चतुर्विधद्रव्यविलक्षणः। अतश्चचतुर्विधद्रव्यविलक्षणो यदनन्यशेषः। अन्यशेषंहि भूतं द्रव्यम् चिकीर्षितं सदुत्पत्त्याद्याप्यं सम्भवति। यथायूपं तक्षति इत्यादि। यत्पुनरनन्यशेषं भूतभाव्युपयोगरहितम्, यथा सुवर्णं भार्यम् सक्तून् जुहोति, इत्यादि, न तस्योत्पत्त्याद्याप्यता। कस्मात्पुनरस्यानन्यशेषतेत्यत आह—यतः स्वप्रकरणस्थः। उपनिषदामनारभ्याधीतानाम् पौर्वापर्यपर्यालोचनया पुरुषप्रतिपादनपरत्वेन पुरुषस्यैवप्राधान्येनेदं प्रकरणम्। न च जुह्वादिवदव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धः पुरुष इत्युपपादितम्। अतः स्वप्रकरणस्थः। सोऽयं तथाविध उपनिषद्भ्यः प्रतीयमानो न नास्तीति शक्यो वक्तुमित्यर्थः। स्यादेतत्—मानान्तरागोचरत्वेनाग्रहीतसंगतितयाऽपदार्थस्य ब्रह्मणो वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः कथमुपनिषदर्थतेत्यत आह—स एष नेतिनेत्यात्मेत्यात्मशब्दात्। यद्यपि गवादिवन्मानान्तरगोचरत्वमात्मनो नास्ति, तथापि प्रकाशात्मन एव सतस्तत्तदुपाधिपरिहाणया शक्यं वाक्यार्थत्वेन निरूपणं हाटकस्येव कटककुण्डलादि परिहाणया। नहि प्रकाशः स्वसंवेदनो न भासते, नापि तदवच्छेदकः कार्यकरणसंघातः। तेन स एष नेति नेत्यात्मा इति तत्तदवच्छेदपरिहाणया बृहत्त्वादापनाच्च स्वयंप्रकाशः शक्यो वाक्यात् ब्रह्मेति चात्मेति च निरूपयितु मित्यर्थः।

सुभद्रा—उपनिपूर्वक हिंसार्थक सद्धातु से क्विप प्रत्यय करके उपनिषत्पद सिद्ध होता है। ब्रह्म के समीप में निश्चयपूर्वक प्राप्त कराके, ब्रह्म भेद का तिरस्कार करके वासना सहित अज्ञान का जो नाश करें वह उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्या है,

उसका कारण होने से वेदान्त भी उपनिषद कहे जाते हैं, उससे जो जाना जाय वह औपनिषद पुरुष यानी आत्मा ब्रह्म है। उसी का विभाग करते हैं योऽसावुप निषत्स्वेवेति इत्यादि से भाष्यकार, अहं प्रतीति का विषय संसारी अवस्था को प्राप्त कर्तृत्व, भोक्तृत्व विशिष्ट आत्मा से उपनिषत्प्रतिपादित आत्मा का विभाग करते हैं यह आशय है। जिससे कि औपनिषद पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि संसार धर्म से रहित है इसलिए क्रियारहित होने से पूर्वोक्त[1] चतुर्विध द्रव्य से विलक्षण है। जिससे कि वह विधि का अङ्ग नहीं है अर्थात् चतुर्विध द्रव्य विलक्षण होने से अन्य का अङ्ग भूत नहीं है। 'अन्य का अङ्ग सिद्ध द्रव्य चिकीर्षित होता हुआ उत्पत्ति आदि से प्राप्त करने के योग्य होता है। जैसे यूपंतक्षति इत्यादि यूपेपशुं-बध्नाति इन वाक्य में बन्धन के लिए उपयुक्त काष्ठ का बना हुआ यूप, स्तंभ, बन्धन क्रिया का अङ्ग होता है जिससे कि वह तक्षण, छीलना आदि क्रिया से उत्पाद्य होता है। जो कि अन्य का अङ्ग नहीं है और भूत भाव उपयोग से रहित है, ऐसे सिद्ध वस्तु के बोधक वाक्य जैसे सुवर्णं भार्यम् सक्तून् जुहोति आदि उत्पत्यादि से प्राप्य नहीं है। सुवर्ण धारण करना चाहिए, सत्तू से हवन करना है, यहाँ पर सुवर्ण धारण यज्ञ का अङ्ग नहीं है किन्तु पुरुष का धर्म प्रधान कर्म है जिसका फल शत्रु का दुर्वर्ण होना है यह पूर्व में कहा जा चुका है। यज्ञ का अङ्ग न होने से वह उत्पत्ति आदि के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता किन्तु सिद्ध सुवर्ण का ही धारण किया जाता है। एवं सक्तु भी पहिले विनियुक्त नहीं है और न तो अनन्तर ही हवन करने पर भस्माव शिष्ट होने से उपयोग में आ सकता है जिससे कि विनियुक्त संस्कार या विनियोक्ष्य माण संस्कार उसमे संभव हो अतः वह प्रधान कर्म है, इसलिए अन्य का अङ्ग न होने से साध्य नहीं है किन्तु सिद्ध सक्तु से ही हवन किया जाता है। उसी तरह ब्रह्म भी अन्य का अङ्ग न होने से साध्य नहीं है क्यों वह अन्य का अङ्ग नहीं है जिससे कि वह अपने प्रकरण मे स्थित है। इसीलिए वह अन्य का अङ्ग नहीं है। उपनिषद किसी कर्म के प्रकरण मे नहीं पढ़ी गई है किन्तु स्वतन्त्र ज्ञान के प्रकरण में कही गई है, इस-लिए पूर्वापरकापर्यालोचन करने से वे पुरुष यानी आत्मा का ही प्रतिपादन करने में उनका तात्पर्य गृहीत होता है इसलिए आत्मा की ही प्रधानता होने से यह प्रकरण पुरुष अर्थात् आत्मा का ही है यह निश्चय होता है और न तो पुरुष का परात्मियी जुहू के समान यज्ञ के साथ अव्यभिचरित नियमपूर्वक सम्बन्ध ही है यह पूर्व में कहा जा चुका है। इसलिए अपने प्रकरण में स्थित है। ऐसा उक्त

१—उत्पाद्य, निर्वर्त्य विकार्यं संस्कार्यं।

प्रकार से वर्णित पुरुष उपनिषदों से प्रतीत होता हुआ नहीं है यह कहना दुस्साहस मात्र है। इस तरह से सिद्ध अर्थ में भी व्युत्पत्ति होती है इसलिए उपनिषदें सिद्ध ब्रह्म के बोधक होने से ब्रह्मात्मैक्य में प्रमाण हैं यह प्रदर्शित किया गया। परन्तु अन्य प्रमाणों से सिद्ध पुत्र जन्मादि रूप अर्थ में व्युत्पत्ति यानी शक्ति ज्ञान हो, किन्तु अन्य प्रमाण से असिद्ध ब्रह्म में संगतिग्रह शक्तिज्ञान न होने से उपनिषदें उसमें प्रमाण नहीं है ऐसी शंका होने पर भामती में स्यादेतत् इत्यादि से उस शंका का अनुवाद कर के परिहार करते हैं। अन्य प्रमाण का विषय न होने से ब्रह्म में शक्ति का ज्ञान संभव नहीं है जिससे कि ब्रह्म किसी पद का अर्थ नहीं है तो फिर तत्त्वमसि आदि वाक्य का वह अर्थ कैसे होगा क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान में पदार्थ ज्ञान कारण होता हैं, ब्रह्म जब पदार्थ ही नहीं है तो वाक्यार्थ कैसे होगा। तो वह कैसे उपनिषदों से अवगत होता हैं। इसपर भाष्य में कहा गया (स एषनेतिनेत्यात्मा इत्यात्मशब्दात्) सम्पूर्ण दृश्य का निषेध करने पर निषेध का अवधिभूत आत्मा है यह आत्म शब्द से कहा गया है। आशय यह है कि यद्यपि गवादि शब्द के समान अन्य प्रमाण की विषयता आत्मा में नहीं है तथापि प्रकाश ही है स्वरूप जिसका अर्थात् स्वयं प्रकाशमान आत्मा में जो तीनों काल में बाधित नहीं होता ऐसा जो सद्रूप हैं उसमें जो संसारावस्था में उपाधियां कल्पित हैं उन उपाधियों का परित्याग करके लक्षणा वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ रूप से उसका निरूपण किया जा सकता है। सुवर्ण में कटक कुण्डल आदि उपाधियों का परित्याग कर सुवर्ण मात्र के ज्ञान के समान। जैसे सुवर्ण का कार्य कटक कुण्डल आदि के नष्ट होने पर भी सुवर्ण विद्यमान रहता है उसी तरह सद्रूप ब्रह्म में कल्पित सब प्रपञ्च के निवृत्त होने पर भी सद्रूप से ब्रह्म भी विद्यमान है।

शंका—अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु में अन्य का निषेध होता है प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात शुक्ति रज्जु आदि में रजत सर्प आदि का निषेध होता है। ब्रह्म तो अप्रमेय होने से किसी प्रमाण का विषय नहीं है उसमें दृश्य प्रपञ्च का निषेध कैसे।

समाधान—भासमान वस्तु में अर्थात् जो वस्तु प्रतीत हो रही है उसमें विरुद्ध भासने वाले अन्य वस्तु का निषेध होता है यही नियम मानना युक्त है न कि प्रमाण से भासमान में, क्योंकि शंका करने वाले के मत में प्रमाण के बिना कोई वस्तु भासित नहीं होती, इसलिए प्रमाण से ऐसा विशेषण व्यर्थ है। वेदान्तियों के मत से स्वतः प्रमाण के बिना भासमान ब्रह्म में सम्पूर्ण दृश्य का निषेध होने से उक्त नियम व्यभिचरित है, इसलिए भासमान में भासमान के विरुद्ध भासमान का निषेध होता हैं यही नियम मानना ठीक है। स्वतः प्रकाश

आत्मा में आरोपित दृश्य वर्ग का निषेध लक्षणा से संभव है। (यह स्पष्ट किया जाता है भामती मे नहि प्रकाश: स्वसम्वेदनो न भासते इत्यादि से) प्रकाश रूप आत्मा जिसका ज्ञान किसी के अधीन नहीं है स्वयं हो रहा है ऐसा वह नहीं भासता। यह नहीं कह सकते, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुएं जड़ होने से अप्रकाश रूप हैं तो यदि प्रकाशरूप आत्मा भी प्रकाशित न हो तो फिर कोई वस्तु का प्रकाश नहीं होगा। श्रुति भी कहती हैं (तमेव भान्त मनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वं मिदेविभाति) उसी आत्म स्वरूप के भासित होने पर सब भासित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सब निखिल प्रपञ्च प्रकाशित होता है। और न तो उस सद्रूप प्रकाश का अवच्छेदक, एक दूसरे से अलग करने वाला कार्यकरण संघात कार्य शरीरकरण इन्द्रियादि इनका समूह नहीं भासता यह भी नहीं कह सकते। इसलिए नेति नेति इससे सम्पूर्ण दृश्य वर्ग का निषेध कर के अर्थात् सम्पूर्ण उपाधिस्थूल सूक्ष्म कारण शरीर अन्तःकरण अविद्या आदि समस्त उपाधि का निषेध कर के आत्मा का जो कि सबका साक्षी है उसका निरूपण शास्त्र से किया जा सकता है और केवल निषेध मुख से ही आत्मा निरूपण के योग्य हो यह बात नहीं, किन्तु बृहत् होने से और सबको व्याप्त करने से भी आत्म पद से त्रिविध[1] परिच्छेद शून्य तदुपलक्षित आत्मा लक्षित होता है। ऐसा आत्मा सएष-नेतिनेत्यात्मा इस वाक्य से जो कि आत्म शब्द से युक्त है उससे निरूपित होता है। ब्रह्म पद से युक्त अयमात्मा ब्रह्म इस वाक्य से भी निरूपित होता है।

भामती

अथोपाधिनिरासवदुपहितमप्यात्मरूपं कस्मान्ननिरस्यत इत्यत आह—आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। प्रकाशोहि सर्वस्यात्मा तदधिष्ठानत्वाच्च प्रपञ्चविभ्रमस्य। न चाधिष्ठानाभावे विभ्रमो भवितुमर्हति नहि जातुरज्ज्वभावे रज्ज्वां भुजङ्ग इति धारेति वा विभ्रमोदृष्टपूर्व:। अपिचात्मन: प्रकाशस्य भासा प्रपञ्चस्य प्रथा + तथा च श्रुति: तमेवभान्तमनुभाति सर्वम् तस्यभासा सर्वमिदं विभाति इति। न चात्मन: प्रकाशस्य प्रत्याख्याने प्रपञ्चस्य प्रथायुक्ता। तस्मादात्मन: प्रत्याख्यानायोगाद्वेदान्तेभ्य: प्रमाणान्तरागोचर सर्वोपाधि-रहितब्रह्मस्वरूपावगतिसिद्धिरित्यर्थ:। उपनिषत्स्वेवाधिगत इत्यवधारणममृष्य-माण आक्षिपति—नन्वात्मेति। सर्वजनीनाहं प्रत्ययविषयो ह्यात्माकर्ता भोक्ता च संसारी, तत्रैव लौकिकपरीक्षाकाणामात्मपद प्रयोगात्। य एव लौकिका:

[1] १—देश काल और वस्तु से जो परिच्छिन्न न हो वह त्रिविध परिच्छेद शून्य है।

शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थो इत्यौपनिषदमप्यात्मदं तत्रैव, प्रव-र्तितु मर्हति नार्थान्तरे तद्विपरीत इत्यर्थः। समाधत्ते—न अहं प्रत्ययविषय औपनिषदः पुरुषः। कुतः ? तत्साक्षित्वेन। अहं प्रत्ययविषयो यः कर्ता कार्यकरणसंघातोपहितो, जीवात्मा तत्साक्षित्वेन परमात्मनोऽहं प्रत्ययविष-यत्वस्य प्रत्युक्तत्वात्। एतदुक्तं भवति—यद्यपि अनेन जीवेनात्मना इति जीव परमात्मनोः पारमार्थिकमैक्यम् तथापि तस्योपहितं रूपं जीवः शुद्धं तुः रूपं तस्य साक्षि, तच्च मानान्तराधिगतमुपनिषद्गोचर इति। एतदेव प्रपञ्चयति—नह्यहंप्रत्ययविषयेति। विधिशेषत्वं वा नेतुं न शक्यः। कुतः ? आत्मत्वा-देव। नह्यात्माऽन्यार्थः अन्यत्सर्वमात्मार्थम्, तथा च श्रुतिः—नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, इति। अपि चातः सर्वेषामात्मत्वादेव न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वस्य हि प्रपञ्चजा-तस्य ब्रह्मैव तत्वमात्मा। न च स्वभावोहेयः अशक्यहानत्वात्। न चोपादेयः उपात्तत्वात्। तस्माद्धेयोपादेयविषयौ विधिनिषेधौ न तद्विपरीतमात्मतत्वं विषयीकुरुत इति सर्वस्यप्रपञ्चजातस्यात्मैव तत्व मिति। एतदुपादयति—सर्वंहि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। अयमर्थः—पुरुषो हि श्रुति स्मृतीतिहासपुराणतदविरुद्धन्यायव्यवस्थापितत्वात्परमार्थसन्, प्रपंचस्त्वना-द्यावद्योपदर्शितोऽपरमार्थसन्, यश्चपरमार्थसन्नसौप्रकृती रज्जुतत्वमिवसर्पविभ्र-मस्यविकारस्य। अतएवास्यानिर्वाच्यत्वेना दृढ़स्वभावस्य विनाशः पुरुषस्तु परमार्थसन्। नासौकारणसहस्रेणाप्यपन् शक्यः कर्तुम्। नहि सहस्रमपि शिल्पिनो घटं पटयितु मीशत इत्युक्तम्। तस्मादविनाशिपुरुषान्तो विकारवि-नाशः शुक्तिरज्जुतत्वान्त इव रजतभुजङ्गविनाशः। पुरुष एव सर्वस्य, प्रपञ्चविकारजातस्य तत्वम्। न च पुरुषस्यास्ति विनाशः यतोऽनन्तो विनाशः स्यादित्यत आह—पुरुषो विनाशहेत्वभावादिति। नहि कारणानि सहस्रमप्य-न्यथयितुमीशत इत्युक्तम्। अथमाभूत्स्वरूपेण पुरुषो हेय उपादेयो वा तदी-यस्तु कश्चिद्धर्मो हास्यते, कश्चिचोपादास्यत इत्यत आह—विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः। त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामलक्षणो विकारोनास्ती त्युक्तम्। अपिचात्मनः परमार्थसतोधर्मोऽपि परमार्थसन्निति न तस्यात्मवदन्य-थात्वं कारणैः शक्यं कर्तुम्, न च धर्मान्यथात्वादन्योविकारः, तदिदमुक्तम्—विक्रियाहेत्वभावादिति। सुगममन्यत्।

सुभद्रा—जिस तरह सम्पूर्ण उपाधियों का निषेध होता है उसी तरह उपहित आत्मा का भी निषेध क्यों नहीं होता ऐसी शंका होने पर भाष्य मे कहा गया आत्म-नश्चप्रत्याख्या तुमशक्यत्वात्, आत्मा का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, क्योंकि

प्रकाश सबका आत्मा है निखिल प्रपञ्च भ्रम का वह अधिष्ठान है, उस अधिष्ठान के न होने पर भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि निरधिष्ठानक भ्रम नहीं होता, अधिष्ठानभूत रस्सी के अभाव मे सर्प या धारा का भ्रम होता हुआ कभी देखा नहीं गया है। अर्थात् सर्व प्रपञ्चाधिष्ठान भूत आत्मा का निषेध होने पर भ्रम किसमें होगा, शून्य में भ्रम नहीं होता इसलिए अधिष्ठान होने से सम्पूर्ण प्रपञ्च को सत्ता प्रदान करने से आत्मा का बाध नहीं होता किन्तु उसमें पारमार्थिक सत्यता है, यदि आत्मा न हो तो सम्पूर्ण प्रपञ्च का स्फुरण ही न हो, इसीको भामती में अपि च इत्यादि से कहते हैं।

प्रकाश रूप आत्मा के भावित होने पर ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रकाश हो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जड़ स्वरूप, निखिल प्रपञ्च अप्रकाश है, प्रकाश स्वरूप आत्मा के अप्रकाश होने पर किसी का प्रकाश नहीं होगा यह पहिले कहा गया है। इसलिए आत्मा का प्रत्याख्यान संभव न होने से वेदान्त वाक्यों से अन्य प्रमाण का अविषय भी ब्रह्म, जो कि सम्पूर्ण उपाधियों से रहित है उसकी अवगति सिद्धि होती है। उपनिषदों से ही आत्मा जाना जाता है, नकि अन्य साधनों से यह अवधारण, निश्चय न सह सकता हुआ पूर्व पक्षी आक्षेप करता है, भाष्य में, ननु आत्मा इत्यादि से। अहं प्रतीति का विषय आत्मा है, तो उपनिषदों से ही जाना जाता है यह कहना युक्त नहीं, अर्थात् सर्व साधारण को अहम्, यह प्रतीति होता है जोकि आत्मा को विषय करती है, वह कर्ता भोक्ता और संसारी है, उसी में लौकिक[1] और परीक्षक[2] आत्म शब्द का प्रयोग करते हैं। जो शब्द जिस अर्थ में लोक में प्रयुक्त होता है, वह शब्द उसी, अर्थ मे वेद मे भी प्रयुक्त होता है इसलिए औपनिषद भी आत्मा द उसी अर्थ में प्रयुक्त होने के योग्य है न कि उसके विपरीत अर्थ में। इस शंका का समाधान भाष्य में न तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्, कह कर दिया। अहं प्रतीति का विषय जो कर्ता, कार्य शरीर कारण इन्द्रियां आदि, उनका जो समूह उन शरीर अन्तःकरण आदि उपाधियों से युक्त जो जीवात्मा उसके साक्षी रूप से अर्थात् प्रकाशक रूप से स्थित जो परमात्मा, उसमें अहं प्रत्यय विषयता नहीं हो सकती।

शंका—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, मायावच्छिन्न चैतन्य परमात्मा है, सिद्धान्त में, औपाधिक भेद होने पर भी वास्तविक जीव परमात्मा का

१. शास्त्रीय संस्कार से रहित विद्वद् गोष्ठि में बैठने के अयोग्य व्यावहारिक पुरुष लौकिक कहा जाता है।

२. प्रमाण और तर्क से वस्तु तत्त्व का निश्चय करने वाला शास्त्र का मर्म जानने वाला परीक्षक कहा जाता है।

अभेद ही है, तो जीव यदि अहं प्रतीति का विषय है तो उससे अभिन्न परमात्मा क्यों न अहं प्रतीति का विषय हो।

समाधान—यद्यपि अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि (इस जीवात्मा स्वरूप से प्रवेश कर नाम और रूप को प्रकट करूं) इस श्रुति से जीवात्मा और परमात्मा का वास्तविक ऐक्य है। तथापि उसका उपाधि विशिष्ट रूप जीव है, शुद्ध रूप उसका साक्षी परमात्मा है, वह किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, केवल उपनिषदों से ही जानने के योग्य है। इसी को भाष्य में उपन्यस्त करते हैं। अहं प्रतीति संसारावस्थापन्न आत्मा ही को विषय करती है न कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वभाव सर्व साक्षिभूत आत्मा को। अहं प्रतीति का विषय जो कर्तृत्वभोक्तृत्वादि विशिष्ट आत्मा उससे अतिरिक्त सब प्राणियों में स्थित सबमें समान रूपसे रहने वाला एक कूटस्थ नित्य पुरुष चेतन स्वभाव विधिकांड के द्वारा अथवा तर्क से किसी के द्वारा नहीं जाना जाता, जोकि सबका आत्मा है। इसलिए वह किसी से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है और न तो विधि के अङ्ग भाव को प्राप्त करने के योग्य है। क्योंकि, आत्मा होने से। आत्मा दूसरे के लिए नहीं है जिस तरह शय्या प्रसाद आदि अपने लिए नहीं है, किन्तु अपने से भिन्न पुरुष के लिए हैं, इस तरह आत्मा, दूसरे के प्रयोजन के लिए नहीं हैं। अन्य सब वस्तुएं आत्मा के लिए हैं। श्रुति भी कहती है, नवा अरे सर्वस्यकामाय प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, सम्पूर्णवस्तुएं सबके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होती किन्तु आत्मा के लिए ही प्रिय होती हैं। आत्मा के लिए ही सब वस्तुए प्रिय है आत्मा किसी दूसरे के लिए प्रिय नहीं है किन्तु उसमे स्वतः प्रेमास्पदता है, इस कथन से आत्मा के अङ्गभूत सब हैं, न कि आत्मा किसी का अङ्ग है तो आत्मा विधिका कैसे अङ्ग होगा यह सूचित हुआ आत्मा विधेय कर्म का अङ्ग होकर विधिका विषय न हो, किन्तु स्वतः विधिका विषय या निषेध का विषय क्यों न हों, ऐसी शंका होने पर भाष्य में कहा गया, न हेयोनाप्युपादेयः। आत्मा न तो हेय है, अर्थात् त्यागने के योग्य नहीं है जिससे कि निषेध का विषय नहीं है, और न तो उपादेय है, ग्रहण करने के योग्य नहीं है, क्योंकि सर्वदा प्राप्त है, जिससे कि विधि विषयता भी नहीं है। इसमे हेतु आत्मत्व है, सबका आत्मा होने से ही हेय देयं और उपादेय नहीं है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का ब्रह्म, आत्मा ही, तत्त्व है यानी स्वरूप, स्वभाव है। स्वभाव का त्याग हो नहीं सकता। और न तो उपादेय है। क्योंकि ग्रहण उस वस्तु का होता है, जो पूर्व में प्राप्त न हो आत्मा तो सर्वदा प्राप्त है। इसलिए हेय और उपादेय को विषय करने वाले विधि और निषेध उनके विपरीत आत्म-

तत्त्व को विषय करने में समर्थ नहीं है। इस लिए सम्पूर्ण प्रपञ्च का आत्मा ही तत्त्व है। इसी का उपपादन भाष्यकार करते हैं. सर्वंहि इत्यादि से सम्पूर्ण विकार समूह विनाश को प्राप्त होना हुआ पुरुष है अन्त, अवधि जिसका ऐसे वे विकार समूह विनाश को प्राप्त होते हैं। विनाश का कारण विकार का होना वह न होने से विकार रहित पुरुष अविनाशी है। विकार का हेतु न होने से कूटस्थ नित्य है। इसीलिए नित्यशुद्ध बुद्धस्वभाव, आत्मा है।

शंका—सबका लय पुरुषावधिक है यह भाष्यकार का कहना ठीक नहीं क्यों कि विकार भूत घटादि के नाश होने पर मृत्ति का अवशिष्ट रहती है. अथवा, घटादि का नाश अपने कारण मृत्तिका में होता है। ऐसा देखा जाता है तो पुरुषावधिक सबका लय (नाश) कैसे।

समाधान—(यद्यपि घट का उपादान कारण मृत्ति का लोक प्रमाण से सिद्ध है, तथापि श्रुति, स्मृति इतिहास पुराण और उससे अविरुद्ध, सम्मत, न्याय, अर्थात्, युक्ति से सिद्ध होने से पुरुष आत्मा ही परमार्थ सत् है, जिसका तीनों काल में बाध नहीं होता, प्रपञ्च, संसार, उसके अन्तर्गत लोक प्रमाणसिद्ध कारणत्वेन विज्ञातमृत्तिकादि अनादि अविद्या रूप दोषवशात् प्रतीत होते हैं इससे वह परमार्थ सत् नहीं है, जो परमार्थ सत् होता है वही मूल प्रकृति मूल कारण होता है जैसे सर्पभ्रम रूप विकार का मूल कारण रज्जु तत्त्व है। उस तरह से वास्तविक सत् आत्मा ही सब का अधिष्ठान है जो अधिष्ठान होता है वही लय का आधार होता है, कल्पित, वस्तु मे अधिष्ठानत्व नहीं रहता मृत्तिकादि भी कल्पित हैं घटादि के लय का आधार आपाततः मृत्तिका के प्रतीत होने पर भी वह स्वयं नाश को प्राप्त होती है इसलिए वह अधिष्ठान नहीं है इसलिए सम्पूर्ण प्रपञ्च अविद्या से कल्पित होने से उनका अधिष्ठान वास्तविक सत् आत्मा ही है उसी में उनका लय होता है। आशय. यह है कि, सम्पूर्ण पदार्थ साक्षात् ब्रह्म में लीन नहींहोते किन्तु, अपने कारण मे उन कारणों का भी लय अविद्या में होता है, अविद्या का लय ब्रह्म में होता है इस तरह से अन्त में कारण के लय क्रम से पुरुषावधिक विनाश भाष्यकार ने कहा है जिससे कि उक्त अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए प्रपञ्च के अनिर्वचनीय होने से जिसका स्वरूप दृढ़ अर्थात्, पुष्ट नहीं है उसका विनाश होता है पुरुष परमार्थ सत् है उसका विनाश नहीं होता उसको हजार कारण से भी असत् नहीं किया जा सकता, हजार भी चतुर शिल्पी कारीगर घट को पट बनाने में समर्थ नहीं है यह पूर्व में कहा गया है। इसलिए अविनाशी पुरुष पर्यन्त विकार का नाश होता है, जैसे शुक्ति और रज्जु के तत्त्व निश्चय होने पर, विकार भूत, रजत सर्प आदि का नाश होता है।

पुरुष आत्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप विकार के समूह का तत्त्व है। पुरुष का विनाश होता नहीं, यदि पुरुष का भी विनाश हो तो विनाश अनन्त अर्थात् निरवधिक हो जायगा इसलिए भाष्य में पुरुष विनाश का कारण न होने से अविनाशी है यह कहा गया। हजार कारण भी अन्य वस्तु को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है यह पूर्व में उक्त है। पुरुष स्वरूपतः हेय उपादेय न हो किन्तु उसमें रहने वाला कोई धर्म हेय है कोई उपादेय है, ऐसी शङ्का होने पर भाष्य मे कहा गया विक्रिया हेतुभावाच्च कूटस्थ नित्यः। विकार हेतु न होने से पुरुष कूटस्थ नित्य है। धर्म परिणाम अवस्था परिणाम, लक्षण परिणाम ए तीन प्रकार के विकार आत्मा में नहीं है यह पहिले कहा गया है। यदि परमार्थभूत् आत्मा में कोई वास्तविक धर्म मान भी लिया जाय तो वह धर्म भी आत्मा के समान नित्य हो जायगा उसका भी अन्यथात्व कारणों से नहीं हो सकता और और धर्मों का अन्यथा भाव होना ही विकार है उससे अतिरिक्त विकार है नहीं वस्तुतः ब्रह्म निर्धर्मक है उसमें कोई धर्म वास्तविक नहीं हैं अविद्या रूप दोष के कारण ही उसमें प्रतीत होते हैं। (भाष्यमे तस्मात् पुरुषान्न परं किञ्चित् इत्यादि) कहा गया हैं जिसका अभिप्राय यह है कि कठोपनिषद् में इन्द्रियादि से परे वस्तु को बतलाकर पुरुष से परे कोई वस्तु नहीं है, वह सबका अवधि है सूक्ष्मत्व महत्त्व आदि सबका वही अवधि है और वही परम पुरुषार्थ है एवं बृहदारण्यक में शाकल्प से याज्ञवल्क्यने कहा (तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि) उस कारण सहित सूत्र का अधिष्ठान उपनिषत्प्रतिपादित पुरुष को मैं पूछता हूं, यहाँ पर औपनिषदत्व विशेषण पुरुष का उपनिषदों में ही प्रधान रूप से प्रकाशित, होने पर उपपन्न होता है इसलिए सिद्ध वस्तु का बोधक वेद का भाग नहीं, है यह कथन साहस मात्र है।

भाष्य

यद्यपि शास्त्रतात्पर्यं विदानुक्रमणम्--दृष्टोहि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् इत्येवमादि तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वा द्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः १ प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चे द्वस्तूपदिशतिभव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। नहिभूतमुपदिश्यमानं क्रियाभवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनात्वात्क्रियार्थ एवं भूतोपदेश इति चेत् नैषदोषः, क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्ट मेव क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावतावस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टम्, किं तव तेनस्यादिति। उच्यते--अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च, तथैव

भवितु मर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसार हेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपि च ब्राह्मणो न हन्तव्यः इत्येवमाद्या निवृत्ति, रूपादिश्यते। न च सा क्रिया। नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादि निवृत्त्युपदेशाना-मानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। नचस्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यम प्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनादिवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्य-मेव ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रता-दिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादि भूतार्थवाद विषयमानर्थक्याभि-धानं द्रष्टव्यम्।

भामती

यत्पुनरेकदेशिना शास्त्रविद्वचनं साक्षित्वेनानुक्रान्तं तदन्यथोपपादयति—यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणमिति। दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थाव-बोधनम् इति वक्तव्येधर्मजिज्ञासायाः प्रकृतत्वाद्धर्मस्य च कर्मत्वात् कर्मावबो-धनमित्युक्तम्। न तु सिद्धरूपब्रह्मावबोधमं व्यापारं वेदस्य वारयति। नहि सोमशर्मणि प्रकृते तद्गुणाभिधानं परिसंचष्टे विष्णुशर्मणो गुणवत्ताम्। विधिशास्त्रं विधीयमानकर्मविषयं प्रतिषेधशास्त्रं च प्रतिषिध्यमानकर्मविषयमित्यु-भयमपि कर्मावबोधनपरम्। अपि च आम्नायस्यक्रियार्थत्वादिति शास्त्रकृद्व-चनं। तत्रार्थग्रहणं यद्यभिधेयवाचि ततो भूतार्थानां द्रव्यगुणकर्मणाम् मानर्थ-क्यमनभिधेयमात्रं प्रसज्येत, नहि ते क्रियार्था इत्यत आह—अपि चाम्नाय-स्येति। यद्युच्येत नहि क्रियार्थत्वं क्रियाभिधेयत्वं अपितु क्रियाप्रयोजनवत्त्वम्। द्रव्यगुणशब्दानां च क्रियार्थत्वेनैव भूतद्रव्यगुणाभिधानं न स्वनिष्ठतया, यथाहुः शास्त्रविदः—चोदनाहि भूतं भवन्तम् इत्यादि। एतदुक्तं भवति—कार्यमर्थ मवगमयन्तो चोदना तदर्थं भूतादिकमर्थं गमयतीति तत्राह प्रवृत्तिनिवृत्ति-व्यतिरेकेण भूतं चेदिति। अयमभिसन्धिः—न तावत्कार्यार्थ एव स्वार्थे पदानां व्युत्पत्तिग्रहो नान्यार्थ इत्युपपादितं भूतेऽप्यर्थे व्युत्पत्तिं दर्शयद्भिः। नापि स्वार्थमात्रपरतैव पदानाम्। तथासति न वाक्यार्थ प्रत्ययः स्यात्। नहि प्रत्येकं स्वप्रधानतया गुणप्रधानभावरहितानामेकवाक्यता दृष्टा। तस्मात्पदानां स्वार्थमभिदधतामेकप्रयोजनवत्पदार्थपरतयैकवाक्यता। तथा च तत्तदर्थान्तरविशिष्टैव वाक्यार्थप्रत्यय उपपन्नो भवति। यथाहुः शास्त्र-विदः—साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापिनैतस्मिन्पर्य-वस्यन्ति निष्फले। वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाकेज्वालेव

काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् इति । तथाचार्थान्तरसंसर्गपरतामात्रेण वाक्यार्थ-प्रत्ययोपयोगो न कार्यसंसर्गपरत्वनियमः पदानाम् । एवं च सति कूटस्थनित्य-ब्रह्मरूपपरत्वेऽप्यदोष इति ।

सुभद्रा—जो कि एकदेशी ने शास्त्र के तात्पर्यवेत्ता शबरस्वामी का वचन प्रमाणरूप से अनुकरण किया, अर्थात् प्रदर्शित किया, दृष्टोहितस्यार्थः कर्मावबोधनम् उसवेद का अर्थ कर्म का बोध कराना ही देखा गया है, आप वेदान्ती के मत में वेद सिद्ध वस्तु का भी बोधक है, तो उस वचन से विरोध होगा, उसका अन्य प्रकार से उपपादन भाष्यकार करते हैं। (तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वादित्यादि से) उक्त वचन धर्म जिज्ञासा विषयक होने से विधि निषेध शास्त्र के अभिप्राय से है। दृष्टो हि तस्यार्थः प्रयोजनवदर्थावबोधनम्, इस वेद का अर्थ देखा गया है कि प्रयोजन विशिष्ट अर्थ का ही बोध कराता है ऐसा कहना था, फिर कर्मावबोधनम् ऐसा क्यों कहा, तो धर्म जिज्ञासा के प्रकरण से प्राप्त होने पर वैसा कहा तो धर्म शब्द से ही कहते, कर्मावबोधनम् क्यों कहा, तो कर्म ही धर्म है, अर्थात् वेद बोधित यागादिकर्म ही धर्म है, और वह धर्म जिज्ञासा सूत्र से प्रकृत है, प्रकरण प्राप्त है, इसलिए कर्मावबोधनम् यह कहा परन्तु इससे सिद्ध रूप ब्रह्म का बोध वेद नहीं कराता इसका कारण नहीं होता। जिस प्रकार सोमशर्मा के प्रकरण प्राप्त होने पर उसके गुण का कथन, विष्णुशर्मा गुण रहित है यह नहीं कहता। उसी तरह, धर्म जिज्ञासा के प्रकरण के अनुसार निषेधशास्त्र से भी कर्म का ज्ञान प्रयोजन है ऐसा कहने मात्र से सिद्ध ब्रह्म परक वेदान्त शास्त्र का ब्रह्मावगति प्रयोजन नहीं है ऐसा नहीं प्रतीत होता यह भाव है।

शंका—निषेध वाक्य अनुष्ठान के योग्य कर्म का बोध नहीं कराते तो, उनका कर्म ज्ञान प्रयोजन कैसे होगा।

समाधान—विधिशास्त्र जैसे विधान किए हुए कर्म को विषय करते हैं उसी तरह निषेध शास्त्र जिस कर्म का निषेध किया जाता है उसको विषय करते हैं इसलिए दोनों ही कर्मावबोधपरक हैं। आशय यह है कि कुछ कर्म अनुष्ठान के लिए हैं जैसे अग्नि, होत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः इत्यादि अग्नि होत्र के अनुष्ठान के लिए हैं, कुछ कर्म त्यागने के योग्य है, जैसे ब्राह्मणं नहन्यात् सुरां नपिबेत् आदि ब्राह्मणकर्म कहनन सुरापान आदि अभ्युदयार्थी को न करना चाहिए, उसके त्याग में अभिप्राय है, निषेधको निषेध्य की आकांक्षा होने से निषेध वाक्य भी प्रति योगितया कर्म को विषय करते हैं। इस तरह से विधि शास्त्रके समान निषेध शास्त्र भी निषेध के योग्य कर्म विषयक है यह सिद्ध होता है। जैमिनि मुनि प्रणीत मीमांसा दर्शन के भाष्यकार शबरस्वामी के उक्त वचन से आम्नायस्य

क्रियार्थत्वादित्यादि, सूत्र में आम्नाय पद विधि निषेधपरक है न कि सम्पूर्ण वेद परक यह सिद्ध होता है। और भी, आम्नायस्यक्रियार्थत्वात्, यह जो शास्त्रकार जैमिनि मुनि का वचन है। उसमें अर्थ शब्द यदि अभिधेय का वाची हो, तो जिनका क्रिया अर्थ अभिधेय नहीं है ऐसे द्रव्य और गुण रूप सिद्ध वस्तु के बोधक पदों में निरर्थकत्व प्रसक्त होगा। तो फिर अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति इस वाक्य में आरुणयादि गुण और गोरूप द्रव्य इत्यादि जो अर्थ प्रतीत होते हैं उनकी प्रतीति नहीं होगी क्योंकि उन शब्दों का क्रिया अर्थ नहीं है। एवं वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता आदि वाक्यों से वायु में शीघ्रगमन रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि याग होमदानादि क्रिया उसका अर्थ नहीं है इसलिए भाष्य में कहा गया अपि च आम्नायस्य, इत्यादि वेद क्रियार्थक हैं अर्थात् क्रिया परक हैं जो भाग क्रिया परक जो क्रियार्थक नहीं है उनका आनर्थक्य है इसको नियमपूर्वक स्वीकार करने वालों के मत में सिद्ध वस्तु के उपदेश अनर्थक हो जायंगे। यदि यह कहा जाय कि उक्त सूत्र में क्रियार्थ शब्द से क्रिया अभिधेय है यह नहीं कहा जाता किन्तु क्रिया है प्रयोजन जिसका यह अभीष्ट है द्रव्य और गुण के वाचक शब्दों का क्रिया ही प्रयोजन होने से सिद्ध द्रव्य और गुणका अभिधान है न कि [1]स्वनिष्ठ होनेसे (अर्थात् केवल अपने अर्थ को ही वे बोध कराते हैं इसलिए उनका अभिधान नहीं हैं किन्तु कर्म ही उनका प्रयोजन है इसलिए है, सिद्ध द्रव्य और गुण से भी कर्म रूप प्रयोजन सिद्ध होता है) जैसा कि शास्त्रवेत्ता शबरस्वामी ने कहा है (चोदनाहिभूतं भवन्तम् इत्यादि) यह कहा गया कि कार्य अर्थ को बताती हुई चोदना अर्थात् विधि कार्य है प्रयोजन जिसका ऐसे भूत सिद्ध आदि अर्थ को भी प्रतीत कराती है। इस पर भाष्य में कहा गया प्रवृत्ति निवृत्ति व्यतिरेकेण इत्यादि""""यदि प्रवृत्ति विधि और निवृत्ति विधि और उसके अङ्गभूत उसके अतिरिक्त सिद्धवस्तु का उपदेश यदि साध्य होने से अर्थात् कार्य के लिए करते हैं तो कूटस्थ नित्य सिद्धवस्तु का उपदेश क्यों न हो, इसमें क्या हेतु है। कार्य मे अन्वित सिद्धवस्तु का बोध विधि वाक्यों के साथ एक वाक्यता होने से होता है, सिद्ध ब्रह्म बोधक वाक्य में जो कि क्रिया का अङ्ग नहीं है ऐसे सिद्ध वस्तु की बोधकता कैसे उपपन्न होगी इस शंका का, भामती में अयमभिसन्धिः इत्यादि से परिहार किया जाता है। कार्य में अन्वित सिद्धवस्तु का ही बोध शब्दों से

---

१. स्वनिष्ठतया स्वार्थाभिधान मात्र पर्यवसायितया न किन्तु कर्म प्रयोजन परतया।

होता है यह नियम क्या व्युत्पत्ति के, बल से हैं या प्रयोजन के सिद्धि के लिए, केवल सिद्ध वस्तु के ज्ञान से भी रज्जुरियं न भुजङ्गः इत्यादि स्थल में भय कंपादि निवृत्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है, इसलिए प्रयोजन सिद्धि के लिए कार्यान्वित सिद्ध वस्तु का बोध शब्दों से होता है यह नियम ठीक नहीं और न तो व्युत्पत्तिबलात् ही उक्त नियम सिद्ध होता है क्योंकि कार्य के अङ्गभूत अपने अर्थ में पदों का सङ्गति ज्ञान होता है अन्य सिद्ध रूप अर्थ में नहीं, यह युक्त नहीं, सिद्ध अर्थ में भी पदों की व्युत्पत्ति अर्थात् शक्तिज्ञान होता है यह पहिले कार्य बोधे यथा चेष्टा इत्यादि हेतु से कहा जा चुका है। और न तो पद केवल अपने ही अर्थ को बोध कराते हैं ऐसा अङ्गीकार होने पर वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होगी।

कार्यान्वित में पदों की शक्ति यदि लाघवत् नहीं मानी जाती, तो अत्यन्त लाघव होने से अन्वित में भी शक्ति न मानकर केवल स्वार्थ पर कहीं पद हीं ऐसी शंका होने पर भामती में कहा गया, तथा सति न वाक्यार्थ प्रत्ययः स्यात्, पदों की शक्ति यदि केवल अपने अर्थ में ही मानी जाय तो उनसे केवल पदार्थ ही उपस्थित होंगे उनका परस्पर सम्बन्ध प्रतीत न होने से वाक्यार्थ अनुपपन्न हो जायगा। प्रत्येक पद से उपस्थित अर्थ अपनी प्रधानता से गुण प्रधान भाव से रहित होकर एक वाक्यता को प्राप्त नहीं होते गुण, अप्रधान यानी विशेषण प्रधान विशेष्य, यानी विशेष्य विशेषण भाव से रहित पदों से उपस्थित पदार्थों का अपनी ही प्रधानता से एक वाक्यता कहीं देखी नहीं गई।

इसलिए पद अपने अर्थ को उपस्थित कराकर भी, प्रवृत्ति रूप कोई एक प्रयोजन जनाने में असमर्थ होकर, अन्य पदार्थों से अन्वय, सम्बन्ध की आकांक्षा रखते हुए योग्यता आसत्ति आदि केवल से परस्पर अन्वय रूप एक प्रयोजन वशात् एक वाक्यता को प्राप्त होते हैं। क्योंकि पदार्थों का परस्पर अन्वय के ज्ञान रूप प्रयोजन के बिना पदां की कोई एक प्रयोजन सिद्धि में उपयोगिता नहीं है, दंडिन देवदत्त मानय इत्यादि स्थलों में, दंडी देवदत्त आनयन कृति इस रूप से पृथक-पृथक पदार्थों की उपस्थिति होने पर भी दंड का देवदत्त से और उसका आनयन क्रिया से सम्बन्ध प्रतीत न होने पर वाक्य रचना का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न तो एक वाक्यता ही बनेगी, इसलिए प्रयोजन सिद्धि के लिए और एक वाक्यता के लिए वे योग्यता आकांक्षादिवशात् परस्पर अन्वित होकर ही प्रतीत होते हैं शक्ति केवल स्वार्थ में ही है। इस प्रकार से उस अन्य अर्थों से विशिष्ट एक वाक्यार्थ की प्रतीति सिद्ध होती है। जैसा कि शास्त्रवेत्ता कुमारिल भट्ट ने कहा है। साक्षाद्यपि इत्यादि, यद्यपि वर्णों के समूह, अर्थात् पद साक्षात् अपने

शक्ति से, पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं, तथापि केवल स्वार्थ मात्र के कहने से उनका वाक्यार्थ ज्ञानरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिए स्वार्थ मात्र में ही उनका पर्यवसान नहीं है, इसलिए वाक्यार्थ के प्रमात्मक ज्ञान के लिए पदों का जो प्रयोग है वह अपने अर्थों को उपस्थित कराकर परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ ज्ञान में द्वार होता है, अर्थात् नान्तरीयक है, अवश्यंभावी है जिस तरह काष्ठैः पचति, आदि में काष्ठ करणकपाक ज्वाला का होना अवश्यंभावी है ज्वाला के बिना पाक नहीं होता उसी तरह वाक्यार्थज्ञान में पदार्थों की उपस्थिति आवश्यक है, अतएव वाक्यार्थ ज्ञाने पदार्थ ज्ञानं कारणम्, यह नियम स्वीकृत है। तो इस तरह अन्य अर्थों के सम्बन्ध परकमात्र से वाक्यार्थ ज्ञान के सिद्ध होने से पदों का कार्य के साथ सम्बन्ध परता का नियम नहीं सिद्ध होता। तो तत्त्वमस्यादि वेदान्त वाक्य भी, कूटस्थनित्य ब्रह्म परक हैं इसमें कोई दोष नहीं है।

भामती

भव्यं कार्यम्। ननु यद्भव्यार्थं भूतमुपदिश्यते न तद्भूतं भव्यसंसर्गिणारूपेण तस्यापि भव्यत्वादित्यत आह—नहि, भूतमुपदिश्यमानमिति। न तादात्म्यलक्षणः संसर्गः किन्तु कार्येण सह प्रयोजनप्रयोजनलक्षणोऽन्वयः तद्विषयेण तु भावार्थेन भूतार्थानां क्रियाकारकलक्षणा इति न भूतार्थानांक्रियार्थत्वमित्यर्थः। शङ्कते—अक्रियात्वेऽपीति। एवं चाक्रियार्थकूटस्थनित्यब्रह्मोपदेशानुपपत्तिरित्भावः। परिहरति—नैषदोषः। क्रियार्थत्वेऽपीति। नहि क्रियार्थं भूतमुपदिश्यमानमभूत भवति अपितु क्रियानिर्वर्तनयोग्यं भूतमेव तत्। तथा च भूतेऽर्थेऽव्युत्पत्तिशक्तयः शब्दाः क्वचित्स्वनिष्ठभूतविषया दृश्यमाना मृत्वा शीर्त्वा वा न कथञ्चित् क्रियानिष्ठतां गमयितु, मुचिताः नह्युपहितं शतशो दृष्टमप्यनुपहितं क्वचिद् दृष्टम दृष्टं भवति। तथा च वर्तमानापदेशा अस्ति क्रियोपहिता अकार्यार्था अप्यरवीवर्णकादयो लोके बहुल मुपलभ्यन्ते। एवं क्रियार्थनिष्ठा अपि सम्बन्धमात्रपर्यवसायिनः यथा कस्यैष पुरुषः? इति प्रश्नोत्तरं राजदति। तथा प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठाः, यथाकीदृशास्तरव इति प्रश्नोत्तरं फलिन इति। नहि पृच्छता पुरुषस्यवा तरूणां वाऽस्तित्व नास्तित्वे प्रतिपित्सिते किन्तु पुरुषस्य स्वामिभेदस्तरूणां च प्रकार भेदः। प्रष्टुरपेक्षितं चाचक्षाणः स्वामिभेदमेव च प्रकार भेदरूपमेव च प्रतिवक्ति न पुनरस्तित्वं तस्य तेनाप्रतिपिपृत्सितत्वात्। उपपादिता चभूतेऽप्यर्थेव्युत्पत्तिप्रयोजनवती पदानाम्।

सुभद्रा—भाष्य में भव्यार्थत्वेन कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीतिको हेतुः, ऐसा कहा गया है, वहाँ पर भव्य शब्द भवतीति भव्यः कर्तमित् प्रत्यय करके यदि निष्पन्न हो तो भवन क्रिया का कर्ता यह अर्थ होने से उत्पाद्य मात्रपरक होगा तो संस्कार्य आदि कर्मों का लाभ न होगा इसलिए भव्य शब्द का कार्य अर्थ भामतीकार ने क्रिया अर्थात् साध्य जिससे कि संस्कार्य आदि कर्म भी साध्य होने से गृहीत होते हैं।

शंका—कार्य के लिए जो सिद्धवस्तु का उपदेश किया जाता है वह सिद्ध नहीं है, किन्तु साध्य के साथ सम्बद्ध होने से साध्य संसर्गित्वेन वह भी साध्य ही है न कि सिद्ध।

समाधान-साध्यसंसर्गित्व रूप से सिद्ध भी साध्य होता है यह जो आपने कहा तो, भव्य साध्य से आप कार्य का ग्रहण करते हैं या क्रिया का यदि कार्य का ग्रहण करते हैं तो सिद्ध वस्तु का उसके साथ कौन सम्बन्ध होगा, तादात्म्य सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि कार्य साध्य होने से प्रयोजन होता है, सिद्ध वस्तु उसका साधक होने से प्रयोजन वाला होता है दोनों का तादात्म्य असम्भव है किन्तु उनका प्रयोजनप्रयोजनिभाव सम्बन्ध है। क्रिया के ग्रहण होने पर भी उसके साथ सिद्ध वस्तु का तादात्म्य सम्बन्ध बाधित है किन्तु उस कार्य का विषय जो क्रिया है ऐसे क्रियार्थक पदों के साथ सिद्धवस्तु बोधक पदों का क्रिया कारक भाव सम्बन्ध है इसलिए सिद्धार्थक शब्द क्रियार्थक नहीं है अतः भाष्यकार का यह कथन नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति, उपदिष्ट भूत शब्द क्रिया नहीं है, उचित है। इस तरह से प्रवृत्ति निवृत्ति व्यतिरेकेण इत्यादि पदसन्दर्भ में से भाष्यकारने पदों का कार्यान्वित में शक्ति है इस नियम का परित्याग कर केवल योग्येतरान्वित रूप अर्थ का लक्षणा द्वारा भान होता है यह मानकर कूटस्थ नित्य सिद्धवस्तु का उपदेश वेदान्त वाक्यों से हो सकता है यह समर्थन किया। अब यदि किसी का आग्रह कार्यान्वित में ही पदव्युत्पत्ति होने से शक्ति गृहीत होती है तो इस नियम को मानकर भी अन्य परिहार करने के लिए पहिले की हुई शंका का अक्रियात्वेऽपि इत्यादि से अनुवाद करते हैं। सिद्धवस्तु क्रिया न होने पर भी क्रिया का साधन होने से क्रिया के लिए ही उसका उपदेश है। कूटस्थ नित्य सिद्ध ब्रह्म के क्रियार्थक न होने से उसका उपदेश नहीं बन सकता। यह दोष नहीं है, सिद्ध वस्तु के क्रियार्थक होने पर भी क्रिया के सम्पादन करने की शक्ति है जिसमें ऐसे वस्तु का उपदेश तो हो ही गया क्रियार्थकता तो उसका प्रयोजन है। क्रिया के लिए उपदिश्यमानभूत सिद्ध शब्द अभूत सिद्ध नहीं है यह नहीं होता किन्तु क्रिया के सम्पादन करने के योग्य वे सिद्ध ही है। भाव यह है, कार्यान्वित सिद्ध वस्तु में, व्युत्पत्ति हो किन्तु सिद्ध

वस्तु का स्वरूप तो प्रतीत होगा ही, कार्य विशिष्ट अर्थ के उपस्थित होने पर भी सिद्धवस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करेगा तो उससे क्या होगा, तो सिद्ध अर्थ में भी निश्चित है शक्ति जिसकी ऐसे शब्द यदि कहीं पर कार्य में अन्वित न होकर केवल सिद्ध विषयक दिखलाई पड़ें तो उनको मर कर खण्डित होकर अर्थात् किसी प्रकार से भी क्रिया विषयक मानना उचित नहीं है। यदि कार्यान्वित में पदों की शक्ति गृहीत है तो उनसे शुद्ध सिद्ध वस्तु की उपस्थिति कैसे होगी, गोत्वमेशक्ति गृहीत है जिस गोपद की ऐसे गोपद से अश्वत्वरूप अर्थ उपस्थित नहीं होता। ऐसी शंका होने पर भाष्यकारने नह्युपहितं इत्यादि कहा उपाधि विशिष्ट अर्थ सैकड़ों बार देखे जाने पर भी यदि कहीं उपाधि से रहित होकर दिखलाई पड़े तो वह अदृष्ट नहीं माना जाता। आशय यह है कि प्रयोजन के लिए ही वाक्य प्रयुक्त होते हैं वह प्रयोजन प्रवृत्ति या निवृत्ति से साध्य है, क्षुन्निवृत्ति रूप प्रयोजन पाकादि कार्य के प्रवृत्ति से साध्य है, एव श्रेय प्राप्ति दुरिताभावरूप प्रयोजन ब्रह्महत्या सुरापानादि के निवृत्ति से साध्य है। प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्तव्य और उसके अभाव के ज्ञान के अधीन है, तो इस प्रकार पद वाक्य आदि का प्रयोग प्रयोजन के अधीन होने से वाक्यार्थ ज्ञान और पदो की व्युत्पत्ति प्रयोग के अधीन होने से कार्य में अन्वय सम्बन्ध ज्ञान भी शब्द के अर्थ ज्ञान मे उपाय भूत हैं। तो प्रयोग के भेद से कार्यान्वय का परित्याग कर केवल सिद्ध वस्तु भी यहीं पद के वाच्यार्थ रूप से प्रतीत होते हैं। क्योंकि कार्यान्वय वेदान्तियों के मत मे केवल उपाधि है न कि शब्द का स्वाभाविक अर्थ जिससे कि इस उपाधि से रहित सिद्धवस्तु का भान न हो शुक्लवस्त्र रूप उपाधि से युक्त देवदत्त अनेक बार देखे जाने पर भी उससे रहित होकर दिखलाई पड़ने पर वह प्रतीत नहो ऐसा नहीं कह सकते। यदि ऐसा न माना जाय तो कार्यान्वित में शक्ति मानने वाले प्राभाकर के मत में भी प्रत्यक्षादि शब्दातिरिक्त प्रमाण से गृहीत कार्य में अन्वित रूप अर्थ में शक्ति गृहीत है जिन पदों की ऐसे, यजेत आदि वैदिक पद प्रमाणान्तरागृहीत अपूर्व अर्थ को कहने में कैसे समर्थ होंगे, इसलिए अगत्या कार्यान्वय की व्युत्पत्ति के ज्ञान में उपायभूत मानकर शब्द के वाच्य कोटि में प्रवेश न मानकर उपाधि रूप ही मानना पड़ेगा। जिससे कि उसका परित्याग कर वेद में पद अपूर्व अर्थ को कहने मे समर्थ हो। तो इस प्रकार काव्य इतिहास पुराण आदि मे कार्यार्थ से रहित होकर भी अस्ति क्रिया रूप उपाधि से युक्त होकर वर्तमान कालिक व्यवहार होता है जिसका ऐसे अरण्य पर्वत आदि का वर्णन बाहुल्येन उपलब्ध होता है। यदि पदों का कार्यान्वित ही अर्थ हो तो अस्तिबल ब्रह्मागिरिनामा गिरिवरः, इत्यादि स्थल मे केवल वस्तु की सत्ता

मात्र का बोध कैसे होगा। एवं क्रियार्थ रहित केवल सम्बन्ध मात्र में ही पर्यवसित पदवाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे कस्यैष पुरुषः यह पुरुष किसका है ऐसा पूंछने पर उत्तर मिलता है, राज्ञः, राजा का, यहाँ पर राज्ञः पद केवल राज सम्बन्धी रूप अर्थ को कहता है न कि क्रिया से अन्वित है। इसी प्रकार केवल प्रातिपदिकार्थमात्र का बोध कराने वाले, पद भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे कीदृशास्तरवः वृक्ष कैसे हैं यह पूछने पर फलिनः फलयुक्त हैं ऐसा उत्तर मिलता है यहाँ पर केवल प्रातिपदिक का अर्थमात्र ही बोधका विषय होता है। यदि कहा जाय कि उक्तस्थल में भी अस्ति आदि क्रिया का अध्याहार करके क्रियानिष्ठता ही उन पदों में है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि पूछने वाले के जिज्ञासा का विषय पुरुष और वृक्ष का अस्तित्व और नास्तित्व नहीं है। किन्तु पुरुष का स्वामी कौन और वृक्ष किस प्रकार का एतावन्मात्र ही है। पूंछने वाले का जितना अपेक्षित है उसको कहता हुआ उत्तर देने वाला केवल स्वामि भेद और प्रकार भेद को ही कहता है उनका अस्तित्व नहीं क्योंकि वह पूंछने वाले को जिज्ञासा का विषय नहीं है। (जो जिज्ञास्य न हो उसको कहने वाला विचारकों के दृष्टि में श्रद्धा का पात्र नहीं होता) कार्यान्वय नियम मानकर उक्त शंका का परिहार किया गया, वस्तुतः सिद्ध अर्थ में भी पदों की संगति प्रयोजन युक्त होती है यह पहिले कह चुके हैं इससे सिद्ध वस्तु के बोध में कोई बाधा नहीं है।

भामती

चोदयति—यदिनामोपदिष्टं भूतं किं तव—उपदेष्टुः श्रोतुर्वा प्रयोजनं स्यात्। तस्माद्भूतमपि प्रयोजनवदेवोपदेष्टव्यं नाप्रयोजनम्। अप्रयोजनं च ब्रह्म तस्योदासीनस्य सर्वक्रियारहितत्वेनानुपकारकत्वादितिभावः। परिहरति—अनवगतात्मोपदेशश्च तथैव प्रयोजनवानेव, भवितुमर्हति। अप्यर्थश्चकारः एतदुक्तं भवति—यद्यपि ब्रह्मोदासीनं तथापि तद्विषयंशाब्दज्ञानमवगतिपर्यन्तं विद्या स्वविरोधिनीं संसारमूलनिदानमविद्या मुच्छिन्दत् प्रयोजनवदित्यर्थः। अपिच येऽपि कार्यपरत्वं सर्वेषां पदानामास्थिषत तैरपि ब्राह्मणोनहन्तव्यः न सुरापातव्या इत्यादीनां न कार्यपरता शक्याऽऽख्यातुम्। कृत्युपहितमर्यादं हि कार्यं कृत्या व्यास तन्निवृत्तौ निवर्तते शिशपात्वमिव वृक्षत्वनिवृत्तौ। कृतिर्हि पुरुषप्रयत्नः। स च विषयाधीन निरूपणः विषयश्चास्य साध्यस्वभावतया भावार्थ एव पूर्वीभूतोऽन्योत्पादानुकूलो भवितुमर्हति न द्रव्यगुणौ। साक्षात्कृतिव्याप्यो हि कृतेर्विषयः। न च द्रव्यगुणयोः सिद्धयोरस्ति कृतिव्याप्यता। अतएव शास्त्रकृद्वचः—भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत इति। द्रव्यगुणशब्दानां नैमित्तिकावस्थायाम्

कार्यावमर्शेऽपि भावस्यस्वतः द्रव्यगुण शब्दानां तु भावयोगात्कार्यावमर्श इति भावार्थेभ्य एवापूर्वावगतिः न द्रव्यगुणशब्देभ्य इति। न च 'दध्ना जुहोति' 'सन्ततमाघारयति' इत्यादिषु द्रव्यादीनां कार्यविषयता। तथापि हि होमाघार-विषयमेव कार्यम्। न चैतावता 'सोमेन यजेत' इतिवत् दधिसन्तताादिविशिष्ट होमाघार विधानात 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमाघारयति' इति तदनुवादः। यद्यप्यत्रापि भावार्थविषयमेव कार्यं, तथापि भावार्थानुवादतया द्रव्यगुणाव-विषयावपि विधियेते। भावार्थोहि कारकव्यापारमात्रतयाऽविशिष्टः कारक-विशेषेण द्रव्यादिना विशेष्यत इति द्रव्यादि स्तदनुबन्धः। तथा च भावार्थे विधीयमाने स एव सानुबन्धोविधीयत इतिद्रव्यगुणावविषयावपि तदनु-बन्धतया विहितौ भवतः। एवञ्चभावार्थप्रणालिकया द्रव्यादिसंक्रान्तो विधि-गौरवाद्विभयत्स्वविषयस्य चान्यतः प्राप्ततया तदनुवादेन तदनुबन्धीभूतद्रव्यादि-परो भवतीति सर्वत्र भावार्थ विषय एव विधिः। एतेन—यदाग्नेयोऽष्टाक-पालोभवति इत्यत्र सम्बन्धविषयोविधिरिति परास्तम्—ननुनभवत्यर्थोविधेयः सिद्धेभवितरि लब्धरूपस्य भवनं प्रत्यकर्तृत्वात्। नखलु गगनं भवति। नाप्य-सिद्धे, असिद्धस्यानियोज्यत्वात्, गगनकुसुमवत्। तस्माद्भवनेन प्रयोज्यव्यापा-रेणाक्षिप्तः प्रयोजकस्य भावयितुर्व्यापारोविधेयः। स च व्यापारो भावना, कृतिः प्रयत्न इति। निर्विषयश्चासावशक्यप्रतिपत्तिर तो विषयापेक्षायां आग्नेय-शब्दोपस्थापितो द्रव्यदेवतासम्बन्ध एवास्य विषयः। ननु व्यापारविषयः पुरुषप्रयत्नः कथमव्यापाररूपम् सम्बन्धं गोचरयेत्? नहि घटं कुर्वित्यत्रापि साक्षान्नामार्थं घटं पुरुषप्रयत्नो गोचरयति अपि तु दंडादि हस्तादिना व्यापार-यति। तस्माद्घटार्थां कृतिं व्यापारविषयामेव प्रतिपद्यते, नतु रूपतो घट-विषयाम्, उद्देश्यतया त्वस्यामस्ति घटोनतु विषयतया। विषयतयातु हस्तादि-व्यापार एव। अतएवाग्नेय इत्यत्रापि द्रव्यदेवता सम्बन्धाक्षिप्तो यजिरेव कार्यविषयो विधेयः। किमुक्तं भवति आग्नेयोभवतीति आग्नेयेन यागेन भाव-येदिति। अतएव य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजतेय एवं विद्वानमावास्यां यजते इत्यनुवादो भवति यदाग्नेयः इत्यादिविहितस्य यागषट्कस्य। अतएव विहितानूदितस्य तस्यैव दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो, यजेत इत्यधिकार सम्बन्धः। तस्मा त्सर्वत्र कृतिप्रणालिकया भावार्थविषय एव विधिरित्येकान्तः। तथाच न हन्यात् न पिबेत् इत्यादिषु यदि कार्यमभ्युपेयेत ततस्तद्व्यापिका कृतिरभ्युपेतव्या। तद्व्यापकश्च भावार्थो विषयः। एवञ्च प्रजापतिव्रतन्यायेन पर्युदास प्रवृत्त्याऽहननपानसंकल्प लक्षणाया तद्विषयो विधिः स्यात्। तथाच प्रसज्यप्रतिषेधो दत्तजलाञ्जलिः प्रसज्येत। नच सतिसम्भवे लक्षणान्याय्या।

नेक्षेतोद्यन्तम् इत्यादौतु तस्य व्रतम् इत्यधिकारादप्रसज्यप्रतिषेधासंभवेन पर्युदासवृत्त्याऽनीक्षणसंकल्पलक्षणा युक्ता। तस्मात् न हन्यात् नपिबेत् इत्यादिषु प्रसज्यप्रतिषेधेषु भावार्थाभावात्तद्व्यापाराया: कृतेरभाव: तदभावे च तद्व्यासस्य कार्यस्याभाव इति न, कार्यपरत्वनियम: सर्वत्र वाक्य इत्याह—ब्राह्मणोनहन्तव्य इत्येवमाद्या इति।

सुभद्रा—सिद्ध अर्थ में भी शक्तिज्ञान प्रयोजन युक्त होता है यह पूर्व में कहा गया इस पर भाष्य में कहा जाता है, यदि सिद्ध वस्तु का उपदेश किया तो तुम्हारा उससे क्या हुआ, अर्थात् उपदेश देने वाले और सुनने वाले का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ। इसलिए प्रयोजन युक्त ही सिद्ध वस्तु का उपदेश करना चाहिए न कि प्रयोजन रहित। ब्रह्म के उपदेश से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण क्रिया से रहित और उदासीन ब्रह्म उपकारक नहीं है। परिहार भाष्यमें उच्यते इत्यादि से, अज्ञात जो आत्मवस्तु उसका उपदेश भी, उसी प्रकार से होता है, अर्थात् प्रयोजन विशिष्ट भी हो सकता है, भाष्य में चकार अप्यर्थ में है। (यह उक्त होता है) यद्यपि ब्रह्म उदासीन है, तथापि ब्रह्मविषयक शब्द जन्य ज्ञान अवगति साक्षात्कार पर्यन्त स्वविरोधी संसार का मूल कारण जो अज्ञान उसका नाश करता हुआ प्रयोजनयुक्त होता है। इस तरह द्रव्यगुण आदि के वाचक शब्द जो कि विवेकनिष्ठ हैं वे केवल सिद्ध अर्थ के बोधक है न कि साध्य के यह दृष्टान्त द्वारा बतलाकर ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त वाक्य भी सिद्ध ब्रह्म के बोधक हैं यह कहा। अवनिषेध वाक्य का दृष्टान्त देकर उसके समान ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्त वाक्य सिद्ध ब्रह्म के बोधक है यह कहने के लिए भामतीकार अपि च इत्यादि से भूमिका रच रहे हैं। और भी जो सम्पूर्ण पदों को कार्यपरक मानते हैं वे भी ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरानपातव्या, इत्यादि, स्थलों में कार्यपरत्व पदों का सिद्ध नहीं कर सकते। उनके मतमें नमर्थ अभाव में हनुधात्वर्थ हननक्रिया का प्रतियोगितया, अन्वय होता है, हनन क्रिया में ब्राह्मण का कर्मतया अन्वय है, ननर्थ अभाव का विषयतया तव्य प्रत्ययार्थ कार्य में अन्वय होता है, इस तर ब्राह्मण कर्मक हननाभाव विषयक कार्य एवं सुरापानाभाव विषयक कार्य यह उक्त वाक्यों का अर्थ होता है, वह युक्त नहीं है क्योंकि कृति का विषय अभाव नहीं हो सकता। (इसी को कृत्युपहित मर्यादं हि कार्यम् इत्यादि से भामती में विशद किया जाता है) जहां पर कार्य रहता है वहां पर पुरुष प्रयत्न रूप कृति अवश्य रहेगी, जहांपर कृति नहीं रहती वहां पर कार्य भी न ही रहता तो कृति व्यापक है, कार्य व्याप्य हैं ऐसी मर्यादा है, तो निषेध स्थल में व्यापक कृति के अभाव में व्याप्य कार्य का भी अभाव होने से निषेध का विषय कार्य नहीं हो

सकता, जैसे व्यापक वृक्षत्व के अभाव मे वृक्षत्व, व्याप्य शिशपात्व भी नहीं रहता (आशय यह है कि कार्य कृति से जन्य है अतः तद्विषयक है, पाकादिकार्य कृति पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होता हैं, और कृतिविषयता भी उसमें है, जहाँ पर भोज्य ओदन आदि के उद्देश्य से पाक आदि कार्य के लिए पुरुष प्रवृत्त होता है, वहाँ पर ओदन में उद्देश्यता रूप कृति विषयता रहती है, पाक क्रिया में साध्यता नाम की कृति विषयता रहती है, तंडुल आदि में, उपादानत्व नामकी कृति विषयता रहती है, पुरुष के प्रयत्न का उद्देश्य ओदन है, पाक क्रिया उससे साध्य है, तंडुल का उपादान् ग्रहण होता है, वह कृति समवाय सम्बन्ध से पुरुष से रहती हुई भी उपादानत्व रूप विषयता सम्बन्ध से तंडुल में रहती है, वहीं पर विक्लित्ति रूप पाक क्रिया भी समवायेन रहती है, जहां पर तंडुलादि में पाक होगा वहां पर उक्त कृति विषयता अवश्य रहेगी, इसलिए कृति, कार्य की व्यापि का है इस तरह, कृति के कार्य का व्यापक होने से निषेधस्थल में पुरुष प्रयत्न रूप कृति की अपेक्षा न होने से कृति व्याप्य कार्य भी निवृत्त हो जाता है, तो अभाव कार्य को विषय नहीं कर सकता) कृति पुरुष प्रयत्नरूप है उसका निरूपण विषय के अधीन है, उस प्रयत्न का विषय साध्य है स्वभाव जिसका ऐसा भावार्थ, भावनारूप धात्वर्थ ही है, अर्थात् व्यापार ही पूर्वापरीभूत होकर, पुरुष से भिन्न उत्पन्न, होने के योग्य ओदन आदि के उत्पत्ति के अनुकूल, योग्य होने में समर्थ है, नकि सिद्ध स्वभाव वाले द्रव्य और गुण, कृति के विषय हैं। क्योंकि जो साक्षात् कृति का व्याप्य होता है वह कृति का विषय होता है। साक्षात्कृति का व्याप्य व्यापार ही है, द्रव्य गुण आदि व्यापार के द्वारा परम्परया कृति के व्याप्य हैं इसलिए वे कृति के विषय नहीं है। (क्योंकि कार्य के द्वारा ही सिद्ध, अर्थात् निष्पन्न होते हैं) इसलिए शास्त्रकार जैमिनि मुनिका वचन है—भावार्थाः कर्मं शब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थोऽभिधीयते, कर्म के बोधक शब्द, भावना रूप अर्थ वाले है उनसे क्रिया प्रतीत होती है। (प्रभाकर मीमांसक के मत से भामती में द्रव्य गुण शब्दानाम्, इत्यादि कहा जाता है) क्योंकि उनके ही मतमे लिङादि का कार्य, अपूर्व अर्थ होता है, उनके मतमें कार्यान्वित सामान्य में पदो की शक्ति गृहीत होने पर भी, समभिव्याहृत कार्य विशेष से असम्बद्ध जो पदार्थ वे वाक्यार्थ बोध के पूर्व क्रिया में अन्वय के निमित्त होते हैं, ऐसी अवस्था नैमित्तिकी कही जाती है उस अवस्था में क्रिया के समान द्रव्य और गुण का भी स्वतः कार्य में अन्वय सम्भव है।

विशेष—द्रव्य घट गुण उसका रूप आदि भी पुरुष के प्रयत्न के अपेक्षा से ही उत्पन्न होते हैं तो उनमें भी, कृति विषयता है, केवल कार्य में ही नहीं, उन

द्रव्य गुण वाचक पदों का भी उक्त प्रकार से जो नैमित्तिकी अवस्था है, उसमें कार्य का अवमर्श, साक्षात्सम्बन्ध होने पर भी यहां तक पूर्व पक्ष है । भावना-वाचक यजति करोति आदि शब्द स्वतः साक्षात् क्रिया को कहते हैं, द्रव्य गुण वाचक शब्द क्रिया के सम्बन्ध के द्वारा द्रव्यादि रूप अर्थ को साध्य रूप से कहते हैं । इसलिए भावार्थक शब्दों से ही अपूर्व की प्रतीति होती है द्रव्यवाचक और गुण वाचक शब्दों से नहीं होती । आशय यह है कि लिङादि से प्रतीयमान कार्य जिनकी नियोग या अपूर्व भी संज्ञा है वह पुरुष के प्रयत्न से साक्षात् साध्य नहीं है, यजेत इत्यादि स्थल में याग आदि व्यापार ही पुरुषप्रयत्न से साध्य हैं, न कि उससे उत्पन्न अपूर्व तो उसमें कृति विषयता के सम्पादन के लिए साक्षात्, साध्य है स्वभाव जिसकी और अन्य विषयों से व्यावृत्ति, अलग करने वाली क्रियाका ही अपूर्व आकांक्षा करता है, द्रव्य और गुण का नहीं, उनमें क्रिया के द्वारा ही साध्यता है न कि साक्षात्, इसलिए भावार्थक यजेत आदि शब्द से ही विषय विशिष्ट अपूर्व की उपस्थिति होती है न कि द्रव्य गुणवाचक शब्द से, भावना के वाचक भाव भावना शब्द से भी अपूर्व की प्रतीति नहीं होती, किन्तु यजेत जुहुयात् आदि शब्दों से ही होती है, इसीलिए भावार्थाः कर्मं शब्दाः इस मीमांसा सूत्र में कर्म शब्द कहा गया, क्रियतेयत्तत्कर्म जो किया जाय, अर्थात् साक्षात्कृति का विषय जो कि, यागहोमादि ही है जिसके बोधक यजेत आदि पद ही हैं, न कि भाव भावना आदि । भावार्थाः ऐसा कहने से, धात्वर्थ से सम्बद्ध भावना जिस यजेत आदि पद से प्रतीत हों, उसी से अपूर्व प्रतीत होता है न कि याग आदि शब्दों से तो भावना से साध्य अपूर्व रूप अर्थ का विधान होता है, यह सूत्र का अर्थ है ।

शंका—दध्नाजुहोति सन्ततमाधारयति, (दही से हवन करता है, निरन्तर क्षारण करता है) आदि स्थल में दधिकरण हवन और निरन्तर क्षारण रूप अर्थ प्रतीत होते हैं, तो वहां पर हवन और क्षारण विधेय नहीं है, क्योंकि अपूर्व ही विधेय होता है, जो कि अन्य से लब्ध न हो, हवन, और क्षारण तो अग्निहोत्रं जुहोति, आधारमाधारयति आदि वाक्य से ही प्राप्त है, इसलिए उनमे अपूर्वता नहीं है, किन्तु वहां पर दधिकरणत्व, अर्थात् दधि, रूप द्रव्य का और सान्तत्य रूप गुण का ही विधान, अन्य से प्राप्त न होने से किया जाता है । तो द्रव्य और गुण में भी कार्य की विषयता होने से क्रिया में ही साक्षात् कार्य विषयता होने से अपूर्व उनकी आकांक्षा करता है यह कथन संगत नहीं है ।

समाधान—वहाँ पर भी होम और आघार रूप धात्वर्थ, क्रिया ही कार्य है न कि केवल दधिरूप द्रव्य और सान्तत्य रूप गुण। आशय यह है कि केवल हवन और क्षारण के प्राप्त होने पर भी दधिरूप द्रव्य से हवन और निरन्तर क्षारण नहीं प्राप्त है तो दधि करणकत्व विशिष्ट हवन और सान्तत्यविशिष्ट क्षारण का ही विधान होता है इसलिए. कार्य विषयता धात्वर्थ में ही है। सोमेनयजेत आदि स्थल में जैसे सोम विशिष्ट याग का विधान होता है वैसे ही दध्नाजुहोति आदि स्थल में भी दधिविशिष्ट हवन आदि का यदि विधान माना जाय तो, अग्निहोत्रं जुहोति, आघारमाघारयति आदि वाक्य जो कि स्वरूप के बोधक होने से उत्पत्ति विधि परक हैं वे अनुवाद हो जायगें, क्योंकि हवन क्षारण आदि का विधान, उक्त वाक्यों से ही सिद्ध है तो ऐसी शंका उचित नहीं, क्योंकि सोमेन यजेत आदि स्थलों में केवल याग के स्वरूप का बोधक उत्पत्ति विधि विद्यमान नहीं है इसलिए वहां पर विशिष्ट याग का विधान माना जाता है दध्नाजुहोति आदि में, अग्निहोत्रं जुहोति आदि हवन के स्वरूप बोधक उत्पत्ति विधि के विद्यमान होने से विशिष्ट का विधान होने पर भी विधि का पर्यवसान केवल दधिरूप द्रव्य में ही होता है, एवं आघार माघारयति यह स्वरूप बोधक उत्पत्ति विधिके होने से सन्तन्त माघारयति यहां पर भी विधिकापर्यवसान केवल सान्तत्य रूपगुण में ही है। जिससे कि उक्त दोष नहीं है। यद्यपि यहाँ पर भी साक्षात् कृति विषयता धात्वर्थ में ही है अर्थात् हवन और आघारण में ही है, इसलिए उनसे ही कार्य अवच्छिन्न है, दधिरूप द्रव्य सान्तत्यरूप गुण तो साक्षातकृति के विषय नहीं है जिससे कि वे कार्य के अवच्छेदक नहीं है तथापि धात्वर्थ हवन क्षारण आदि के प्रति विशेषण होने से साक्षात् कृति के अविषय भी उक्त द्रव्य और गुण विहित होते हैं। आशय यह है कि धात्वर्थ क्रिया में सामान्यतः कारक का सम्बन्ध प्रतीत होने पर भी केवल जुहोति आदि पदों से उपस्थित हवनादि क्रिया में विशेष कारक का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है अतः उसकी प्रतीक्षा करता हुआ धात्वर्थ उक्तस्थल में दधि आदि से विशेषित होता है इसलिए द्रव्य गुण क्रिया के विशेषण होते हैं, जिससे कि उनका विधान होता है। तो फिर हवन आदि क्रिया और द्रव्य आदि उभय का विधान यदि स्वीकृत हो तो वाक्य भेद हो जायगा, (नहीं) धात्वर्थ क्रिया के विधीयमान होनेपर वह क्रिया ही विशेषण द्रव्यादि के सहित विहित होती है इसलिए कृति के अविषय भी द्रव्य और गुण क्रिया के विशेषण होने से विहित होते हैं। अर्थात् दोनों का विधान नहीं है जिससे कि वाक्य भेद हो तो विशिष्ट का विधान होने से पूर्वोक्त दोष

अग्नि होत्रं जुहोति आदि वाक्य अनुवाद परक हो जायेंगे यह तदवस्थ[1] ही है। नहीं भावार्थ 'धात्वर्थ' के द्वारा द्रव्य और गुण में सम्बद्ध विधि गौरव से डरती हुई विधि के विषय हवन आदि का अन्य दध्ना जुहोति इत्यादि से लाभ होने से उसका अनुवाद करके क्रिया में विशेषण भाव को प्राप्त द्रव्य-गुण मे ही पर्यवसित होती है, इसलिए सर्वत्र भावार्थ विषयक ही विधि है। भाव यह है कि जहां पर केवल स्वरूप बोधक विधि उपलब्ध नहीं है जैसे सोमेनयजेत आदि स्थल मे वहां पर कोई गति न होने से जघन्य लक्षणावृत्ति से अर्थात् सोमपद का विशिष्ट में लक्षणा करके, सोमविशिष्ट याग का विधान होता है दध्ना जुहोति आदि स्थलों में अग्नि—

होत्रं जुहोति इत्यादि कर्म के स्वरूप का बोधक विधि विद्यमान है। तो वह होम से युक्त कार्य की प्रतीति करा ही देती है, इसलिए उसमें प्राप्त विधि का अनुवाद करके दध्ना जुहोति आदि विधि दधि सम्बद्ध होम की प्रतीति कराती हुई कार्य में विशेषण दधिरूप द्रव्य मे ही लाघवात् पर्यवसित होती है, इसलिए होम आदि का अनुवाद करके ही दधि आदि द्रव्य का विधान सिद्ध होता है न कि साक्षात् इसलिए क्रिया में विशेषण भाव को प्राप्त द्रव्य आदि का कार्य 'अपूर्व' के साथ सम्बन्ध क्रिया द्वारा ही सिद्ध होता है। तस्मात् सर्वत्र भावार्थ विषयक विधि है। यदि सर्वत्र भावार्थ विषयक ही विधि होती है ऐसा नियम माना जाय तो आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति (अग्नि देवता के उद्देश्य से आठ कपाल में संस्कृत पुरोडाश होता है) यहां पर द्रव्य देवता का सम्बन्ध विधेय नहीं होगा इसलिए उक्त नियम सार्वत्रिक नहीं है तो नहन्यात् यहां पर हननाभाव विषयक कार्य की भी प्रतीति हो सकती है ऐसी आशङ्का पर भामती में कहा गया कि (एतेनयदाग्नेयोऽष्टा कपालो भवतीत्यत्र सम्बन्ध विषयो विधि रिति परास्तम्) इससे अर्थात् धात्वर्थ क्रिया ही साक्षात् विधि का विषय है ऐसा नियम स्वीकृत होने से जो मीमांसक एकदेशी आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति यहां पर सम्बन्ध को विधि का विषय मानते हैं वे परास्त हो गए।

शंका—उक्तस्थल में भवति यह जो क्रिया पद है उसका अर्थ जो भवन उसका विधान हो नहीं सकता क्योंकि भवन कर्ता सिद्ध है अथवा असिद्ध, यदि सिद्ध है तो उसका विधान व्यर्थ है, भवन कर्ता के सिद्ध होने पर अपने स्वरूप को प्राप्त होने से भवन क्रिया के प्रति कर्ता नहीं हो सकता जो सिद्ध नहीं

१—अर्थात् यह दोष बना रह गया।

रहता वही अन्य के व्यापार से उत्पन्न होता है सिद्ध नहीं जैसे गगन आकाश स्वतः सिद्ध है तो वह अन्य के व्यापार से उत्पन्न नहीं होता इसीलिये गगनं भवति यह प्रयोग नहीं होता। यदि असिद्ध है तो नियोज्य के न होने से विधेय नहीं हो सकता क्योंकि विधान नियोज्य अधिकारी के उद्देश्य से होता है, स्वर्गकामोयजेत यहाँ पर स्वर्ग का कामना करने वाला पुरुष नियोज्य है जो कि सिद्ध है उसके उद्देश्य से यागका विधान होता है भवन कर्ता के असिद्ध होने पर अन्य कोई नियोज्य के प्रतीत न होने से किसके उद्देश्य से विधि होगी, असिद्ध गगन कुसुम विधेय नहीं होता।

इसलिए भवन होना जो कि प्रयोज्य व्यापार है उससे आक्षिप्त प्रयोजक भावयिताका व्यापार विधेय होता है। जैसे घटो भवति, आदि स्थल में, प्रयोज्य उत्पन्न होने के योग्य घट का भवन उत्पत्त्यनुकूल व्यापार उससे प्रयोजक घट को बनाने वाला जो कुलाल उसके व्यापार का आक्षेप होता है उसके बिना घट उत्पन्न नहीं हो सकता, तो यहां पर भी प्रतीयमान प्रयोज्य के व्यापार से आक्षिप्त प्रयोजक व्यापार विधेय है वह व्यापार भावना कृति प्रयत्न आदि है तो वह प्रयत्न अर्थात् कृति निर्विषय होकर प्रतीत नहीं हो सकती क्योंकि कृति, सविषयक होती है इसलिए विषय अपेक्षित होने पर आग्नेय शब्द से उपस्थित किया हुआ अग्नि देवता और पुरोडाश जो कि आठ कपालमें संस्कृत किया हुआ है उसका सम्बन्ध ही विषय होगा जिससे कि धात्वर्थ भावना से भिन्न सम्बन्ध भी विषय सिद्ध होता है तो उक्त नियम सार्वत्रिक नहीं है। इसको प्रश्न के बहाने सिद्धान्ती ननुइत्यादि से दूषित करता है। पुरुष का प्रयत्न साक्षात् व्यापार को ही विषय करता है तो व्यापार से भिन्न सम्बन्ध कैसे उसका विषय होगा, अर्थात् लक्षणा से भावना का विधान वहाँ पर हो सम्बन्ध विषय नहीं है क्योंकि, दधि आदि द्रव्य के समान उसमें साक्षात् कृति विषयता नहीं रहती, कहा जा सकता है कि घटं कुरु यहां पर भानना से भिन्न घट भी प्रयत्न का विषय होता है तो वहां पर भी सम्बन्ध विषय हो जायगा, तो यह ठीक नहीं क्योंकि घटं कुरु, यहाँ पर भी प्रातिपदिकार्थ घट साक्षात् पुरुष के प्रयत्न का विषय नहीं है किन्तु हाथ के द्वारा दंडादि का व्यापार ही उसका विषय है, यदि घट कृधात्वर्थ प्रयत्न का विषय नहीं है तो उसमें कर्मत्व कैसे होगा, ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि उक्त रीति से घट के लिए किया हुआ प्रयत्न पुरुष के दंडादि व्यापार को ही विषय करता है स्वरूप से घट प्रयत्न का विषय नहीं होता, किन्तु वह प्रयत्न घट के उद्देश्य से होता है इसलिए उद्देश्यता रूप विषयता उसमें होने से घट मे कर्मत्व की सिद्धि

होती है, घट में विधेयता रूप विषयता नहीं रहती किन्तु उद्देश्यता ही है, विधेयता तो हस्तादि व्यापार मे ही है। तो फिर आग्नेयादि वाक्य में सम्बन्ध विधेय नहीं है तो वहांपर विधेय क्या है।

समाधान-क्रियादि साक्षात् कृतिका विषय होता है ऐसा नियम होनेसे आग्नेय; यहाँ पर भी द्रव्य, पुरोडाश, देवता, अग्नि के सम्बन्ध से आक्षिप्त यागादि ही कार्य का विषय है अर्थात् विधेय है। (क्योंकि अग्नि देवता के उद्देश्य से बिना त्याग किए वह पुरोडाश देवता के सम्बन्ध को प्राप्त होने के योग्य नहीं है इसलिए अग्नि देवता का सम्बन्ध प्रतीत होने से देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग रूप याग आक्षिप्त होकर कार्य का विषय होता है) आग्नेय आदि वाक्य से क्या उक्त होता आग्नेय होता है अर्थात् आग्नेय याग से इष्ट की भावना करे जिससे कि उत्कृस्थन में भावना ही विषय है न कि सम्बन्ध यह सिद्ध होता है। इसीलिए य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमावास्यां यजते यहाँ पर यजते इसका अनुवाद होता है यदाग्नेय इत्यादि से विहितषड् यागका जिसमें कि तीन याग पूर्णमासी तिथि में विहित हैं तीन याग अमावस्या में जिसका कि अनुवाद है। नहीं तो सम्बन्ध का ही अनुवाद करते। इसीलिए आग्नेय वाक्य को यागविधि परक मानना चाहिए जिससे कि उत्पत्ति विधि और अधिकार विधि के साथ सङ्गति हो। आग्नेय वाक्य से विहित याग षट्क का अनुवाद य एवं विद्वान् इत्यादि वाक्य से है जिसका सम्बन्ध दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत इस फल के सम्बन्ध को जनाने वाली अधिकार विधि के साथ होता है। इसलिए कृति से साध्य धात्वर्थ व्यापार ही कृति का विषय और नियोग का अवच्छेदक होता है अर्थात् कृति के द्वारा भावार्थ विषयक ही विधि होती है यह नियम है। (इससे यह सिद्ध हुआ कि नियोग अपूर्व का व्यापक कृति, 'प्रयत्न' है और उसका व्यापक धात्वर्थ भावना है, व्यापक भावना यानी व्यापार के अभाव में व्याप्य कृति का अभाव और उसके अभाव मे तद्-व्याप्य नियोग कार्य का भी अभाव होता है। तो फिर न हन्यात् न पिबेत् इत्यादि स्थलों में यदि कार्य स्वीकृत हो तो उसका व्यापक कृति प्रयत्न भी मानना पड़ेगा। और प्रयत्न का व्यापक धात्वर्थ भावना विषय होगा। निषेध वाक्य से जो बोध होता है उसमें भी कार्य का भान हो यह इष्ट है ऐसा यदि कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर, प्रजापति व्रत न्याय से, अर्थात् जैसे तस्यहि ब्रह्म चारिणो व्रतम् यह अनुष्ठेय व्रत का उपक्रम प्रारम्भ करके नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्, उदय होते हुए सूर्य को न देखें यह जो उपसंहार वाक्य है उसके उपक्रम के अधीन होने से वहाँ पर

आख्यात से सम्बद्ध भी नञर्थ अभाव अनुष्ठेय न होने से उपेक्षित होकर पर्युदास में लक्षित होता है, अर्थात् उदयकालीन सूर्य कर्मक ईक्षणविरोधी अनीक्षण का सङ्कल्प बोधित जैसे वहाँ पर होता है, उसी तरह यहाँ पर भी ब्राह्मणकर्मक हनन सुरा-कर्मक पान का विरोधी अहनन अपान आदि के संकल्प का ही नञर्थका पर्युदास में लक्षणा करके बोध होगा। जिससे कि अहनन अपान संकल्प विषयक विधि होगी। तो फिर नञर्थ प्रसज्य प्रतिषेध को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। आशय यह है कि नञ् का अर्थ पर्युदास और प्रसह्य प्रतिषेध होता है धात्वर्थ और नाम प्राति-पदिक के अर्थ के योग में नञर्थ पर्युदास माना जाता है, आख्यातार्थ 'भावना' के साथ नञर्थ का सम्बन्ध होने पर प्रसज्य प्रतिषेध होता है। नहन्यात् न पिवेत् आदिस्थल में, नञ् का आख्यात के साथ योग होने से प्रसज्य प्रतिषेध रूप हनन पान आदि का अभाव ही प्रतीत होता है न कि अहनन अपान का संकल्प रूप पर्युदास, उस स्थल में भी यदि कार्य को विषय मानें तो प्रसज्य प्रतिषेध न्याय का परित्याग कर लक्षणा वृत्ति से ही उक्त अर्थ प्रतीत होगा, तो फिर नञर्थ का कहीं पर स्वीकार न होने से उसका त्याग करना पड़ेगा और यदि प्रतिषेध रूप अर्थ संभव है तो लक्षणा रूप जघन्य वृत्तिका आश्रय लेना उचित नहीं है। नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् यहाँ पर तस्य व्रतम् ऐसा उपक्रम होने से उसके अनुरोध से उपसंहार में प्रसज्य प्रतिषेध संभव नहीं है। जिससे कि अगत्या लक्षणा से अनीक्षण के संकल्प का अभाव रूप पर्युदास माना जाता है, जहाँ देखूँ मैं न देखूँ ऐसा संकल्प वहाँ पर उपक्रम के अनुरोध से आवश्यक है, नहन्यात् आदि स्थल में कोई ऐसा वाक्य उपक्रांत नहीं है जिसके अनुरोध से वहाँ पर हनन आदि के अभाव का संकल्प रूप पर्युदास माना जाय। इस प्रकार निषेध स्थल में धात्वर्थ क्रिया का विधान न होने से धात्वर्थ व्याप्त कृति और कृति व्याप्त नियोग का भी अभाव है यह सिद्ध होता है। पूर्वोक्त अर्थ को ही भामती में तस्मात् न हन्यात् न पिबेत् इत्यादिषु इत्यादि से कहा जाता है। इसलिए न हन्यात् न पिबेत् आदि स्थल में भावार्थ न होने से तद्व्याप्त कृति का अभाव है, उसका अभाव होने से कृति व्याप्त कार्य का भी अभाव है इसलिए कार्यपरता का नियम सर्वत्र वाक्यों में माना नहीं जाता जिससे कि भाष्य में कहा गया ब्राह्मणो नहन्तव्य इत्येव मध्या निवृत्ति रूप दिश्यते यह।

भामती

ननु कस्मान्निवृत्तिरेव कार्यं न भवति तत्साधनं वेत्यत आह, नच, सा क्रि-येति। क्रियाशब्दः कार्यवचनः। एतदेव विभजते—अक्रियार्थानामिति। स्यादेतत्—विधिविभक्तिश्रवणात्कार्यं तावदत्र प्रतीयते, तच्च न भावार्थमन्तरेण।

न च रागतः प्रवृत्तस्य हननपानादावकस्मादौदासीन्यमुपपद्यते विना विधा-रकप्रयत्नम् । तस्मात् स एव प्रवृत्त्युन्मुखानां मनोवाग्देहानां विधारकः प्रयत्नो निषेधविधिगोचरः क्रियेति नाक्रियापरमस्ति वाक्यं किञ्चिदपीत्याह—नच हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण, नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्प-यितुम् । केनहेतुना न शक्यमित्यत आह— स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः । अयमर्थः-हननपानपरोहि विधिप्रत्ययः प्रतीयमानस्ते एवविधत्त इत्युत्सर्गः । नचैते शक्ये विधातुम्, रागतः प्राप्तत्वात् । नचनञः प्रसज्यप्रतिषेधो विधेयः तस्याप्यौदासीन्यरूपस्य सिद्धतया प्राप्तत्वात् । नच विधारकः प्रयत्नः तस्या-श्रुतत्वेन लक्ष्यमाणत्वात् सतिसंभवे च लक्षणाया अन्याय्यत्वात् विधिविभक्तेश्च रागतः प्राप्तप्रवृत्त्यनुवादकत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । तस्माद्यत्पिवेत् हन्या-द्वेत्यनूद्य तन्नेति निषिध्यते, तदभावोज्ञाप्यते नतु नञर्थोविधीयते । अभावश्च स्वविरोधिभावनिरूपणतया भावच्छायानुपातीतिसिद्धे सिद्धवत् साध्ये च साध्यवद्भासत इति साध्यविषयो नञर्थः साध्यवद्भासत इति नञर्थः कार्य इति, भ्रमः । तदिदमाह—नञश्चैष स्वभाव इति । ननुबोधयतु सम्बन्धिनोऽभावं नञ् प्रवृत्त्युन्मुखानां तु मनोवाग्देहानां कुतोऽकस्मान्निवृत्ति-रित्यत आह—अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् । अयमभिप्रायः—ज्वरितः पथ्यमश्नीयात् नसर्पायांगुलिंदद्यात् इत्यादिवचनश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धस्य पथ्याशने प्रवृत्तिं भुजङ्गांगुलिदानोन्मुखस्य च ततो निवृत्ति-मुपलभ्य बालो व्युत्पित्सुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतू इच्छाद्वेषावनुमि-मीते । तथाहि इच्छाद्वेषहेतुके वृद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्ति-त्वात्, मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्तिवत् । कर्तव्यतैकार्थसमवेतेष्टानिष्टसाधन भावावगमपूर्वकौ, चास्येच्छा द्वेषौ प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छाद्वेषवत् । न जातु मम शब्दतद्व्यापारपुरुषाशयत्रैकाल्यानवच्छिन्नभावनापूर्वप्रत्ययपूर्वाविच्छा-द्वेषावभूताम् अपितु भूयोभूयः स्वगतमालोचयत उक्त कारणपूर्वावेव प्रत्यव-भासेते तस्माद् वृद्धस्य स्वतन्त्रप्रवृत्तिनिवृत्ती इच्छाद्वेषभेदौ च कर्तव्यतैकार्थ समवेतेष्टानिष्टसाधनभावागमपूर्वावित्यानुपूर्व्या सिद्धः कार्यकारणभाव इतीष्टा-निष्टसाधनतावगमात्प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम् । सचावगमः प्रागभूतः शब्दश्रवणानन्तरमुपजायमानः शब्दश्रवणहेतुक इति प्रवर्तकेषु वाक्येषु यजेत इत्यादिषु शब्द एव कर्तव्य मिष्टसाधनं व्यापारमवगमयं स्तस्येष्टसाधनतां कर्तव्यतां चावगमयति, अनन्यलभ्यत्वादुभयोः अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थ-त्वात् । यत्रतु कर्तव्यताऽन्यतएव लभ्यते यथा न हन्यात् नपिबेत् इत्यादिषु हननपानप्रवृत्तौ रागतः प्रतिलम्भात् तत्र तदनुवादेन नञ्समभिव्याहृता

लिङादि विभक्तिरन्यतोऽप्राप्तमनयोरनर्थहेतुभावमात्रमवगमयति । प्रत्यक्षं हित-योरिष्टसाधनभावोऽवगम्यते, अन्यथा रागविषयत्वायोगात् । तस्माद्रागादि प्राप्तकर्तव्यतानुवादेनानर्थसाधनताप्रज्ञापनपरं न हन्यात् न पिबेत् इत्यादि-वाक्यम् नतु कर्तव्यतापरमिति सुष्ठूक्तमकार्यनिष्ठत्वं निषेधानाम् । निषेध्याना-श्चानर्थसाधनताबुद्धिरेव निषेध्याभावबुद्धिः । तथा खल्वयं चेतन आपाततो रमणीयतां पश्यन्नप्यायति मालोच्य प्रवृत्त्यभावं निवृत्तिमवबुध्य निवर्तते । औदासीन्यमात्मनोऽवस्थापयतीति यावत् । स्यादेतत् अभावबुद्धिश्चेदौदासीन्य स्थापनकारणं यावदौदासीन्यमनुवर्तेत नचानुवर्तते, नह्युदासीनोऽपि विष-यान्तरव्यासक्तचित्तस्तदभावबुद्धिमान् । नचावस्थापककारणाभ ' कार्या-वस्थानं दृष्टम् । नहि स्तम्भावपाते प्रासादोऽवतिष्ठतेऽत आह—साच दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तावदेव खल्वयं प्रवृत्त्युन्मुखो नयावद-स्यानर्थहेतुभावमधिगच्छति । अनर्थहेतुत्वाधिगमोऽस्य समूलोद्धारं प्रवृत्तिमुद्धृत्य दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । एतदुक्तं भवति—यथा प्रासादावस्थान-कारणं स्तम्भो नैव मौदासीन्यावस्थानकारणमभावबुद्धिः अपितु त्वागन्तुका-द्विनाशहेतो स्त्राणे नावस्थानकारणम् । यथा कमठपृष्ठनिष्ठुरः कवचः शस्त्र-प्रहारत्राणेन राजन्यजीवावस्थानहेतुः । न च कवचापगमे चासति च शस्त्र प्रहारे राजन्यविनाश इति । उपसंहरति—तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्य-मेवेति । औदासीन्यमजानतोऽप्यस्तीति प्रसक्त क्रियानिवृत्त्योपलक्ष्य विशिनष्टि । तत्किमक्रियार्थत्वेनानर्थक्यमाशङ्क्य क्रियार्थत्वोपवर्णनं जैमिनीयमसमञ्जसमेते त्युपसंहारव्याजे न परिहरति—तस्मा त्पुरुषार्थेति । पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्या-नादिविषयावक्रियार्थतया क्रियार्थतया च पूर्वोत्तर पक्षौ, नतूपनिषद्विषयौ, उपनिषदां स्वयं पुरुषार्थब्रह्मरूपावगमपर्यवसानादित्यर्थः ।

सुभद्रा—ब्राह्मणोनहन्तव्यः आदि स्थल में हनन आदि क्रिया से निवृत्ति का उपदेश किया जाता है जिससे कि वहां पर कार्य परता की प्रतीति नहीं, होती यह भाष्य में कहा गया है तो निवृत्ति ही कार्य अथवा उसका साधन क्यों न मान लिया जाय ऐसी शङ्का होने पर भाष्य में कहा गया न च सा क्रियेति, वह निवृत्ति क्रिया अर्थात् कार्य नहीं है । क्रिया शब्द कार्य का वाची है । यही विभाग करते हैं भाष्य में अक्रियार्थानामित्यादि से जो क्रियार्थक नहीं है उनका उपदेश अनर्थक हो तो उक्त स्थल में निवृत्ति का उपदेश अनर्थक हो जायगा ।

शंका—निषेधस्थल में भावार्थ के अभाव से कार्य नहीं प्रतीत होता तो कार्य की प्रतीति न होने में भावार्थ का अभाव है, यह हेतु ही, निषेधस्थल

में सिद्ध नहीं है क्योंकि नहन्यात् आदि स्थलों में विधि बोधक लिङादि का श्रवण है, अर्थात् लिङ् के स्थान में जो आख्यात तिवादि आदेश होते हैं, जिनको विभक्ति संज्ञा होती है जिनसे विधि को प्रतीति होती है वह श्रुत है इसलिए वहाँ पर कार्य प्रतीत होता है उसको प्रतीति भावार्थ के बिना नहीं हो सकती। राग से ब्राह्मण हनन सुरापान में प्रवृत्त पुरुष को उस क्रिया से पकहतानिवृत्ति अर्थात् उदासीनता नहीं हो सकती जब तक उसको रोकने वाला प्रयत्न न हो। इसलिए हननादि क्रिया मे प्रवृत्त्युन्मुख पुरुषों के मनवाणी और शरीर को विवारण करने वाला अर्थात् राग से हिंसा आदि में जो उनके मनवाणी शरीर को प्रवृत्ति उसको रोकने वाला जो प्रयत्न वही निषेध विधि का विषय है। वह क्रिया है तो अक्रिया परक कोई वाक्य नहीं है।

समाधान—इसलिए भाष्य में 'न च हनन क्रियां निवृत्तौदासीन्यव्यतिरेकेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुम्' ऐसा कहा। हनन क्रिया को निवृत्ति रूप जो उदासीनता उसके अतिरिक्त नञ् की अप्राप्त क्रिया रूप अर्थको कल्पना नहीं कर सकते। किस कारण से नहीं कर सकते तो इसपर स्व भाव प्राप्त हन्त्यर्थानुरागेण नञः कहा भाष्य में आशय यह है कि हननपान परक जो विधि की प्रतीति उक्त वाक्यों से हो रही है वह उन्हीं का विधान करे यह स्वाभाविक नियम है वहाँ पर हनन आदि विधेय है अथवा नञर्थ विधेय है, या विधारक प्रयत्न विधेय है ऐसा विकल्प करके क्रम से दूषित करते हैं। वहाँ पर हननपान की विधान रागतः प्राप्त होने से हो नहीं सकता क्योंकि अप्राप्त का ही विधान होता है। और न तो नञर्थ प्रसज्य प्रतिषेध ही विधेय है, क्यों कि वह औदासीन्य रूप है। जिससे कि सिद्ध होने से प्राप्त है। नञ् से अभाव का बोध होता है तो उक्त वाक्य से रागतः प्राप्त हननादि के अभाव का बोध होगा अर्थात् हननादि से निवृत्ति उससे उदासीन हो जाना जो कि स्वतः सिद्ध है जिससे कि उसका विधान नहीं हो सकता। यद्यपि विधारक प्रयत्न के विधि को शंका पूर्व में की गई है, तो उसी का निराकरण होना चाहिए, तथापि यदि कोई हनन आदि को ही विधि माने और उसका अवलम्बन नदी में डूबने वाले पुरुष को कुश-काश के समान स्वीकार हो तो उसका भी निराकरण करके विधारक प्रयत्न के विधि रूपता का निराकरण करते हैं। प्रयत्न भी विधि नहीं हो सकती, क्योंकि निषेधस्थल मे वह श्रुत नहीं है निषेधवाक्य घटक पदों से अभिधा वृत्ति से जन्य उपस्थिति का विषय नहीं है, यदि लक्षणा से उसको उपस्थिति मानी जाय तो ठीक नहीं लक्षणा के बिना भी यदि उक्तस्थल में अर्थ का बोध यदि होता है तो लक्षणारूप जघन्य वृत्ति का आश्रय लेना उचित नहीं है। विधिविभक्ति

निषेधस्थल मे रागतः प्राप्त प्रवृत्ति का अनुवाद करने वाली है जिससे कि उसमें विधि विषयता का सम्भव नहीं है। इसलिए जो पान करे या हनन करे उसका अनुवाद करके उसका निषेध किया जाता है उसके अभाव को नञ् शब्द बताता है न कि नञर्थ का विधान किया जाता है। यदि नञर्थ का विधान नहीं है तो न हन्यात् यहाँ पर भी हननं नास्ति इत्यादि के समान सिद्ध के तरह प्रतीत होने लगेगा, जैसे वहाँ पर हनन नहीं है यह सिद्ध अर्थ प्रतीत होता है उसी तरह यहाँ पर भी प्रतीत होगा उससे इसकी क्या विशेषता है ऐसी आशंका होने पर भामती में समाधान करते हैं अभावश्च इत्यादि से अभावका विरोधी भाव होता है तो अभाव का निरूपण अपने विरोधी भाव के द्वारा होने से भाव के छाया के समान प्रतीत होता है जिससे कि सिद्ध में सिद्ध के समान साध्य में साध्य के समान भासित होता है इसलिए साध्य विषयक नञर्थ साध्य के समान प्रतीत होता है तो नञर्थ कार्य है यह भ्रम है। उक्तस्थल में रागतः कर्तव्यत्वेन प्राप्त जो हननपान आदि हैं। वे ही नञर्थ अभाव के प्रतियोगी हैं वे साध्य है अतः उनमे रहने वाला साध्यत्व धर्म का अभाव में आरोप करके वहाँ पर नञर्थ साध्य के समान प्रतीत होता है न कि नञर्थ विधेय है। इसी से भाष्य में कहा गया कि नञ् का यह स्वभाव है कि वह अपने सम्बन्धी के अभाव का बोध कराता है। नञ् अपने सम्बन्धी के अभाव का बोध भले ही करावे परन्तु प्रवृत्ति में रत मन वाणी और शरीर की अकस्मात् निवृत्ति कैसे होगी इससे भाष्य में कहा गया कि अभाव बुद्धि उदासीनता के पालन का कारण है। यद्यपि भाष्य में औदासीन्य कारणम् इतना ही कहा गया है तथापि कार्य में उदासीनता कार्य का प्रागभाव रूप है वह अनादि है उसमें कारण की अपेक्षा नहीं होती तो भाष्य असङ्गत हो जायगा इसलिए भामतीकार उसमें पालन शब्द जोड़ दिया अर्थात् उदासीनता के पालन का कारण। आशय यह है कि कार्य के उत्पन्न होने पर उसका प्रागभाव नाश को प्राप्त है इसलिए हनन आदि कार्य के प्रागभाव का प्रतियोगी जो हनन आदि उसके उत्पत्ति में प्रतिबन्धक रुकावट डालने वाली अभाव बुद्धि वही उदासीनता रूप अभाव के पालन में कारण है। ब्राह्मणं न हन्यात् आदि निषेधस्थल में नञ् समभिव्याहृत विधि बोधक प्रत्यय से प्रकृति भूत हन्धात्वर्थ जो हननादि उसमे रहने वाली जो तुच्छ इष्ट साधनता है उसका बाधकर उसमें रहने वाली गुरुतर, प्रत्यक्ष, अनिष्ट साधनता का ज्ञान कराया जाता है, (ब्राह्मण हनन सुरापान आदि अत्यन्त अदृष्ट, अनिष्ट के साधन हैं, जिससे कि उनसे निवृत्ति सिद्ध होती है यह बतलाने के लिए लोक

में विधिनिषेध इष्ट और अनिष्ट के क्रम से उपाय के बोधक हैं यह व्युत्पत्ति के क्रम से दिखा रहे हैं भामतीकार अयमभिप्रायः इत्यादि से। ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्, ज्वरयुक्त पुरुष पथ्य हितकारक वस्तु का भक्षण करे, न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात् सर्प के मुख में अङ्गुलि न दे, यह निषेध वाक्य सुनने के अनन्तर ही प्रयोज्य वृद्धि की पथ्यभक्षण मे प्रवृत्ति और सर्प के मुख में अङ्गुलि देने के लिए तत्परता वृद्ध की को निवृत्ति देख कर व्युत्पत्ति का इच्छुक बालक प्रयोज्य वृद्ध के प्रवृत्ति निवृत्ति और निवृत्ति का कारण इच्छा, और द्वेष का अनुमान करता है। (प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्ति इच्छा रूप कारण से युक्त है, और निवृत्ति द्वेष रूप कारण से युक्त है, स्वतन्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति होने से, हमारे स्वतन्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति के समान हेतु मे स्वतन्त्र पद न देकर केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति के होने से, इतना ही यदि कहा जाय तो जहांपर राजा आदि के आज्ञा से जिसकार्य में भृत्य आदि को प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, जहां पर उसको अपने इच्छा और द्वेष से प्रवृत्ति नहीं है वहां पर हेतु के रहने पर भी इच्छा द्वेष हेतुकत्व रूप साध्य नहीं है तो व्यभिचार दोष हो जाता है, इसलिए स्वतन्त्र पद हेतु में विशेषण दिया, तो उसमें स्वतन्त्र प्रवृत्ति निवृत्ति रूप हेतु के न होने से, वहां पर साध्य के न रहने पर भी उक्त दोष नहीं है। इस तरह प्रयोज्य वृद्ध के प्रवृत्ति में इच्छा द्वेष हेतुकत्व सिद्ध कर प्रयोज्यवृद्ध गत इच्छा और द्वेष में इष्ट साधनता और उसके अभाव का ज्ञान अनुमान से सिद्ध करते हैं। इस प्रयोज्यवृद्ध के इच्छा और द्वेष, कर्तव्यता के साथ एक धातु के अर्थ में समवेत, अर्थात् सम्बद्ध, जो इष्ट साधनता और अनिष्ट साधनता, उसका जो ज्ञान वह है पूर्व में जिसके ऐसे हैं क्योंकि उक्त इच्छा और द्वेष, प्रवृत्ति और निवृत्ति के हेतु भूत है, हमारे प्रवृत्ति और निवृत्तिहेतु भूत इच्छा और द्वेष के समान। हेतु में प्रवृत्ति निवृत्ति भूत विशेषण न देने पर, केवल इच्छात्व और द्वेषत्व को हेतु मानने पर, सुख रूप फल जो कि इष्ट है परन्तु इष्ट साधन नहीं हैं, उसमें इच्छात्व हेतु है परन्तु, इष्ट साधन, त्वावगमपूर्वकत्व साध्य नहीं है, एवं दुःख रूप फल में, द्वेषत्व हेतु है किन्तु उसके अनिष्ट होने पर भी अनिष्ट साधनता के उसमें न होने पर वहां अनिष्ट साधनत्वावगम पूर्वकत्व साध्य नहीं है, तो व्यभिचार हो जाता, इसलिए हेतु में प्रवृत्ति निवृत्ति हेतु भूत ऐसा विशेषण दिया, तो सुखदुःख रूप फल विषयक इच्छा और द्वेष मे प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतत्व रूप विशेषण के अभाव होने से तद्विशिष्टेच्छाद्वेषत्व रूप हेतु का अभाव है जिससे कि उक्त दोष नहीं है। इस तरह प्रवृत्ति हेतुभूत इच्छा अपने कारण, इष्ट साधनता के ज्ञान को अनुमान से सिद्ध करती है, और निवृत्ति हेतुभूत द्वेष अपने कारण अनिष्ट साधनता के ज्ञान को

अनुमान से सिद्ध करता है। साध्य में कर्तव्यतैकार्थ समवेत विशेषण न देने पर केवल इष्टानिष्ट साधन त्वागम पूर्वकत्व ही साध्य मानने पर चन्द्रमंडल के आनयन में इष्ट साधनता ज्ञान के रहने पर भी प्रवृत्ति के न होने से, प्रवृत्ति के प्रति इष्ट साधनता ज्ञान कारण है वह कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं होगा। उक्त विशेषण होने से चन्द्रमंडल के आनयन मे कर्तव्यत्व ज्ञान का अभाव है, क्योंकि कर्तव्यत्व है, प्रयत्न साध्यत्व और चंद्रमंडल का आनयन प्रयत्न से साध्य नहीं है, जिससे कि कर्तव्यतैकार्थसमवेत इष्ट साधनत्व ज्ञान रूप कारण के न होने से वहां पर प्रवृत्ति नहीं होती। इससे प्रवृत्ति के प्रति कर्तव्यत्वज्ञानसमानाधिकरण इष्ट साधनता ज्ञान कारण है यह सूचित होता है। (दृष्टान्त मे साध्य के अभाव की शंका को दूर करने के लिए, भामतीकार न जातु से लेकर, प्रत्यवभासेत पर्यन्त पद सन्दर्भ को कहते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण इष्टानिष्ट साधन त्व ज्ञान नहीं है किन्तु अन्य कुछ है, ऐसा स्वीकार करने वालों के मत मे, दृष्टान्त मत्प्रवृत्ति निवृत्ति हेतु भूत इच्छा द्वेष मे, उक्त साध्य के न होने से उक्त अनुमान मे साध्य और हेतु का व्याप्ति रूप सम्बन्ध नहीं होगा जिससे कि अनुमान नहीं हो सकता इस लिए दृष्टान्त मे साध्य को सिद्ध करने के लिए न जातु इत्यादि पद सन्दर्भ है, यह भाव है। प्रयोज्यवृद्ध की प्रवृत्ति और निवृत्ति देखकर व्युत्पित्सु बालक पूर्वोक्त रीति से उनके प्रवृत्ति और निवृत्ति को इच्छा द्वेष हेतुकत्व जान कर प्रयोज्य, वृद्ध में रहने वाले इच्छा और द्वेष में, उक्त कर्तव्यतैकार्थ ज्ञान समवेत इष्टानिष्ट साधनत्व ज्ञान का अनुमान करता है। क्योंकि वह सोचता है, कि हमारी मे रहने वाले प्रवृत्ति निवृत्ति हेतुभूत इच्छा द्वेष, शब्द उसका व्यापार पुरुष का अभिप्राय त्रैकाल्यान वच्छिन्न भावना और अपूर्व इनका जो ज्ञान तत्पूर्वक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यवहार में इन सबका अभाव है, किन्तु वारम्बार अपने में विद्यमान इच्छा और द्वेष की आलोचना करता हुआ, उक्त कारण[1] पूर्वक ही मदीय इच्छा द्वेष प्रतीत होते हैं यह निश्चय करता है।

विशेष—विधि और निषेध को प्रतीत कराने वाले लिङादि शब्द हो पुरुष को प्रवृत्ति और निवृत्ति को उत्पन्न करते हुए शब्द भावना कहे जाते हैं, लिङादि युक्त यजेत आदि शब्दों से दो भावना प्रतीत होता है, शाब्दोत्मिका भावना, अर्थात्मिका भावना। (शब्द यदि वायु के समान स्वरूप से प्रवृत्ति के जनक हों तो सर्वदा प्रवर्तक, अर्थात् नियम से प्रवर्तक होंगे परन्तु ऐसा, नहीं होता, किन्तु व्यापार के द्वारा ही शब्द प्रवर्तक है।) लोक में गामानय इत्यादि वाक्यों में पुरुष का अपने से निम्न भृत्यादि को प्रवृत्त कराने वाला व्यापार ही प्रवृत्ति आदि में

1. अर्थात् इष्टानिष्ट साधनत्व ज्ञानपूर्वक ही।

हेतु भाव से प्रतीत होता है । अपौरुषेय वेद में वक्ता पुरुष का व्यापार संभव नहीं है, इसलिए शब्द का ही वह व्यापार प्रवर्तक है यह एक पक्ष है । तार्किक वेद को ईश्वर कर्तृक मानते हैं इसलिए पुरुष विशेष ईश्वर का अभिप्राय ही जो कि आज्ञा रूप है वही प्रवृत्ति और निवृत्ति का जनक है, वही लिङादि और नञ् से युक्त लिङादि का अर्थ है यह उ दयन आदि तार्किकों को सम्मत है । पचति पक्ष्यति अपाक्षीत् आदि स्थलों में, वर्तमान भविष्य भूत, काल से युक्त भावना प्रतीत होती हुई भी प्रवृत्ति की जनक नहीं होती, इसलिए तीनों कालों से अनवच्छिन्न, अर्थात् किसी काल से युक्त जो न हो ऐसी जो अर्थात्मका भावना लिङादि से या नञ् युक्तलिङादि से प्रतीत होती है वही प्रवृत्ति और निवृत्ति का जनक है, शब्दात्मिका भावना नहीं, यह किसी मीमांसक के एकदेशी का मत है । प्राभाकर मीमांसक के मत में लिङादि से बोध्य अपूर्व रूपनियोग ही प्रवर्तक और निवर्तक है । इस तरह शब्द से लेकर अपूर्व पर्यन्त की जो प्रतीति तत्पूर्वक इच्छा द्वेष बालक को नहीं होते प्रत्यक्ष व्यवहार में उन सब का अभाव देखा जाता है किन्तु जो इष्ट का का साधन है उसमें इच्छा होती है और अनिष्ट के साधन में द्वेष होता है यही प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए प्रयोज्य वृद्ध की भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति और इच्छा द्वेष विशेष कर्तव्यत्व एक धातु के अर्थ में सम्बद्ध है जिसमें ऐसा जो इष्टा निष्टसाधनता का ज्ञान तत्पूर्वक ही है ऐसा क्रम होने से कार्य कारण भाव सिद्ध होता है, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति इच्छा द्वेष की कारणता और इच्छा द्वेष के प्रति कर्तव्यत्वज्ञानसमानाधिकरणइष्टानिष्टसाधनताज्ञान की कारणता सिद्ध होती है । इसलिए प्रयोज्य वृद्ध की भी प्रवृत्ति और निवृत्ति इष्टानिष्ट साधनत्व ज्ञान पूर्वक ही है यह सिद्ध होता है । वह ज्ञान पूर्व में प्रयोज्य वृद्ध को नहीं हुआ था किन्तु प्रयोजक वृद्ध के शब्द के उच्चारण के अनन्तर उत्पन्न होता है अतः उसमें शब्द श्रवण हेतु है, इसलिए प्रवृत्ति जनक यजेत इत्यादि वाक्यों में शब्द ही कर्तव्यता को इष्ट साधनता और व्यापार को प्रतीत कराता हुआ यागादि में इष्ट साधनता और कर्तव्यता का ज्ञान कराता है । क्योंकि यागादि रूप धर्मी व्यापार यज् धातु का अर्थ लोक सिद्ध होने से उसका लाभ अन्य से हो जायगा और कर्तव्यत्व इष्ट साधनत्व ए दूसरे से प्राप्त नहीं है, इसलिए अनन्यलभ्य होने से वे ही शब्द के अर्थ हैं । जहां पर कर्तव्यता का भी अन्य में लाभ हो जाता है, जैसे नहन्यात् नपिबेत् आदि स्थलों में वहां पर हनन और पान में प्रवृत्ति की राग से ही प्राप्ति है इसलिए वहां पर उसका अनुवाद करके नञ् समभिव्याहृत लिङादि विभक्ति अन्य से न प्राप्त हनन और पानमें अनर्थ

की साधनतामात्र को प्रतीत कराती हैं क्योंकि, हनन और पान में इष्ट साधनता या कर्तव्यता, तो प्रत्यक्ष से ही ज्ञात है नहीं तो उनमें रागविषयता सिद्ध नहीं होगी। इसलिए रागतः प्राप्त कर्तव्यता का अनुवाद करके अनर्थ साधनता के ही ज्ञापक नहन्यात् नपिवेत् आदि वाक्य हैं न कि कर्तव्यता के ही ज्ञापक है इसलिए भाष्यकार ने ठीक ही कहा कि निषेध कार्य परक नहीं है। हनन आदि प्रत्यक्ष में सिद्ध इष्ट साधनता और कर्तव्यता का निषेध संभव होने से वहाँ पर अभाव बुद्धि कैसे होगी ऐसी शंका होने पर भामती में निषेध्यानां इत्यादि पद संदर्भ से उसका निराकरण किया जाता है। निषेध करने के योग्य हननपान आदि में अनर्थ साधनता ज्ञान ही उनके अभाव का ज्ञान है। अर्थात् हनन पान आदि में प्रत्यक्ष दृष्ट भी इष्टसाधनत्व, न देखे गये हुए अधिक अनर्थ नरक पतन आदि के उदय का हेतु होने से वे अनिष्ट हैं, इसको जनाने वाले निषेध घटित वाक्य हैं। यदि केवल अनिष्ट साधनत्व मात्र के बोधक नञ् घटित वाक्य हैं तो पर्युदास पक्ष से प्रसज्य प्रतिषेध बोधक नञ् की क्या विशेषता हुई ऐसी शंका न करनी चाहिए, क्योंकि श्रुत प्रत्यक्ष सिद्ध इष्ट साधनत्व के अभाव के उपपत्ति के लिए अनिष्ट साधनता की कल्पना ही विशेष संभव है। मीमांसक के मत में श्रुत इष्ट साधनत्वाभाव का परित्याग करके अश्रुत विधारक प्रयत्न विधि की कल्पना करनी पड़ती है जो कि उचित नहीं है हमारे मत में श्रुत की ही सिद्धि के लिए अनिष्ट साधनत्व कल्पित है यही विशेषता है। निषेध-स्थल मे अभाव बुद्धि से चेतन पुरुष हननपान आदि में आपाततः अर्थात् सद्यः केवल उसी समय मनोहर लगने वाले सुन्दरता को देखता हुआ भी भविष्य में होने वाले उसके नरक पतन जन्य दुःख की आलोचना विचार करके प्रवृत्त्य भाव रूप निवृत्ति को जान कर उससे निवृत्त होता है। हननपान आदि क्रिया में रागतः प्रवृत्त भी पुरुष, उस क्रिया से मुझको निवृत्त होना चाहिए एमहान् अनर्थ नरक पतन आदि केहेतु हैं इस बुद्धि से हनन आदि क्रिया से निवृत्त होता है न कि केवल प्रवृत्ति के प्रागभाव मात्र का बोध कराता है। अर्थात् हननपान आदि में अपनी उदासीनता स्थापित करता है। आशय यह है, कि कर्तव्यत्व इष्ट साधनत्व विधि के अर्थ हैं, परन्तु मधु विष मिश्रित अन्न के भक्षण में, इन दोनों का ज्ञान होने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए बलवदनिष्टाजनकत्व भी विधि का अर्थ मानना पड़ता है, उक्त अन्न भक्षण, बलवान् जो अनिष्ट मरण, मोह आदि उसका जनक ही है अजनक नहीं जिससे कि वहाँ पर प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध होता है। परन्तु मीमांसक के मत में भावनाविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकृत होने से विध्यर्थ बलवदनिष्टाजनकत्व आदि का प्रकृति प्रत्यय यदि साथ ही अर्थ को

कहीं तो प्रत्ययार्थं प्रधान होता है यह औत्सर्गिक नियम का परित्याग कर विशेषण तथा भान होता है। नहन्यात् आदि स्थलों में हनन आदि क्रिया का अभाव न अूपद से प्रतीत होता है, हनन आदि में रागतः कर्तव्यत्व इष्ट साधनत्व प्राप्त हैं, परन्तु नञर्थ अभाव से विशेष्य हनन आदि क्रिया का अभाव उसमें विशेषणीभूत कर्तव्यत्व बलवदनिष्टाजनकत्व आदि के अभाव में पर्यवसित होकर, ब्राह्मण कर्मक हनन सुराकर्मकपान, बलवद निष्टाजनकत्वा भाववान् हैं यह अर्थ प्रतीत होता है अभावाभाव के प्रतियोगि स्वरूप होने से उक्त अभाव बलवदनिष्टजनकत्व रूप है जिससे कि ब्राह्मण हनन सुरापान बलवान् अनिष्ट नरक आदि के हेतु है यह सिद्ध होता है। इस तरह से अभाव बुद्धि•औदासीन्य रूप प्रागभाव के पालन अर्थात् स्थिति का कारण है।

शंका—अभाव बुद्धि के औदासीन्य के स्थापक स्थिति का कारण होने पर भी जब तक वह बुद्धि स्थित रहेगी तभी तक हनन के उद्यम को निवृत्त करेगी, उस बुद्धि के क्षणिक होने से उसके नष्ट होने पर पुनः हनन आदि में प्रवृत्ति होगी यदि निरन्तर उस बुद्धि को माने तो विषयान्तर के ज्ञान का उदय नहीं होगा, इसी अभिप्राय से भामती में स्यादेतत् इत्यादि से शंका करते हैं। अभाव बुद्धि उदासीनता के स्थापन का यदि कारण है तो जब तक उदासीनता रहे तब तक अभाव बुद्धि का अनुवर्तन होना चाहिए. अर्थात् रहना चाहिए, परन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि उदासीन भी जब अन्य विषयों में आसक्तचित्तही होगा, तो अभाव बुद्धि उसमें नहीं रहेगी, (अन्य विषयों का ज्ञान और अभाव का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते, ज्ञानक्षणिक और अपर्यायपद्य हैं), और स्थिति के कारण अभाव बुद्धि के अभाव में कार्य की उदासीनता नहीं रहेगी, क्योंकि अवस्थापक कारण के अभाव में कार्य का अवस्थापन स्थिति नहीं देखी गई है। प्रसाद महल, के अवस्थापक कारण खंभे के गिरने पर महल स्थित नहीं रहता।

समाधान—भाष्य में (सायदग्वेन्धनाग्निवत्स्वयमेवो पशाम्यति) जैसे अग्नि इन्धन को जलाकर स्वयम् शान्त हो जाती है, उसी तरह नञर्थ अभाव बुद्धि हनन आदि में इष्ट साधनता का मूल राग रूप इन्धन को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाती है जिससे कि उसके नष्ट होने पर भी प्रवृत्ति का मूल राग के न रहने से पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। तभी तक यह मनुष्य प्रवृत्ति में तत्पर रहता है जब तक कि वह उस कार्य में अनर्थ के हेतु भाव को नहीं जान लेता। अनर्थ के हेतुत्व का ज्ञान ही इस पुरुष के मूल के नाश के सहित प्रवृत्ति का नाश कर जले हुए इंधन वाले अग्नि के समान स्वयम् नष्ट हो जाता है। यह कहा जाता है। जैसे प्रासादके स्थिति का कारण स्तंभ है उस तरह उदासीनता के स्थितिके कारण अभाव बुद्धि-

नहीं है, किन्तु आगन्तुक आनेवाले विनाश के कारण से भी रक्षा करती है, जिससे कि अवस्थिति का कारण अभाव बुद्धि है। जैसे कछुए के पीठ के समान कठोर कवच शस्त्र के प्रहार से राजा के शरीर के रक्षा करने में उसके प्राणधारण के स्थिति का हेतु है। कवच के न रहने पर भी यदि शस्त्र का प्रहार न हो तो राजा के प्राण का नाश नहीं होता उस तरह। भाष्य में उपसंहार करते हैं, तस्मादित्यादि से। प्रागभावस्वरूप जो उदासीनता वह निवृत्ति का कारण नहीं है किंतु रागतः कर्तव्यत्वेन प्राप्त जो हनन पान आदि रूप क्रिया उसकी जो निवृत्ति उससे युक्त जो निवृत्ति का उपयोगी है जो हनन आदि प्राप्त है वह नहीं है इस तरह क्रियाकी निवृत्ति रूपता, उदासीनता में नहीं है क्योंकि हमेशा क्रिया की प्राप्ति नहीं है, इसलिए काकसे उपलक्षित गृह के समान प्राप्त क्रिया निवृत्त्युपलक्षित औदासीन्य ही नञर्थ है। प्राप्त क्रिया की निवृत्ति क्या है वह यदि हनन आदि का प्रागभाव ही है तो उसके अनादि होने से इसके बोध से कोई प्रयोजन का लाभ न होगा, और नतो उसका ध्वंस ही है प्राप्त क्रिया की उत्पत्ति न होने से ध्वंस असम्भव है इस पर कहा जाता है मारने के लिए उठाए हुए खड्ग आदि का लौटा लेना ही निवृत्ति है उसके होने से हनन नहीं होगा। ऐसी निवृत्ति नञर्थ ज्ञान का फल है नञर्थ तो हनन आदि में इष्ट साधनता का अभाव ही है।

तो क्या अक्रियार्थ होने से आनर्थक्यम् निष्प्रयोजनत्व को शंका करके क्रियार्थकता का वर्णन जैमिनिमुनिसम्मत अयुक्त ही है। इसलिए उपसंहार के बहाने उसका परिहार भाष्य में किया जाता है, तस्मात्पुरुषार्थानुपयोगि इत्यादि पद सन्दर्भ से। आशय यह है कि जो वेद भाग क्रियार्थक नहीं है वे प्रयोजनशून्य हैं यह पूर्वपक्ष, और अक्रियार्थक अर्थवाद भाग विधि के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होकर ही अर्थवान् प्रयोजन युक्त हैं यह उत्तर पक्ष, जो कि साक्षात् पुरुषार्थ मे सहायक नहीं है ऐसे जो अर्थवाद वाक्य क्यों कि उनसे साक्षात्, धर्म रूप पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती किन्तु विधिवाक्य के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होकर ही वे पुरुषार्थ में उपयोगी सिद्ध होते हैं, इसलिए पुरुषार्थानुपयोगि जो उपाख्यान तद्विषयक है न कि उपनिषद् वेदान्त वाक्य विषयक वेदान्त वाक्यों का स्वयं पुरुषार्थ ब्रह्म रूप के अवगति में पर्यवसान है।

भाष्य

यदप्युक्तम्, कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् सप्तद्वीपावसुमतीत्यादिवदिति तत्परिहृतम्, रज्जुरियं नायं सर्प इतिवस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननुश्रुत ब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्व दर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्, अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथा-

पूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनित-ब्रह्मात्मावगमेतदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनोगृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहार-निमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहा-रनिमित्तं दुःखं भवति। नच कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्ड-लित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छांदो: ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवत इति चेन्न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। नह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञान मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयि-तुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृत धर्माधर्म निमित्तं सशरीरत्वमितिचेन्न, शरीरसम्बन्धस्या सिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्प-रैषानादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। सन्नि-धानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमितिचेन्न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्ब-न्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः नत्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामि-सम्बन्ध निमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्ध हेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनोव्याख्यातम्।

भामती

यदप्यौपनिषदात्मज्ञानमपुरुषार्थं मन्यमानेनोक्तम्—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशा-मन्तरेणेति। अत्र निगूढाभिसन्धिः पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—तत्परिहृत मिति। अत्राक्षेप्ता स्वोक्तमर्थं स्मारयति—ननु श्रुतब्रह्मणोऽपीति। निगूढमभि-सन्धि। समाधातोद्घाटयति— अत्रोच्यते— नावगतब्रह्मात्मभावस्येति। सत्यं न ब्रह्मज्ञानमात्रं सांसारिकधर्मनिवृत्तिकारणमपितु साक्षात्कारपर्यन्तम्। ब्रह्म-साक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवणमननादिजनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा षड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाभ्याससंस्कृतमनोयोनिः। स च निखिल प्रपञ्चमहेन्द्रजालसाक्षात्कारं समूलमुन्मूलयन्नात्मानमपि, प्रपञ्चत्वा-विशेषादुन्मूलयतीत्युपपादितमधस्तात्। तस्माद्रज्जुस्वरूपकथनतुल्यतैवात्रेति सिद्धम्। अत्रच वेदप्रमाणमूलतया वेदप्रमाणजनितेत्युक्तम् अत्रैव सुखदुः खानुत्पादभेदेन निदर्शनद्वयमाह—नहिधनिन इति। श्रुतिमत्रोदाहरति— तदुक्तमिति। चोदयति—शरीरे पतित इति परिहरति—न। सशरीरत्वस्येति

यदि वास्तवं सशरीरत्वं भवेन्न जीवतस्तन्निवर्तेत, मिथ्याज्ञाननिमित्तं तु तत्। तच्चोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन जीवतापि शक्यं निवर्तयितुम्। यत्तु न सशरीरत्वं तदस्य स्वभाव इति न शक्यं निवर्तयितुम् स्वभावहानेन भावविनाशप्रसङ्गादित्याह—नित्यमशरीरत्वमिति। स्यादेतत्—न मिथ्याज्ञाननिमित्तं सशरीरत्वमपि तु धर्माधर्मनिमित्तं तच्चस्वकारणधर्माधर्मनिवृत्तिमन्तरेण न निवर्तते तन्निवृत्तौ च प्रयाणमेवेति न जीवतोऽशरीरत्वमिति शंकते—तत्कृतेति। तदित्यात्मानं परामृशति। निराकरोति—न शरीरसम्बन्धस्येति। न तावदात्मासाक्षाद्धर्माधर्मौ कर्तुमर्हति, वाग्बुद्धिशरीरारम्भजनितौ हि तौ नासति शरीरसम्बन्धे भवतः ताभ्यां तु शरीरसम्बन्धं रोचयमानो व्यक्तं परस्पराश्रयं दोषमावहति। तदिदमाह—शरीरसम्बन्धस्येति। यद्युच्येत सत्यमस्तिपरस्पराश्रयः नत्वेषदोषोऽनादित्वाद्बीजाङ्कुरवदित्यत आह—अन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना। यस्तु मन्यते नेयमन्धपरम्परातुल्यानादिता। नहि यतो धर्माधर्मभेदाच्च आत्मशरीरसम्बन्धभेदस्ततएव सधर्माधर्मभेदः, किन्त्वेष पूर्वस्मादात्मशरीरसम्बन्धापूर्व धर्माधर्म भेदजन्मनः एषत्वात्म शरीरसम्बन्धोस्माद्धर्माधर्मभेदादिति तं प्रत्याह—क्रिया समवायाभावादिति। शङ्कते—सन्निधानमात्रेणेति। परिहरति—नेति। उपार्जनं स्वीकरणम्। नत्वियं विधात्मनो त्याह—नत्वात्मन इति।

सुभद्रा—और जो भी उपनिषत् प्रतिपादित् आत्मज्ञान को पुरुषार्थ नहीं मानते हैं, क्योंकि वह सिद्धवस्तु रूप है, कर्तव्य विधि का प्रवेश उसमें नहीं है इसलिए प्रयोजनशून्य है, जैसे सप्तद्वीपावसुमती, सातद्वीपों वाली पृथिवी, इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसपर छिपा हुआ है अभिप्राय जिसका ऐसा होकर भाष्यकार कहते हैं कि उस दोष का परिहार मैंने कर दिया पहिले कहे हुए परिहार का स्मरण कराते हैं यह रस्सी है सर्प नहीं है ऐसा केवल वस्तुमात्र के कहने पर भी भय कंपादि निवृत्ति रूप प्रयोजन देखा गया है। फिर आक्षेप करने वाला अपने कहे हुए अर्थ का स्मरण कराता है कि उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म का श्रवण करने पर भी श्रवण के पूर्वावस्था के समान संसारित्व अर्थात् सुख दुःख आदि से युक्त होना देखा जाता है जिससे कि रज्जु के स्वरूप कथन के समान प्रयोजनत्व का होना युक्त नहीं है। समाधान देने वाला छिपे हुए अभिप्राय को प्रकाशित करता है। अत्रोच्यते इत्यादि से। सत्य है केवल ब्रह्म ज्ञानमात्र अर्थात् शब्द जन्य ज्ञान ही सांसारिक धर्म के निवृत्ति का कारण नहीं है किन्तु साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान उक्तधर्म के निवृत्ति का कारण है। ब्रह्म साक्षात्कार जो कि अन्तःकरण के वृत्ति परिणाम का ही भेद है, गान्धर्व शास्त्र के श्रवण के अभ्यास से उत्पन्न जो संस्कार उससे युक्त अर्थात् वह संस्कार है

सहायक जिस मन का ऐसा मन है कारण जिसका ऐसा जो षड्जादि स्वर विशेष का साक्षात्कार उसके समान तत्त्वमस्यादि वाक्यों का जो श्रवण और मनन आदि उससे उत्पन्न जो संस्कार वह है सहायक जिसका ऐसा जो अन्तःकरण उस से उत्पन्न होने वाला अर्थात् अन्तःकरण का वृत्ति विशेष रूप है। वह ब्रह्म साक्षात्कार सम्पूर्ण प्रपञ्च के साक्षात्कार को ही जो बहुत बड़े इन्द्रजाल जादू के समान है उसका मूल सहित नाश करता हुआ प्रपञ्च से कोई विशेषता न होने के कारण अपना भी नाश करता है यह पहिले कहा गया है। इसलिए रज्जु के स्वरूप कथन की समानता यहाँ पर सिद्ध होता है। भाष्य में जिसने ब्रह्मात्म भावको अवगत कर लिया है उसको पहिले के समान संसारित्व दिखलाना शक्य नहीं है क्योंकि वेद प्रमाण जनित ब्रह्मात्म भाव का विरोध है यह कहा गया है वेद प्रमाण जनित शब्द का वेद प्रमाण है मूल जिस ब्रह्मात्म भाव का यह अर्थ हैं जिससे कि वैसा कहा गया। भाष्य में इसी में सुख और दुःख की उत्पत्ति नहीं होती इसके भेद से दो दृष्टान्त प्रदर्शित हैं। धनी पुरुष जो कि धन के अभिमान से युक्त है उसको जो कि धन के नाश होने पर तन्निमित्तक दुःख होता है। वही जब संन्यास लेता है और धन के अभिमान से रहित होता है तब उसको धननाश निमित्तक दुःख नहीं होता। इसी तरह कुण्डल धारण किए हुए पुरुष को जिसको उसका अभिमान है तन्निमित्तक सुख जो देखा जाता है वह जब उसके अभिमान से शून्य होकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है तो उसको तन्निमित्तक सुख नहीं होता। उसी तरह दार्ष्टान्त में भी जिसको वेद प्रमाण से ब्रह्मात्म भाव उत्पन्न हो गया है उसको पूर्व अवस्था जिसमें कि शरीर आदि मे ही आत्माभिमान है उस अवस्था में दुःखमय आदि देखा गया है उसकी कल्पना ब्रह्मात्मभावावगत्यनन्तर नहीं कर सकते। इसीमें श्रुति का उदाहरण दे रहे हैं। अशरीरं इत्यादि से। शरीर के न रहने पर प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते जिसको शरीर का अभिमान नहीं है उसको प्रियवस्तु के सम्बन्ध से सुख और अप्रिय वस्तु के सम्बन्ध से दुःख नहीं होता यह भाव है। शंका करते हैं भाष्य में शरीर के नाश होने पर ही अशरीरत्व होगा जीते हुए शरीरत्व असम्भव है, परिहार करते हैं नहीं शरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्तक है। यदि वास्तविक यानी पारमार्थिक सशरीरत्व हो तो जीते हुए उसका अशरीरत्व असम्भव हो शरीर से सहित होना तो मिथ्या ज्ञान जन्य है। वह तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर जीते हुए भी निवृत्त किया जा सकता है। और जो अशरीरत्व है। वह इस आत्मा का स्वभाव है इसलिए निवृत्त होने के योग्य नहीं है क्योंकि स्वभाव अर्थात् स्वरूप के नाश होने पर उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। इसलिए भाष्य में कहा

नित्य ही अशरीरता है। मिथ्या ज्ञान निमित्तक सशरीरता नहीं है। किन्तु धर्माधर्म निमित्तक है, धर्म से उत्तम योनि की शरीर मिलती है अधर्म से निकृष्ट योनि की शरीर मिलती है तो उसकी निवृत्ति अपने कारण धर्म और अधर्म के निवृत्ति के बिना नहीं हो सकती और धर्म अधर्म रूप कारण के निवृत्त होने पर प्रयाण अर्थात् मृत्यु ही हो जायगी इसलिए जीते हुए अशरीरत्व नहीं हो सकता ऐसी शङ्का भाष्य में करते हैं तत्कृत मित्यादि से तत् पद से आत्मा का परामर्श है आत्मा के द्वारा किया गया जो धर्माधर्म तन्निमित्तक सशरीरत्व है। उसका का निराकरण करते हैं इविर्चेन्न शरीर सम्बन्धस्या सिद्धत्वात् इत्यादि से। आत्मासाक्षात् धर्म और अधर्म को तो कर नहीं सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है धर्म और अधर्म तो वाणी बुद्धि और शरीर के द्वारा होते हैं इसलिए शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध न होने॰ पर वे दोनों हो नहीं सकते और धर्म अधर्म के द्वारा यदि आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध माना जाय तो अन्योन्याश्रय-दोष स्पष्ट है। क्योंकि शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर धर्म और अधर्म होंगे। और धर्म अधर्म के होने पर शरीर के साथ सम्बन्ध होगा। इसलिए भाष्यकार ने कहा शरीर के साथ सम्बन्ध आत्मा का सिद्ध न होने से आत्मकृत धर्माधर्म सिद्ध नहीं होते। यदि यह कहा जाय अन्योन्याश्रय दोष है यह सत्य है परन्तु बीजांकुर के समान अनादि होने से यह दोष नहीं है। बीज और अंकुर जैसे परस्पराश्रित हैं बीज के बिना अंकुर नहीं होता और अंकुर नहीं होगा तो वृक्ष और फल के न होने से बीज नहीं उत्पन्न होगा तो जैसे वहाँ पर अन्योयाश्रय रहने पर भी अनादि मानकर परिहार किया जाता है प्रकृत में भी वैसा ही जानना चाहिए। तो इसपर भाष्यकार कहते हैं अन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना यह अनादि कल्पना अन्धपरम्परा है। आशय यह है कि सत्कार्यवाद में सम्पूर्ण कार्य सत् हैं सूक्ष्मरूप से अपने कारण में विद्यमान रहते हैं और कार्य कारण दोनों अनादि हैं इनसे आदि उत्पत्ति का पता नहीं चलता यह कार्य कारण परम्परा कब से चली सादि होने पर ही एक दूसरे के अधीन कार्य कारण भाव होने पर परस्पराश्रय दोष होता है दोनों के अनादि होने पर कार्य कारण भाव परस्पराश्रित सिद्ध नहीं होता अतः उक्तदोष नहीं है ऐसा कहने वाले अन्धपरम्परा के अनुयायी हैं।॰ क्योंकि सत्कार्य वाद में भी उत्पत्ति न होने से स्वरूपतः नित्य होने पर भी उनकी अभिव्यक्ति माननी हो पड़ेगी नहीं तो सर्वदा उनको प्रतीति होगी। अभिव्यक्ति अनित्य है तो एककी अभिव्यक्ति अन्य के अभिव्यक्ति के अधीन होने से एक की भी सिद्धि नहीं होगी जिससे उक्त दोष दुर्वार है जिससे कि अनादि मानकर दोष का परिहार अन्धपरम्परा ही है। अर्थात् अप्रामाणिक ही

है। जो कि असत्कार्य वादी सन्तपरम्परा के समान अनादिता नहीं है ऐसा मानते हैं क्योंकि जिस धर्म विशेष और अधर्म विशेष से जो आत्मा और शरीर का सम्बन्ध विशेष सिद्ध होता है उसी से वह धर्माधर्म विशेष सिद्ध नहीं होता जिससे कि परम्पराश्रय दोष हो किन्तु वह धर्माधर्म विशेष उसके पूर्व जो आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है उससे और वह सम्बन्ध उससे पूर्व धर्म धर्म के विशेष से उत्पन्न है और यह शरीर आत्मा का सम्बन्ध इसके पूर्ण धर्माधर्म विशेष से है, और यह अनादि काल से चला आ रहा है। तो उनके प्रति भाष्यकार कहते है क्रिया समवायाभावात् आत्मा में क्रिया का सम्बन्ध सिद्ध न होने से आत्मा में कर्तृत्व ही नहीं बनता। शंका करते हैं कि सन्निधानमात्र से राजा आदि में कर्तृत्व देखा गया है जैसे युद्ध में विजय आदि कार्य सेनापति और सेना के द्वारा निष्पन्न होने पर भी अथवा भृत्य आदि के द्वारा कृत कार्य का राजा सान्निध्य मात्र से कर्ता माना जाता है उसी तरह कर्तृत्व अन्तःकरण शरीर आदि में रहने पर भी शरीर के सान्निध्य मात्र से भी आत्मा में कर्तृत्व है। परिहार करते हैं वहां पर तो धन आदि के देने से भृत्य आदि की सम्बन्धिता राजा में है जिससे उसमें कर्तृत्व निष्पन्न होता है परन्तु आत्मा में तो धन दानादि के समान शरीर आदि में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के निमित्त की कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु मिथ्याभिमान ही शरीर आत्मा के सम्बन्ध का हेतु है जिससे कि आत्मा में कर्तृत्व वास्तविक नहीं है।

भाष्य

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्यहि प्रसिद्धो वस्तुभेदः यथा केशरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः ततश्चान्य; पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः प्रसिद्धः तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथामन्दान्धकारे स्थाणुरय मित्यगृह्यमाणे विशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणु विषयौ यथावा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिदमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्! आत्मानात्मविवेकिनामपि पंडितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौभवतः। तस्माद्देहादि व्यतिरिक्तात्मास्तित्व वादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्या प्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथाच ब्रह्मविद्विषया

श्रुतिः— तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव (बृह० ४।४।७) इति सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव इति च। स्मृतिरपि च स्थितप्रज्ञस्य का भाषा भ० गी० (२।५४) इत्याद्या। स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्. यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्मशास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि अथातो धर्मजिज्ञासा इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि अथातो धर्मजिज्ञासा इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत। आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत— अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा (जै० ४।१।१। इतिवत्) ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति। तदर्थोयुक्तः शास्त्रारम्भः— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितु मर्हन्तीति। अपिचाहुः—गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्। सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्। अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः। अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् इति।

इति भाष्ये चतुःसूत्री समाप्ता॥

भामती

येतु देहादावात्माभिमानो न मिथ्या अपि तु गौणमाणवकादाविव सिंहाभिमानः इति मन्यन्ते तन्मतमुपन्यस्य दूषयति— अत्राहुरिति। प्रसिद्धो, वस्तुभेदो यस्य पुरुषस्य स तथोक्तः। उपपादितं चैतदस्माभिरध्यासभाष्ये इति नेहोपपाद्यते। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे वस्तुनि पुरुषात् सांशयिकी पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ तत्र हि पुरुषत्वमनिश्चितमपि समारोपितमेव। एवं संशये समारोपित मनिश्चितमुदाहृत्य विपर्यय ज्ञाने निश्चितमुदाहरति—यथा वा शुक्तिकायामिति। शुक्लभास्वरस्य द्रव्यस्य पुरः

स्थितस्य सति, शुक्तिकारजतसाधारणये यावदत्ररजतनिश्चयो भवति तावत्कस्माच्छुक्तिनिश्चय एव न भवति । संशयो वा द्वेषायुक्तः समानधर्मधर्मिणोर्दर्शनात् उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः विशेषद्वयस्मृतेश्च संस्कारान्मेषहेतोः सादृश्यस्य द्विष्ठत्वेनो भयत्र तुल्यमेतदिति, अत उक्तम्—अकस्मादिति । अनेनदृष्टस्यहेतोः समानत्वेऽप्यदृष्टं हेतुरुक्तः । तच्च कार्यदर्शनोन्नेयत्वेनासाधारणमिति भावः । आत्मानात्मविवेकिनामिति । श्रवणकुशलतामात्रेणपंडितानाम्, अनुत्पन्न तत्त्वसाक्षात्काराणामितियावत् । तदुक्तम्-पश्वादिभिश्चाविशेषात् इति । शेषमतिरोहितार्थम् । जीवतोविदुषोऽशरीरत्वे च श्रुतिस्मृतीरुदाहरति—तथाचेति । सुबोधम् । प्रकृत मुपसंहरति—तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्येति । ननूक्तं यदि जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावगतिरेव सांसारिकधर्मनिवृत्ति हेतुः इत्तमननादिविधानानर्थक्यं तस्मात्प्रतिपत्तिविधिपरा वेदान्ता इति तदनुभाष्य दूषयति—यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोरिति । मनननिदिध्यासनयोरपिन विधिः तयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारयोर्विधिसरूपैर्वचनैरनुवादात्, तदिदमुक्तम्—अवगत्यर्थत्वादिति । ब्रह्मसाक्षात्कारोऽवगतिस्तदर्थत्वं मनननिदिध्यासनयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धमित्यर्थः । अथ कस्मान्मननादिविधिरेव न भवतीत्यत आह—यदिध्यवगतमिति । न तावन्मनननिदिध्यासने प्रधानकर्मणी अपूर्वं विषये अमृतत्वफले इत्युक्तमधस्तात् । अतो गुणकर्मत्वमनयोरवघातप्रोक्षणादिवत्परिशिष्यते तदप्ययुक्तं अन्यत्रोपयुक्तोपयोक्ष्यमाणत्वाभावादात्मनः विशेषतस्त्वौपनिषदस्य कर्मानुप्रानविरोधादित्यर्थः । प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति । एवं सिद्धरूप ब्रह्मपरत्वमुपनिषदाम् । ब्रह्मणः शास्त्रार्थस्यधर्मादन्यत्वाद्भिन्नविषयत्वेन शास्त्रभेदात् अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यस्य शास्त्रारम्भत्व मुपपद्यतइत्याह—एवं च सतीति । इतरथातुधर्मजिज्ञासैवेति न शास्त्रान्तरमिति न शास्त्रारम्भत्वं स्यादित्याह—प्रतिपत्तिविधिरत्व इति । न केवलं सिद्धरूपत्वाद्ब्रह्मात्मैक्यस्य धर्मादन्यत्वमपितु तद्विरोधादपीत्युपसंहारव्याजेनाह—तमस्मादहं ब्रह्मास्मीति । इतिकरणेन ज्ञानं परामृशति । विधयोहि धर्मेप्रमाणम् । ते च साध्यसाधनेतिकर्तव्यताभेदाधिष्ठाना धर्मोत्पादिनश्च तदधिष्ठानाः न ब्रह्मात्मैक्ये सति प्रभवन्ति विरोधादित्यर्थः । न केवलं धर्मप्रमाणस्य शास्त्रस्येयंगतिः अपितु सर्वेषां प्रमाणानामित्याह—सर्वाणिचेतराणि प्रमाणानीति । कुतः ? नहि । अद्वैतेहि विषयविषयिभावोनास्ति नच कर्तृत्वं कार्याभावात् । नच करणत्वं अतएव । तदिदमुक्तम्—अप्रमातृकाणि च इति चकारेण । अत्रैव ब्रह्मविदांगाथामुदाहरति—अपिचाहुरिति । पुत्रदारादिष्वात्माभिमानो गौणः । यथास्वदुःखेन दुःखी यथा स्वसुखेन सुखी तथा पुत्रादिगतेनापीतिसोऽयं गुणः । नत्वेकत्वाभिमानः भेदस्यानुभव

सिद्धत्वात्। तस्माद्गौर्वाहीक इतिवद्गौणः। देहेन्द्रियादिषुत्वभेदानुभावा-न्नगौण आत्माभिमानः किन्तुशुक्तौ रजतज्ञानवन्मिथ्या। तदेवं द्विविधोऽयमात्मा-भिमानो लोकयात्रां वहति। तदसत्त्वेतु न लोकयात्रा नापि ब्रह्मात्मैकत्वानुभवः तदुपायस्य श्रवणमननादेरभावात्। तदिदमाह—पुत्रदेहादिबाधनात्। गौणा-त्मनोऽसत्त्वे पुत्रकलत्रादिबाधनम्। ममकाराभाव इतियावत्। मिथ्यात्मनोऽ-सत्त्वेदेहेन्द्रियादिबाधनं श्रवणादिबाधनं च। ततश्च न केवलं लोकयात्रासमुच्छेदः सद्ब्रह्माहमित्येवं बोधशीलं यत्कार्यम् अद्वैतसाक्षात्कार इति यावत् तदपि कथं भवेत्। कुतस्तदसंभव इत्यत आह—अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमा-त्मनः। उपलक्षणं चैतत्। प्रमाप्रमेयप्रमाणविभाग इत्यपि द्रष्टव्यम्। एतदुक्तं भवति—एषहि विभागो द्वैतसाक्षात्कारकारणं ततोनि-यमेन प्राग्भावात्। तेन तदभावे कार्यं नोत्पद्यत इति। न च प्रमातुरात्मनो ऽन्वेष्टव्य आत्मान्यइत्याह—अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः। उक्तं ग्रंथस्याग्रे वेयकनिदर्शनम्। स्यादेतत् अप्रमाणात्कथं पारमार्थिकाद्वैतानुभ-वोपपत्तिरित्यत आह—देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं तु। अस्यावधिमाह—आऽऽत्मनिश्चयात्। आब्रह्मसाक्षात्का-रादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—पारमार्थिक प्रपञ्चवत्त्वादिभिरपि देहादिष्वात्मा-भिमानो मिथ्येतिवक्तव्यम्, प्रमाणबाधितत्वात्, तस्यच समस्त प्रमाणकारणत्वं भाविकलोकयात्रावाहित्वं चाभ्युपेयम्। सेयम-स्माकमप्यद्वैतसाक्षात्कारे विधा भविष्यति। नचायमद्वैतसाक्षात्कारोऽप्यन्तः करणवृत्तिभेद एकान्ततः परमार्थः यस्तु साक्षात्कारो भाविकः नासौ कार्यः तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात्। अविद्यातु यद्यविद्यामुच्छिन्द्या जनयेद्वा न तत्र कचिदनुपपत्तिः। तथाच श्रुतिः विद्यांचा विद्यां च यस्तद्वेदो भयंसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययाऽमृत मश्नुते।

इति तस्मात्सर्वंमवदातम् ॥ ४ ॥

इति भाष्यव्याख्याभामत्यां चतुः सूत्री समाप्ता।

सुभद्रा—जोकि देहादिमें आत्माभिमान मिथ्या नहीं है किन्तु गौण है जैसे माणवक् बालक आदिमें सिंहका अभिमान 'सिंहो माणवकः' आदि स्थल में गौण देखा गया है, ऐसा मानते हैं, उनके मतका उपन्यास करके भाष्यकार दूषित करते हैं, अत्राहुः इत्यादि पद सन्दर्भ से। यस्यहि प्रसिद्धो वस्तुभेदः भाष्य में कहा गया, जिस पुरुष को वस्तुओं में भेद प्रसिद्ध है, ज्ञात है, उसको गौण अभिमान होता है, जैसे जो सिंह और माणवक का भेद जानता है उसको,

उक्त शब्द सुनने पर माणवक सिंहके सदृश है, यह अर्थ प्रतीत होता है, अर्थात् माणवक के सिंहत्व की प्रतीति आरोपित है, अतः गौण है। इसका प्रतिपादन भामतीकार ने अध्यास भाष्यमें किया है, इसलिए पुनः इसका प्रतिपादन नहीं करते हैं। (भाष्यमें यथा मन्दान्धकारे इत्यादि की व्याख्या भामतीकार करते हैं। जैसे मन्द अन्धकार में यह स्थाणु, ठूंठ है, इस प्रकार विशेषरूपसे निश्चय जिसमें नहीं है, ऐसे वस्तुमें पुरुष का स्मरण कर, स्थाणु विषयक पुरुष शब्द का प्रयोग और उसमें पुरुषरूप अर्थ का ज्ञान संशयात्मक होता है। वहांपर अनिश्चित भी पुरुषत्व स्थाणु में आरोपित है। इस तरह संशयस्थल में अनिश्चित समारोप का उदाहरण देकर विपरीत ज्ञान के स्थलमें निश्चित समारोप का उदाहरण देते हैं यथावाशुक्तिकायामित्यादि। भाष्यमें शुक्तिका में यह रजत है ऐसा निश्चित शब्द प्रयोग और ज्ञान अकस्मात्, बिना हेतुके होता है ऐसा कहा गया जोकि भ्रमात्मक ज्ञान है। तो भ्रम भी करण दोष सादृश्य ज्ञान आदि बहुत निमित्त की अपेक्षा करता है तो भाष्यकार का अकस्मात् यह कथन युक्त नहीं है। इसलिए भामतीकार उसको व्याख्या शुक्लभास्वरत्व इत्यादि से करते हैं। सीप और चांदी में समानरूप स्थित शुक्लत्व और भास्वरत्व अर्थात् सफेदी और चमकीलापन, जोकि सीपमें भी है और चांदी में भी है, तद्विशिष्ट[1] द्रव्य जब पुरः स्थित है (सामने विद्यमान है) तो जब तक उसमें रजत चांदीका निश्चय होता है तो शुक्ति सीप का निश्चय क्यों नहीं होता। अथवा संशय ही क्यों नहीं होता। क्योंकि संशय जनक सामग्री समानधर्मविशिष्ट धर्मिदर्शन साधकबाधक प्रमाणाभाव विशेषद्वयस्मृति इत्यादि उभयत्र समान है। जिससे कि अकस्मात् अर्थात् दृष्टहेतुके बिना ही भाष्यमें कहा गया। आशय यह है कि पूर्व में यह कहा गया कि भ्रम भी बिना किसी उचित निमित्त के अपेक्षा के नहीं होता, तो क्या भ्रममें केवल समान धर्म विशिष्ट वस्तुका दर्शनमात्र कारण है, अर्थात् सीपमें चांदीका जो भ्रम होता है, वह धवल और भास्वररूप से सादृश्य विशिष्ट धर्मीके दर्शनमात्र से होता है, अथवा सादृश्य ज्ञान के समान अन्य दोष आदिसे मिलित दर्शन कारण है। प्रथम पक्षयुक्त नहीं है, क्योंकि शुक्लभास्वररूप जोकि शुक्तिरजत साधारण है, अर्थात् दोनों में समानरूप से रहता है, तो उससे जोकि समीप में स्थित नहीं है ऐसे रजत के निश्चय से पूर्व समीपस्थ शुक्तिका निश्चय क्यों न हो, यदि द्वितीयपक्ष सादृश्यवद् दोषयुक्त समान धर्म-धर्मी दर्शन भ्रान्ति में हेतु है तो स्थाणुर्वापुरुषोवा के समान संशय होना

१. अर्थात् सफेदी और चमक जिसमें हैं ऐसा द्रव्य।

ही युक्त है, क्योंकि संशय भी दोष से जन्य है, क्योंकि मन्दान्धकार में संशय होता है, जो तिमर आदिदोषसे जन्य है।

संशय को उत्पन्न करनेवाली सामग्री है साधारण धर्माविशिष्ट धर्मीका दर्शन, ऐसे धर्मी के दर्शन से भी निश्चय हो यदि किसी एक कोटि का निर्णायक प्रमाण हो जैसे स्थाणु ठूंठ में शाखादि का देखा जाना, या अन्य कोटि के निश्चयमें बाधक अन्य प्रमाण की उपलब्धि, जैसे वहां ही पर पुरुष कोटिके विपरीत चेष्टा आदि से रहित होना, वैसा शुक्तिरजत स्थल में नहीं है, अर्थात् शुक्ति या रजत है ऐसे निश्चय को उत्पन्न, करने वाला साधक बाधक प्रमाण नहीं है, और विशेषद्वय का स्मरण, यह सब संशय में कारण है, जिससे कि संशय होना ही युक्त है, कहा जाता है विशेषद्वय के स्मरण होने पर संशय होता है, यहां पर तो केवल रजत का ही स्मरण होता है तो भ्रम ही है, तो यह बात नहीं क्योंकि स्मरण का हेतु उद्बुद्धसंस्कार है, और संस्कार के उद्बोधका हेतु सादृश्य है, जोकि शुक्ति और रजत दोनों में है, इसलिए संशय होना ही युक्त है यदि यह कहा जाय कि भ्रमस्थलमें, संशयजनक सामग्री के होने पर भी पुरुष का राग रजत में अधिक होने से रागवश, विपर्यय भ्रम ही होता है न कि संशय तो यह ठीक नहीं क्योंकि राग रहित पुरुष को भी, शुक्ति में रजत भ्रम होता है, इसलिए भाष्यकार ने अकस्मात् कहा। जिससे कि भ्रमस्थल में दृष्टकारण के समान होने पर भी, अर्थात् संशयजनक दृष्ट सामग्री के समवधान होने पर भी [१]अदृष्टवशात् भ्रम होता है, अर्थात् भ्रमस्थल में अदृष्ट हेतु है यह अकस्मात् पद से उक्त होता है। और वह अदृष्ट कार्य के दर्शन से अनुमेय होने से असाधारण है।

भाष्य में शुक्तिरजत का विवेक भेदज्ञान न होने से शुक्तिमें अकस्मात् यह रजत है ऐसा ज्ञान होता है, उसी तरह आत्मा और उससे भिन्न देहेन्द्रियादि का जो अनात्मा है, उनका विवेक जिनको नहीं है उससे उत्पन्न शरीर इन्द्रिय आदि के समूह मे, अहम् ऐसा निरुपचरित, अर्थात् जोकि पहिले से संभावित नहीं है, (सादृश्यज्ञान से रहित केवल अदृष्टवशात्) शब्द प्रयोग, और प्रतीति गौण कैसे कही जा सकती है ऐसा कहा गया। भाष्यस्थ आत्मानात्मविवेकिनाम्, का अर्थ भामतीमें, जोकि केवल श्रवण मनन में ही निपुण है निदिध्यासन न होने

१. सादृश्य रहने पर भी अदृष्टवश रजतविषयक ही संस्कार उद्बुद्ध होता है, जिससे कि रजत का ही स्मरण होकर शुक्तिमें रजत का भ्रम होता है, न कि संशय।

से जिनको आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है यह किया गया। इसीलिए भाष्यकार ने पहिले अध्यास भाष्यके उपसंहार में पश्वादिभिश्चाविशेषात्, शास्त्रज्ञपुरुष को भी पशु आदि से व्यवहार में कोई विशेषता नहीं होती ऐसा कहा है। जिस तरह से पशु आदिको देह आदिमें आत्मबुद्धि है, उसी तरह, व्यवहारमें, शास्त्रज्ञों को भी है यह भाव है। (भाष्य) इसलिए देह आदि अतिरिक्त आत्मा की सत्ता मानने वालों के मतमें देहादिमें अहं प्रतीति मिथ्या ही है न कि गौण यह सिद्ध होता है। जीवित अवस्थामें भी विद्वान् की, अर्थात् जिसको आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न हो गया है, उसका अशरीरत्व है इसमें श्रुति और स्मृतियों का उदाहरण भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं। तथाच इत्यादि से। ब्रह्मवेत्ता को विषय करके श्रुति भी कहती है। तद्यथाऽहि निर्ल्वयनी इत्यादि। जिस प्रकार सर्प की कैंचुल जिसमे उसका अभिमान दूर हो गया है यह मेरी त्वचा है वह जैसे बांबी में (स्थित) मरी हुई शयन करती है उसी प्रकार यह शरीर भी जिसमें ब्रह्मवेत्ता पुरुष का आत्माभिमान नहीं है स्थित रहती है। सर्पस्थानीय जीवन्मुक्त पुरुष भी शरीर में स्थित होकर भी वास्तव में शरीर से रहित है यह भाव है। अशरीरत्व होनेमें ही यह अमृत अविनाशी है प्राण है प्राणितीति प्राणः प्राण युक्त है प्राणस्य प्राणम् इत्यादिके नोपनिषद्वर्णित प्राण का भी अर्थात् जिसके शक्ति से प्राण में जीवन शक्ति है ऐसा परमात्मा ही प्राण शब्द से विवक्षित है यहाँ पर भी आगे ब्रह्मैव ऐसा कहा है जिससे कि प्राण शब्द से परमात्मा ही गृहीत है, और ब्रह्म ही तेज ही है अर्थात् ब्रह्म तेज ही विज्ञान ज्योति है जिस आत्मज्योति से सम्पूर्ण जगत् भासित होकर प्रज्ञानेत्र प्रज्ञास्वरूप चैतन्यात्मक आत्मज्योति से जगत् प्रकाशित नेत्र के समान जैसे नेत्र से वस्तुओं का प्रकाश होता है। उस तरह आत्मज्योति से सब प्रकाशित है। (सचक्षुरचक्षुरिव) वस्तुतः चक्षुरिन्द्रिय से रहित होकर भी जीवन्मुक्तावस्था मे बाधितानुवृत्ति होने से चक्षुरिन्द्रिय के सहित के समान इसी तरह कर्णेन्द्रिय से रहित होने पर भी उसके सहित के समान एवं वाणी से रहित होकर भी वाणी के सहित के समान इत्यादि उक्त श्रुति का अर्थ है। स्मृति भी कहती है स्थित प्रज्ञस्य का भाषा जिसकी बुद्धि स्थित है उसकी भाषा क्या इत्यादि स्थित प्रज्ञ के लक्षण को कहती हुई विद्वान् आत्मवेत्ता का सब प्रकार के प्रवृत्ति का अभाव दिखलाती है प्रकरणप्राप्त अर्थ का भाष्य में उपसंहार तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य इत्यादि से करते हैं। हैं। इसलिए जिसको ब्रह्मात्मभाव का ज्ञान हो गया है उसको पूर्व के समान संसारित्व नहीं कहा जा सकता।

शंका—यह पहिले कहा है कि यदि जीव को ब्रह्मात्मभाव की अवगति ही सांसारिक धर्म के निवृत्ति का कारण है तो फिर श्रवण से ही उक्त अवगति के हो जाने से मनन आदि का विधान अनर्थक है इसलिए ज्ञान विधि परक वेदान्त है उसका अनुवाद करके भाष्यकार दूषित करते है। यत्पुनरुक्तं इत्यादि से। जो कि कहा था श्रवण के अनन्तर मनन निदिध्यासन भी देखा जाता है इसलिए विधिका अंग ब्रह्म है नकि अपने स्वरूप में पर्यवसित निश्चित है।

समाधान—मनन निदिध्यासन भी अवगति ज्ञान के लिए हैं। मनन और निदिध्यासन में भी विधि नहीं है, क्योंकि जो किसी से प्राप्त न हो उसी का विधान किया जाता है, मनन और निदिध्यासन साक्षात्कार के प्रति हेतु है यह तो लोक में अन्वय व्यतिरेक प्रमाण से ही प्राप्त है। किसी वस्तु के रत्न आदि, के विशेष परिज्ञान में चित्त की एकाग्रता पूर्वक विचार हेतु होता है, यह लौकिक अनुभव है। इसलिए वह प्राप्त ही है न कि अप्राप्त। इसलिए अन्वय व्यतिरेक प्रमाण से सिद्ध है साक्षात्कार रूपफल जिस मनन निदिध्यासन का ऐसे उन दोनों का विधि के समान वचनों से अनुवाद किया गया है मन्तव्यः निदिध्यासितव्य आदि इसलिए भाष्य में अवगत्यर्थ त्वान्मनन निदिध्यासनयोः कहा। ब्रह्म साक्षात्कार ही अवगति है, तदर्थता अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार के लिए मनन निदिध्यासन अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हैं यह अर्थ है। मनन आदि विधि किस लिए नहीं है इसलिए भाष्य में कहा (यदि ह्यवगतम इत्यादि) यदि ज्ञात ब्रह्म का अन्यत्र विनियोग हो तो विधि का अङ्ग, ब्रह्म हो। परन्तु ऐसा नहीं है मनन और निदिध्यासन भी श्रवण के समान केवल ज्ञान के लिए हैं। इसका विशदीकरण भामती में न तावदित्यादि से। मनन और निदिध्यासन भी अपूर्व को विषय करने वाले प्रधान कर्म नहीं हैं, क्योंकि उनका यागादि के समान स्वर्ग प्राप्ति फल नहीं है किन्तु अमृतत्व मोक्ष ही फल है यह कहा जा चुका है। इसीलिए अवघात और प्रोक्षण आदि के समान गुण कर्मत्व, अप्रधान कर्मत्व ही परिशिष्ट है, परन्तु वह भी युक्त नहीं, क्योंकि आत्मा अन्यत्र उपयुक्त या उपयोक्ष्यमाण नहीं है, विशेष रूप से उपनिषत्प्र तिपादित आत्मा कर्मानुष्ठान का विरोधी है। आशय यह है कि जिस तरह से स्वर्ग कामोयजेत यहां पर यागस्य प्रधान कर्म विधेय है क्योंकि याग के क्षणिक होने से उससे अपूर्व के द्वारा ही स्वर्ग की जनकता सिद्ध होती है इसलिए वह अपूर्व की अपेक्षा करता है। ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति मनन निदिध्यासन की हेतुता तो षड्जादिस्वर के साक्षात्कार के समान अपूर्व की अपेक्षा न करके ही होती है जिससे कि मननादि प्रधान कर्म रूप विधि नहीं है। और न

तो गुण कर्म रूप अप्रधान विधि ही हो सकती है, क्योंकि जो उपयुक्त, अथवा उपयोक्ष्य माण हो वही गुण कर्म होता है। जैसे व्रीहीनवहन्ति, व्रीहि, धान्य को मूसल से कूटें,व्रीहीम् प्रोक्षति, उसका प्रोक्षण, जलादि स अभिमन्त्रित करें आदि। प्रधान कर्म यज्ञ में वह व्रीहिभिर्यजेत आदि वाक्य से उपयुक्त है, व्रीहि से जो पुरोडाश निर्मित्त होगा वही यज्ञ में उपयोगी होता है इसलिए व्रीहि उपयुक्त है, और अवघात के बिना पुरोडाश बन नहीं सकता है, इसलिए अवघात कर्म यज्ञ में उपयोक्ष्यमाण हैं, यज्ञ में उसका उपयोग होने वाला है एव प्रोक्षण आदि से संस्कृत व्रीहि ही अवान्तर अपूर्व के उत्पत्ति के द्वारा यज्ञ के परमापूर्व के उत्पत्ति में सहायक है जिससे कि अवघात प्रोक्षण आदि गुण कर्म होते हैं। आत्मा का अन्यत्र उपयोग न होने से उसमें उपयुक्तत्वया उपयोक्ष्यमाणत्व नहीं है जिससे कि गुण कर्म भी नहीं हो सकता।

विशेष रूप से उपनिषद वेद्य आत्मा असंग होने से, किसी कर्म में उपयोग उसका असम्भव है, वैसा आत्मा, कर्म के अनुष्ठान का विरोधी है क्योंकि कर्म अविद्या मूलक है आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से अविद्या का विरोधी है। प्रकृत प्रकरण प्राप्त अर्थ का उपसंहार भाष्यकार करते हैं। तस्मान्न इत्यादि से। इस कारण से ज्ञान विधि का विषय होकर ब्रह्म शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, किन्तु वेदान्त वाक्यों के समन्वय से स्वतन्त्र ब्रह्म ही शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध होता है। इस तरह से उपनिषदों का तात्पर्य सिद्ध ब्रह्म के बोध में ही है, यह सिद्ध हुआ। और तभी वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म, धर्म से भिन्न होने के कारण जैमिनि मुनि प्रणीति पूर्व मीमांसा शास्त्र से भिन्न विषयक होने से अथातो ब्रह्म जिज्ञासा इस अतिरिक्त शास्त्र का आरम्भ उपपन्न होता है।

इसीलिए भाष्यकार ने कहा, ऐसा होने पर ही अथातो ब्रह्म जिज्ञासा यह ब्रह्म विषयक पृथक् शास्त्रारम्भ सिद्ध होता है। नहीं तो अर्थात् वेदान्त वाक्यों को ज्ञान विधिपरक मानने पर, [1]अथातो धर्म जिज्ञासा इस पूर्व मीमांसाशास्त्र से ही गतार्थ होने पर पृथक शास्त्रारम्भ की सिद्धि न होती।

इसलिए भाष्यकार कहते हैं प्रतिपत्ति विधि परत्वेहि इत्यादि।

१—यदि ज्ञान विधि परक ब्रह्म होगा तो विधि बोधित धर्म से भिन्न न होने से, धर्म के विचार से ही गतार्थ हो जायेगा तो उसके लिए पृथक शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ है।

ज्ञान विधिपरक होने पर अथातो धर्म जिज्ञासा ऐसा आरम्भ होने से पृथक् शास्त्र का आरम्भ न किया जाता अथवा आरम्भ होने पर भी इस तरह से आरम्भ किया जाता अथातो परिशिष्ट धर्म जिज्ञासेति अथातः क्रत्वर्थ पुरुषार्थयो,जिज्ञासा इसके समान। स्वतन्त्र ब्रह्म ही अर्थात् विधि का अंग न होकर वह वेदान्तशास्त्र से जाना जाता हैं ऐसा स्वीकार करने पर ही वैसा ब्रह्म पहिले प्रतिज्ञात न होने से उसके अवगति के लिए शास्त्र का आरम्भ युक्त है यह सिद्ध होता हैं।

केवल सिद्ध स्वरूप होने से ही ब्रह्मात्मैक्य धर्म के स्वरूप से भिन्न है यह बात नहीं किन्तु धर्म से विरोध होने से भी भिन्न है यह उपसंहार के बहाने भाष्यकार कहते हैं। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वविधयः इत्यादि।

इसलिए अहं ब्रह्मास्मि यह ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक ही सम्पूर्ण विधि और निषेध और अन्य प्रमाणों की सार्थकता है। भाष्य में अहं ब्रह्मास्मीति घटक इति शब्द कहने से ज्ञान का परामर्श होता है। विधि वाक्य ही धर्म में प्रमाण है। वे विधिवाक्य साध्य साधन इति कर्तव्यता भेद के अधिष्ठान आधार भूत हैं और धर्म को उत्पन्न करने वाली हैं, अर्थात् धर्म के बिना स्थिति को लाभ नहीं करतीं इसलिए भेदमूलक होने से वे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने पर विरोध होने से वे नहीं हो सकतीं। आशय यह है कि यजेत आदि विधि वाक्य का यागेन भावयेत् यह अर्थ है तो किं भावयेत् ऐसी साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्गादि रूप फल ही साध्य है। अतः स्वर्गं भावयेत्, स्वर्ग की भावना करे, एवं केन भावयेत्, ऐसी साधन की आकांक्षा होने पर, यागेन भावयेत्, याग रूप साधन से भावना करें, कथं भावयेत, ऐसी [1]इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर जैसे कुठारेण काष्ठंछिन्द्यात्, यहां पर कथं भाव की आकांक्षा होने पर उद्यम्य निपात्य छिन्देत्, उठाकर और काठ पर गिराकर उसका छेदन करें, तो जैसे वहाँ पर उद्यमन निपातन का इति कर्त्तव्यतया अन्वय होता है वैसे ही यहाँ पर अग्न्याधान प्रयाज अवघात आदि से उपकार सम्पादन करके याग से स्वर्ग की भावना करे। तो यहाँ पर साध्य साधन इति कर्त्तव्यता, ए सब परस्पर भिन्न हैं, उनका जो भेदज्ञान तत्पूर्वक ही प्रवृत्ति, कर्ममें संभव है, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण भेद प्रपञ्च नष्ट हो जाता है जिससेकि भेदज्ञान पूर्वक विधि की प्रवृत्ति वहाँ पर संभव नही हैं। केवल

१—कथं भाव की आकांक्षा को पूर्ण करने वाली वस्तु को इति कर्त्तव्यता कहा जाता है।

धर्ममें प्रमाणभूत शास्त्रको ही ऐसी गति है यह बात नहीं किन्तु सम्पूर्ण प्रमाणों की यही स्थिति है। इसीसे भाष्यमें सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि ऐसा कहा। इसमें क्या हेतु है, तो इसपर भाष्यमें कहा गया कि नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ इत्यादि। अहेय अनुपादेय, अद्वैत आत्मतत्त्वके ज्ञान होनेपर विषय और प्रमातासे शून्य प्रमाणों की प्रवृत्ति संभव नहीं है। क्योंकि प्रमाण प्रमाको विषय करता है, प्रमा अपने आश्रय प्रमाता की अपेक्षा करता है, यह सब व्यवहार भेद मूलक है, अद्वैत आत्मतत्त्वमे विषय विषयो भाव संभव नहीं है। और कार्य न होनेसे उसमें कर्तृत्व नहीं है। और न तो कारणत्व ही है, क्योंकि सब भेदमूलक है अद्वैतात्मावगति होने पर भेद संभव नहीं है इसीलिए अप्रमातृकाणिच प्रमाणानि नहि भवितुमर्हन्ति, ऐसा भाष्यमें कहा गया। इसीमें ब्रह्मवेत्ताओंकी गाथाका उदाहरण दे रहे हैं।

भाष्यकार अपिचाहुरित्यादि से। पुत्र स्त्री आदि में आत्माभिमान गौणहोता है। जैसे अपने दुःख से दुःखी अपने सुख से सुखी पुरुष होता है, उसी तरह पुत्र स्त्री आदि के दुःखी और सुखी होने पर अपने को दुःखी, और सुखी मानता है, यह गौण का आत्माभिमान है। उनमें एकत्व-का अभिमान नहीं है क्योंकि पुत्रादि से अपनेमें भेद अनुभव-सिद्ध है इसलिए गौर्वाहीकः के समान वह गौणही है। देहेन्द्रिय आदि में 'मैस्थूल हूं कृशहूँ मै अन्धाहूं इत्यादि, अभेद का, अनुभव होने से गौण आत्माभिमान नहीं है किन्तु सीपमें, चांदी की प्रतीति के समान मिथ्याही है। इसतरह से दो प्रकार का, आत्माभिमान लोक व्यवहार के निर्वाह का कारण है। उक्त द्विविधि आत्माभिमान के अभाव में न लोकव्यवहार ही संपन्न होगा, और व तो ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानहीहोगा, क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के उपाय-भूत श्रवण मनन आदि संभव नहीं है आत्माभिमान शून्यावस्था मे, इसी बातको भाष्यकारने पुत्र देहादि बाधनात् इसपद से कहा। गौण आत्माभिमान के प्रभावमे पुत्र स्त्री आदि का बाधहो जाता हैं। अर्थात् उनमें ममत्वबुद्धि ए मेरे हैं, हमारे प्रिय हैं हमारा उपकार करने वाले हैं यह सब जो उनमें आरोपित हैं जिससे कि उनमें आत्माभिमान है, वह निवृत्त होनेसे ममत्वका बाध होता है। मिथ्या आत्माभिमान के न रहने पर देहेन्द्रियादि का बाध होता है, यह मैं हूं मैंने इस कार्य को, किया इत्यादि व्यवहार निवृत्त हो जाता है क्योंकि जिस देह इन्द्रिय आदि के द्वारा यह सब व्यवहार होता है उसमें आत्मबुद्धि नहीं रहती जिससे कि श्रवण आदि का भी बाध हो जाता है श्रवण आदि भी इन्द्रिय के द्वारा ही सम्पन्न होता है उसमें आत्म बुद्धि है नहीं। उससे न केवल लोक व्यवहार. का ही समुच्छेद निवृत्ति

होती है किन्तु मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ ऐसा ज्ञान रूप कार्य अद्वैत साक्षात्कार भी कैसे हो सकता है। क्यों वह सम्भव नहीं है इस लिए भाष्य में कहा गया। अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः। अन्वेष्टव्यः अन्वेषण करने के योग्य अर्थात् जानने के योग्य छांदोग्य उपनिषद में आत्मा को ही अन्वेष्टव्य कहा गया है य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पस्सोऽन्वेष्टव्यः। (छां ३.८।४।१)

जो आत्मा पाप रहित है जरा और मृत्यु से रहित है जिसमें शोक नहीं जो खाने की इच्छा से और पिपासा पीने की इच्छा से रहित है सत्य काम ना वाला है सत्य है संकल्प जिसका वह अन्वेष्टव्य है। इस श्रुति से ज्ञातव्य परमात्मा ही है उसके ज्ञान के पहिले आत्मामें प्रमाकतृत्व रहता है। क्योंकि प्रमाकर्तृत्व ही प्रमातृत्व है कर्ता कारण होता है कारण को कार्य के पूर्व में नियत रहना आवश्यक है प्रमाता आदि ज्ञान के कारण हैं तो उक्त साक्षात्कार के पूर्व प्रमाता और प्रमाण प्रेमेय उसका विभाग भी रहता है और जब कि अद्वैत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया जो कि [1] अपने विरोधी अज्ञान और उसके कार्य सम्पूर्ण प्रपञ्च को निवृत्त करता हुआ स्वयं भी अविद्या का कार्य होने से कतकरजोन्याय से निवृत्त हो जाता है। तो उसके पश्चात् भेद ज्ञान के न रहने पर तन्मूलक उक्त ज्ञान की अनुवृति नहीं होती क्योंकि प्रमातृ प्रमाण प्रमेय प्रमिति विभाग द्वैत साक्षात्कार का कारण है उसके पूर्व नियम से ए सब रहते हैं। जिससे कि अद्वैत साक्षात्कार होने पर भेद मूलक उक्त विभाग रूप कारण के न रहने से साक्षात्कार रूप कार्य भी उत्पन्न नहीं होता।

शंका—एक बार उत्पन्न आत्मतत्त्व साक्षात्कार से ज्ञान का कारण प्रमातृत्व आदि के निवृत्त होने पर ज्ञान अनुवृत्त नहीं होता तो उस समय प्रमाता जीव का भी लय होने पर मोक्ष रूप फल किसको होगा इसलिए मोक्ष की पुरुषार्थता सिद्ध नहीं होगी।

समाधान—प्रमाता जो जीवात्मा है, उससे अतिरिक्त आत्मा अन्वेष्टव्य नहीं है जीव रूप प्रमाता ही अपने में अज्ञानवशात् प्रमतृत्व की कल्पना किया है, मनन निदिध्यासन सहकृत तत्त्वमस्यादिवेदान्त वाक्यश्रवणानन्तर अद्वैतात्मतत्त्व

१—जैसे निर्मली की धूलि मलिन जल में पड़ने पर जल की सम्पूर्ण मलिनता को दूर कर स्वयं भी नीचे बैठ जाती है जिससे जल निर्मल हो जाता है। उस तरह।

साक्षात्कार होने पर जब कल्पित प्रमातृत्व की निवृत्ति हो गई तो अवशिष्ट क्या रह गया। इसी को भाष्यकार ने अन्विष्टः स्यादित्यादि से कहा है। प्रमाता आत्मा से भिन्न आत्मा अन्वेष्टव्य नहीं है। प्रमाता ही उपाधि के निवृत्त होने पर शुद्ध आत्मा स्वरूप है वही अन्वेषण के योग्य है। प्रमातृत्वोपलक्षित चैतन्यैक रस परमात्मा अन्वेष्टा खोजने वाले जीव से वस्तुतः भिन्न नहीं है उसमें कल्पित प्रमातृत्व का बाध होने पर शुद्ध रूप अवशिष्ट रहता है अर्थात् उपलक्षणीभूत प्रमातृत्व का ही बाधहोता है न कि तदुपलक्षित आत्मा का जो कि पाप्मादि दोष से वर्जित अपहतपाप्मादि धर्म से प्रतीत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है वह यदि विदित हो गया तो वही मोक्ष है मोक्ष भी आत्मस्वरूप ही है जिससे कि उक्त दोष नहीं है।

शंका—यदि अन्वेष्टा का आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है तो संसारावस्था में प्रतीत क्यों नहीं होता।

समाधान—भामती में उक्त ग्रीवास्थ ग्रैवेयक निदर्शनम्। ग्रीवा में कंठ में स्थित ग्रैवेयक कंठ में पहिरा जानेवाला आभूषण ही इसका दृष्टान्त है। अपने कंठ में स्थित हार आदि अलङ्कार जैसे अज्ञानवश कोई भूल जाय उसको खोजने लगे तो कोई आप्त पुरुष उससे जैसे कहे कि हेमुग्ध जिस अलङ्कार को तू खोज रहा है। वह तेरे ग्रीवा में ही है उसी तरह जिस आत्मा के खोजने में जीव अज्ञानवश रत है वह तत्स्वरूप ही है यह वेदान्त वाक्य से निश्चित होता है।

प्रमातृत्व प्रमाण आदि यदि भाष्य होने से कल्पित है तो उनसे पारमार्थिक अद्वैत ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी ऐसी आशंका पर भाष्य में देहात्म प्रत्ययो इत्यादि तृतीय श्लोक कहा गया आत्मज्ञान के पूर्व देहात्म प्रतीति व्यवहार का अङ्ग होने से जैसे प्रमाणत्वेन कल्पित है उसको प्रमाण मानकर मैं जाता हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं उसी तरह आत्मसाक्षात्कार के पूर्व लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण आदि भी कल्पित हैं यह उक्त श्लोक का अर्थ है। जिसका अवतरण भामती में देकर स्यादेतत् इत्यादि से शंका किया गया है। जो प्रमाण नहीं है उससे पारमार्थिक अद्वैत साक्षात्कार की उत्पत्ति कैसे होगी जिस पर कि उक्त श्लोक भाष्य में कहा गया। उसकी अवधि बतला रहे हैं—आ आत्मनिश्चयात्। ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार पर्यन्त। जो मिथ्या है अर्थात् कल्पित है वह यथार्थ ज्ञान का कारण नहीं है ऐसा नियम स्वीकृत नहीं है क्योंकि ध्वनि के धर्म ह्रस्वत्वदीर्घत्व आदि वर्ण में कल्पित होने पर भी यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं एवं कल्पित भी रेखा

गवय बुद्धिमान् पुरुष को वास्तविक गवय के ज्ञानोत्पादन में समर्थ हैं यह अध्यास भाष्य के व्याख्यान में कहा जा चुका है जिससे कि कल्पित भी प्रमाण प्रमेय आदि उक्त साक्षात्कार में हेतु हो सकते हैं। यह कहा जाता है कि जो प्रपञ्च को पारमार्थिक सत्य मानते हैं तार्किक मीमांसक आदि उनको भी देहादि में आत्म प्रतीति मिथ्या है यह अवश्य स्वीकार करना होगा नहीं तो यागादि क्रिया-कलाप का फल इस शरीर में न होने से यागादि बोधक श्रुतियां व्यर्थ हो जायगी, इसलिए प्रमाण से बाधित होने के कारण अर्थात् स्वर्ग कामोयजेत् श्रुतियाँ स्वर्ग चाहने वाले पुरुष को उद्देश्य से याग का विधान करती हैं स्वर्ग का फल की प्राप्ति इस शरीर में सम्भव नहीं है जिससे कि शरीर आदि में आत्म बुद्धि मिथ्या है यह अगत्या स्वीकार करना पड़ेगा देहादि से अतिरिक्त आत्मा हैं यह मानना पड़ेगा और देहादि में आत्माभिमान हो समस्त प्रमाण प्रमेय आदि में कारण हैं और भाविक होने वाले लोक व्यवहार का हेतु यह स्वीकार करना पड़ेगा। वही प्रकार हमारे अद्वैत साक्षात्कार में भी हो जायगा।

और भी बात है यह अद्वैत साक्षात्कार रूप वृत्तिज्ञान भी नियम से पारमार्थिक सत्य नहीं है। यद्यपि वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य अंश सत्य है तथापि सम्पूर्ण रूप से वृत्ति सत्य नहीं है जिससे कि एकान्तः अर्थात् नियमेंन सत्य नहीं है यह कहा गया अभिप्राय यह है कि जो वृत्तिरूप साक्षात्कार उत्पन्न होता है वह भी नाश को प्राप्त होता है जिससे कि वह पारमार्थिक सत्य नहीं किन्तु जैसी सत्ता प्रमाता प्रमाण प्रमेय आदि की है वैसी ही सत्ता उसकी भी है और जो कि पारमार्थिक साक्षात्कार वह कार्य नहीं क्योंकि वह ब्रह्म स्वरूप है इससे वह उत्पन्न नहीं होता

शंका—वृत्तिरूप साक्षात्कार मिथ्या होनेसे अविद्याका कार्य है, अतः वह अविद्यात्मक है, तो अविद्याका नाश कैसे कर सकता है, और अविद्या अपने विरोधी ज्ञानको कैसे उत्पन्न करेगी।

समाधान—अविद्या यदि अविद्याका नाश करती है अथवा उत्पन्न करती है तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। अर्थात्, अविद्यात्मक साक्षात्कार अपारमार्थिक होता हुआ भी पारमार्थिक सत्य जो ब्रह्म तद्विषयक होनेसे अविद्याका निवर्तक होता है। देखा गया है कि स्वप्नमें देखे गए अति भयङ्कर सिंह व्याघ्रादि अपने कारणीभूत अविद्यारूप निद्राको निवृत्त करते है और स्वयम् भी निवृत्त हो जाते हैं उसी तरह प्रकृतमें भी अविद्यात्मक साक्षात्कार अविद्याको निवृत्तकर स्वयम् भी निवृत्त हो जाता है। अविद्याके अघटितघटनापटीयसी

होने से उससे कार्य जनकता कार्य नाशकता सब सिद्ध हो जाता है वहां भी है न हि मायायां का चिदनुपपत्तिरस्ति, माया अर्थात् अविद्यामें कोई अनुपपत्ति नही है। भगवती श्रुति भी कहती है, विद्यां चाविद्यांच इत्यादि विद्या बुद्धिरूप ज्ञान, और अविद्या, कर्म, जो इन दोनों को साथ जानता है वह अविद्यामे अर्थात् निष्काम कर्माचरण करने से, शुद्धान्तः करण वाला होकर जिससे कि वेदान्त से वाक्य जन्य ब्रह्माकार वृत्तिमें परिणत होने शुद्ध प्रत्यक् स्वरूप चैतन्य प्रतिबिम्ब होता है, जिससे कि मृत्युपद वाच्य अविद्या को पाकर विद्या ब्रह्माकार वृत्तिरूप ज्ञानसे अमृत मोक्षको प्राप्त होता है, जिससे कि सब ठीक हो जाता है।

यत्पादाब्जमधुव्रताः समभवन् शिष्याः सहस्राधिकाः
ग्रन्थग्रन्थिविदारणक्षममतिस्त्यागैकमात्रव्रती ।
मान्यः श्रेष्ठजनेषु कीर्तिरतुला लोकेषु यस्याभवत
श्रीरामादियशोऽन्तसंज्ञक इति ख्यातो ह्यसौ मे गुरुः ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दः लोकानुग्रहकारकः ।
वरेण्यःसर्वदेवानां कृत्या ऽसौ तोषमाप्नुयात् ॥
नेत्रद्विशून्ययुग्मेऽब्दे वैक्रमें सोमवासरे ।
माघे सिते नवम्यां तु व्याख्येयं पूर्णतामगात् ॥

श्रीसाम्बशिवार्पणमस्तु
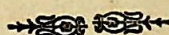
मीरजापुर स्थित बेलखरिया पुरा मुहल्ला निवासी लब्ध चतुः स्वर्ण पदक
व्याकरण, वेदान्ताचार्य सरयूप्रसाद उपाध्याय कृत
चतुः सूत्रीपर्यन्त भामती की सुभद्रा व्याख्या समाप्त।